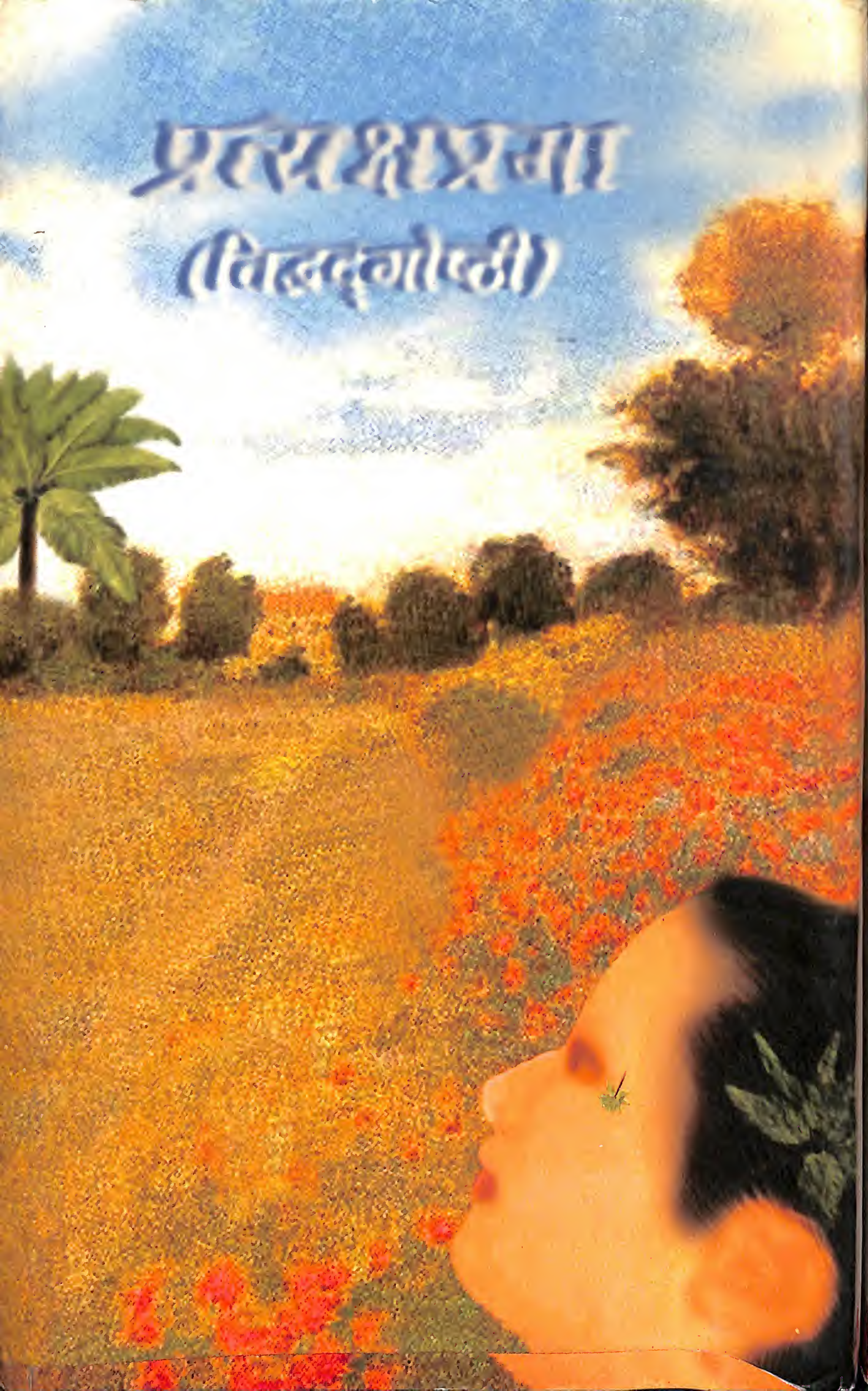
प्रत्यक्षप्रभात
(विद्वद्गोष्ठी)

प्र
त्य
क्ष
प्र
मा

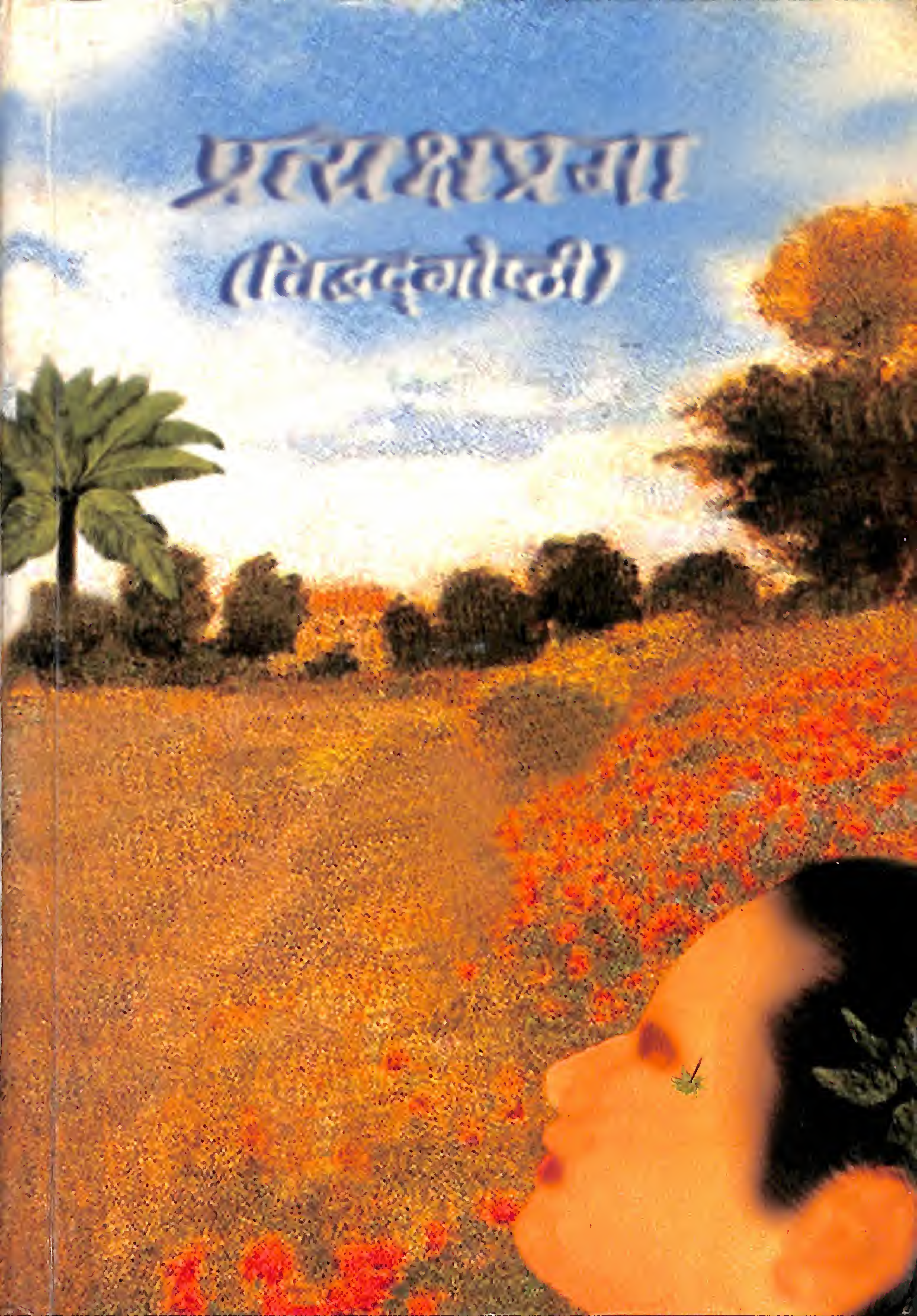
प्रत्यक्षप्रज्ञा
(विद्वद्गोष्ठी)

प्रत्यक्ष प्रमा

प्रत्यक्षप्रमा

विद्वत्सङ्गोष्ठी

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट
(मांडवी–कच्छ)

प्रकाशक:
श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट
कंसारा बजार, मांडवी-कच्छ, गुजरात, ३७० ४६५
फोन : (०२८३४) २३१६६३

सम्पादक:
गोस्वामी श्याम मनोहर
गोस्वामी शरद्

प्रथम संस्करण : वि.सं. २०६४ वल्लभाब्द : ५३०

प्रति : ५००

ऐच्छिक ग्रन्थप्रकाशन सहाय : रु. १५०.

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

WWW.PUSHTIMARG.NET

मुद्रक :
श्रीवल्लभ बुक मेन्युफेक्चरिंग् कं. लि., ५५/४६ सिटिमील कम्पाउंड्,
कांकरीआ रोड, अमदावाद, गुजरात

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

सेमिनार:
आयोजित:

१ शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा, गांधीनगर-गुजरात
२.अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी, पुणे
३.वार्तापरिचर्चा, हालोल-गुजरात
४.पुष्टिभक्तिमार्गीय साधनाप्रणाली, मुम्बई
५.अन्धकारवाद विद्वत्परिचर्चा, पुणे
६ सेवा-समर्पण, मुम्बई
७. कार्यकारणभावविचार, वडोदरा-गुजरात
८. प्रत्यक्षप्रमाण सङ्गोष्ठी, पुणे
९. अधिकारपरिचर्चा, हालोल-गुजरात
१०.कथायां वा/गुणगान साधना, मुम्बई
११.शरणागति, मुम्बई
१२.पुष्टिभक्तिसाधनामें प्रतिबन्ध
१३.World Philosophy Conference, Delhi, (Cosponsored with Indian Philosophical Congress)
१४. International Conference on World Peace, Ahmedabad (Cosponsored with Uni. of Gujarat

आचार्यवंशजोंकेलिये अध्ययनसत्र:

१.तर्कामृतम् - न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
२.वेदान्तसार

ग्रन्थप्रकाशन :

१. प्रवेशिका (गुज.)	१०	२. प्रवेशिका (अंग्रेजी)	निःशुल्क
३. प्रमेयरत्नसंग्रह (गुज.)		४. वार्तापरिचर्चा	१५
५. पुष्टिविधानम्(पाठावली-व्रजभाषा)	अप्राप्य	६.पुष्टिविधानम्-१ (पाठावली, गुज.)	२५
७. पुष्टिविधानम्-२ (व्याकरणम्)	१००	८. पुष्टिविधानम्-३ (व्रजभाषाविवृति)	५०
९. अधिकारपरिचर्चा(गुज.-हिन्दी-व्रज)	१००	१०. श्रीभागवतमहापुराण(गुर्जरभाषानुवाद)	३००
११. विवेकत्रयम् (संस्कृत)	१०	१२. सेवा और व्रजलीला (व्रजभाषा)	अप्राप्य
१३. श्रीगोपीनाथप्रभुचरण(गुज.-हिन्दी)	२५	१४. सेवा अने व्रजलीला (गुजराती)	निःशुल्क
१५. पुष्टिप्रवेश-१(गुजराती)	१०	१६. साधनाप्रणाली(गुज.-हिन्दी-अंग्रेजी)	५०
१७. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद(गुज.-हिन्दी)	निःशुल्क	१८. रसदृष्टिनी तरफेणमां (गुजराती)	निःशुल्क
१९. पुष्टिपाठावली (हिन्दी)	१०	२०. पुष्टिपाठावली (गुजराती)	१०
२१. वाल्लभवेदान्तनिबन्धसंग्रह(हिन्दी)	निःशुल्क	२२.प्रत्यक्षप्रमाण, विद्वत्सङ्गोष्ठी	१५०

२३. भागवतार्थप्रकरणम्, गुजराती अनुवाद, गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी१००
२४. शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा (संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी) २००
२५. अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी (संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी) १५०
२६. तत्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम्
(व्रजभाषाटीका) साधारणसंस्करण/राजसंस्करण ५०/७०
२७. तत्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम्
(व्रजभाषाटीका)साधारणसंस्करण/राजसंस्करण ८०/१००
२८. कार्यकारणभावमीमांसा विद्वत्सङ्गोष्ठी(संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी) २००
२९. पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका १०

३०. शरणागति विचारणाकी एक पृथक् प्रस्तावना [illegible]
३१. पुष्टिभक्तिमें कथासाधना, मराठी [illegible]
३२. पुरुषोत्तमसहस्रनाम-त्रिविधनामावली, गुर्जरानुवाद [illegible]
३३. वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह (हिन्दी) [illegible]
३४. सिद्धान्तनु आचमन (गुजराती) [illegible]
३५. श्रीकृष्णचरित्र, गो.वा.श्रीनानूलाल गांधी (गुजराती)
३६. Computer CD, www.pushtimarg.net अप्राप्य
३७. Summary of Shuddhadvaita Tatparya [illegible]
३८. Manual of the Devotional Path of Pusht.. [illegible]

सहयोग प्रकाशन:

श्रीभागवतसुबोधिनी गुर्जरभाषानुवाद

अनुवादक: गो.वा.श्रीनानूलाल गांधी (ये पुस्तक सहमति से आयेंगी)

१.दशमस्कन्ध जन्म प्रकरण	२. दशमस्कन्ध तामस प्रमाण प्रकरण
३.दशमस्कन्ध तामस प्रमेय प्रकरण	४. दशमस्कन्ध तामस साधन प्रकरण
५.दशमस्कन्ध तामस फल प्रकरण	६. दशमस्कन्ध राजस प्रमाण प्रकरण
७.दशमस्कन्ध राजस प्रमेय प्रकरण	८. दशमस्कन्ध राजस साधन प्रकरण
९.दशमस्कन्ध राजस फल प्रकरण	१०.दशमस्कन्ध सात्त्विक प्रमेय-साधन-फल प्रकरण
११.दशमस्कन्ध गुण प्रकरण	१२.एकादशस्कन्ध अप्राप्य
१३. तृतीयस्कन्ध अ.१-८ अप्राप्य	१४.तृतीयस्कन्ध अ.९-१९ अप्राप्य
१५.तृतीयस्कन्ध अ.२०-समाप्तिपर्यन्त अप्राप्य	१६.द्वितीयस्कन्ध अप्राप्य

१७.श्रीगुसांईजी विरचित दशमस्कन्ध टिप्पणी
१८. Srimad Vallabhacharya, His Philosophy and Life, Prof.J.G.Shah 100
१९. Srimad Vallabhacharya, His Philosophy and Religion, Prof.J.G.Shah300
२०. SriVallabhacharya and His Teachings,Dr.Chimanlal Vaidya 100
२१. Doctrines of Vallabhacharya, Ishverbhai S. Amin 100

- गोशाला
- संस्कृत माध्यमसे अध्ययन करते विद्यार्थीओंकेलिये छात्रालय

  संचालन:श्रीवल्लभाचार्य व्रजसंस्कृति विकास ट्रस्ट समिति, गोकुल
- हस्तप्रतसंग्रह-संरक्षण; पुस्तकालय
- यावत्प्राप्य साम्प्रदायिक श्लोकोंकी पादानुक्रमणिका
- Digitalization of the manuscripts
- Catalogus Catalogorum of the manuscripts of Śuddhādvaita-Puṣṭibhakti-Sampradāya.
- Encyclopedic CD ROM comprising of entire original Sanskrit writings of Acharyas along with Vraj, Hindi, Gujarati & English literature written on the base of such writings.

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित-पुनर्मुद्रित

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके मूल संस्कृत ग्रन्थ

१. सव्याख्यषोडशग्रन्थ

खंड १. श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्

खंड २. नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी

खंड ३. जलभेद से सेवाफलम्

२. सव्याख्यपद्यग्रन्थाः

३. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध

खंड १. शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण

खंड २. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १-५

खंड ३. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६-१२

४. प्रकाश-रश्मि व्याख्या सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्

खंड १. प्रथमाध्याय

खंड २. प्रथमाध्याय

खंड ३. द्वितीयाध्याय

खंड ४. तृतीयाध्याय

खंड ५. चतुर्थाध्याय

५. श्रीमद्भागवतसुबोधिनी

खंड १. प्रथम-द्वितीयस्कन्ध

खंड ४. जन्मप्रकरण

खंड ५. तामसप्रमाणप्रकरण

खंड ६. तामसप्रमेय-साधनप्रकरण

खंड ७. तामसफलप्रकरण

खंड ८. राजसप्रमाण-प्रमेयप्रकरण

६. वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका

७. विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्

८. प्रस्थानरत्नाकर

९. विद्वन्मण्डनम्

१०. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली

११. अवतारवादावली

खंड २. भेदाभेदवाद, सृष्टिभेदवाद, आविर्भावतिरोभाववाद, ख्यातिवाद, प्रतिविम्बवाद, अन्धकारवाद.

खंड ३. ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः, जीवव्यापकत्वखण्डनवाद, जीवप्रतिबिम्बत्व-

खण्डनवादः, भागवतस्वरूपविषयकशङ्कानिरासवादः, उपदेशादिविषयकशङ्का-निरासवादः, भगवत्प्रतिकृतिपूजनवादः, ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः, तुलसीमाला-धारणवादः, शङ्खचक्रधारणवादः, भक्तिरसत्ववादः, भक्त्युत्कर्षवादः, नामफलादि-प्रकारवादः, जयश्रीकृष्णोच्चारणवादः, स्ववृत्तिवादः, वर्णादिसत्यावादः, मूर्तिपूजनवादः, भागवतपाठादेः शङ्कानिरासवादः.

१२. पुष्टिविधानम्

१३. सव्याख्यश्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम्

१४. श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारः

▸ क्र.१, २ तथा ४/१, ४/२ को छोड कर सभी ग्रन्थ श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेश्वर-प्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट (कोल्हापुर) द्वारा प्रकाशित.

प्रकाश्य :

श्रीमद्भागवतसुबोधिनी: तृतीयस्कन्ध, राजस साधन-फल प्रकरण, सात्त्विक प्रमेय-साधन-फल प्रकरण, गुण प्रकरण, एकादशस्कन्ध

श्रीपुरुषोत्तमचरण विरचित: वादावली खंड १, गीता टीका, उपनिषद् टीका उत्सवप्रतान-अपराधनिरूपणम् आदि

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीकी हिन्दी-गुजराती पुस्तकें

- -वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह
- -विवेक
- -पुरुषोत्तमयोग (गुजराती-हिन्दी)
- -नवरत्नम् (गुजराती-हिन्दी)
- -सिद्धान्तनुं आचमन
- -पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद
- -नवरत्नोपदेशका मानसविश्लेषण(गुजराती-हिन्दी)
- -श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप
- -शरणागतिविचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
- -धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी पुष्टिमार्गीय विवेचना(हिन्दी-गुजराती)
- -भगवत्सेवानो सिद्धान्तशुद्ध प्रकार : एक प्रश्नोत्तरी
- -रसदृष्टिनी तरफेणमां (हिन्दी-गुजराती)
- -विशोधनिका (तीन खंड)
- -गृहसेवा और व्रजलीला (गुजराती-हिन्दी)
- -श्रीयमुनाष्टकम्
- -सिद्धान्तसूक्ति

सम्पर्क :

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी,
व्रजकमल, ६३ स्वस्तिक सोसायटी,
४ था रास्ता, जुहु स्कीम, विलेपार्ले (पश्चिम), मुम्बई.
फोन : (०२२) २६१४४३२६

प्रकाशकीय

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट(मांडवी-कच्छ) द्वारा सन २००३ में पूणे विश्वविद्यालयमें **प्रत्यक्ष प्रमा** विषयक समायोजित विद्वत्सङ्गोष्ठीमें प्रस्तुत हुवे आलेखपत्रों एवं उनपर हुई चर्चा को सङ्गोष्ठ्युत्तरलेख सहित ग्रन्थाकारमें प्रकाशित करते हुवे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है.

पूर्व समायोजित सङ्गोष्ठीओंकी ही तरह इस सङ्गोष्ठीका भी आद्योपान्त ध्वनिमुद्रण किया गया था. ध्वनिमुदित केसेट्सकी सहायतासे चर्चाको लिपिबद्ध करके उसे संशोधनार्थ चर्चाकारोंको अवलोकनकेलिये भेजा गया.प्रस्तुत ग्रन्थमें आलेख प्रस्तुतिकारद्वारा संशोधित-परिवर्धित चर्चाका प्रकाशन किया गया है.

सङ्गोष्ठीमें समागत जो विद्वज्जन संशोधनार्थ प्रेशित उनके वक्तव्य / चर्चा को संशोधित नहीं कर पाये हैं उनको अनन्यगतिकतया यथावत् प्रकाशित कर दिया गया है.

केसेट् बदलने, बिजलीके न रहने, एक साथ बोलने जैसी परिस्थितिमें जिन संवाद / वक्तव्य का ध्वनिमुद्रण नहीं हो पाया था उन अंशोंको तत्तत्स्थानोंमें '...' तीन विरामचिह्नोंद्वारा दिखलाया गया है.

सङ्गोष्ठीमें आलेखोंकी प्रस्तुति जिस क्रमसे हुई थी उस क्रमको अध्येताओंके सौकर्यार्थ बदलकर उनको नूतन क्रममें योजित किया गया है यह ध्यातव्य है.

विशेषमें, गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी लिखित ''चक्षुका चाक्षुषविषयदेशमें प्राप्यप्रकाशकारित्व, एक वाल्लभ दृष्टिकोण'' आलेखको प्रत्यक्षप्रमाण विषयक अध्ययनमें उपकारक समझकर यहां प्रकाशित किया जा रहा है.

अन्तमें, इस सङ्गोष्ठीमें सहृदयभावसे सम्मिलित होकर प्रस्तावित विषयपर वैदुष्यपूर्ण आलेखकी प्रस्तुति करने एवं चर्चामें भाग लेने केलिये हम सभी विद्वज्जनोंके प्रति हृदयसे आभारी हैं.

श्रीवामनजयन्ती-
श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रादुर्भावोत्सव
वल्लभाब्द ५३०, वि.सं. २०६४

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट द्वारा
शरद गोस्वामी

www.pustimarg.net

अनुक्रमणिका

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहर	भूमिका	१
गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण	प्रत्यक्षप्रमाकरणनिरूपकः तृतीयः तरङ्गः	१७
डॉ. सुनन्दा शास्त्री	Prasthānaratākara Prastāvanā by Goswami Sri Shyammanoharji. English Translation	५०
गोस्वामी श्रीश्याम मनोहर	प्रत्यक्षप्रमाणके बारेमें कुछ पुरःस्फूर्तिक विचार, वाल्लभ दृष्टिकोण	६२
	चर्चा	८९
प्रो. सिद्धेश्वर भट्ट	Towards understanding perception	१०१
	चर्चा	१०७
डॉ. अच्युतानन्द दाश	Infrequently asked questions on perception and the outlook of Vallabha school of philosophy	११२
	चर्चा	१४३
डॉ. के. ई. देवनाथन्	प्रत्यक्षप्रमाणविषये विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः प्रस्थानरत्नाकरसरणिः च	१७३
	चर्चा	१७८
प्रो. डी. प्रह्लादाचार	द्वैतदर्शने प्रत्यक्षस्वरूपम्	१९३
	चर्चा	२०५
डॉ. सुनन्दा शास्त्री	Perception: Sānkhya and Śuddhādvaitic views	२११
	चर्चा	२२८
ज्योर्ज करुविलेल्	Thomistic philosophy of perception: Some reflections	२३२
	चर्चा	२४६

डॉ. एस्. वी. बोकिल	Perception: A Philosophical impasse	२६२
डॉ. श्रीकृष्णमूर्ति शास्त्री	भाट्टमतानुसारं [illegible]	२८०
	चर्चा	२९४
प्रो. पी. के. मुखोपाध्याय	प्रासङ्गिक वक्तव्य	३१७
	चर्चा	३२४
डॉ. बलिराम शुक्ल	प्रत्यक्षप्रमाणम् न्याय-शुद्धाद्वैतवेदान्त-मतयोः तौलनिकं विवेचनम्	३४५
	चर्चा	३५१
डॉ. बी. के. दलाई	Jain theory of perception	३६८
	चर्चा	३९७
डॉ. विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्र	श्रीमद्भागवतप्रस्थाने प्रस्थानान्तरे च प्रत्यक्षप्रमाणविमर्शः	४०७
प्रो. यज्ञेश्वर शास्त्री	Advaitic theory of perception in comparision with Suddhadvaita view	४५०
	चर्चा	४६९
डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा	वैभाषिक दर्शनमें प्रत्यक्षकी अवधारणा: तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य : वल्लभ वेदान्त	४८१
	चर्चा	५०२
प्रो. पारसनाथ द्विवेदी	प्रत्यक्षे वाल्लभसौत्रान्तिकमतयोः विमर्शः	५१६
डॉ. मंगला चिंचोरे	Dharmakīrti and Vallabh on Pratyakṣa: Juxtaposition	५४५
प्रो. वशिष्ठनारायण झा	अध्यक्षस्थानीय समापन वक्तव्य	५९४

परिशिष्ट :

गोस्वामी श्याम मनोहर	चक्षुका चाक्षुषविषयदेशमें प्राप्यप्रकाशकारित्व, एक वल्लभ दृष्टिकोण	६०१

भूमिका

एक सुप्रसिद्ध वैदिक सूक्ति है कि **''एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति. तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्''** . इस वचनमें सावधानीसे 'विप्राः'. शब्द वेदोंके अभ्यास करनेवालोंके अर्थमें प्रयुक्त हुवा है. ''वेदाभ्यासाद् भवेद् विप्रः''. फिरभी आधुनिक युगमें इस श्रुतिका प्रायः ''एकं सद् अज्ञाः/मूर्खाः बहुधा वदन्ति'' अर्थ किया जाता है. पर क्या सभी विप्र मूर्ख ही होते हैं? यद्यपि बौद्धोंने **''वेदाधीतिजड़ाः विप्राः न परीक्षाक्षमाइति विप्रेभ्यएव वेदादेः कृतं तैः उपदेशनम्''** कहा तो है और वैसे तो भगवान् बुद्धने भी विप्रोंको अवश्य मूर्ख ही माना होगा. मगर मुझे लगता है कि भगवान् बुद्धको भी पढ़ानेवाले तो सब विप्र ही होंगे. इस श्रुतिके निदर्शनतया अक्सर 'अन्धहस्ति'न्यायका उदाहरण भी दिया जाता है. उदाहरणके तौरपे डॉ. सर्वपल्लि राधाकृष्णन् और दूसरे भी विद्वान् 'अन्धहस्ति'न्यायके आधारपर ही इस श्रुतिका अभिप्राय समझाते हैं.

अन्धता दो तरहकी हो सकती है. एक चाक्षुष जन्मान्धता ऐसी कि जिसके कारण हम वस्तुका दर्शन ही कर नहीं पाये हों और दूसरी बौद्धिक हठाग्रहकी अन्धता कि स्वयं हमें किसी वस्तुके जो विकल्प अवगत हुवे हों उनके हठाग्रहके वश उस वस्तुके अन्यान्य विकल्पोंको देख न पानेकी बौद्धिक हठवादिता. एक अन्धा पुरुष देख नहीं पाता तावता वह हाथीका स्पर्श भी न कर पाता हो ऐसा तो नहीं है. ऐसी स्थितिमें हस्तिको स्पर्श करके वह जान न पाता हो ऐसा भी शक्य नहीं. नेत्रहीन पुरुषोंकी अन्धतामें भी स्पर्शानुभव तो उतना ही सोलिड् होता है जितना किसी नेत्रवान् पुरुषका चाक्षुष प्रत्यक्ष सोलिड् होता है. ऐसे स्पर्शके आधारपर अन्ध पुरुषोंको जो गृहीत होता है और वे अपनी अनुभूतिओंको 'स्तम्भसदृशोऽयम्' शब्दोंमें

अभिव्यक्त करते हैं तो सहृदय नेत्रवानको वह सादृश्यानुभूति हास्यास्पद लगनेके बजाय पार्शियलि ट्रु एक्स्पीरियंस लगनी चाहिये. चाहे टोटली ट्रु न भी लगती हो. किसी भी सूरतमें वह टोटली अन्ट्रु नहीं लगेगी. यों तो अन्धपुरुषको गृहीत होती हाथीकी स्तम्भाकारता या अन्य कुछ समग्राकारदर्शी नेत्रवानोंको भी सहसा बुद्ध्यारूढ़ कहां हो पाती है? नेत्रवान भी तो केवल नेत्रगृहीत रूपकी ही आंशिक अनुभूति कर पाते हैं, स्पर्शगृहीत स्वरूपकी कहां! So there are all sorts of contradictions and debates are generated among us.

हम वाल्लभ तो यह हृदयसे मानते हैं कि सत् विरुद्धधर्माश्रय है. कमसे कम और किसी कारणसे नहीं तो, इसी कारणसे कि ब्रह्मबोधक श्रुति स्वयं ब्रह्मके बारेमें ''एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति'' विधान करती है. यह 'बहुधा' भी पुनः उस सीमा तक कि परस्पर एक-दूसरेके अनुभव और प्रतिपादन को हम स्वीकार न कर पायें! ''सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा? तौ उभौ यदि सर्वज्ञौ विसंवादः कथं तयोः?'' अब दोनों सर्वज्ञताका दावा करते हों तो असर्वज्ञ बेचारे कहां जायें? यद्यपि धर्मकीर्तिने एक बात बड़ी अच्छी कही है कि ''**दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वम् इष्टन्तु पश्यतु, प्रमाणं दूरदर्शी चेद् एतान् ग्रध्रान् उपास्महे**''. पर भाई! ग्रध्र भी कुछ देखता तो है ही. और यदि आप साईंस्के ऑब्जर्वेशन् गीधके वीज़्युअल् पर्सेप्शन्के बारेमें पढ़ेंगे तो उसकी दृष्टिसामर्थ्यको मनुष्यकी सामर्थ्यसे कुछ अधिक ही विज्ञान स्वीकारता है. तो ''एते ग्रध्राः अपि उपासनीयाः भवन्त्येव अधिकारिभेदेन''! तो इसी तरह विप्रभेदेन ब्रह्मके निरूपणको स्वीकारने भी हमें उद्यत रहना ही पड़ेगा. और वैशेषिकोंके तो मतको ही 'औलूक्य-मत' कहा जाता था. भगवद्गीताके ''**या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः**'' वचनके प्रकाशमें इसकी एक उपहासपूर्ण उपपत्ति भी अवश्य समझमें आती है : हम मनुष्य प्राणिओंको अंधेरेमें दिखलाई नहीं देता, अपनी

इस असामर्थ्यको स्वीकारे बिना, उल्लुको तो उजालेमें भी दिखलायी नहीं देता होनेसे, हमने उल्लुको मूर्ख पक्षी मान लिया! यूनानमें, परन्तु, उल्लु मूर्ख नहीं दर्शनशास्त्रीय बुद्धिप्रकर्षका पक्षी माना जाता था. अतः यह भी सम्भव है कि कदाचित् उल्लु हम मनुष्य प्राणिओंको ही मूर्ख मानता होगा कि मनुष्य कितना मूर्ख है कि अन्धेरेमें उसे दिखलाई नहीं देता...

आदरणीय श्रीबलिराम शुक्लजीके साथ कल आपसी वार्तालापमें मैंने कहा कि कोई भी बात जब स्पष्ट कहनी हो तब वह सरल नहीं रह जाती है. और कोई भी बात सरल करके कहनी हो तो वह स्पष्ट नहीं रह जाती है.

इसी तरहका कुछ चक्कर है न्याय और इतर दर्शनों के बीच भी है. न्याय अपनी हर बातको स्पष्ट करना चाहता है, यह एक औलूक्यदृष्टि है. और एक हमारी भी दृष्टि है कि हर बातको सरलतया कह देना चाहते हैं. शायद हमारे अंदर अन्धकारमें देखनेकी शक्ति नहीं है, यह हम भी कबूल करते हैं. मूल कारण उसमें यही है कि न्याय-वैशेषिक जब भी देखते हैं तब लक्षणप्रधान और आनुमानिक दृष्टिसे देखते हैं. और जब लक्षणप्रधान दृष्टिसे न्यायको कुछ दिखलाई नहीं देता है तब न्याय समझता है कि अन्धकार हो गया. और हम वेदान्ती जब देखते हैं तब हमारी दृष्टिमें लक्षणके बजाय प्रमाण या अनुभव प्रधान बन जाते हैं. शांकर और वाल्लभ दोनों ही वेदान्तोंमें ब्रह्म तो स्वरूपतः अवाच्य माना गया है और माया तो शांकर वेदान्तमें सद्-असद्-सदसत्त्वेन भी अनिर्वचनीय मानी गयी है. अतः श्रौत प्रमेयके प्रसंगमें लक्षणोंके निर्धारणमें अधिक न उलझना तो हमारे प्रमेयके विशिष्ट स्वरूपके अनुरोधवश हमें स्वाभाविक ही लगता है. लक्षण और प्रमाण में कुछ वैसा ही विभाजन है जैसा दिवा और रात्रि में अथवा सरलतामें और स्पष्टतामें है. लक्षण या

परिभाषा यथावगम होती है. अर्थात् वस्तुका बोध हमें कैसे हो रहा है उसके बारेमें होती है. प्रमाण तो, जबकि, यथार्थ होता है अर्थात् वस्तु जैसी हो वैसी अनुभूति होनेपर वह प्रमाण मानी जाती है.

कुछ विद्वानोंका सोच है कि वेदान्ती देख ही नहीं पाते हैं. केवल श्रुतिओंमे क्या कहा गया ही सुनते रहते हैं. जबकि नैयायिक तो उनके प्रमेयोंको देखते भी हैं और सुनते भी हैं. मैं परन्तु कहना चाहुंगा कि हम 'श्रुतिदृष्टय:' हैं और हैं ही. इसीलिये भगवत्पाद शंकराचार्यने एक बड़ी मज़ेदार बात कही है "**तार्किकैस्तु परित्यक्तागमबलैः अस्तिनास्ति-कर्ताकर्ता इत्यादिविरुद्धं बहु तर्कयद्भिः आकुलीकृतः शास्त्रार्थः. येतु शान्तदर्पाः तेषां करतलामलकइव निश्चितः शास्त्रार्थः. ...तस्मात् तार्किकताचाटभटराजाप्रवेश्यम् अभयं दुर्गम् इदम् अल्पबुद्ध्यगम्यं शास्त्रगुरुप्रसादरहितैः च 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके' इत्यादिविरुद्धधर्म-समवायित्वप्रकाशकमन्त्रवर्णेभ्यः च**" तो यह हुयी न प्रमाणदृष्टि.

यह लक्षणदृष्टि नहीं है. इसमें लक्षणौपयिकी स्पष्टता सम्भव नहीं. न हो तो न हो पर जब प्रमाणसे सिद्ध होता है तो क्या किया जा सकता है? धर्मकीर्ति भी तो कहता था कि "यदि इदं स्वयम् अर्थानां रोचते तत्र के वयम्?". प्रमाणसे हमको कुछ समझमें आ रहा है. लक्षणदृष्टि ही एकमात्र दृष्टि नहीं है प्रमाणदृष्टि भी एक दृष्टि है. दिवा-रात्रिमें दर्शनके सामर्थ्यकी तरह हमें इन दोनों दृष्टियोंका प्रभेद स्वीकार कर दोनोंका समादर करना चाहिये.

जब प्रमाण किन्हीं विरुद्धधर्मोंका या क्रियाकलापोंका, जैसे भगवत्पाद श्रीशंकराचार्योदाहृत "**तद् एजति — तद् न एजति**" कहता हो तो उसका लक्षण कैसे घड़ा जा सकेगा! विरुद्धधर्माश्रय तत्त्वकी परिभाषा हो पानी कठिन है. कल श्रीबलिराम शुक्लजी कह रहे थे कि वे जब उपनिषदोंको पढ़ते हैं तब उन्हें कुछ असम्बद्ध प्रतिपादन होता सा

लगता है. असम्बद्ध है ही. पर करें क्या? हर तथ्यको सम्बद्ध करना हमारी लक्षणबुद्धिका कार्य है. वस्तु. परन्तु. हमारी लक्षणबुद्धिके आधीन होती तो भूकम्प जलप्लावन युद्ध या वृश्चिक-व्याघ्र जैसी क्रूरता जगत्में होती ही नहीं. हम जगत्की ऐसी परिभाषा घड़ लेते कि ये सब भयंकर बातें तिरोहित हो जाती. पर ऐसी क्रूर भयंकर बातें भी जगत्की एक वास्तविकता है. इनपर हमारे सोची हुयी परिभाषाओंका कुछ भी प्रभाव पड़ता नहीं है. पशुकी परिभाषा भूमिपर विचरनेवाले स्तनपायी प्राणीके रूपमें कर भी लें परन्तु व्हेल (तिमि) यदि भूमिका परित्याग कर सागरमें प्रविष्ट हो जाये तो क्या करना? हम पशुकी परिभाषा समुचित घड़ लें पर चमगादड़ भूमिके बजाय मकानकी छतपर ही विहार करने लग जाये तो क्या करना? तो इस तरहकी कुछ सीमायें लक्षणाधीन बुद्धिकी तरह प्रमाणाधीन बुद्धिकी भी हो सकती हैं. यह लक्षणदृष्टिकी और प्रमाणदृष्टिकी सीमायें हैं. इन सीमाओंके तहत वाल्लभदृष्टि एक बात कहना चाहती है पर दूसरी बात भी उतनी ही बुद्धिसंगत हो सकती है, ब्रह्म और ब्राह्मिकी सृष्टि में प्रकट होती विरुद्धधर्माश्रयताके कारण.

पाश्चात्य दर्शनने एक शब्द मिलता है *'रिडक्शनिज़म्.'* किसी वस्तुको किन्हीं बातोंमें एनलाईज़् करके कभी द्रव्यको गायब कर दो, तो कभी गुण-धर्मोंको गायब कर दो. कभी मेटर्को मेन्टल् कन्सेप्टस्में डिफाईन् करके गायब कर दो. तो उधर माईन्ड्को मटीरिअली ऑर्गनाइज़्ड् कॉम्प्लेक्स् फ़िनोमिनामें डिफाईन् करके गायब कर दो. इस तरहके एनलिटिक् एप्रोचमें रिडक्शनिस्टिक् एक्स्ट्रीमिटी या ऐकान्तिकता आ ही जाती है... और उसके रिएक्शन्में आजकल एक *युनिफिकेशनिज़म्* भी चल पड़ा है. जिसमें जबरदस्ती सबको एक मान लो, जबरदस्ती सब दृष्टिओंका एक दृष्टिमें अन्तर्भाव कर लो. अर्थात् अपनी मनपसंद दृष्टिको सर्वग्रासी बना देना. बृहदारण्यकोपनिषद्में कहा गया है कि सृष्टाने सृष्टरूपको प्रकट करके उसे खा जाना चाहा. और तब सृष्टरूपने

"स 'भाण' इति अकरोत्". नाम-रूप-कर्मात्मिका सृष्टि अपने जन्म-स्थिति-लयके एकमात्र उपादानभूत धर्मी ब्रह्मके स्वरूप अथवा अप्रतिघसंकल्प परमेश्वरके सर्वभवनसामर्थ्यके आधीन ही उत्पन्न स्थित या लीन हो सकती है. तब भी 'भाण' उच्चारणकी क्रोशना करनेमें तो स्वाधीन होती ही है. तो हम वाल्लभोंको भी इस तरहसे 'भाण' चिल्लानेकी इच्छा होती है, जब कोई हमें खा जाना चाहता हो. खा मत जाओ. हमारे साथ विमर्शक्रीडा करो. "खा मत जाओ" इस अर्थमें नहीं कि हमारी आलोचना मत करो. "खा मत जाओ" इस अर्थमें कि हमारा अपनी दृष्टिमें अन्तर्भाव मत मान कर चलो. न हठारोपित युनिफिकेशनिज़म् अच्छी बात है और न हठारोपित विविध दृष्टिओंके बीच असमानता ही सोचना कोई अच्छी बात है. परस्पर संवादकेलिये ही इतना तो हम सभी स्वीकार ही सकते हैं. जो कुछ हम आपसमें चर्चा या विमर्श करें उससे, तत्त्व विरुद्धधर्माश्रय हो या नहो मगर विरुद्धमति, विरुद्धवाद, विरुद्धोपपत्ति सबकी बुद्धिमें उभर सकती हैं. और उन मति-वादोंका कमसे कम संवाद या अधिकाधिक विवाद तो होना ही चाहिये, एक दूसरेका एक-दूजेमें अन्तर्भाव या अतुलनीय वैषम्य ही मान कर नहीं चल पड़ना चाहिये. संवाद तो विवादात्मक हो तब भी चलेगा!

जो भी संगीतके बारेमें थोड़ा-बहुत जानते हैं उन्हें यह बात अच्छी तरह अवगत होगी कि कोई भी अच्छा राग वादी, संवादी और विसंवादी सुरोंके बिना प्रकट नहीं हो पाता. तो इस सेमिनारकी विचारप्रकियाके एक अच्छे रागमें हम आपसी संगतिमें कोई ऐसा गीत गायें! अतः विरुद्धधर्माश्रय परमतत्त्वके विमर्शमें हम एक-दूसरेको मूर्ख न समझें, एक दूसरेको विप्र समझें. और विप्र भी इस अर्थमें नहीं कि हम सर्वथा अन्धे हैं. विप्र समझें एक-दूजेको इस अर्थमें कि हम सभीके पास अपना-अपना अनुभव है. इस तरहका कोई एक *नोन्-रिडक्शनिस्टिक् या नोन्-युनिफिकेशनिस्टिक् एप्रोच्* हमारी गोष्ठियोंमें

होना चाहिये.

सबसे बड़ी आपत्ति मुझे लगती है... उदाहरणके तौर पर कहूं तो, अंग्रेज़ी भाषामें कुछ मज़ेदार *टर्म्स्* हैं. यथा समाजशास्त्रमें हम व्यक्तिको *'इन्डिविज्युअल्'* कहते हैं. इसका अर्थ होता है : That which can not be divided. There is a point in it. If sociology attempts to devide individual then it seizes to be sociology. It will be turned in to biology. समाजशास्त्रको यदि समाजशास्त्र रहना है तो उसे व्यक्तिको *इन्डिविज्युअल्* मानना ही पड़ेगा. पर क्योंकि समाजशास्त्र व्यक्तिको इन्डिविज्युअल् मानता है, इसलिये वह बायोलोजीपर जबरदस्ती करे "तुम उसका बायोलोजिकल डिविज़न् मत करो!" तो यह तो उचित नहीं. बायोलोजीको अपना काम अपने ढंगसे करना ही पड़ेगा. अन्यथा वह बायोलोजी ही नहीं रह पायेगी. अत: समाजशास्त्रका सिम्पल् इन्डिविज्युअल बायोलोजीमें डिविज़िबल् कॉम्प्लेक्स् हो जाता है. बायोलोजीका *सेल्स्* वहां भी इन्डिविज़िबल् है मगर केमेस्ट्रीमें वह भी मोलेक्युल् बन जाता है. और वह मोलेक्युल् भी फिज़िकल् एटम्स्में डिवाइड़ हो ही सकता है. यदि बायोलोजी या कैमिस्ट्री यह सोच कर झघड़ा करें कि हमारे सेल्स् या मोलेक्युल् क्योंकि इन्डिविज़िबल् है इसलिये दूसरे शास्त्र उसका डिविज़न् नहीं कर सकते तो यह बात नहीं चल पायेगी. Human understanding will not allow it. Because the same human understanding which has produced Biology and Chemistry has also given rise to Physics . तो बायोलोजी या केमिस्ट्रीका जो सेल् या मोलेक्युल् होता है, वह फिज़िक्स्में अविभाज्य नहीं रह जाता है. वह भी डिविज़िबल् हो जाता है. और हम इस तथ्यको अच्छी तरहसे जानते हैं कि फिज़िक्स्के एटम्स् इन्डिविज़िबल् थे. 'एटम्' शब्द यूनानी 'अ-तोमन्' शब्दका अपभ्रंश है. यह 'तोमन्' शब्द पुनः विभाजनार्थक था. नैयायिकोंने अणु परमाणु द्व्यणूक त्रसरेणु आदि जो कल्पनायें की हैं वे बड़ी

मज़ेदार कल्पनायें हैं. मगर इसमें समझने लायक तथ्य यह है कि इस कल्पनाके भीतर भी...

मुझे अच्छी तरहसे याद है कि आजसे पचास-साठ साल पहले जब एक सौ छह या आठ तत्त्व विज्ञानने खोजे थे तब हिन्दुस्तानके आधुनिक विद्यालयोंमें पढ़े हुवे लोग नैयायिकों और वेदान्तिओं पर टूट पड़े कि तुम पांच तत्त्व या सात पदार्थ मानते हो पर देखो वैज्ञानिकोंने एक सौ छह तत्त्व खोज निकाले हैं. अरे मेरे भाई! उन एक सौ छहकी जगह बादमें एक सौ सत्ताईस तत्त्व खोज निकाले गये और भी न जाने कितने तत्त्व निकलते रहेंगे और कृत्रिम भी निर्मित हो पायेंगे... पर उन सभी तत्त्वोंका ''गणपति बापा मोरिया'' करते हुवे एटमिक् फ़िज़िक्सने उनका इलेक्ट्रोन् न्युट्रोन प्रोटोन् में विभाजन कर दिया. अब वो सबके सब तत्त्व कहां गये! केवल संघात रह गये. मैं जो बात कहना चाह रहा हूं उसपर ध्यान दें कि उन्हें संघात, विवर्त, आरम्भ अथवा परिणाम आप जिस तरहसे भी उसे कहना चाहें कह लें, मगर उससे भी आगे बढ़ कर आज *सब-एटमिक्-फ़िज़िक्स्* आ गई है. उसने उन इलेक्ट्रोन् न्युट्रोन् प्रोटोन् के भी सत्ताईस चार्जिस् खोज निकाले हैं. अब हम सोच रहे हैं कि कहीं कोई ऐसा 'कासार्' तत्त्व मिल जाय कि जिसपर जाकर इस अवयवधाराकी विश्रान्ति हो पाये—''**को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः, अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेन अथो को वेद यतः आबभूव. इयं विसृष्टिः यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न, यो अस्य अध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो, अंग!, वेद यदि वा न वेद**'' इस अवयवधाराकी विश्रान्ति होगी की नहीं होगी हमको पता नहीं है... ''**अणोर् अणीयान् महतो महीयान् आत्मा गुहायां परम् अस्य जन्तोः तम् अकृतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादात् महीमानम् ईशम्**'' . इसलिये हम उसको विरुद्धधर्माश्रय स्वीकारते हैं. विरुद्धधर्माश्रय स्वीकारते हैं इसलिये हम इस खण्डन-मण्डनकी

प्रक्रियाको बहुत आनन्दसे लेते हैं. हमें कोई संकोच नहीं होता है इस प्रक्रियामें. क्योंकि जब तत्त्व विरुद्धधर्माश्रय है तब खण्डन-मण्डन तो होना ही है. यदि खण्डन-मण्डन न होता हो तो उसकी विरुद्धधर्माश्रयतामें हमें सन्देह होने लगेगा. हम तो हमारे ब्रह्मकी विरुद्धधर्माश्रताको कथमपि सन्दिग्ध बनाना नहीं चाहते हैं. इसलिये हम मुक्तमनसे खण्डन-मण्डनको आमन्त्रित करते हैं.

कल एक बात भावनाप्रत्यक्षकी आयी थी. मैने अपने पेपरमें इस विषयका खास उल्लेख किया था. लुड्विग् विट्गेन्स्टाईन्के फ्लक्च्युएटिंग ग्राफके उदाहरण द्वारा.

हम यह बात मानते हैं कि भावप्रत्यक्ष या भावनाप्रत्यक्ष... उन्होंने 'भावप्रत्यक्ष' कहा. हमारे यहांकी परिभाषामें हम उसको ''भावात्मकताका प्रत्यक्ष'' कहेंगे. भगवान्के दो स्वरूप हमारे यहां स्वीकारे गये हैं : १.आलम्बनविभावात्मक और २. स्थायिभावात्मक. हमारे भीतर भगवान्के बारेमें जो भाव पैदा होता है, उसे भी हम भगवान् मानते हैं. यहां तक कि हमारे भीतर रही हुयी भगवद्भक्ति भी भगवान्का ही एक रूप है. और उस भक्तिसे हम भगवान्के जैसे रूपकी धारणा करते हैं वैसा भगवान्का रूप भावात्मक होता है.

यह भक्ति तो उपलक्षण है. किसी व्यक्तिमें भगवान्के प्रति भक्तिका भाव नहीं है और द्वेषभाव है तो, वह भी भगवान्का ही एक रूप है, वह भी भगवान्के आनन्दका ही एक विलास है जो हमारे भीतर द्वेषकी तरह काम कर रहा है. इस द्वेषके वशात् हम भगवान्का जो रूप घड़ते हैं वह भी भगवान्का आलम्बनविभावात्मक रूप होता है. उपलक्षणविधिसे **''गोप्यः कामाद्, भयात् कंसः, द्वेषात् चैद्यः, सम्बन्धाद् वृष्णयः, भक्त्या वयं विभोः''** यों सारे रसभावोंको यहां हम स्वीकारते हैं. भगवान्के भावात्मक रूप एक नहीं अनेक

होते हैं. ''मल्लानाम अशनिः, नृणां नरवरः, स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान, गोपानां स्वजनो, असतां क्षितिभृजां शास्ता, स्वपित्रोः शिशुः, मृत्युः भोजपतेः, विराड् अविदुषां, तत्त्वं परं योगिनां, वृष्णीनां परदेवता, इति विदितो रंगगतः साग्रजः''. इस तरह भगवानके बारेमें जितने भाव होते हैं वे सभी वस्तुतः भगवानके भावात्मक रूप होते हैं. यह हमारा सिद्धान्त है. ''त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोजः आस्ते श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसां यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय''. यह ऑब्जेक्ट्में रही हुयी किसी तरहकी प्लास्टिसिटि है. जैसे कोई शिल्पकार पत्थरको घड़ कर मूर्ति बना देता है. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि प्रत्येक चिन्तककी दृष्टिमें इस तरहकी कोई कारीगरी है. आप वहां न्याय, वैशेषिक आदि सभी मतोंको संकलित करके कहते हैं ''सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तद् अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म अविभक्तं विभक्तिमत्'' . इन प्रत्येक चिन्तकोंकी दृष्टिमें, इन ऋषियोंकी दृष्टिमें; और नास्तिकोंकी दृष्टिमें भी इस तरहकी कारीगरी है कि जिससे ''यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे'' स्तुति चरितार्थ हो जाती है. वह *वपुःप्रणयन* करता है.

स्वसृष्ट चेतनोंके भावानुरूप परमतत्त्व द्वारा *वपुःप्रणयन* के कारण उसके द्वारा परिगृहीत भावात्मक रूपोंमें याथार्थ्य आहित हो जाता है. ऐसे भाववाले द्रष्टाके हृदयारूढ़ भावके कारण परमात्माका वैसा भावात्मक स्वरूप अर्थाविसंवादी ज्ञानसे दृष्टिगोचर होने लगता है. कल्पनादृष्टि और भावदृष्टिमें यही अन्तर है कि कल्पनादृष्टिका अपने कल्पित अर्थके साथ संवाद होना नियत नहीं होता, यदि कल्प्यमान वस्तुमें कल्पनानुसारी बन पानेकी सामर्थ्य न हो तो. भावदृष्टिके वश वह सम्भव बन जाता है. हम यह मानते हैं कि सभी दृष्टिओंके साथ संवाद कर पानेकी ब्रह्मके भीतर एक तरहकी प्लास्टिसिटि जैसी सामर्थ्य है. शर्त यह है कि दृष्टि दिलकी सचाईसे होनी चाहिये, मतिकी सचाईसे होनी चाहिये. व्यवहारकी सचाईसे होनी चाहिये, पाषण्डसे नहीं होनी

चाहिये. यदि कोई दिलकी सचाईसे नास्तिक है, यदि कोई दिलकी सचाईसे अनीश्वरवादी है, तो फिर कोई चिन्ताकी बात नहीं है. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं "**ब्रह्मतु शून्यमपि भवितुम्** अर्हति. **शून्यस्य परन्तु एतादृक् सामर्थ्यं नास्ति यद् ब्रह्म भवेत्**" ब्रह्ममें ऐसा सामर्थ्य है कि वह किसीके प्रति शून्यवत् हो पाता है, यदि कोई उसे वैसे भावयोगसे परिभावित करता है तो. शून्यमें यह सामर्थ्य नहीं है. शून्यवादका एक ऐसा भी इन्टर्प्रिटेशन् हमारे यहां है. शून्यवादका यह पोज़िटिव् इन्टर्प्रिटेशन् शून्यवादमें भी स्वीकारा गया है "**न रूपाद्यभावाद् रूपं शून्यं किन्तु रूपमेव शून्यं शून्यतैव रूपम्**" यह मोर्-ओर्-लेस् हमारी ब्रह्मदृष्टिके जैसी ही दृष्टि है. और यदि इस अर्थमें शून्यवाद है तो हमको वह बहुत अच्छा लगता है. वैसे एक बात सच कहूं तो मैं यह मानता हूं कि सर्वदृष्टिप्रहाणात्मक जो शून्यवाद है वह दर्शनशास्त्रमें एक ध्रुव है और सर्वदृष्ट्यनुग्रहात्मक हमारा शुद्धाद्वैतवाद दूसरा ध्रुव है. इन दो ध्रुवोंके बीच कुछ भूमध्यरेखाएं हैं कुछ कर्करेखाएं हैं. कई रेखाएं हैं. उन सब रेखाओका इन ध्रुवोंसे न आत्यन्तिक भेद है न आत्यन्तिक अभेद है. इन सभीके बीच किसी तरहका तादात्म्य है. यह हमारा सिद्धान्त है. इस सिद्धान्तके कारण हम तो यहां तक भी स्वीकारते हैं कि अनेकान्तवादका पक्ष हमारे पक्षके आस-पासका कोई पक्ष है. मगर हमारा उसमें अन्तर्भाव नहीं है. पहलेके कई सेमिनारोंमें इस पक्षका प्रतिपादन कर चुका हूं.

तो भावनाप्रत्यक्षके बारेमें मेरा यह ऑब्जर्वेशन् है. इसके बाद अवयव और अवयवी के प्रत्यक्षकी चर्चाके बारेमें मैने कुछ बातें कल बताई थीं. इस विषयमें वाल्लभ वेदान्तका यह स्पष्ट अभिप्राय रहेगा कि हमें अवयवीका प्रत्यक्ष होता ही है. यह इस बातका भी स्पष्ट प्रमाण है कि तत्त्व निरवयव ही नहीं होता. इसी तरह अवयवका भी प्रत्यक्ष हमें होता है, यह पुनः इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि अवयवोंका केवल संघात ही नहीं होता. कस्मिंश्चिद्

अवयविनि अवयवाः भवन्ति. केषुचिद् अवयवेषु पुनः अवयवी भवति. इसलिये केवल पुञ्ज ही होता है ऐसी बात नहीं है. इसका स्पष्ट प्रमाण भी हम देख सकते हैं. जैसे कारकी एसेम्ब्लिंग होती है. अनेक कलपुर्जोंको जोड़ कर कार बनाई जाती है. बनाई हुई कारमेंसे कोई कलपुर्जा निकाला भी जा सकता है. जब हम एक पुर्जेको निकाल कर दूसरा पुर्जा डलवाते हैं तो न्याय यह कहेगा कि अवयवोंके बदल जानेसे नूतन अवयवीका आरम्भ हुवा. यह एक दृष्टि है. लक्षणवादी दृष्टि. सामान्य दृष्टि या सरल दृष्टि ऐसी है कि एक कारमेंसे किसी एक अवयवको निकाल कर दूसरा अवयव डाला जा सकता है. निर्माणके समय अवयवोंमेंसे कार बनी परन्तु निर्माणके बाद अवयव कारमें अवस्थित हो जाते हैं. वृक्षोंसे वन बनता है और वृक्ष वनमें होते ही हैं. इस तरहकी बुद्धि भी होती ही है. अवयवोंमें कार/वन है अथवा कार/वनमें अवयव/वृक्ष हैं. हर सामान्य व्यक्ति यही कहेगा कि कारके बननेके बाद कारमें स्पेरपार्ट्स् होते हैं और बनानेवाला यही कहेगा कि स्पेरपार्ट्स्को जोड़नेसे कार बनती है.

रही बात विकारप्रत्यक्षकी. वाल्लभ वेदान्त विकारोंका प्रत्यक्ष स्वीकारता है. यदि वह न होता तो इन्द्रियको 'अविकारी' कैसे कहते? ब्रह्मको 'अविकारी' कैसे कहते? अतः विकारका प्रत्यक्ष होता है. मगर जब विकारका प्रत्यक्ष होता है तब वाल्लभमति ऐसी है कि कुछ न कुछ ऐसा है कि जो विकारमें उपादानभूत है और अविकारी है. इसलिये हम उसे 'अविकृतपरिणाम' कहते हैं. अब पुनः विरुद्धधर्माश्रयता आ गयी. फिरसे 'अर्धजरतीय'न्याय हो गया. पर हमको ऐसा लगता है कि "यदि इदं स्वयम् अर्थानां रोचते तत्र के वयम्!".

इस बातसे मुझे अपनी पुरानी बात याद आ गई. कुछ वर्ष पूर्व मेरी मूंछमें एक ओर श्वेत और दूसरी ओर श्याम केश थे.

मैं जब हरिद्वार गया तब दूधवालेने जोरसे कहा ``कहो भैया! कभी अहिरावण देखा था कि नहीं''. मैने कहा भाई देखले मुझे! मैं क्या करूं? क्या डाय् लगा कर आधी मूछको काली बनाता रहूं? मेरे भीतर धीरज है कि मेरी मूछका जो भाग आधा काला है वह कभी सफेद हो जायगा. तब तक धीरज तो रखनी ही पड़ेगी. ``तस्य धीरा: परिजानन्ति योनिम्''. तो जब कोई विकारी होता है तो कुछ अविकारी भी होता ही है. इसलिये हम अविकृतपरिणाम स्वीकारते हैं.

इसी तरह प्रत्यक्षानुभव और स्वप्नानुभव के विषयमें जो रिडक्शनिज़म् अपना लिया गया कि स्वप्न निरालम्बन दीखता है, इसलिये सारे ज्ञान निरालम्बन होते हैं. या प्रत्यक्षमें, निर्विकल्पकप्रत्यक्षके प्रामाण्याग्रहवश जो भी ज्ञान हो रहा है वह बाह्यार्थजन्य ही होता है, इसलिये सारे ज्ञान यथार्थ ही होते हैं. इस तरहका रिडक्शनिज़म् वाल्लभ वेदान्तको मान्य नहीं है. क्योंकि हमारी बुद्धिमें **``संशयो विपर्यासो निश्चय: स्मृति: स्वाप: इति उच्यते बुद्धे: लक्षणं वृत्तित: पृथक्''** इस भागवतवचनके आधारपर कुछ ज्ञान बाह्यार्थजन्य माने गये हैं तो कुछ ज्ञान बाह्यार्थजन्य नहीं भी माने गये हैं. अत: सभी ज्ञानोंका इन दोमेंसे किसी एकमें अन्तर्भाव कर देना वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिसे मुझे मान्य नहीं लगता है.

बर्ट्रन्ड्र रसेल्ने एक मजेदार उपहास किया है. एक बार रसेल् सोविएट् रशिया गये. वहां उन्होंने किसी डायलेक्टिकल् मटीरियलिस्ट् प्रोफेसर्से कहा कि At least you will also admit that there is something like mental phenomina in your brain, which is not made of mater. पर सोविएट सरकारका अधिकृत दर्शन क्योंकि Dilactical materialism था इसलिये उस प्रोफेसर्ने रसेल्से कहा कि No. No. We don't have anything like mind in our brain.

क्या मज़ेदार बात है! But do you know how Russell responded? He simply said: "But my politeness forbids me to accept you proposition". So I am also in this sense little bit polite that I am also not ready to accept such reductionistic propositions.

दूसरी बात प्रत्यक्षके बारेमें जो डॉ. मंगलाजीने एक प्रश्न उठाया कि ज्ञान फलाविसंवादी होना चाहिये कि नहीं? अर्थात् हमारे ज्ञानमें सप्रयोजनता है कि निष्प्रयोजनता है? प्रत्यक्ष तो एक उपलक्षण है क्योंकि इस सेमिनारका विचार्यविषय प्रत्यक्ष है. परन्तु सारे ज्ञान और सारे अस्तित्वमें सप्रयोजनकता है कि निष्प्रयोजनकता है, यह विचार्य विषय होना चाहिये. किसी कारणसे हमारे भारतीय दर्शनमें इस विषयकी चर्चा बहुत नहीं हुयी है. उसका मुख्य कारण यह होना चाहिये कि हमारे यहां एरिस्टोटल् नहीं हुवा. एरिस्टोटल्ने चार कारणोमें प्रयोजनको भी कारणतया स्वीकारा है. 'नियतपूर्वभावित्व' की हमारी कारणकी परिभाषाके अनुसार प्रयोजन कारणतया सिद्ध नहीं हो सकता है. क्योंकि प्रयोजन कार्योत्तरभावी होता है. मगर एरिस्टोटल्ने प्रयोजनको कारण माना.

आधुनिक विज्ञानके उद्भवके साथ वहां यूरोपमें सृष्टिकर्ताका अस्तित्व निरस्त होता लगा तब नीट्ज़ेकी प्रसिद्ध बात आपने सुनी होगी कि वह क्रिसमस्के दिन चर्चमें टोर्च ले कर गया और घोषणा करने लगा कि God is dead!". अब किसकी प्रार्थना कर रहे हो? हेतु उसमें क्या था? Exixtetial Predicament. हेतु उसमें यही था कि जिस भगवान्के दिमागमें प्रयोजन था, जो भगवान् कर्ता कहा माना गया था वह कर्ता जब नही रहा तो अब वस्तु-सत्तामें प्रयोजनको आहित करनेवाला भी नहीं रहा. इसलिये सारा एक्ज़िस्टेंस् निष्प्रयोजन हो गया. ExixtetialPredicament के अनुसार केवल चेतना

ही निष्प्रयोजन अस्तित्वमें प्रयोजनका आधान कर सकती है. और मेरी चेतना अकेली होती तो... सार्त्रने एक ड्रामासे इस बातको बहुत अच्छी तरहसे उभारा है कि आपका अस्तित्व मेरेलिये नरक है. क्योंकि मेरे भीतर जो भी कुछ प्रयोजन हैं उनके साथ जो कुछ भी विरोध आता है वह आपके कारण आता है. अत: 'नरक'का अर्थ है आप. अहं स्वर्ग है और त्वं नरक है. क्योंकि मेरे अहंमें रहे हुवे प्रयोजनके आधानकी क्षमतामें त्वम् विघ्न करता है. और जड़वस्तु निष्प्रयोजन होती तो मैं आधान कर देता. मगर सामने भी यदि सप्रयोजन वस्तु हो और उसके और मेरे प्रयोजन यदि एक न हों तो अस्तित्व नरकायित हो जाता है. यही समस्या प्रत्यक्षमें भी आती है कि प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रत्यक्षके विषय में सप्रयोजनता है कि निष्प्रयोजनता है.

मैं अपनी बात स्पष्ट करना चाहूंगा कि बम्बईसे पूना आते हैं तो ट्रेनका प्रयोजन होता है पूना आना. मगर वह प्रयोजन उस ट्रेनमें सवार हर यात्रीका बलात् नियमन कर नहीं पाता. पूना आनेवाली ट्रेनमेंसे भी कोई लोनावाला न उतर सके ऐसा ट्रेनका प्रयोजन सर्वतो अतिशायी हो नहीं सकता. तो ट्रेनका प्रयोजन यात्रीके ऊपर बन्धनकारी नहीं होता है और न यात्रीका प्रयोजन ट्रेनके ऊपर बन्धनकारी हो पाता है. दोनोंके प्रयोजनोंमें हमको तादात्म्य स्वीकारना चाहिये. दोनोंके प्रयोजनमें प्रतिरूपता भी हो सकती है. जब बम्बईसे पूना आती ट्रेनमे बैठ कर आप उलटे बम्बई जाना चाहते हों. इस तरहकी कुछ लाचारियां हैं. मगर बम्बईसे निकली ट्रेनमें हम बैठे हैं इसलिये हमको पूना ही उतरना यह आवश्यक नहीं है. सारे प्रत्यक्षको फलाविसंवादी या विकल्पोंके प्रयोजनमें ही नियततया पर्यवसित होता माना नहीं जा सकता. दर्पणगत प्रतिबिम्बका प्रत्यक्ष फलाविसंवादी होनेपर भी यथार्थ नहीं होता और बहुत सारे ऐसे यथार्थ प्रत्यक्ष या प्रत्यय ऐसे हो सकते हैं जिनके साथ जुड़े किसी तरहके फलको खोज

पाना शक्य नहीं होता. ऐसा भी नहीं कि सारा प्रत्यक्ष विकल्पके प्रयोजनमें पर्यवसित ही होता हो या सारे विकल्प निर्विकल्पक प्रत्यक्षके विषयमें ही पर्यवसित होते हों. इस तरहकी ऐकान्तिकता हमको मान्य नहीं है.

इसीके सन्दर्भमें कहना चाहूंगा कि सेन्सा, सेन्सडेटा, परसेप्ट या कन्सेप्ट मेंसे किसी भी एकमें सारी प्रत्यक्षानुभूतिके रिडक्शनिज़मका अनुष्ठान करने भी वाल्लभवेदान्त तैयार नहीं है. प्रत्यक्षके बारेमें हमारे इस दृष्टिबिन्दुको हम स्पष्ट करना चाहते हैं.

अन्तमें वक्तव्यके उपसंहारार्थ कहना चाहुंगा कि विभिन्न विचारधाराओंके अनुसार प्रत्यक्षानुभूतिकी इतनी सुविशद विवेचना कोई अध्ययनार्थी अपने पुरुषार्थके बलपर समझना या समझाना या लेखबद्ध करना चाहे, और वह भी इतने स्वल्प समयमें, तो यह सर्वथा एक अशक्यता ही प्रतीत होगी. परन्तु इस विचारगोष्ठीमें सहभागी होनेवाले सभी महानुभावोंने जिस सरलतासे सभी सहभागिओंको स्वयं उनके और दूसरे मतवादोंको भी भलीभांति अवधारित कर पानेको अपने-अपने तलस्पर्शी विवेचनसे लाभान्वित किया वह वस्तुतः धन्यवादप्रदानकी औपचारिकतासे कहीं अधिक स्पृहणीय महर्घता लिये हुवे है!*

---

*यह वक्तव्य वैसे तो प्रत्यक्षविचारगोष्ठीके अन्तिमदिवसीय सत्रके अध्यक्ष डॉ. श्री वी.एन. झाजीके अध्यक्षीय वक्तव्यसे पूर्व समापनसमारोहमें दिया था परन्तु थोड़े-बहुत संशोधन-परिवर्धनके साथ इसे अविकल भूमिकाके रूपमें दे देना उपयुक्त लगता होनेसे यहां मुद्रित किया जा रहा है (गो.श्या.म.).

* प्रत्यक्षप्रमाकरणनिरूपकः तृतीयः तरङ्गः *

प्रत्यक्षस्य लक्षणं तत्र प्रत्यक्षे चक्षुरादिभेदेन षट् करणानि इति निरूपणम् :

अथ प्रत्यक्षं निरूप्यते :—

"इन्द्रियात्मकं प्रमाणं"=प्रत्यक्षम्.

दोषदुष्टेन्द्रियवारणाय 'प्रमाणम्' इति. शब्दादिवारणाय 'इन्द्रिय'- इति. तानि चक्षुः-त्वग्-घ्राण-रसन-श्रवण-मनोभेदेन षट्.

मनः इन्द्रियं नेति मतस्य निरासः :

यत्तु *मनो न इन्द्रियम्, "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था ह्यर्थेभ्यश्च परं मनः" (कठोप. १।३।१०) "मनः सर्वेन्द्रियाणि च" (नारा.उप.१ – मुण्ड.उप.२।१।३) इत्यादिश्रुतौ भेदनिर्देशात्. "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि" (भग.गीता.१५।७) इति भगवद्वाक्यन्तु "यजमानपञ्चमाः... इडां भक्षयन्ति" (श.प.ब्राह्म.२।४।४।२५) "वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्" (ब्रह्म.पुरा.२।३।३५।१४) इत्यादौ यथा अनृत्विजो यजमानस्य अवेदस्य महाभारतस्य च पञ्चत्वसंख्यापूरकत्वं तद्वत् मनसः षट्त्वसंख्यापूरकत्वेनापि उपपद्यते* इति केचिद् आहुः.

तत् न, "इन्द्रियाणां मनश्चास्मि" (भग.गीता.१०।२२) इत्यस्य विरोधात्. नच *इदं विभूतित्वमात्रगमकं "नक्षत्राणाम् अहं शशी" (भग.गीता.१०।२१) "ज्ञानं ज्ञानवताम् अहम्" (भग.गीता.१०।३८) इत्यादिवत् नतु तज्जातीयत्वस्यापि* इति वाच्यं, बाधकाभावात्. उक्तश्रुतेः उत्कर्षमात्रपरत्वेनापि उपपत्तेः. शशिनि नक्षत्रव्यवहारस्य—ज्ञाने च तद्वत्ताव्यवहारस्य—अदर्शनात्, तत्र तन्मात्रपरत्वेऽपि, अन्यत्र तथा वक्तुम् अशक्यत्वात्. नच विनिगमनाविरहः, प्रायपाठेनैव निर्णयात् "इन्द्रियाणि दशैकं च" (भग.गीता.१३।५) इति वाक्यात् च. नच *इदं दत्तोत्तरम्!* इति

वाच्यम्. अत्र तथा वक्तुम् अशक्यत्वात्. तथापि च इन्द्रियेभ्यः पूर्वं "महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः" (भग.गीता.१३।५) इति पूर्वार्धे बुद्ध्या मनसः ग्रहः स्यात्. "हस्तादि..." (ब्र.सू.२।४।६) सूत्रे प्राणगणनायां भगवता मनसोऽपि अङ्गीकारात् च.

यद्वा इन्द्रियत्वम् अनिन्द्रियत्वं च इति उभयमपि अस्तु क्रियाज्ञानमयत्ववत्, यमे देवत्वपितृत्वयोरिव उभयोः निवेशेऽपि बाधकाभावात्. इन्द्रियत्वस्य अजातित्वात्. नच भावाभावविरोधो, धर्मान्तरत्वस्यापि उपगन्तुं शक्यत्वात्. नच *अनिन्द्रियत्वे क्रमविरोधः* शंक्यः. उत्कर्षमात्रार्थमेव अनिन्द्रियत्वादरणाद् इति दिक्.

चक्षुरादीन्द्रियग्राह्यविषयाणां स्वरूपम् :

एतेषाम् इन्द्रियाणां स्वरूपन्तु — अणुतमम् अतीन्द्रियम् अनित्यं चिरस्थायि विकारि च, इति — अग्रे प्रमेयप्रकरणे वक्तव्यमिति. साम्प्रतं तद्योग्यविषयादिकमेव उच्यते प्रमाणविभागज्ञानार्थत्वात्.

तत्र चक्षुर्योग्याः — उद्भूतरूपं, तद्वान्[पा.भे.१], उद्भूतरूपवन्मात्रवृत्तयः, संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-वेगाः, कर्म च तदीयं, तेषां जातिः, तत्समवायः च इति. स्नेहद्रवत्वेतु त्वग्ग्राह्ये इति वक्ष्यते. 'मात्र' पदं वायुघटसंयोगादिवारणाय. आकाशस्यतु न संयोगः प्रमाणाभावात्, तस्य स्पर्शे अन्तर्भावस्य वक्ष्यमाणत्वेन तत्र तदभावात् च. 'समवाय' पदम् अत्र तादात्म्यवाचकं ज्ञेयम्. तत्र द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूतरूपवत्त्वेन योग्यता. अतः परमाणुपिशाचादीनाम् उद्भूतरूपाभावेनैव चक्षुषा अग्रहो, नतु महत्त्वसामानाधिकरण्यमपि तत्र निवेशनीयम्, अप्रयोजकत्वात्, परमाणुषु उद्भूतरूपसत्त्वे युक्त्यभावाद् इति. एवं द्रव्यगतधर्मचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूतरूपवन्मात्रवृत्तित्वेन योग्यता. धर्मगतजात्यादिचाक्षुषं प्रति योग्यद्रव्य-वृत्ति-वृत्तित्वेन सा बोध्या. उद्भूतत्वञ्च आविर्भूतत्वम् अनुद्भूतत्वं च

तिरोभूतत्वम्—इति च मनसोऽपि [पा.भे.२] पूर्वं रूपस्य ग्रहणं, मुख्यतया तस्यैव विषयत्वात्. ततो द्रव्यादीनान्तु रूपद्वारकम् [पा.भे.३] इति बोध्यम्.

बाह्यास्तु, *रूपाद्यतिरिक्तं द्रव्यं न* इच्छन्ति, तत्तु आगमापायिषु रूपादिषु स्थिरत्वेन घटादेः अनुभूयमानत्वादेव निरस्तम्.

अथ त्वग्-योग्याः—उद्भूतस्पर्शः, तद्वान्, उद्भूतस्पर्शवन्मात्रवृत्तयः उक्तगुणादयः, तेषां जातिः, तत्समवायः च. नच *वायुः वायुपरिमाणं च त्वचा न गृह्यते* इति वाच्यं, ''वायुः वाति'' ''स्वल्पो वायुः'' ''महान् वायुः'' इत्याद्यनुभवापलापप्रसङ्गात्.

एवं घ्राणयोग्याः—उद्भूतो गन्धः, तद्वान्, तज्जातिः, तत्समवायः च.

एवं रसनायोग्याः—उद्भतो रसः, तद्वान्, तज्जातिः, तत्समवायः च.

श्रोत्रयोग्याः—उद्भूतः शब्दः, तद्वान्, तज्जातिः च इति.

अन्येतु *घ्राणरसनश्रवणानां द्रव्यग्राहकत्वं न* **इच्छन्ति.**

तत् न अस्माकं रोचते, तमसि रसनया दुग्धादेः, घ्राणेन चम्पकादेः, श्रवणेन भेर्यादेः, अनुभवस्य व्याप्तिज्ञानविधुराणामपि दर्शनाद्, अनुव्यवसायविरोधेन स्मृतिरूपत्वस्य तत्र वक्तुम् अशक्यत्वात् च. नच *उपनीतभानं तद्* इति वाच्यं, तथात्वे मानाभावाद् घ्राणादीनां द्रव्याग्राहकत्वस्य [पा.भे.४] अभ्युपगमैकशरणत्वाद् इति दिक्. तेन उद्भूततत्तद्गुणा पृथिवी पञ्चानाम् इन्द्रियाणां योग्या, तादृश्यः आपो घ्राणव्यतिरिक्तानां चतुर्णां, तादृशं तेजो घ्राणरसनभिन्नानां त्रयाणां, तादृशो वायुः त्वक्श्रवणयोः द्वयोः, आकाशस्तु प्रमेयबलादेव चाक्षुषः, उद्भूतशब्दस्तु श्रावणोऽपि प्रतिध्वनिश्रवणेन गर्भगृहाद्याकाशावगमात्. दिक्कालौतु ग्राह्यार्थविशेषणतयैव गृह्येते न साक्षात्.

मनसस्तु कामादयो वृत्तयएव मनोग्राह्याः.

केवलात्मनः इन्द्रियाग्राह्यत्वनिरूपणम् :

आत्मातु, केवलः, शास्त्रीयसाधनम् अन्तरेण न प्रत्यक्षो, तथा तद्धर्माः च. किञ्च "केवलात्मा लौकिकप्रत्यक्षाविषयः विभुत्वाद् आकाशादिवत्. स्वात्मा लौकिकप्रत्यक्षायोग्यः आत्मत्वात् परात्मवद्" इति अनुमानाभ्यां तन्निश्चयात्, सिद्धान्ते तु, [टि.१] "यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनो- बुद्धीन्द्रियासवः" (भाग.पुरा.६।१६।२३) इति वाक्यात्; तथा, अणुत्वात् परमाणुवद् इति अनुमानात् च. 'अहं' बुद्धिस्तु [टि.२] पटावृतघटबुद्धिवद् अहंकारसंसर्गाद्गौणिका व्यवहारोपयोगित्वात् प्रमाभासरूपैव, अहन्तातादात्म्यभानेन भ्रमरूपत्वात्. "यन्न स्पृशन्ति नविदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः" (भाग.पुरा.६।१६।२३) इति वाक्ये मनसो असंसर्गादिकथनात् च.

तमःप्रतिबिम्बादिग्रहणप्रणाली :

तमः-प्रतिबिम्ब-गन्धर्वनगरेन्द्रजालादि-प्रतीतिरपि पदार्थस्वभावादेवेति. न तत्र कार्यकारणभावान्तरापेक्षा नापि तामसेन्द्रियस्य [पा.भे.६].

अन्धकारस्थ-घटादिपुतु नृचक्षुः प्रति मायया तमोजननात् तदेव विषयीक्रियते, नतु विषयः तदावृतत्वात्. एवञ्च विषयालोकसंयोगस्य सहकारितापि न कल्पनीया, अभास्वर-द्रव्य-चाक्षुषत्वावच्छिन्नं [पा.भे.७] प्रति दूरत्व-व्यवधानाभावादिविशिष्ट [पा.भे.८] स्य विषयतयैव निर्वाहाद्, "यथाहि भानोरुदयो नृचक्षुषां तमो निहन्याद् नतु तद् विधत्ते" (भाग.पुरा.११।२८।३४) इति वाक्ये भगवता सूर्योदयस्य नृचक्षुः-सम्बन्धि-तमो-निवारकत्वेनैव कथनेन आलोकसंयोगस्य विषयादिसंस्कारकतायाः विरुद्धत्वात्. एवञ्च उलुकबिडालादीनाम् आलोकसंयोगाभावे वस्तुचाक्षुषमपि अनुकूलीभवति. तमस्तु पदार्थान्तरमेव न तेजोऽभावः, "अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तम्" (अम.को.१।८।३) इत्यादिनामपाठात्, "ध्वान्ते गाढेऽन्धतमसम्" (अम.को.१।८।३) इत्यादिभेदपाठात्, "हृतरूपन्तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते स्वतेजसापिबत् तीव्रमात्मप्रस्वापनं तमः" (भाग.पुरा.११।३।१४)

इति वक्ष्यमाणतत्कर्मविरोधकथनात् च. विशेषस्तु अन्धकारवादे अस्माभिः प्रपञ्चितइति न इह प्रतन्यते.

तथा प्रतिबिम्बस्यापि पदार्थान्तरत्वं तद्वादादेव अवसेयम्.

तन्न्यायेन गन्धर्वनगरादेरपि. मायिकत्वस्य सर्वत्र तुल्यत्वात्.

अभावस्य उपादानकारणे आविर्भावतिरोभावयोः च अन्तर्भावात् तद्ग्राहक-सामग्री-ग्राह्यत्व-निरूपणार्थम् अभाव-चतुष्टय-स्वरूप-विचारः :

अभावस्तु, कारणे आविर्भावतिरोभावयोः च, यथासम्भवम् अन्तर्भवतीति तद्ग्राहकसामग्र्यैव गृह्यते. कथम् अन्तर्भावः ? इति चेद् उच्यते. प्रागभावध्वंसौ समवाय्यवस्थाविशेषरूपौ :—

(१)''तिरोभावसहकृता कार्याविर्भावानुकूलावस्था''=प्रागभावः.
(२)''तादृशी कार्यस्थितिप्रतिकूलावस्था''=ध्वंसः

इति, तदतिरेके मानाभावात्.

(१)नच * ''इह कपाले घटो नास्ति'' इति प्रतीतिरेव तत्र मानम् * इति वाच्यं, तस्याः घटत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभाव-विषयतया घट-संसर्गाभाव-सामान्यत्वेन प्रागभावात्मक-विशेषानवगाहित्वात्. नापि ''इह कपाले घटप्रागभावः'' इति प्रतीतिः तत्र मानं, तस्याएव अभावात्. तथा आग्रहेऽपि असार्वजनीनत्वेन प्रतिवाद्यनादरणीयत्वात्.

किञ्च अनया प्रतीत्या आपाद्यमानः प्रागभावः किं सकलघटप्रतियोगिकः एकः उत यत्किञ्चित्तत्तत्प्रतियोगिको नैकः ?

न आद्यः, तस्य प्रतियोगिनाश्यत्वोपगमाद् यत्किञ्चिद्घटोत्पत्तावपि तन्नाशसम्भवे ''इदानीम् अत्र कपाले घटो नास्ति — इदानीम् अत्र घटप्रागभावः''

इति प्रतीतिबाधापत्तेः. नच *सकलप्रतियोगिनाश्यः सः* इति वाच्यं, तथा सति एकस्मिन् घटे उत्पन्नेऽपि तत्प्रागभावानाशात् नश्यत्वेन प्रतीयमानेषु कपालेष्वपि "अयं घटो नास्ति – अत्र एतद्घटप्रागभावः" इति प्रतीत्यापत्तेः. नच *प्रतियोगिसत्तया प्रतीतिप्रतिबन्धात् न दोषः* इति वाच्यं, तथा सति प्रागभावप्रतियोगिनोः एकत्र स्थितौ सकल-प्रतियोगि-नाश्यत्वस्यापि अयुक्तिसहत्वात्, प्रतियोगिनां नश्वरत्वेन साफल्यस्यापि अशक्यवचनत्वात्. एवं नाशकानिर्वाच्यत्वे "विनाश्यऽभावः प्रागभावः" इति लक्षणासम्भवापत्तेः च. नच *गन्धाद्यनधिकरणकाल- वृत्त्यभावत्वस्य अदृष्टत्वावच्छिन्नानधिकरण-काल-वृत्त्यभावत्वस्य वा तल्लक्षणस्य सत्त्वात् न लक्षणासम्भवः* इति वाच्यं, सृष्टिपूर्वदशायां जन्यज्ञानसामग्र्यभावेन ज्ञातुः अभावात् तदा तत्सत्त्वस्य अप्रामाणिकत्वेन अनवसरपराहतत्वात्. ईश्वरः पश्यति! इति चेत् तर्हि तदाज्ञया मंस्यामो न भवद्वाचा इति दिक्.

न द्वितीयो, अभावज्ञानस्य धर्मिप्रतियोगिज्ञानाधीनतया तदानीं प्रतियोगिज्ञानाभावेन तत्प्रागभावस्य ज्ञातुम् अशक्यत्वात्. घटत्वेन रूपेण प्रतियोगिज्ञानाङ्गीकारे प्रागभावस्यापि सकलप्रतियोगिसामान्यतायां पूर्वविकल्पीय-दूषणापत्तेः. नच *घटत्वादिरूप-सामान्यलक्षण-प्रत्यासत्त्या भाविघटविषयक लौकिकज्ञानस्य संस्कारवशाद् उपनीतभानस्य वा शक्यवचनत्वात् न एवम्* इति वाच्यम्, अनुभवाभावेन भाविघटविषयकसंस्कारस्य अभावेन उपनीतभानस्य अशक्यवचनत्वात्. अलौकिकज्ञानपक्षेऽपि पूर्वं सकलघटादिविषयक-तादृशज्ञानोत्तरं प्रागभावस्य प्रतियोगिनाश्यत्वानुसन्धानाद्, विरोधप्रतिसन्धाने तत् संकोचनीयम्. पूर्वं तादृशप्रतिसन्धाने संकुचितमेव तद् उत्पद्यते इति वा वक्तव्यम्. तदुत्तरञ्च भाविघटीयप्रागभावज्ञानं वक्तव्यम्. तथा सति आत्माश्रयः, भावित्वस्य प्रागभावघटितत्वात्. यदि च वर्तमान-कालोत्तर-कालवर्त्युत्पत्त्याश्रयत्वं भावित्वम् इति उपेयते तदातु प्रागभावाप्रतीतिरेव.

एतेनैव "घटो भविष्यति" इति प्रत्ययेनापि तत्प्रतीतिरपि अपास्ता, भविष्यत्ताप्रत्ययस्य तैनैव सम्भवात्.

नापि अनुमेयत्वम्. तथाहि "कपालं घटप्रागभाववत् घटीय-चरम-सामग्रीवत्त्वाद् यो यच्चरमसामग्रीवान् स तत्प्रागभाववान् पटीय-चरम-सामग्री-विशिष्ट-तन्तुवद्" इत्यादिषु प्रयोगेषु प्रागभावरूप-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-साध्याप्रसिद्ध्या अनुमानासम्भवाद् इति. अतः तद्[पा.भे.९] ग्राहक-मानाभावात् सामयिकात्यन्ताभावेनापि प्रतीतिनिर्वाहात् च न प्रतीत्यादिना तत्सिद्धिः.

ननु मास्तु प्रतीत्यादिना तत्सिद्धिः. तथापि घटत्वेन कपालत्वेन सामान्य-कार्य-कारण-भावे सत्यपि, एतेभ्यः कपालेभ्यः एतद्घटोत्पत्तौ कपालत्वेन नियमासम्भवाद्, एतत्कपालत्वेन नियमाङ्गीकारे च विनिगमनाविरहाद्, बहुकपालजन्ये घटे गौरवग्रासात् च तद्देशनियामकः कश्चिद् वक्तव्यः. तादृशश्च भावाभावयोः मध्ये न प्रागभावाद् अन्यइति, तद्देशनियामकतया प्रागभावः सेत्स्यति इति चेत्,

मैवं, सत्कार्यवादे कार्यस्य कारणे सतएव अभिव्यक्तेः, कारणादेव देशनियमसम्भवेन च तथासिद्धेः अभ्युपगमैकशरणत्वाद्, बहुकपाले घटेऽपि समुदायस्यैव कारणत्वेन गौरवाभावात्, श्वो भाविनो अद्य अभावेन तत्कालवैशिष्ट्यस्य आवश्यकतया तेनैव निर्वाहात् च. नच *प्रागभावानङ्गीकारे उत्पन्नस्य पुनः उत्पत्तिप्रसङ्गः, कालोपाधीनां क्रमिकत्वेन तद्वैशिष्ट्य-तिरोभावकृत-सामग्रीविघटनादेव तदभावसिद्धेः. अतो न एवमपि प्रागभावसिद्धिः. नच *यत्र पक्वे घटे युगपत्[पा.भे.१०] स्पर्शरूपरसगन्धानां पाकजानाम् उत्पत्तिः, तत्र, कारणस्य कालवैशिष्ट्यस्य च साधारणत्वात् तादृशस्पर्शादिप्रागभावं विना न निर्वाहः* इति शंक्यं, तादृशविपरिणामस्य पाकसहकृत-स्पर्शादिस्वभावेनैव सम्भवात्, स्वभावस्य धर्मत्वेन तत्कल्पनेऽपि लाघवात् च. एवम् अव्याप्यवृत्तिसंयोगादेः तत्तदवच्छेदेन उत्पत्तावपि कारणस्वभावस्यैव नियामकत्वं बोध्यम्. नच *प्रागभावानङ्गीकारे कारणशरीरे प्रविष्टस्य पूर्ववर्तित्वस्य कथं ग्रहणं तस्य प्रागभावावच्छिन्न-समयवर्तित्वरूपतया प्रागभावग्रहाधीनत्वाद्* इति वाच्यम्, आविर्भावकशक्त्याधारत्वस्यैव कारणत्वेन 'पूर्ववर्तित्व' घटितलक्षणस्यैव अनादरणीयत्वेन तद्ग्रहणस्य अनावश्यकत्वाद्.

आवश्यकत्वेऽपि कार्यविषयकाग्रिम-जनन-ज्ञानेनैव तद्ग्रहणसम्भवात्. अन्यथा प्रागभावस्यापि कारणत्वेन तन्निष्ठपूर्ववर्तित्वस्यापि प्रागभावघटिततया तद्ग्रहणे आत्माश्रयेण प्रागभावकारणतादिज्ञानस्यापि असम्भवापत्तेः. प्रागभावस्य ज्ञायमान-कारणावस्थाविशेष-व्यंग्यत्वेन तस्य च उक्तरीत्या प्रागभावज्ञानाधीनज्ञानकत्वेन चक्रकापत्तेः च. नच * तस्य न कारणावस्थाव्यंग्यत्वम् * इति वाच्यं, घटजननाकूलां कारणावस्थाम् अपश्यतः कस्यापि ''इह घटो भविष्यति, इदानीम् अत्र घटप्रागभावः'' इति वृद्धवचनुदयेन तथात्वस्य तवापि आवश्यकत्वात्. नच * अभ्यासपाटवादेव उदयसम्भवात् न तथा * इति वाच्यं, तथा सति कारणादर्शनेऽपि तदुदयापत्तेः. तस्मात् न कारणावस्थातिरिक्तः प्रागभावः.

(२)तथा ध्वंसोऽपि, कार्यस्थितिप्रतिकूलां कारणावस्थां पश्यतएव ''इह घटो ध्वस्तः'' इत्यादिप्रत्ययात्. नच * सामयिकात्यन्ताभावस्य घटाप्रतिकूलत्वाद् ध्वंसानङ्गीकारे घटोन्मज्जनापत्तिः * इति वाच्यं, तादृगवस्थायाः सत्त्वात् निमित्तविघटनात् च तथा आपादयितुम् अशक्यत्वात्. यत्रच अवस्थातिरोभावः तत्र उन्मज्जनेऽपि बाधकाभावः. अतएव ताम्रादिघटेषु भङ्गोत्तरमपि निमित्तान्तरेण पुनःसन्धानमपि युज्यते. तस्य घटान्तरत्वाङ्गीकारस्तु केवलम् अभ्युपगमैकशरणइति शब्दनित्यतावादोक्तिदिशैव अवगन्तव्यम्.

किञ्च आश्रमवासिकपर्वस्थ-कुरुपाण्डवसैन्य-प्रदर्शनस्य कश्यपकृतस्य तक्षकदग्धवटतरूज्जीवनस्य च भारतादौ दर्शनात्, तादृशस्थले पदार्थान्तरत्वस्य वक्तुम् अशक्यत्वं च इति विद्वन्मण्डने प्रभुचरणैरेव व्युत्पादितम्.

नच 'ध्वंस'-'प्रागभाव' शब्दाभिलापबाधः, 'कार्य-कारणा'दिशब्दवत्-सापेक्षवृत्तिकत्वेन कार्यस्थितिम् अग्रिमजननं च अपेक्ष्य कारणएव तदभिलापस्य सुखेनैव उपपत्तेः. एवं 'भावि'-'ध्वस्त' शब्दावपि अग्रिमजनन-पूर्वस्थिती अपेक्ष्य, सत्येव कार्ये प्रयुज्येते न असति, तेन जननानुकूल-कारणावस्था-निरूपकत्वं भावित्वं स्थितिप्रतिकूलकारणावस्थानिरू-

पकत्वं ध्वस्तत्वम् इति बोध्यम्. नच प्रागभावध्वंसदशायां कार्यसत्त्वे तद्दर्शनप्रसङ्गः* शंकनीयः, सौक्ष्म्यादेव तदभावोपपत्तेः. सूक्ष्मत्वञ्च अनुद्भूताकृतिकत्वम्.

सत्कार्यवादप्रपञ्चः उत्पत्तिवाददूषणं च आविर्भावतिरोभाववादे सम्यग् उपपादितमिति न इह तद्विस्तरः.

तस्माद् ध्वंसोऽपि कारणावस्थातो न अतिरिच्यते.

(३)अन्योन्याभावस्तु : प्रतियोगितावच्छेदकारोपापवाद-लक्षणकत्वे प्रतियोगितावच्छेदकता-नियामक-सम्बन्धावच्छिन्न- प्रतियोगितावच्छेदकात्य-न्ताभावरूपत्वे च अत्यन्ताभावएव. तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभाव-रूपत्वेतु अतिरिक्तः.

तत्र अतिरिक्तपक्षे ''घटः पटो न'' इत्यादिप्रत्ययस्य तादात्म्यसम्बन्धारोप-पूर्वक-तदभावावगाहितया प्रतियोगि-तिरोभाव-संकीर्णानुयोगि-स्वरूपविष-यत्वात् स्वरूपएव निविशते. यदिच तत्र ''घटप्रतियोगिकान्योन्याभाववान् पटः'' इति बोधः आपाद्यते तदा पृथकत्वएव निविशते. तच्च आविर्भावविशेषएव, तस्यैव इतरव्यावर्तकत्वाद् इतरव्यावृत्तत्वात् च. ''अयम् अस्माद् भिन्नो अन्यः पृथग्'' इत्यादि-व्यवहार-साधकत्वेन तस्य आविर्भावातिरेके मानाभावात्. ''घटः पटो न'' इत्यत्र पञ्चम्यभावस्तु अनुशासनाभावात् स्वरूपात्मकत्वाद् वेति न तेनापि अतिरेकसिद्धिः.

नच *इतरतिरोभावएव घटापटाद्याविर्भावः[पा.भे.११ *] इति वाच्यं, तस्य व्याप्य- वृत्तित्वे घटाप्रतीतिप्रसङ्गाद्, अव्याप्यवृत्तित्वे तस्यापि तिरोभावान्तरं कल्पनीयम् इति कल्पना तौल्यात्, अतो भावमुखप्रतीतेः ''आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः'' (   ) इतिवाक्यात् च आविर्भावाभ्युपगमस्य

आवश्यकत्वात् नाग-ताम्रैक्ये कांस्यवत् अविविक्तौ विवक्षित-वस्त्वाविर्भाव-तदितर-तिरोभावावेव पृथक्त्वम्. तस्य भावप्रतीत्याधिक्याच्च आविर्भाव-विशेषत्वं तेन पृथक्त्वग्राहकसामग्र्यैव तद्ग्रहः.

(४) अतः परम् अत्यन्ताभावो अवशिष्यते. सतु तिरोभावएव. "इहभूतले घटो नास्ति" इत्यादिप्रतीतेः तिरोभावावगाहित्वात्. तिरोभावएव हि 'नास्ति' इति व्यवहारदर्शनाद्, घटाभावाभावस्य घटात्मकत्वेन संकीर्णत्वेऽपि अभावमुखप्रतीत्या तिरोभावत्वाव्यभिचारात्. 'अभाव' पदेनापि भाव-प्रतियोगिक-पृथक्त्ववानेव प्रतीयते, "न भावो अभावः"—इति भावभिन्नो अभावइति. सच निषेधपूर्वको भावएव, अन्यथा असत्त्वात् खपुष्पवत् निःस्वभावः स्यात्. तथा सति न प्रतीयेतैव. अतः प्रतीत्यनुरोधाद् भावान्तरविलक्षणः तिरोभावशक्तिरूपएव सिद्ध्यति. तस्मात् न अभावः एभ्यो अतिरिक्तः. तत्र अत्यन्ताभावः केवलतिरोभावात्मा प्रतियोगि-तद्व्याप्येतरप्रतियोगिग्राहक-सामग्र्यैव गृह्यते. सामग्रीतु पूर्वोक्तेन्द्रियाणि तद्व्यापाराः च.

प्रत्यक्षकरणरूपाणाम् इन्द्रियाणां षड्विध-व्यापारस्वरूपनिरूपणम् :

तत्र इन्द्रियाणि उक्तानि. तेषां व्यापारो विचार्यते प्रत्यासत्तिरूपः.

स तावत् लौकिकालौकिक-भेदेन द्विधा. तत्र अलौकिकः त्रिधा : (क) सामान्य-(ख) योगज-(ग) माया-भेदात्.

(क) तत्र सामान्यम् अनुगताकारेण तद्व्यक्तिज्ञाने उपयुज्यते, तस्य तथात्वञ्च अनुभवसिद्धं, (ख) द्वितीयो अनागतातीतातीन्द्रियादि-वस्तुसाक्षात्कारे, भगवद्ध्यानादेरपि अत्रैव निवेशः, (ग) तृतीयातु अविद्यमानानां पदार्थानां बुद्धौ उपस्थापने. अतएव नैयायिकानां ज्ञाने प्रत्यासत्तिभ्रमः. एतयोश्च तथात्वं शास्त्रसिद्धम्, "अनागतमतीतञ्च वर्तमानमतीन्द्रियं विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः" (भाग.पुरा.१०।६१।२१) "यदङ्घ्र्यनुध्यानसमाधिधौतया धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः" (भाग.पुरा.२।४।२१) "भक्त्या मामभिजानाति" (भग.गीता.१८।५५)

"तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" (तैत्ति. उप. ३।३) "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायाम्" (भाग.पुरा. २।९।३५) इत्यादिवाक्यात्.

लौकिकस्तु पञ्चविधः[टि.१२] :—

(क) संयोगः (ख) तादात्म्यं (ग) संयुक्ततादात्म्यं
(घ) संयुक्तविशेषणतादात्म्यं (ङ) स्वरूपं च
इति भेदात्.

तत्र चक्षुषा द्रव्यग्रहे संयोगएव प्रत्यासत्तिः.

केचित्तु *इतरेन्द्रियवैलक्षण्यात् चक्षुषो अप्राप्यप्रकाशकारित्वं स्वीकृत्य दूरत्व-व्यवधानाभाव-सहकृतयोग्यता-मात्रेण प्रतीतिनिर्वाहात् तत्संयोगं न* **स्वीकुर्वन्ति.**

अन्येतु *नेत्रेन्द्रियगोलकस्य स्वच्छत्वेन तत्र वस्तुनः प्रतिबिम्बे सति योग्यतामात्रेण मायाद्वारिकां प्राप्तिं स्वीकृत्य संयोगस्य द्वारत्वं* **खण्डयन्ति.**

तद् उभयमपि असङ्गतं, भगवता संयोगस्वीकारात्, "चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि तत्र मां मनसा ध्यायन् विश्वं पश्यति दूरतः" (भाग.पुरा.११।१५।२०) इति एकादशे भगवद्वाक्यात्. अत्र तत्तत्प्रतियोगिकसं-योगद्वयनिरूपणेन योग्यता-प्रतिबिम्ब-पक्षानङ्गीकारात्,[टि.१] "दूरे घटं पश्यामि...- निकटे हरिं पश्यामि" इत्यादि सार्वजनीनाबाधितप्रत्ययात् च, निबिडतम-काचाद्यन्तरितोपलब्धिस्तु अग्नेः स्थालीभेदकत्ववत् चक्षुःकिरणानां स्वच्छकाचा-दिभेदकत्वादपि सङ्गच्छते. अतएव गोलकस्य सच्छिद्रतापि निरस्ता ज्ञेया. ध्रुवादिविषयपर्यन्तं गतानां पुनः अन्तःप्रवेशस्तु मनसइव वेगादपि सम्पद्यते. एवं दूषणान्तरमपि निरसनीयम्, अस्य शास्त्रस्य अकाल्पनिकत्वात्. प्रतिबिम्बस्तु अदण्डवारितत्वाद् भवति. तेन मायापि प्रत्याययतीति चक्षुषा भूयोज्ञानम् उत्पद्यते तेजस्संयोगबाहुल्यइवेति न तस्य गतार्थता. अतएव इन्द्रियान्तरापेक्षया

चक्षुषा भूयोज्ञानमपि युज्यते. तस्माद् अग्नि चक्षुषः संयोगो द्रव्यग्रहणे व्यापारः.

सएव योग्य-गुण-क्रिया-जाति-साक्षात्कारेऽपि उपयुज्यते. तेषां [illegible] द्रव्याभिन्नत्वात्. संयुक्ततादात्म्यं वा अस्तु. एवं त्वग्-घ्राण-रसन-मनसोऽपि ज्ञेयम्. श्रोत्रेण शब्दग्रहणेतु संयोगएव व्यापारः. शब्दोहि वायुना आनीतः श्रोत्रपर्यन्तं यदा आयाति तदा श्रोत्रावच्छिन्नत्वचा वाहकवायुसंयोगं तमेव संयोगं व्यापारयित्वा श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते. शब्द-ग्राहक-सामग्री-प्रावल्येन[टि.२] संयोगाश्रयस्य वायोः अप्रत्यक्षत्वात् न तस्य संयोगस्य ग्रहणम्. संयोगग्राहकसामग्रीप्रावल्येतु संयोगस्यापि ग्रहणं. यथा कर्णाभ्यर्णम् आगतस्य वार्ताश्रवणे वक्तृ-मुख-वायु-संयोगस्य. अभावे विशेषणतेव. शब्दग्रहे संयुक्त-वायूढ-शब्द-स्वरूपमेव वा द्वारम्.

मनसस्तु बहिर्विषये स्वसंयोगद्वारकः इन्द्रियसंयोगादिः, स्वधर्माणां ज्ञानसुखादीनां ग्रहणे तादात्म्यं, वृत्तीनां ग्रहणेतु वृत्तिस्वरूपमेव द्वारम्.

तिरोभावस्तु इन्द्रिय-संयुक्त-विशेषणतया गृह्यते.

<u>सदसदात्मकवस्तुनः असत्ताग्रहणे अनुपलब्धिः प्रमाणम् इति मतस्य विमर्शे पार्थसारथिमतम्</u> :

पार्थसारथिमिश्रास्तु *वस्तुमात्रं सदसदात्मना द्विविधम्. तत्र यद् यदा यत्र सद्रूपेण वर्तते तत् तत्र तदा प्रत्यक्षादिभिः 'अस्ति' इति प्रमीयते. यदातु असद्रूपेण वर्तते, तदा सद्रूपबोधकानां प्रत्यक्षादीनाम् अकिञ्चित्करत्वाद्, योग्यानुपलब्धिरूपेण तद् वस्तु 'नास्ति' इति प्रमीयते. तस्माद् योग्यानुपलब्धि-रूप-प्रमाणान्तर-गम्यएव अभावः. योग्यानुपलब्धिश्च स्वरूपसती कारणं नतु ज्ञानमपि तस्याः अपेक्षितम्. अन्यथा तस्याअपि प्रमेयत्वात् प्रमाणापेक्षायां अनवस्थापत्तेः. नच *अन्धकारे हस्ताभ्यां वस्तुनः सर्वतः परामर्शे, जातायामपि योग्यानुपलब्धौ "किं कश्चिद् देशो अवशिष्टः !"

इति सन्दिहानस्य वस्त्वभावबुद्ध्यनुदयात्. कदाचिद् अपरामृष्यापि सर्वतः परामृष्टम् इति भ्रान्त्या योग्यानुपलब्धिनिश्चये वस्त्वभावबुद्ध्युदयात् तस्याः ज्ञातायाएव कारणत्वम्' इति शंक्यं. तादृशबुद्ध्यनुदयादेः योग्यानुपलम्भीय-योग्यताऽज्ञानज्ञानकृतत्वात्. तद्योग्यतायाः ज्ञातायाएव उपयोगेऽपि अनुपलब्धेः स्वरूपसत्याएव कारणत्वेन अदोषात्. नच 'अभावज्ञानम् इन्द्रियेणैव अस्तु !' इति शंक्यम्. इन्द्रियव्यापाराभावेऽपि तज्ज्ञानदर्शनात्. केनचित् प्रातरेव आगते माथुरे दीर्घतमे शुक्लवाससि पुंसि, मध्याह्ने पृष्टे, श्रोतुः प्रतियोग्यस्मरणादेव प्रातःकालीनतदभावज्ञानस्य अनुभव- साक्षिकत्वात्. नच 'प्रातः अवगतो अभावः तदा स्मर्यते' इति वाच्यं, प्रातः प्रतियोगिनः कथञ्चिदपि बुद्धौ अनारोहात्, तत्प्रतियोगिकस्य अभाव- स्यापि तथात्वेन, तत्स्मरणस्य सर्वथैव अशक्यवचनत्वात्. एवं सिद्धे योग्यानुपलब्धेः कारणत्वे यत्र इन्द्रियव्यापारानुपरमे सन्निहित-देश-काल-वर्ती अभावः प्रतीयते तत्रापि सैव कारणं नतु इन्द्रियादिकम् * इति आहुः.

इह केवलाद्वैतवादिनः वेदान्तपरिभाषाकारस्य मतम् :

वेदान्तपरिभाषायान्तु * योग्यानुपलब्धेः कारणत्वेऽपि किं तत्स्वरूपं (१) योग्यस्य प्रतियोगिनो अनुपलब्धिः इति वा ? (२) योग्ये अधिकरणे प्रतियोगिनो अनुपलब्धिः इति वा ? (३) योग्यत्वविशिष्टानुपलब्धिः इति वा ? (१) न आद्यः, स्तम्भे पिशाचभेदाप्रत्यक्षत्वापत्तेः. (२) न द्वितीयः, आत्मनि धर्माद्यभावस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्तेः. (३) तृतीयस्तु स्यात्, कर्मधारयाश्रयणात्. तस्याः योग्यत्वन्तु तर्कित-प्रतियोगिसत्त्व-प्रसञ्जित-प्रतियोगिकत्वम्. तदर्थश्च गृह्यमाणस्य अभावस्य यः प्रतियोगी तस्य सत्त्वेन, अधिकरणे तर्कितेन, यस्याः अनुपलब्धेः प्रतियोगिभूतम् उपलब्धिस्वरूपम् आपादयितुं शक्यते तादृशत्वम्. स्फीतालोकवति भूतले "यदि घटः स्यात् तदा उपलभ्येत" इति आपादयितुं शक्यत्वात्, तादृशस्थले घटाभावो अनुपलब्धिगम्यः. अन्धकारेतु तादृशापादनासम्भवात् न अनुपलब्धिगम्यः. अतएव स्तम्भे पिशाचसत्त्वे स्तम्भवत् प्रत्यक्षतापत्त्या तत्र तदभावो अनुपलब्धिगम्यः. आत्मनि धर्माद्यसत्त्वेऽपि आत्मनो अतीन्द्रियत्वेन निरुक्तोपलम्भापादनासम्भवात् न अनुपलब्धिगम्यः.

नच * अधिकरणेन्द्रियसन्निकर्षस्थले, उक्तरीत्या, अभावस्य अनुपलब्धिगम्यत्वं तव अनुमतम्. तत्र इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानाद् इन्द्रियस्यैव अभावाकारवृत्तौ कारणता अस्तु * इति वाच्यं, प्रतियोग्यनुपलब्धेः अभावग्रहे हेतुतायाः क्लृप्तत्वेन करणत्वमात्रस्य अधिकस्य कल्पनात्. इन्द्रियस्य अभावेन समम् असन्निकर्षाद् अभावग्रहहेतुत्वाभावाद्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोः अधिकरणज्ञानाद्युपक्षीणत्वेन तेषाम् अन्यथासिद्धत्वात् च. *ननु "भूतले घटो न" इत्यादौ भूतलांशे ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम् उभयसम्मतं. तत्र वृत्तिनिर्गमने भूतलावच्छिन्नचैतन्यवत् तन्निष्ठ-घटाभावावच्छिन्न-चैतन्यस्यापि प्रमात्रभिन्नतया घटाभावस्यापि प्रत्यक्षतैव आयाति * इति चेत्, न. तस्याः प्रतीतेः प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य न प्रत्यक्षत्वं "दशमः त्वम् असि" इत्यादि-वाक्य-जन्य-ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षानन्तःपातित्वाभ्युपगमात्. नच *फलवैजात्यं विना कथं प्रमाणवैजात्यम् * इति शंक्यं, वृत्तिवैजात्यमात्रेण प्रमाणवैजात्योपपत्तेः. तस्माद् अभावस्य अनुपलब्धिगम्यत्वमेव * इति **उक्तम्**.

<u>इह कणभक्षाक्षपादमते</u> :

वैशेषिकास्तु, उक्तरीतिकामेव योग्यानुपलब्धिं स्वीकृत्य, *स्फीतालोके तत्सहकृतेन चक्षुषा, तमसि च तादृशा त्वचा, घटाद्यभावप्रत्यक्षं; तथैव इन्द्रियान्तरैः तत्तद्ग्राह्याभावप्रत्यक्षं, संसर्गाभावप्रत्यक्षे प्रतियोगियोग्यतायाः अन्योन्याभावप्रत्यक्षे अधिकरणयोग्यतायाः अपेक्षां च * **आहुः**.

नैयायिकास्तु *अनुपलब्धेः पूर्वोक्तां योग्यताम् अनादृत्य योग्यसहकारि-सम्पन्नत्वरूपामेव योग्यताम् * **इच्छन्ति**.

अतएव (**ते!**) *अन्धकारे आलोकाधिकरण-सन्निकर्षात्मक-योग्यसहकार्यभावाद् योग्यानुपलब्ध्यभावेन न घटाभावग्रहः चक्षुषा. जलपरमाणौ च इन्द्रियसन्निकृष्ट-महत्त्ववद्-विशेषणतारूपस्य तस्य अभावात् न पृथिवीत्वाभावग्रहः. भूतले पिशाचात्यन्ताभावस्तु अयोग्यत्वादेव न गृह्यते. अत्यन्ताभावे योग्यतातु योग्यमात्रप्रतियोगिकत्वरूपा योग्यधर्मावच्छिन्न-

प्रतियोगिताकत्वरूपा वा बोध्या. सर्वाभावसाधारणात् न काचिद् योग्यता किन्तु गुणयोग्यतावद् अननुगतैव* इति आहुः.

अत्र स्वसिद्धान्तनिरूपणम् :

ममतु प्रतिभाति — अनुपलब्धेः न अभावग्रहं प्रति करणत्वं. ''चक्षुषा अवगतः'' इतिवद् ''अनुपलब्ध्या अवगतः'' इति प्रत्ययाभावाद्, योग्यप्रतियोगिकत्वरूपया अभावनिष्ठयोग्यतयैव निर्वाहात्. अतः तद्योग्यत्वादिविचारो व्यर्थएव. नच *योग्यानुपलब्धेः अकारणत्वे घटवत्यपि भूतले घटाभावग्रहप्रसङ्गः, तस्य घटाक्रान्तत्वेन देशान्तरे इन्द्रियसन्निकृष्टाभावासत्त्वेऽपि तद्विशेषणत्वेन असत्त्वाद् इन्द्रियसन्निकृष्टोद्भूतरूपवद्-विशेषणतारूप-प्रत्यासत्त्यभावादेव तद्वारणात्. अतएव न अन्धकारे, तमोवृतत्वेन भूतलस्य असन्निकृष्टत्वात्. *अनावरकत्वपक्षेऽपि अभावस्य प्रतियोगि तद्व्याप्येतर-प्रतियोगिग्राहक-यावत्सासामग्री-ग्राह्यत्व-नियमेन सामग्र्यभावादेव वारणात्, गृहान्तर्देशस्य असन्निकृष्टत्वेन सन्निकृष्ट-विशेषणतारूप-प्रत्यासत्यभावेऽपि तेजोऽभावस्य तमोरूपमायाबलादेव भानसम्भवात् च. भूतले पिशाचात्यन्ताभावो, जलपरमाणौ पृथिवीत्वाभावश्च, अयोग्यत्वादेव न गृह्यते. स्तम्भे पिशाचभेदस्तु स्वरूपात्मा वा पृथक्त्वात्मा वा इति तद्ग्राहकसामग्र्यैव गृह्यते. नच *द्विष्ठगुणप्रत्यक्षे यावदाश्रयप्रत्यक्षस्य हेतुत्वात्, न एवम्* इति शंक्यं, पृथक्त्वभिन्नत्वस्य तत्र विशेषणीयत्वात्. अन्यथा तत्प्रतीतिबाधापत्तेः. नच इष्टापत्तिः, अनुभवविरोधात्. नच *भिन्नत्वस्य विशेषणत्वे सिद्धं भेदेन* इति वाच्यं, भेद-प्रतियोगिक-भेदवत् पृथक्त्व-प्रतियोगिक-पृथक्त्वाङ्गीकारेण अतिरेकेऽपि अदोषात्. नच *सन्निकर्षकल्पनम् अप्रामाणिकम्* इति वाच्यम्, अनुभवविरोधाद्, ''इदानीं घटः — प्राच्यां घटः'' इत्यादिप्रतीतिषु विशेषणीभूतयोः कालदिशोः विशेषणतयैव भानदर्शनात्, शास्त्रदीपिकायामपि तथा अंगीकारात्. नच *तयोः संयोगेनैव भानम्* इति वाच्यं, तस्य सदातनत्वेन तयोः सदा भानापत्तेः. नच *अयोग्यत्वात् न दोषः* इति वाच्यं, तस्य विशेषणत्वदशायामपि तुल्यत्वात्. नच *संयुक्तसंयोगेन तमोभानम्* इति वाच्यं [१] संयुक्तसंयोगस्य प्रत्यासत्तित्वं, [२] अनुपलब्धेः करणत्वम्,

[३] अभावस्य असन्निकृष्टस्य भानम्. इति कल्पनात्रयगौरवात्. नच *कल्पनातो-ल्यम्!* इति वाच्यं, मानान्तरकल्पनायाः अप्रमाणिकत्वात्. प्रत्यक्षसूत्रीय-'सत्संप्रयोग' (जैमि.सू. १।१।४)-पदे कर्मधारयाश्रयणेऽपि अनिरोधात्. 'सन्निकर्षा'निरुक्त्या करणत्वस्य अशक्यवचनत्वाद्, असन्निकृष्टस्य मानान्तरेण उपलम्भांगीकारे विप्रकृष्टदेशिकाभावग्रहापत्तेः च.

अथ योग्यताज्ञापके तर्के अधिकरणप्रत्यक्षस्यापि सहकारित्वात् न दोषः इति चेत्, न, अभावज्ञानस्य अनुपलब्ध्यधीनत्वेन, अनुपलब्धि-योग्यता-ज्ञानस्य उक्ततर्काधीनत्वेन, तर्कस्यच अभावसंसृष्टाधिकरण-प्रत्यक्षाधीनत्वेन अभावज्ञानाधीनत्वात् च चक्रकापत्तेश्च. नच *योग्यतायाः अज्ञातायाएव उपयोगः* इति वाच्यं, तर्कोपन्यासवैयर्थ्यापत्तेः. तज्ज्ञानार्थमेव तदुपन्यासाद्, अन्धकारेऽपि तद्ग्रहापत्तेः च. नच *तत्र योग्यता नास्त्येव* इति वाच्यं, हस्तेन तज्ज्ञानात्. अतो "हस्ताभ्यां घटाभावं जानामि — चक्षुषातु न पश्यामि" इति अनुव्यवसायाद् ऐन्द्रियकमेव घटाभावज्ञानम्. नच *इन्द्रियाणाम् अधिकरणज्ञानाद्युपक्षीणत्वं शंक्यम्, अधिकरणज्ञानोत्तरं नेत्रनिमीलनेऽपि योग्यानुपलब्ध्या घटाभावग्रहापत्तेः. नच *फलीभूतज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वानुरोधेन तत्कारणस्य प्रत्यक्षत्वं न युक्तिसहं, "दशमः त्वम् असि" इत्यादि-वाक्यजन्य-प्रत्यक्षस्थले व्यभिचाराद्* इति वाच्यं, तदसंगतत्वस्य शब्दपरिच्छेदएव उपपादितत्वात्. वृत्तिवैजात्यस्य प्रमाणवैजात्योपपादकत्वे, फलवैजात्यस्य तदनियतत्वाद् आकस्मिकत्वापत्तेः. वृत्तिनियतत्वांगीकारेण समर्थनेतु फलस्य वृत्तिनियतत्वेन, वृत्तेश्च प्रमाणनियतत्वेन, फलाद् वृत्तित्वद्वारा प्रमाणनिर्णयस्य अनपनोद्यत्वात्. उक्तवाक्याद् "दशमो अहम्" इति प्रत्यक्षोत्तरम् "आत्मानं दशमं पश्यामि" इति 'जानामि' इति शब्दात्, 'प्रत्येमि' इति वा विशेषवृत्त्युदये, यत्नं विनापि प्रमाणनिर्णयात्. शब्दे चक्षुरादिसहकारित्वस्य परोक्षवृत्तिजनकत्वस्य च निश्चयेन, शब्दात् प्रत्यक्षस्य सर्वथा अनुपपन्नत्वात् च. अतो वृत्त्यनुरोधेनापि कारणम् इन्द्रियमेव. यत् पुनः मध्याह्ने प्रतियोग्यस्मरणात् प्रातःकालीन-माथुराभाव-ज्ञानं शास्त्रदीपिकायाम् उक्तं, तदपि न युक्तिसहं, प्रातः प्रतियोगिनो बुद्ध्यनारूढत्वेन स्मरणाभावस्य ध्वंसरूपतायाः अशक्यवचनत्वात्. प्रागभावा-

न्यन्ताभावरूपत्वे प्रश्नात् प्रागपि तत्सत्त्वेन तदापि तदभावज्ञानप्रसंगाद्, भेदरूपत्वेऽपि तथात्वात् च. अभावत्वेन संसर्गाभावत्वादिना च तत्कारणतायाः दुर्घटत्वात् सहकार्यन्तरापेक्षयाम् उक्तदोषप्रसंगात् च. अतः प्रश्नेन प्रातःकालीनसंसर्गशाब्दे जाते तस्य बुद्धौ आरोहे विरोधसंसर्गेण अभावज्ञानं मानसं. मायाद्वारकं वा मानसम्-इति. न तेन स्मरणाभावस्य कारणत्वसिद्धिः. एतेनैव सहकारित्वमपि दत्तोत्तरम्. तस्माद् अभावज्ञानम् अभावयोग्यतया साधितम् ऐन्द्रियकमेव इति निश्चयः. इति अभाववादः.

सांख्यमतानुसारेण वृत्तिसामान्यस्वरूपनिरूपणं तत्र मायावादि-नैयायिकयोः च विप्रतिपत्तेः विमर्शः :

प्रकृतम् अनुसरामः : उक्तसन्निकर्षजन्यमपि सविकल्पकं ज्ञानं चाक्षुपादिभेदेन बुद्धिवृत्त्या जन्यतइति वृत्तिः विचार्यते.

तत्र, नेत्रनिमीलने कृते बहिर्दृष्टपदार्थस्येव कश्चिद् आकारो नेत्रान्तर् भासते. स आकारो न बाह्यवस्तुनः, आश्रयम् अतिहाय तत्र तस्य अशक्यवचनत्वात्. अतः स आन्तरस्यैव कस्यचन भवितुम् अर्हतीति तदाश्रयत्वेन सांख्यैः आहंकारिकं तत्त्वान्तरं 'वृत्ति' नामकं कल्प्यते.

यथाहि प्रवचनसूत्रद्वयं :—

"प्रमार्थप्रकाशलिंगाद् वृत्तिसिद्धिः" (सां.प्र.सू.५।१०६) "भागगुणाभ्यां तत्वान्तरं वृत्तिः..." (सां.प्र.सू.५।१०७) इति. अर्थस्तु : 'प्रमा' पूर्वोक्तरीतिकम्-आकारज्ञानं, तत्सहितो यो 'अर्थप्रकाशो' विषयज्ञानं, एवम् उभयविधाद् 'लिंगाद्' ('वृत्तिसिद्धिः') वृत्तिसत्तानिश्चयः. यदि वृत्तिः न स्याद् उक्तः आकारो न प्रतीयेत अतैजसत्वाद्, अचलं चक्षुः विप्रकृष्टं विषयम् अप्राप्नुवत् तत्प्रकाशनं न कुर्यात्, जायतेच तद् उभयम् अतः सा अस्ति इति निश्चयः. एवं 'भागो' विभागो अहंकाराद् विभज्य

विषयदेशावधिगमनं, 'गुणः' उक्ताकारः, 'नाभ्यां' कृत्वा आहंकारिकं "तत्त्वान्तरं वृत्तिः" इति. अभियुक्तोक्तिश्च "वृत्तयः प्रत्यक्षग्रा स्फारिताक्षस्य यत्र च अदृष्टानुग्रहात् ततः-(तत्र)सम्बन्धार्थविबोधिका" (   ).

(द्रष्ट. : सां.प्र.वृ.सार.५।१०७) इति.

अमूर्तायाः तस्याः कथं क्रिया इत्यतः तृतीयं सूत्रं :—

"न द्रव्यनियमः तद्योगात्" (सां.प्र.सू.५।१०८) इति. अनियतत्वात् पदार्थानां 'न द्रव्य'एव क्रिया 'नियमः' किन्तु यत्र यत् प्रमाणतः सिध्यति तत्र तद् अनुमन्यामहे; अतो, दूरस्थवस्तुनः आकारग्रहणदर्शनात् सापि क्रियावती इति अर्थः.

इति (तत्रैव).

एवं **मायावादिनोऽपि** * अन्तःकरणविशिष्टस्य चैतन्यस्य प्रमातृत्वम् अंगीकृत्य तस्मिन् ज्ञानसूक्ष्मावस्थारूपं विषयसंस्कारम् आधातुं विषयेन्द्रिय-सन्निकर्ष-सामर्थ्य-जन्याम् अन्तःकरणपरिणामरूपां वृत्तिम् * **अंगीकुर्वन्ति.**

नैयायिकादयस्तु * नयनकिरणानां निर्गमनेन विषयसन्निकर्षाद् ज्ञानम्. तेनच भावनासंस्काराख्यं गुणान्तरं चरमस्मृतिनाश्यम् आत्मनि अंगीकुर्वन्तो वृत्तिपदार्थमेव न * **इच्छन्ति.**

अथ उक्तपक्षयोः आलोचनपूर्वकं स्वमतनिरूपणं च :

तत्तु नेत्रान्तरनुभवस्य सार्वजनीनत्वाद् अप्रयोजकमिति वृत्तिः सर्वथा अभ्युपेयैव परन्तु या बुद्धिवृत्तिः "संस्काराधानाद्यर्थं जन्यते" इति उच्यते, सा वृत्तिः बुद्धेः न तत्त्वान्तरं नापि अन्तःकरणपरिणामान्तरं किन्तु बुद्धितत्त्वस्य कालक्षुब्धसत्त्वादिगुणकृतो अवस्थाविशेषएव. नच * तस्य अवस्थाविशेषत्वे निर्गमाभावेन विषयासंसर्गात् तदाकारकत्वं वृत्तेः दुर्घटम् * इति शंक्यं, मायागुणस्य

रजसः चञ्चलत्वेन विक्षेपकत्वेन च दर्पणे मुखस्येव नेत्रगोलकेऽपि बाह्यविषयाकारसमर्पणे तदाकारकत्वस्य सुघटत्वात्. सएव मायिकः आकारो नयनकिरणेषु नेत्रमुद्रणे प्रत्यावृत्तेषु गोलकान्तर् अनुभूयते. एवमेव इन्द्रियान्तरेऽपि वृत्तिः ज्ञातव्या. यद्यपि सा न अनुभूयते तथापि तादृशसंस्काराधानात् निश्चीयते. ''एकादशा आसन् मनसोहि वृत्तयः आकूतयः पञ्च धियो अभिमानः मात्राणि कर्माणि पुरं च तासां वदन्ति हैकादश वीरभूमिः'' (भाग.पुरा.५।११।९) इति जडभरतवाक्यात् च. भूमिषु पञ्चानां ज्ञेयत्वेन विषयत्वं ततः पञ्चानां कार्यत्वेन. पुरस्य स्वकार्यत्वेन ज्ञेयम्. संस्कारस्तु ''जातस्य ज्ञानस्य सूक्ष्मावस्था'' इति उक्तम्. बुद्धिश्च कर्मज्ञानेन्द्रियानुग्राहिका इति वक्ष्यते. साच वृत्तिद्वारैव अनुगृह्णातीति इन्द्रियजन्यस्य विशिष्टज्ञानस्य नानाभेदाः अतो अवस्थयैव निर्वाहे सांख्याभिमतस्य अन्तःकरणातिरिक्त-पदार्थान्तरत्वस्य निष्प्रमाणकत्वात्. ''कामः संकल्पः'' (बृह.उप.१।५।३) इति श्रुतौ 'कामा'दि पदानि शक्तानि 'धी' पदं लाक्षणिकम्'' इति मायावादिकल्पनायाअपि वैरूप्यादिदोष-ग्रस्तत्वात् च तद् उभयमपि असंगतम्.

अतो बुद्धेः अवस्थाविशेषएव वृत्तिः इति निश्चयः.

ननु इन्द्रियार्थसम्प्रयोगोत्तरं सम्प्रयुक्तार्थाकारसमानो बुद्धौ आकारो जायतइति प्रमा भवतु, भ्रमादिकन्तु न भविष्यति शुक्त्यादौ तद्विरुद्धस्य रजताद्याकारस्य अभावेन बुद्धौ मायाकृततत्समर्पणायोगाद् अन्यथाख्यातिप्रभृतीनां च अनङ्गीकाराद् इति चेत्, न, स्वभावगुणानुग्रहादेव तस्यापि सिद्धेः, पूर्वोत्पन्नस्य रजताद्याकारकसंस्कारस्य रजसा बहिःक्षेपे, सम्प्रयुक्तार्थाकारस्य तमसा आवरणे च, भ्रमस्य सुखेन वक्तुं शक्यत्वात्. एवं नानाविधाद् गुणक्षोभज-वृत्ति-भेदादेव अन्येऽपि ज्ञानभेदाः उन्नेयाः.

<u>जाग्रदवस्थायां षड्विधेन्द्रियसन्निकर्षमात्रजन्यं ज्ञानं निर्विकल्पकं तदेव संशयादिबुद्धिवृत्त्यनुगृहीतं सत् सविकल्पकं ज्ञानं भवति इति निरूपणम्</u> :

यदा विषयेन्द्रियसंयोगात् निर्विकल्पकं तदा इन्द्रियदेशे बुद्धेः वृत्तिः.

तया इन्द्रियानुग्रहे सविकल्पकम्, अननुग्रहे तु न. वृत्त्यन्तरेण पूर्ववृत्तेः नाशे सविकल्पकस्य संस्काररूपेण अवस्थानं, तस्य उद्बोधकैः उद्बोधे मायोपस्थापित-मायिकार्थ-सहकृता स्मृतिः, राजसैः रागादिभिः संस्कारप्राबल्ये मायया विषयाकारावरणपूर्वकं मायिकपदार्थ-सहितस्य ज्ञानस्य गोलकादिभागे क्षेपे भ्रमः, किञ्चिदावरणे संशयः, सत्त्वेन सर्वथावरणभंगे विक्षेपस्यापि निवृत्तौ विशेषदर्शनम् इत्यादि.

वृत्तिविषयात्तु वृत्तिः न भवतीति अनुभवानुसारेणैव निश्चीयते. नच *वृतीनां गुणजन्यत्वे मानाभावः* शंक्यो, "जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः" (भाग.पुरा.११।१३।२७) इति एकादशे हंसवाक्यात्, संशयादिवृत्तीनां तदवान्तरभेदत्वेन तदनतिरेकात्.

यत्तु "जाग्रद्भोगप्रद-कर्मोद्बोधे जागरणं, तदुपरमे निद्रया स्वप्नसुषुप्ती" इति मतं, तत्रापि कर्मोद्बोधोपरमहेतोः अवश्यवाच्यत्वेन लाघवाद् ईश्वरेच्छानुगृहीतानां परस्परोपमर्दकादिस्वभावानां गुणानामेव अवस्थाहेतुत्वं साधीयः.

तस्माद् बुद्धिगुणजन्या तदवस्था वृत्तिः. सा यदा अनुगृह्णाति तदा वक्ष्यमाणप्रक्रियया सविकल्पकं ज्ञानं जन्यते.

तथाहि :—

"अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरं वाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥"

(भग.गीता.१८।१४-१५)

इति गीतायां कार्यमात्रं प्रति पञ्च हेतवः उक्ताः. तत्र : 'अधिष्ठानं'=शरीरं, 'कर्ता'=जीवः, 'करणं'=बा-

इत्याभ्यन्तरं. 'चेष्टा'=प्राणादिवायुकर्माणि. 'दैवं'=काल-
कर्म-भगवदिच्छादिः.

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे, अर्जुन!. तिष्ठति भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया" (भग.गीता.१८।६१) इति वाक्याद् अन्तर्यामी वा 'दैव'पदवाच्यो "देवानां समूहो दैवम्"इति तत्तदिन्द्रियाधिष्ठातारो वा. एवं सति ज्ञानजनक-मनःसंयोगादि-हेतुभूत-क्रियायामपि एतान्येव कारणानि.

तत्र अयं क्रमो : दैवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मनः तत्तत्कार्यार्थं प्रेर्यते, तत् च इन्द्रियप्रेरणाय तत्तदिन्द्रियेण संसृज्यते. तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्ये विषयसंसृष्टैः इन्द्रियैः स्वावच्छिन्ने मनसि पूर्वं निर्विकल्पकम् उत्पाद्यते. तदा इन्द्रियदेशे बुद्धेः वृत्तिः. ततो बुद्ध्यापि वृत्तिद्वारा तदनुग्रहे सविकल्पकं भवति.

चाक्षुषेतु नयनकिरणाः विषयपर्यन्तं गच्छन्ति, इन्द्रियान्तरेतु किरणाभावाद् इन्द्रियेण सह विषयं मनः प्राप्नोति तदा, क्रमेण सहैव वा, निर्विकल्पकं सविकल्पकं च तत्तदिन्द्रियसंसृष्टे मनसि उत्पद्यते. ज्ञानद्वयेऽपि विषयेन्द्रियस्पर्शादिकं व्यापारः.

नच *नयनानां किरणाङ्गीकारे चक्षुषो व्यापकत्वापत्त्या "अणवश्च" (ब्र.सू.२।४।७) इति सूत्रविरोधः* शंकनीयः, अर्चीरूपाणां किरणानां सूर्यमण्डलाद् भेदस्य "आदित्यो वा एषः" (महाना.उप.१२।२) इति अनुवाके श्रावणात्. तैः अखिलमेरूत्तरदेशान् व्याप्नुवानस्य आदित्यमण्डलस्य दश-सहस्र-योजन-परिमाण-स्मरणेन तेषां तत्परिमाणाबाधकत्ववत् सूर्याध्यात्मिक-चक्षुषः किरणानामपि तथात्वेन सूत्राविरोधात्. यद्वा "तथा प्राणः"(ब्र.सू.२।४।१) इत्यत्र प्राणेषु जीवातिदेशस्य सिद्धान्ते अंगीकारात् सर्वशरीरे जीवस्येव सामर्थ्याद् वा गुणाद् वा व्याप्तिवत् तेषामपि देवतासामर्थ्याद् वा गुणाद् वा व्याप्त्यंगीकारस्य वक्तव्यत्वात् "गुणाद्वा आलोकवद्" (ब्र.सू.२।३।२५) इति सूत्रे आलोकस्य

गुणत्वांगीकारात् तैजसस्य चक्षुषः आलोक-रूप-गुण-व्याप्त्यंगीकारेऽपि अदोषः. एवमपि सूत्राविरोधः चाक्षुष-रूप-कार्य-सिद्ध्योः सम्भवात्. अतएव त्वचः सकल-शरीर-व्यापित्वमपि देवता-सामर्थ्य-स्पर्श-गुणाभ्यां युज्यते. अन्यथातु सूत्रविरोध-सार्वत्रिक-स्पर्शानुभव-बाधयोः अन्यतरद् आपद्येतैव. तस्मात् नयन-किरण-गमन-द्वारिकैव प्रत्यक्षप्रक्रिया साधीयसी.

या पुनः *आलोकेन मायाकार्य-तमो-जनन-प्रतिबन्धे कृते, ज्योती-रूप-सूर्य-देवतया अण्वात्मकचक्षुषि सन्मुखाव्यवहित-देशस्थ-पृथुबुध्नोदराकारे विशिष्टरूपे प्रापिते सत्त्वप्रधानबुद्धेः अन्तरेव तदाकारतासम्पत्तौ अणुरूपं जीवं प्रति ज्ञानाश्रिताध्यात्मिक-घटाभिव्यक्तिरेव चाक्षुषं. दूरस्थगन्धशब्दयोस्तु वायुना घ्राण-श्रोत्र-समीप-प्रापणे अन्तःसत्त्वात्मकबुद्धेः तदाकारतासम्पत्तौ ज्ञानाश्रिताध्यात्मिक-गन्धशब्दाभिव्यक्तिरेव घ्राणजं श्रावणं च, प्रत्यक्षमिति आध्यात्मिकाधिभौतिकयोः अभेदात् न बाह्यघटाग्रहणनिबन्धनो दोषः* इति **केषाञ्चित्** प्रत्यक्षप्रक्रिया.

तत्र आलोकेन तमोजनन-प्रतिबन्ध-कथनम् अयुक्तं, "यथाहि भानोः उदयो नृचक्षुषां तमो निहन्याद्" (भाग.पुरा.११।२८।३४) इति एकादशस्कन्धीय-भगवद्-वाक्ये तमोनिहन्तृत्वकथनात्. एवं ज्योतीरूप-सूर्यदेवतायाः पुरुषचक्षुषि विषयनिष्ठ-रूपप्रापकत्व-कथनमपि तथा, बहुषु पश्यत्सु तान्-तान् प्रति रूपे प्रापिते विषयस्य नीरूपताप्रसंगेन पाश्चात्यानां तददर्शनप्रसंगात्, तद्दर्शनार्थं तस्मिन् विषये पुना रूपान्तरोत्पादनानयनादिरूपाप्रामाणिक-कल्पना-प्रसंगात् च, सन्ध्यायाम् अस्तंगते सूर्ये रूपप्रापकदेवतायाः गतत्वात् तदानीं घटाद्यदर्शनापत्तेश्च.

नच *"निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद् दर्शयति च" (ब्र.सू.४।२।१९) इति सूत्रे "अथ या एता हृदयस्य नाड्यः" (छान्दो.उप.८।६।१) इति नाडीः उपक्रम्य "अमुष्माद् आदित्यात् प्रतीयन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यो प्रतीयन्ते ते अमुष्मिन् आदित्ये सृप्ता" (छान्दो.उप.८।६।२) इति

दहरविद्यास्थश्रुत्या रात्रावपि आदित्यरश्मिसम्बन्धस्य उक्तत्वात् तदानीं सन्ध्यायाञ्च नाडीसृप्तरश्मिभिः विषयरूपप्रापणात् न घटाद्यदर्शनप्रसंगः* इति वाच्यं. नाडीसृप्तरश्मिनां हृदयाग्रप्रद्योतन-जीवोत्क्रमण-मात्र-कार्यार्थतायाएव श्रावणेन तद्रश्मीनां रूपप्रापकतायाः वक्तुम् अशक्यत्वात्. तदानीमपि रूपप्रापकत्वाङ्गीकारे तदानीं नश्यत्वाद् अस्तमिते आदित्ये "किञ्ज्योतिः अयं पुरुषः" (बृह.उप.४।३।२) इत्यादिज्योतिर्ब्राह्मणविरोधस्य प्रत्यक्षविरोधस्य च दुष्परिहरत्वात्. अतो "नैतत्वं द्रव्यशब्दयोः" (भाग.पुरा.३।२६।३७)इतिवद् आदित्यादिरश्मीनां रूपप्रापकत्वस्य अशब्दगोचरत्वात् सूर्यरूपदेवतायाः रूपप्रापकत्वाङ्गीकारः सर्वथा न युक्तः.

किञ्च चक्षुषि रूपप्राप्तिश्च प्रतिबिम्बभवनरूपैव. सातु मायया "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत" (भाग.पुरा..२।९।३३) इति वाक्यात्, तस्याः विक्षेपकत्वात् च.

एवञ्च बुद्ध्याकारसमर्पकत्वमपि प्रतिबिम्बस्यैव. आध्यात्मिकरूपमपि मायामयं मनोमयत्वात्. तस्यच न सत्यता — अर्थक्रियाकारित्वमात्रम्. परम् आधिदैविकन्तु शब्दैकनिष्ठं भगवदात्मकं तत् सत्यमेव. आधिभौतिकन्तु प्रपञ्चात्मकम्. तस्यतु कार्यरूपत्वेऽपि कारणरूपेणैव सत्यत्वं, नतु स्वेन रूपेण, विकाराणां वाचारब्धत्वात् सदसद्ग्रन्थिरूपत्वात् च; तदेव च लौकिकव्यवहारविषयः.

<u>सविकल्पकज्ञानजन्य-हानोपादानोपेक्षाबुद्धिस्वरूपाणि</u> :

तत्र सविकल्पकं प्रमेयानन्त्याद् अनन्तविधं भवति. तत्रापि कारणान्तरसमवधानेन संशय-विपर्यास-निश्चय-स्मृति-भेदाः जाग्रति भवन्ति, यथासम्भवं स्वप्नेऽपि ते.

सविकल्पक-जन्य-हानोपादान-बुद्धौतु विशेषः :

"इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः चेतनां हरते बुद्धेः स्ताम्बस्तोयमिव हृदाद्"

(भाग.पुरा.४।२२।३०)इति वाक्याद् विषयैः इन्द्रियाकर्षः. ततः तैः मनसः. तच्च अशुद्धमिति तत्र कामोत्पत्तौ उपादानबुद्धिः. तादृशे मनसि द्वेषोत्पादनात् हानबुद्धिः. नच इदम् अप्रयोजकं कामिनी कुचकुम्भदर्शनादौ चक्षुषः. शीतादिकालेषु उष्मादिना त्वचो, रागादियुक्तगीतेन श्रवणस्य, चन्दनादिगन्धेन घ्राणस्य, भक्षितस्यापि दध्यादेः पुनः आस्वादनेन रसनस्य, तैश्च मनसः आकर्षस्य अनुभवसिद्धत्वात्.

मनसश्च रूपद्वयं : बाह्यम् आन्तरं च इति तृतीयस्कन्धे तत्त्वस्तुतौ "पराहृतान्तर्मनसः" (भाग.पुरा.३।५।४४) इत्यस्य सुबोधिन्यां स्थितम्. तत्र आन्तरं येन विषयेण इन्द्रियद्वारा कृष्यते तद्विषयिणी हानोपादानबुद्धिः भवति. येनतु न आकृष्यते तद्विषयिणी उपेक्षाबुद्धिरिति युगपत् नानाबुद्धिसत्त्वम्. नच * तत्र वेगाद् यौगपद्याभिमानएव * इति वाच्यम् ऐकाग्र्यदशायां पुस्तकदर्शने युगपत् नानाक्षरापेक्षाज्ञानस्थले वेगांगीकारस्य अनुभवविरुद्धत्वाद्. अतो रूपद्वयमेव युक्तम् इति. यदा मनसो अनाकर्षः तदा उपेक्षाबुद्धिः. अतएव तस्याः न स्थिरत्वम्, अभ्यासाद्यभावात्.

स्वसिद्धान्ताभिमतसविकल्पकज्ञानजननप्रणाडी :

इदञ्च सर्वं ज्ञानम्, अन्तःकरणाद्यध्यासाद्, जीवात्मा स्वस्मिन् अभिमन्यतइति अस्य ज्ञानस्य लौकिकानाम् आत्मधर्मत्वप्रवादः इति. अन्तःकरणाध्यासस्तु, हृदयदेशे जीवस्य अन्तःकरणानां च स्थितत्वात्, तेषु तत्प्रतिबिम्बः; तस्य प्रतिबिम्बस्य इन्द्रियेषु प्रतिबिम्बान्तरे इन्द्रियाध्यासः, तस्य देहे प्रतिबिम्बे देहाध्यासश्च भवति. प्रतिबिम्बश्च तत्प्रकाशस्य तेषु संक्रमेण भवति सूर्यस्येव, नतु मुखस्येव सन्निधिमात्रेण, इति निर्णीतं "यथा जलस्थ आभासः"(भाग.पुरा.३।२७।१२) इत्यत्र तृतीयस्य सप्तविंशे अध्याये.

स्वप्नात्मिकायाः बुद्धिवृत्तेः स्वरूपम् :

एवञ्च पूर्वकृतस्य प्रारब्धकर्मणः पक्वस्य जाग्रति फलभोगो भोगे क्रियमाणे आहारश्रमादिभिः यदा निद्रा भवति, तदा 'स्वापः' - स्वप्नवृत्तिः.

तत्र अयं हृदयदेशात् निःसृत्य 'हिता'भिधानासु शुक्ल-नील-हरित-लोहित-पीत-रसभृतासु केशसहस्रभागवद् अण्वीषु नाडीषु द्वासप्तति-सहस्र-संख्याकासु तस्यान्तस्याञ्चिद् ईश्वरेच्छादिवशेन अन्तर्बहिःकरणानि आदाय परिवर्तते, तदा चैतन्यसंकोचनेन बहिरिन्द्रियेषु मनसि च प्रकाशासंक्रमात् प्रतिबिम्बो न भवति. बुद्ध्यहंकारयोरेवतु भवति. तदा बुद्धिसहितो अहंकाराध्यासेन स्वाप्नं सुखदुःखादि भुङ्क्ते. तत्र प्रकाशो भगवतो. विषयश्च मायिको, भोगे बुद्धिः करणं. भोगश्च अहंकारे. यदा पुनः निद्रायां तमसः उद्रेकः ईश्वरेच्छादिवशात्. तदा अयं तैः सर्वैः सह पुरीतति प्रविशति. पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डो हृदयं. तद्वेष्टिताः नाड्यः 'पुरीतत्'—शब्देन उच्यन्ते. तदा सुषुप्तिः. कदाचिद् भगवदिच्छया तस्य हृदयस्य अन्तर्, यः 'आकाश' शब्दवाच्यः परमात्मा, तत्र सम्पद्य शेते. द्विविधायामपि सुषुप्तौ कर्मासंसर्गाद् दुःखाभावः. द्वितीयस्यां परमानन्दः इति विशेषः. ततः पुनः भगवदिच्छादिवशेन परमात्मनः सकाशात् सर्वेषां प्राणादीनाम् आत्मान्तानां व्युच्चरणं ततो जागरणे स्वस्थानस्थितिः पूर्वोक्तरीत्या तत्तदनुभवादिः च इति.

<u>सविकल्पकज्ञानजनने नैयायिकाभिमत-संयोगसम्बन्ध-घटित-प्रणाडी-विमर्शः</u> :

नैयायिकास्तु * "आत्मा मनसा संयुज्यते, मनः इन्द्रियेण, इन्द्रियम् अर्थेन, इतिक्रमेण आत्मन्येव ज्ञानम् उत्पद्यते" इति आत्मधर्मत्वं जन्यज्ञानस्य * आहुः.

तत्तु श्रुतिविरोधादेव अपास्तं, विभोः निरवयवस्य आत्मनः संयोगं प्रति कर्तृत्वायोगात् च. नच * अन्यतरकर्मजएव संयोगः तत्र अस्तु * इति वाच्यं, मनसएव कर्तृत्वापातात्, तस्यैव क्रियाश्रयत्वाद्, जीवे गुणाधीनत्वेन कर्तृत्वायोगाद् इति.

<u>उक्तविषये मायावादाभिमत-प्रतिबिम्ब-प्रणाडी-विमर्शः</u> :

मायावादिनस्तु * ब्रह्मात्मकम् एकमेव ज्ञानं स्वीकृत्य बुद्धौ तस्य प्रतिबिम्बं, तस्यैव व्यावहारिकज्ञानत्वं च अंगीकृत्य, चिदुपरागावरणभंगाभेदाभि-व्यक्तिपक्षान् जीवस्य किञ्चिज्ज्ञत्वाय * आहुः.

तदपि असंगतं. प्रतिबिम्बस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्. ब्रह्मणो नीरूपत्वात्. बुद्धेश्च अस्वच्छत्वात्. दर्पणवत् किञ्चिद्देशावच्छिन्नस्वच्छत्वम् अंगीकृत्य आकाशस्येव ब्रह्मणः प्रतिबिम्बांगीकारेऽपि ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपत्वेन सदानन्दयोरपि प्रतिबिम्बापातात्. नच इष्टापत्तिः, ज्ञानवत् तयोरपि भानापत्तेः. सर्वदा सर्वेषाम् अन्तःशरीरस्थ-सर्वज्ञानापत्तेः च; प्रतिबिम्बाधारत्वयोग्यायां बुद्धौ ज्ञानस्येव आन्तराणां नाड्यादीनां सन्निहितत्वेन तत्प्रतिबिम्बेऽपि बाधकाभावात्. किञ्च अविद्यायां ब्रह्मप्रतिबिम्बभूतानां जीवानां व्यापकतया स्वतः सर्वपदार्थसंसृष्टत्वाद् बाधकाभावेन अविद्यायामपि सर्वप्रतिबिम्बसम्भवेन तत्तत्संसर्गं द्विगुणीकृत्य जाते सर्वतादात्म्यापन्नस्य ब्रह्मणइव तेषामपि सर्वसंसृष्टत्वात् साक्षित्वात् च वृत्तिं विनैव स्वरूपचैतन्येन सर्वावभासकतायाः शक्यवचनत्वेन ब्रह्मवत् सर्वेषां सर्वज्ञता स्यात्. नच *अन्तःकरणभेदेन प्रमातृभेदात् तदनापत्तिः, व्यापकत्वेन सर्वेषां सर्वान्तःकरणसंसृष्टतया प्रमातृभेदस्यापि अकिञ्चित्करत्वात्. संसर्गतौल्ये एकस्यैव एकान्तःकरणवैशिष्ट्यं न अपरस्य इत्यत्र हेत्वभावात्. अदृष्टादीनां हेतुताकल्पनस्यापि अनेनैव न्यायेन निरसितुं शक्यत्वात्.

ननु दूषणग्रासात् मा अस्तु व्यापकानेकजीववादः किन्तु व्यापकैकजीववादो अस्तु. तथाच तस्य सर्वज्ञतायाम इष्टापत्तिः इति चेत्, सत्यम् इष्टापत्तिः स्याद् यदि एकत्रैव सर्वज्ञता स्यात् नच एवम्, अविशेषण एकस्यैव सर्वशरीराधिष्ठाने सर्वत्र अविद्योपहितस्य साक्षिणः एकत्वात् सर्वत्र उपाधौ सर्वप्रतिबिम्बेषु संसृष्टत्वात् च, ब्रह्मणइव जीवस्यापि सर्वेषु प्रतिबिम्बेषु सर्वज्ञतायां बाधकाभावात्. नच *ब्रह्मापि एकत्रैव सर्वज्ञं न सर्वत्र* इति वाच्यं, ब्रह्मविष्णुशिवादि-शरीरावच्छेदेन सर्वज्ञताप्रतिपादक-शास्त्रविरोधापातात्. नच *अविद्योपाधौ सर्वप्रतिबिम्बेऽपि अन्तःकरणभेदेन प्रमातृभेदात् तन्निकटस्थस्यैव ज्ञानं प्रमातुः भविष्यतीति न सर्वत्र सार्वज्ञ्यापत्तिः* इति वाच्यं, प्रमात्रभेदे करणभेदस्येव साक्ष्यभेदे प्रमातृभेदस्यापि अप्रयोजकत्वात्, सर्वत्र साक्षिणएव भासकत्वात्. नच *तस्य अविद्योपहितरूपेण न साक्षित्वं किन्तु अन्तःकरणोपहितरूपेण, तथाच रूपभेदेन साक्षिभेदात् न सार्वज्ञ्यापत्तिः*

इति वाच्यम्. अप्रयोजकत्वात्. तथासत्यपि हृदयनाडीप्रभृतीनाम् आन्तराणां अन्तःकरणे प्रतिबिम्बितानां ज्ञानन्तु अस्य निर्बाधमिति आन्तरसर्वज्ञतायाः दुर्वारत्वात्. * ननु सर्वेषां पतिबिम्बो न अस्माभिः अंगीक्रियते * इति चेत. मा एवं. यद् अयं न स्वीक्रियते. कः तत्र हेतुः? न तावद् असन्निधिः. अविद्यायाः व्यापकत्वात्. नापि बिम्बालोकसंयोगाभावः. सूर्यादेः विद्यमानत्वाद्. अन्तःकरणस्थलेऽपि अन्तःकरणस्य अन्तःसन्निहितत्वाद्. अन्तर्गृहगतदर्पणप्रतिबिम्बित-सूर्यप्रकाशेन आन्तरवस्तूनां प्रतिबिम्बदर्शनाद्. इहापि जीवचैतन्य-प्रकाशितान्तःकरण-संसृष्टे आन्तरबिम्बे आलोकान्तर-संयोगानपेक्षणात्. जीवचैतन्येन आन्तरप्रकाशानंगीकारे साक्षात् संसृष्टान्तःकरण-तद्धर्मादीनामपि अनवभासप्रसंगात्. मतेच तदवभासे तद्वदेव तत्संसृष्टानामपि अवभासाद् अहंकारादिवद् हृदयनाडीप्रभृतीन्यपि अनुसन्धीयेरन्. संस्काराधाय-कस्य अवभासस्य तुल्यत्वात्. अथ एकप्रतिबिम्बावरुद्धे दर्पणादौ अन्यस्य प्रतिबिम्बादर्शनाद् व्यापकजीवावरुद्धे अविद्यादौ इतरेषां प्रतिबिम्बो न भविष्यतीति अवरोधएव प्रतिबिम्बाभावे हेतुः इति विभाव्यते. तदपि असंगतम् एकप्रतिबिम्बावरुद्धे अन्यप्रतिबिम्बः तदा न भवति यदा बिम्बान्तरं पूर्वबिम्बव्यवधेयं भवति इहतु ब्रह्मणो व्यापकत्वेन परिच्छिन्नानां सर्वेषां ब्रह्मान्तर्वर्तित्वेन तद्व्यवधेयत्वाभावात् न जीवेन तत्प्रतिबिम्बावरोधइति दुर्वारएव सर्वेषां प्रतिबिम्बः इति. * ननु भवतु सर्वेषां प्रतिबिम्बः तथापि न जीवस्य सर्वज्ञतापत्तिः भवित्री, जीवसाक्षिवादस्य अनङ्गीकारात्. तथा सति कूटस्थचैतन्यं वा जीवाभिन्नं सर्वप्रत्यग्भूतं शुद्धं ब्रह्मैव वा परमेश्वरस्यैव रूपान्तरं वा साक्षी भविष्यति तस्यतु सर्वज्ञत्वेऽपि अदोषः. जीवस्तु, यथा सर्वगतं गोत्वसामान्यं स्वभावाद् अश्वादिसंगित्वाभावेऽपि सास्नादिमद्व्यक्तौ संसृज्यते, तथा विषयादौ सन्नपि जीवस्वभावाद् अन्तःकरणएव संसृज्यते. यदाच अन्तःकरणपरिणामो वृत्तिरूपो नयनद्वारेण निर्गत्य चक्षूरश्मिवद् झटिति दीर्घप्रभाकारेण परिणम्य विषयं प्राप्नोति, तदा तम् उपारुह्य जीवः तं विषयं गोचरयति. केवलाग्न्यदाह्यस्य तृणादेः अयःपिण्ड-समारूढाग्नि-दाह्यत्ववत् केवलजीवचैतन्याप्रकाश्यस्यापि घटादेः अन्तःकरण-वृत्त्युपारूढ-तत्प्रकाश्यत्वं युक्तमिति चिदुपरागार्थत्वेन वृत्तिनिर्गमम् अपेक्ष्य वृत्तिसंसृष्टविषय-

मात्रावभासकत्वात् तस्य किञ्चिज्ज्ञत्वम् उपपत्स्यते* इति चेत्. मा एवं. एवं स्वभाववादेन समाधानेऽपि जीवस्य प्रकाशप्रतिबिम्बत्वाद् अवच्छिन्नत्वे च ज्ञानरूपत्वात् स्वप्ने 'स्वयञ्ज्योतिष्ट्व'(बृह.उप.४।३।९)प्रतिपादनात् च प्रकाशरूपत्वेन स्वप्नइव परोक्षवृत्ताविव च पूर्वपूर्वानादि-संस्कारवशादेव इन्द्रियं विनैव वृत्त्युपपत्तेः ज्ञानेन्द्रियाणि वृथैव स्युः.

किञ्च अयःपिण्डसमारोहेण दाहकस्य अग्नेः साक्षात्संसृष्ट-दाहकत्व-दर्शनाद् वृत्त्युपारोहेण प्रकाशकस्य जीवस्य साक्षाद् अन्तःकरण-संसृष्ट-प्रकाशकत्वं सुतरां सुवचमिति अन्तःकरणे प्रतिबिम्बितानां प्रकाशो अस्य स्यादेवेति अधिकं तत्र अनुप्रविशेत्.

वस्तुतस्तु एवमपि गोत्वस्य सकलगोव्यक्तिष्विव एकस्यैव जीवस्य सर्वान्तःकरणसंसर्गस्य वक्तव्यत्वात्. तथा सति तत्तदन्तःकरणवृत्तिनिर्गमेण तत्तद्विषयप्राप्तौ तत्तद्वृत्त्युपारूढस्य जीवस्यापि तत्तद्विषयोपरागसम्भवात्, सर्ववृत्तिसंसृष्टविषयाणां गोचरीकरणे बाधकाभावेन किञ्चिज्ज्ञत्वस्य अनुपपन्नत्वमेव. अतो विषयविषयिभावो वा, विषयसन्निहित-जीवचैतन्य-तादात्म्यापन्न-वृत्तिविषय-संयोगद्वारको जीवविषययोः परम्परासम्बन्धो वा, अन्तःकरणवृत्त्युपादनस्य जीवस्य वृत्ति-विषय-संयोग-जनितः कार्याकार्यसंयोगात् कारणाकारणसंयोगात्मा साक्षात् संयोगो वा अन्तःकरणोपहितस्य विषयावभासकचैतन्यस्य विषय-तादात्म्यापन्न-ब्रह्म चैतन्याभेदाभिव्यक्तिद्वारा विषय-तादात्म्य-सम्पादनं वा, अन्यद् वा यत्किञ्चन चिदुपरागत्वेन अभिधित्सितं तस्य सर्वस्य वृत्तिसंसर्गजनितत्वेन वृत्तिजनकानां च अन्तःकरणानां सर्वशरीर-व्यापक-जीव-संसृष्टत्वेन, सर्वेषां सर्वज्ञतापत्तिः अनिवार्यैव. तत्रापि अनुपदोक्ते विषय-तादात्म्य-सम्पादन-पक्षे मैत्रस्य चैत्रदर्शने "अहं चैत्रः" इत्याद्याकारकज्ञानापत्तिः अधिका आयातीति फल्गून्येव एतानि कल्पनानि.

अथ जीवः सर्वगतोऽपि अविद्यावृतत्वात् स्वयम् अप्रकाशमानतया विषयान् अनवभासयन् विषयविशेषे वृत्त्युपरागादौ आवरणतिरोधानेन तत्रैव

अभिव्यक्तः तमेव विषयं प्रकाशयतीति आवरणभंगपक्षः किञ्चिज्ज्ञत्वार्थम् आलम्ब्यते. तदापि आवरणस्य वृत्त्युपरागतिरोभाव्यत्वाद् जाते वृत्त्युपरागे तेन आवरणभंगे सर्वान्तःकरणसंसृष्टो जीवः तत्तद्विषयेषु अभिव्यक्तः तं-तं विषयं प्रकाशयेदेवेति न किञ्चिज्ज्ञत्वोपपत्तिः. एवञ्च चैतन्यमात्रावरकाज्ञानस्य खद्योतप्रकाशेन महान्धकारस्येव ज्ञानेन एकदेशाज्ञाननाशो वा, पटवत् संवेष्टनं वा, भीतभटवद् अपसरणं वा, चैतन्यमात्रावरकस्यापि अज्ञानस्य तत्तदाकार-वृत्ति-संसृष्टावस्थ-विषय-चैतन्यानावरकत्व-स्वाभाव्यं वा, मूलाज्ञा-नावस्था-भेद-रूपाज्ञानान्तर-नाशो वा, अन्यो वा, यः कश्चनावरणभंगो निरुच्यतां स सर्वोऽपि वृत्त्युपरागजन्यएवेति जाते वृत्त्युपरागे पूर्वोक्तरीत्या सकलान्तःकरणसंसृष्टस्य जीवस्य सर्वज्ञतैव आयातीति न एतेऽपि रोचिष्णवः पक्षाः.

ननु एकस्मिन्नपि जीवे जन्मान्तरम् आपन्ने पूर्वजन्मानुसन्धानादर्शनात् शरीरभेदस्य सुखाद्यननुसन्धान-प्रयोजकत्वं क्लृप्तमिति सएव किञ्चिज्ज्ञतायाअपि प्रयोजको भवतु. तथाच व्यापकस्यापि जीवस्य शरीरान्तरे शरीरान्तरीयान्तःकरण-वृत्त्यादिभिः ज्ञानं न भविष्यतीति न सर्वेषां सार्वज्ञ्यापत्तिः इति चेत्, न, शरीरभेदस्य अननुसन्धानप्रयोजकतायाः योगिकायव्यूहे जातिस्मरे भूतादौ च व्यभिचारेण तस्य किञ्चिज्ज्ञतायामपि अतन्त्रत्वात्.

एतेनैव भोगायतनभेदस्य विश्लिष्टोपाधिभेदस्य च अननुसन्धानप्रयोजकत्वं परास्तं बोध्यम्, "उद्यदायुधदोर्दण्डाः पतितस्वशिरोक्षिभिः पश्यन्तो पातयन्ति स्म कबन्धाः अप्यरीन् युधि" (महाभा.) इति भारते भूतार्थवादात् च. नच *योगिप्रभृतिषु प्रभावविशेषेण अनुसन्धानेऽपि पूर्वोक्तोपाधीनाम् उत्सर्गतः तथात्वात् न अननुसन्धान-प्रयोजकत्व-हानिः* इति वाच्यं, बहुषु व्यभिचारदर्शनात्. एकत्र तथा दर्शनेहि औत्सर्गिकाननुसन्धान-तन्त्रत्वाविघातः प्रभाव-विशेष-समवधान-वशात् कल्पयितुं शक्यते, नतु बहुषु तथादर्शने. अतो मनुष्यविशेषेषु भूतेषु, मनुष्याद् उत्कृष्टयोनिषु सर्वेषु च, पूर्वजन्मीनज्ञानस्य तत्रतत्र उक्तेः शास्त्रस्य प्रामाण्यात् च, न पूर्वोक्तोपाधीनाम् अननुसन्धानतन्त्रत्वं साधीयः.

नापि अन्तःकरणभेदस्य तथात्वं. दृष्टिसृष्टिवादे पूर्वपूर्वस्य अन्तःकरणस्य नष्टत्वेन अग्रिमाग्रिमस्य तस्य भिन्नत्वात पूर्वदृष्टानुसन्धानाभावप्रसंगात. साक्ष्यैक्येन तत्समर्थनेतु अन्तःकरणभेदस्य अप्रयोजकत्वात. तत्तदन्तकरणे अस्य सर्वज्ञतायाएव आपत्तिः. अन्तकरणवैजात्येन समर्थनन्तु मज्जत-फेनावलम्बन- कल्पत्वात कदर्यमेव. ''पादेन स्पृशामि''-''कर्णाभ्यां शृणोमि''-''चक्षुषा पश्यामि'' इति वाह्यकरणभेदेऽपि एकस्य ज्ञानवत ''तेन-तेन अन्तःकरणेन तत्तद् जानामि'' इत्यादिज्ञानस्य अन्तकरणवैजात्येऽपि सुवचत्वात. सृष्टिदृष्टिवादम् आलम्ब्य अन्तःकरणैक्यांगीकारेण समर्थनेऽपि वहिःकरणवैजात्य-स्येव अन्तःकरणभेदस्यापि अप्रयोजकत्वाद् उक्तदूषणं निर्बाधमेव. नच *फलवलात् न अन्तकरणभेदस्य अप्रयोजकत्वम्* इति वाच्यं. फलवलस्य साधनभेदकल्पनामात्रप्रयोजकत्वेन अन्तःकरणभेदकल्पने अप्रयोजकत्वात्. फलवलेन जीवभेदकल्पनेऽपि दोषाभावात्. अतो व्यापकः एकः प्रतिबिम्बो जीवः इतिपक्षे कथमपि न सर्वज्ञतापत्तिपरिहारः.

ननु तर्हि अस्तु नानाणुजीववादः. तथासति अन्तःकरणे प्रतिबिम्बित-चैतन्य-रूपस्य जीवस्य परिच्छिन्नत्वेन सर्वसंसर्गाभावात् न सर्वज्ञतापत्तिः भवित्री. विषयप्रकाशस्तु विषय-संसृष्ट-वृत्ति-द्वारा, तडागसलिलस्य कुल्याद्वारा केदारसलिलैक्यवद्, जीवस्य विषयावच्छिन्न-ब्रह्मचैतन्याभेदाभिव्यक्तौ भविष्यतीति किञ्चिज्ज्ञत्वम् उपपत्स्यते इति चेत्, न इदं युक्तं भाति, ''सलिल एको दृष्टा(ऽद्वैतो) भवति'' (बृह.उप.४।३।३२) इति श्रुत्या सुषुप्तावेव जीवब्रह्मणोः एकीभावश्रवणात् तदितरत्र तदुपगमे श्रुतिविरोधाद्, जाग्रदादौ व्यावर्तकोपाधेः विद्यमानत्वात् च, दर्पणसत्त्वे बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव जीवब्रह्मणोः अभेदस्य अशक्यवचनत्वात्.

किञ्च जीवब्रह्मणोः इदानीम् अभेदे अन्योऽन्यधर्म-विनिमयाद् ब्रह्मणो अल्पज्ञता अन्यस्य सर्वज्ञता च आपत्स्यत-इति न उक्त-दूषणोद्धार-सम्भवः. यदिच बिम्बभूतं विषयाधिष्ठान-चैतन्यमेव साक्षाद् आध्यासिक-सम्बन्ध-लाभाद् विषयप्रकाशकमिति आध्यासिक-सम्बन्धोपलक्षित-चैतन्यात्मना जीवैकीभावो,

नतु बिम्बत्व-विशिष्टरूपेणेति भेदस्यापि सद्भावात् न उक्तदूषणापत्तिः* इति विभाव्यते, तदापि विषय-तादात्म्यापन्न-ब्रह्मणातु एकीभावो अस्य जातएवेति ''अहं घटः'' इत्याकारक-ज्ञानापत्तिः, अध्यासेन अन्तःकरणतादात्म्यापत्त्या 'अहम्' इति ज्ञानवद्, अन्तःकरणधर्माणां सुखादीनां स्वस्मिन् अभिमानवद् विषयधर्माणामपि अभिमानप्रसङ्गो, ''अयं घटः'' इत्यादिज्ञानाभावः च स्यात्.

यदिच *विषयावच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यं विषयसंसृष्टायाः वृत्तेः अग्रभागे विषयप्रकाशकं प्रतिबिम्बम् अर्पयति, तस्य प्रतिबिम्बस्य जीवेन एकीभावे अभेदाभिव्यक्तिः, तस्यां सत्यां विषयप्रमितिः* इति विभाव्यते, तदातु सुतराम् असङ्गतं, वस्त्वन्तरावरुद्धे दर्पणादौ प्रतिबिम्बादर्शनाद्, विषयसंसृष्टे अग्रभागे ब्रह्मप्रतिबिम्बायोगात् विषयप्रकाशस्यैव अभावप्रसक्तेः. किञ्च प्रतिबिम्बार्पकं चैतन्यं यदि विषयाद् बहिः तदा तस्य वृत्तिसंसृष्टत्वात् प्रतिबिम्बायोगः? यदिच विषयान्तः तदापि विषयेन व्यवधानात् तथा. यदि विषयाद् दूरवर्तिनः तदा विषयावच्छिन्नत्वस्यैव अयोगः. किञ्च अन्तःकरणोपाधि-परिच्छिन्न-प्रतिबिम्बस्य अणुत्वाद् ऊर्ध्वदर्शने वृत्तिद्वारा तस्य निर्गमात् प्राणानामपि निर्गमापत्तिः, ''तमुत्क्रामन्तं प्राणानूत्क्रामन्ति'' (बृह.उप.४।४।२) इति श्रुतेः. किञ्च एवं कल्पनैकशरणत्वे गोलकद्वारा तैजसस्य वेगवतो वृत्तिरूप-परिणामस्य निर्गमादेव प्रमातृ-वृत्ति-विषय-चैतन्याभेद-सिद्ध्या विषय-प्रकाश-सम्भवे गोलकातिरिक्तेन्द्रिय-कल्पनापि वृथा स्यात्. तस्माद् अनादरणीयाएव एते पक्षाः.

एतेन प्रमाणचैतन्यस्य विषयावच्छिन्न-चैतन्याभेदः ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वप्रयोजकः इत्यपि निरस्तम्.

किञ्च यत्र भ्रमद्घटो गृह्यते तत्र वृत्त्युपरञ्जकस्य भ्रमणस्य विषयनिष्ठत्वाभावेन ततः चिदुपरागायोगात् तदग्रहणापत्तिः. नच *तत्र अर्निवचनीयं तज्जन्यतइति सुखेन तद्ग्रहणसम्भवः* इति वाच्यं, वृत्त्या घटाकारिकया आवरणाभिभवेन भ्रमणांशे विक्षेपस्य अशक्यवचनत्वात्.

किञ्च वृत्त्या विषयचैतन्याभेदाभिव्यक्तावपि विषयप्रकाशके प्रमचैतन्ये तदभावात्, नयनप्रदेशे तदननुभवेन इन्द्रियेऽपि तदभावाद्, वृत्तिमात्रजनकस्य इन्द्रियसम्प्रयोगस्य विषयकारणत्वात्. क्लृप्तेश्च सम्प्रयोगेणापि विषये तदाधानायोगाद्, अन्तःकरणावच्छिन्नेऽपि "अहं भ्रमामि" इति अननुभवात् स भ्रमः सर्वत्र अलब्धसत्ताको घटेऽपि न स्याद्. यस्मात् स्वापि असन घटदेशे अनुभूयते, तस्मात् तद्देशावच्छेदेन जायमाने मनोधर्मरूपे ज्ञाने अस्ति. तत् चेत्, प्रमातृविषय-चैतन्याभिन्नं स्यात्, तदा स भ्रमः सर्वानुभवगोचरः स्यात्. यस्मात् न एवं तस्मात् तज्ज्ञानं कार्यरूपं भिन्नमेव इति निश्चयः. नच * शुक्ति-रजतादिस्थले इदमाकारवृत्तौ सत्यामपि रजताध्यासदर्शनात् अंशतएव आवरणनाशइति, अंशान्तरेण भ्रमविक्षेपोऽपि भविष्यतीति, न तदननुभवानुपपत्तिः * इति वाच्यं, (क) विषये तत्सत्त्वे अन्येषामपि तदनुभवापत्तेः, (ख) अन्येषां घटद्रष्टॄणां प्रमाणवृत्त्या तदंशावरणनाशाद् अस्यापि तदनुभवापत्तेश्च विषयाश्रितावरणपक्षस्यैव दुष्टत्वात्, (ग) पुरुषाश्रितपक्षेतु, उक्तरीत्या, प्रमातरि प्रमाणे प्रमेये च वक्तुम् अशक्यत्वेन घट्टकुटीप्रभातवद् अननुभवस्य सर्वानुभवगोचरत्वस्य वा आपातात् शुक्तिरजतस्यापि एतत्तुल्यत्वाद्, (घ) एवंमूलाज्ञानावस्थारूपाज्ञानानां नानात्वं अङ्गीकृत्य, घटावरकाज्ञानस्य घटाकारकवृत्त्या निवृत्तावपि, नैश्चल्यावरकस्य अनिवृत्त्या भ्रमविक्षेपादरणेऽपि, पूर्वोक्तरीत्या पुरुषनिष्ठतैव तस्य वाच्येति चैतन्याभेदस्य पूर्ववदेव असिद्धेः, वृत्तेः ज्ञानात्मकत्वमात्रकल्पनया तस्य उत्पत्तिनाशशालित्वमात्रेण निर्वाहे विषयावरण-तन्नानात्व-कल्पनयोः गुरुत्वाद् अप्रमाणिकत्वात् च.

एतेनेव घटावरकाज्ञानगतावरण-शक्तिमात्रनिवृत्तिः नतु विक्षेप-शक्ति-निवृत्तिरपि इति पक्षो निरस्तो बोध्यः, नैश्चल्यावरणम् अन्तरेण भ्रमणविक्षेपासम्भवाद् आवरण-शक्ति-निवर्तकतायाः अप्रयोजकत्वात् च, जलप्रतिबिम्बित-वृक्षाधोग्रत्व-भ्रमेतु प्रतिबिम्ब-पदार्थस्य अतिरिक्तत्वेन, मूलसमीपवर्तिनि जले मूलस्य — ततो विप्रकृष्टे अग्रस्य — प्रतिबिम्बाद् प्रतिबिम्बत्वेनैव अवगाहाद् भ्रमत्वस्यैव दुर्वचत्वेन तत्र आवरणादि कल्पनायाएव अयोगात् च इति दिक्.

अतो जन्यज्ञानस्य इन्द्रियान्वय-व्यतिरेकानुविधान-दर्शनात्, शक्तिग्राहकेषु कोशादिषु "प्रेक्षोपलब्धिः चित् संविद्" (अम.को.१।५।१) इति 'चिदा' दिभिः सह 'बुद्धे' रैकार्थ्येन वृत्तेः ज्ञानात्मकत्वनिश्चये तत्र ज्ञानोपचारपक्षस्य अयुक्तत्वात् च जन्यज्ञानम् अतिरिक्तमेव तदुत्पत्तिप्रणाडी च पूर्वोक्तरीतिकैव इति निश्चयः

भगवत्साक्षात्कारप्रणाडी :

भगवत्साक्षात्कारेतु न एषा प्रणाडी. तस्य प्रमेयबलादेव भवनात् "नायमात्मा..." (मुण्ड.३।२।३) इति श्रुतौ इतरसाधननिरासेन उपलक्षणविधया निरस्तत्वाद्, उत्तरार्धे (द्रष्ट."यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" इत्यस्मिन्नंशे : मुण्ड.३।२।३) वरणस्य लाभसाधनत्वकथने स्वस्यैव तनुविवरणसाधनत्वोक्तेः च. वरणञ्च अनुग्रहः. सच धर्मान्तरमेव नतु फलदित्सा, "यस्य अनुग्रहम् इच्छामि" ( ) इति वाक्यात्. सच भक्तिबीजभूतो अतो "भक्त्या माम् अभिजानाति" (भग.गीता.१८।५५) "भक्त्यात्वनन्यया शक्यः" (भग.गीता.११।५४) "भक्त्या अहम् एकया ग्राह्यः" (भाग.पुरा.११।१४।२१) इत्यादिषु न विरोधः. अवतारदशायान्तु "मां सर्वे पश्यन्तु" इत्याकारिकया सामान्येच्छयापि दर्शनं; तत्रापि, नानाविधाभिः यथा "मल्लानामशनिः..." (भाग.पुरा.१०।४३।१७) इत्यादौ.

एवञ्च भक्त्या सामान्येच्छया च इति द्वेधा दर्शनम्. उभयथापि प्रमेयबलमेव कारणमिति न विरोधः. स्वसाधनसामग्र्यादिभिः दर्शनज्ञानन्तु अभिमानमात्रात्. अतएव "अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम् अविजानताम्" (केनोप.२।३) इत्यादिश्रुतिः सङ्गच्छते. "मनसैवानुद्रष्टव्यः" (बृह.उप.४।४।१९) इत्यादावपि प्रमेयबलानुगृहीतमेव तदभिप्रेतमिति श्रुत्यन्तराविरोधाय अनुसन्धेयम् इति शुभम्.

इति प्रस्थानरत्नाकरे प्रमाणपरिच्छेदे प्रमाकरणस्वरूपनिरूपके द्वितीये कल्लोले प्रत्यक्षप्रमाकरणनिरूपको तृतीयः तरङ्गः

समाप्तः

'Prasthānaratnākar' Prstāvanā

by Goswami Sri Shyammnoharji

प्रत्यक्षप्रमांक करणका निरूपण

English Translation : Dr. Mrs. Sunanda Y. Shastri

Sense organs should be understood as the means of direct perception. The sense organs of six kinds viz. eye, skin, nose, tongue, ear and mind (मनस्). Mind is internal and external both, since it is connected with action and knowledge. These sense organs are atomic in size, beyond the grasp of gross sense organs and though they are not eternal, still they are long lasting and changing or subject to transformation.

As their objects, the manifested form, objects having manifested form, number, measurement, disjunction, conju-nction, division, otherness, separateness, speed etc. qualities, action manifested in these, their category (जाति = universality) indicated by suffix (त्व) (Tva) and all these qualities, actions and properties with their substratum.

Qualities, actions and properties and their one ness with the substance, in which the manifested touch and (objects) having manifested touch are perceivable by the skin (tactual). Substance having manifested smell, and the qualities actions and properties of such substance and their oneness with

substratum are perceivable by nose (olfactory). Taste, substance having taste, qualities, actions and properties of substance having manifested taste and their oneness with substratum are perceivable by tongue (Qustatory). Sound, substance having sound, qualities, actions and properties of substance having manifest sound and their oneness with substratum, are perceivable by ear (auditory).

According to some thinkers, nose, tongue and ear these organs do not perceive the substance, but only perceive qualities. But according to Vāllabha Vedānta, it is better to hold that these sense organs perceive the substance. It is because in the experiences of milk after drinking milk in the darkness of night, of flowers after smelling Campaka etc. fragrant flowers and of trumpet after hearing trumpet sound etc., objects are directly perceived by tongue, nose and ear respectively.

The Earth having manifested qualities, becomes object of the five sense organs. Water having manifested qualities becomes the object of four sense-organs, except nose. Fire becomes object of three sense organs except nose and tongue. Wind becomes object. of two sense, organs viz. skin and ear. The sky is formless therefore, not perceivable by the eyes, but by the power of object to be known (प्रमेयबल) space becomes visible to eyes. Similarly directions and time both are not perceivable by the sense organs, still they both being the adjectives of perceivable objects, are perceived.

Desire etc. are variations of mind are perceived by the mind

Soul, in its true form is perceivable only through the means prescribed in the scriptures and not by the worldly direct perception. Though the soul being one with the notion 'I' (ego) becomes perceivable by the intellect having notion 'I' (ego). Or perception of the soul, in its pure form, cannot be perceived by ordinary perception. Only through proper means, prescribed by the scriptures, the perception of soul is possible. The self can be experienced through the notion 'I'(ego) by an individual due to the identification of self with ego.

Reflections, illusory or ghost figures and hypnosis are experienced not because of the perceiving ability of sense organs, but because of the nature of that particular object, therefore, it is unnecessary to search cause and effect in appearance. Similarly, darkness is not accepted as the absence of light but it is Māyika (illusory) object. It is connected with the basic construction of human eyes. Hence other animals are able to see into darkness, since illusory (मायिक) darkness cannot cover their eyes. Human eyes become covered by the illusory (मायिक) darkness due to the lack of proper/enough light. Similarly, refrection also is accepted as one illusory (मायिक) object. This topic is discussed at length in Andhakāravāda and Pratibimbavāda.

Among the kinds of Abhāva (non-existence) accepted by Naiyākas prior non-existence (प्रागभाव)is condition of

substance considered as (उपादान) (material cause) or (समवायी) coherent of the name form and actions of the effect with concealment (तिरोभाव) and favourable to the manifestation (आविर्भाव) of effect. Similarly. Posterior non-existence (प्रध्वंसाभाव) is unfavourable. State of the effect. Thus, by perceiving the material cause, the method of perception of prior non-existence and posterior non-existence can be understood. This topic has been explained in detail in 'Āvirbhāvatirobhāvavāda' chapter of Avatāravādāvalī, therefore, not discussed here in detail. As far as the 'Mutual non-existence' (अन्योन्याभाव)is concerned. It should be noted that it is in two wys. Viz. first of all, in the example of "Pot is not cloth". The absence of pot in the cloth is experienced and objected as "Can pot be cloth?" which is refuted as "Pot cannot be cloth". Thus, the mutual non-existence can be perceived. The point to be noted here is, the relation by which cloth is absent in the substratum pot, by the same controlling relation. Clothness is absolutely absent in the substratum pot. Accepting thus mutual-non-existence (अन्योन्या-भाव) dose not remain as an independent variety of non-existence and it becomes 'Absolute non-existence' (अत्यन्ताभाव). As Pot exists in the pot by the relation of identity (तादात्म्य), it does not exist in the cloth, such kind of explanation is given about Mutual-non-existence. By imposing non-existence of cloth on the pot and then negating it, the total form of pot is revealed by the concealment of cloth. Therefore, it is proper to include the mutual non-existence of cloth and pot in the form of cloth and

pot. The last kind of non-existence i.e. Absolute non-existence (अत्यन्ताभाव) should be understood as concealment(तिरोभाव). Because 'Absolute non-existence' cannot be deemed as essenceless like sky-flower (खपुष्प). The absence of anything in any place is called its 'Absolute non-existence', then definition of absence is formed through the experience of concealment of that object. Then only "Pot is not on the floor" such kind of perception of the floor associated with concealment of pot is perceived.

After the explanation of sense organs, their actions need to be explained. The action of sense organs is called (प्रत्यासत्ति)-contact. It is of two kinds, viz. (1) Ordinary actions and (2) Extra-Ordinary actions.

Ordinary actions are again of five kinds viz.:

(1) Contact (संयोग)

(2) Identity (तादात्म्य)

(3) Conjunction and identity (संयुक्ततादात्म्य)

(4) Conjunction-cum-adjectivity (संयुक्तविशेषणता) and

(5) Essence (स्वरूप).

Visual perception of substance takes place when the substance comes in contact with the eyes. The perception of emotions like determination, doubt, pleasure etc., which arise within through mind (मनस्), takes place through identity-contact. Perception of qualities, actions and properties in the substance is possible through conjunction and identity

(संयुक्ततादात्म्य)contact. Concealment(तिरोभाव) is always perceived in the form 'conjunction-cum-identity' (इन्द्रियसंयुक्त-विशेषणता) contact with sense organs. Similarly, to perceive mental states, form of those mental states themselves become contact.

Extraordinary activities are of three kinds viz. 1.Universal (Sāmānya); 2.Supra sensuous (Yogī) and 3.Māyā.

General properties in the persons are perceived by the universal contact. Therefore, universal contact is useful in the inherent knowledge of particular person. Future, past or extra sensory things are perceived by Supra sensuous contact. The Māyika contact creates perceptual error without manifesting non-existent or concealed objects presenting in the intellect in particular time-space.

After this discussion, the author has discussed in detail the Anupalabdhi Pramāṇa (non-apprehension), which is presented to define perception of non-existence of the object, according to those schools of thought, which accept object as existing and non-existing both. In this regard, after evaluating the views of ŚrīPārasanāth Miśra, Vedānta-paribhāṣākār, VaiṣesAesYikas and Naiyāyikas, the author has expressed his own view, stating that, it is not necessary to accept non-apprehension (Anupalabdhi) as an independent means of valid knowledge to perceive non-existence. Because, just as after perceiving particular object through the eyes, its

knowledge is manifested. Similarly, we do not get knowledge of any object through non-apprehension (अनुपलब्धि).

Indeterminate knowledge created by the Sense object contact achieves its visual etc. determinate state through mental states. Therefore, discussion of nature of mental states becomes necessary.

Form of the objects seen outside, can be felt within after closing eyes. This form cannot be of the outer object, because abandoning outer substratum, entering of that form within seems impossible. So, that form has to be accepted as the form of some inner object within. Sāṅkhya school calls it Vṛtti (state) as different egoistic principle. Naiyāyikas believe that the rays of the eyes reach the object and there is sense object contact. Through this sense object contact some kind of impression is formed, which is inherent in the Ātman, accepting thus, they reject the Vṛttis (state).

It is necessary to note that, the form of the perceived object in the eyes is matter of experience (अनुभवगोचर), therefore, it is proper to accept internal state. It should not be deemed as different principle or different inherent properly of Ātman. Because, this is some particular state of intellect according to Vāllabha Philosophy. How can the internally set intellect take form of outer object; answer to such doubt is: When sense organs combined with the mind come in contact with outer objects, then form of the object

is reflected in sense organs, just as one's face is reflected in the mirror. Continuous mixing and friction of the Sattva, Rajas and Tamas cause disturbance, and non-disturbance in the intellect; therefore, due to this disturbance, mental state, sometimes is transformed, partially or totally taking the shape of reflections in the sense organs of outer objects and sometimes it may not take any shape also. It happens so, because intellect helps cognitive organs and organs of actions, therefore, when intellect is in position of helping the organs determinate knowledge and favourable activity to that arise. Sometimes, when helping nature of intellect is obstructed due to increase of Rājas or Tamas, then doubt or determinate knowledge of error arises. Thus, all these mental states are particular state of intellect only. After intellect is shaped in the form of object supplied by sense object contact, then only direct perception takes place. Otherwise if intellect is shaped in the form different than the object then it is believed to be an error. Similarly, due to the various kinds of mental states, all other subdivisions of knowledge should be understood as an outcome of different mental states. As per the statement of Bhāgavata, *"Mental states, viz. awakening, dreaming and deep sleep are emerge from Guṇas and individual soul is definitely different from them as spectator"* proves that all kinds of knowledge is mental state only. When the enjoyment giving Karmas arise, that is waking state, when those Karmas become dormant then it is dream or state of deep sleep. Instead of accepting such kind of theory, it is proper to accept that the mixing and friction among three Guṇas, which

are manifested for the sport of Lord, goes on according to will of God. Thus, it is better to accept that Gns are the nearest cause of different states of intellect. That is why, in the eighteenth chapter of Bhagavad-gītā it is said that body as substratum (अधिष्ठान), Jīva as agent(कर्ता), instruments(करण) such as sight etc. external sense organs, four kinds of internal instruments; action of Prāna etc. vital airs called Ceṣṭā; time and Lords will called destiny(दैव) or the inner controller(अन्तर्यामी) of all living beings described in the 61 verse in the 18 chapter of Gītā, become instrumental in all our activities.

The process of direct perception is like this : [1]Mind becomes ready for particular action inspired by inner controller (अन्तर्यामी). [2]Then mind inspires concerned sense organs. [3]When sense organs are in agreement with their preceding deities, then only sense organs come in contact with objects. [4]Then indeterminate knowledge is generated after object are reflected in sense organs. [5]Then, along with the mixing and friction of three Guṇas in intellect, intellect may grace the sense organs, partially of totally. [6]Then mental states accordingly manifest and different kinds of determinate knowledge arise. [7]Emotions like attachment, aversion or neutrality etc. become strong according to the different kinds of determinate knowledge, [8]from those emotions, inner and external activities, like will efforts etc. emerge [9]Then the activity of accepting or rejecting or neutral attitude takes place and [10]In the end, gain and loss which is cause of happiness and sorrow or

indifference manifest.

According to the method described above, all the activities done through intellect are deemed by Jīva (individual self) as happening within due to superimposition of Antaḥkaraṇa (अन्तःकरणाध्यास) imposition of Pāṇa (प्राणाध्यास) imposition of sense organs (इन्द्रियाध्यास) imposition of body (देहाध्यास) on it and due to forgetting one's own real nature(स्वरूपविस्मृति).

Consequently, they appear as the properties of the soul on one hand and on the other except these properties, the principle like soul is not even accepted. Really speaking, this happens because the consciousness of the soul is reflected in the inner organs, i.e. vital air, sense organs and body.

The process of dream knowledge takes place in some different way then the above mentioned method of direct perception. In this process, soul consciousness in the form of properties shrinks and is averted form body, sense organs and mind and only is reflected in the ego (अहङ्कार) and intellect. Therefore, soul-consciousness, due to super imposition of ego and intellect does the activity of creating happiness and sorrow by enjoying the objects in intellect according to Karma.

After sleeping due to the excess of Tamas, the soul in the form of pure consciousness, withdrawn from the happiness and sorrow producing Karmas, enjoys the Supreme bliss in

the inner most heart (हृदयाकाश) with self knowledge through the enigmatic knot Citta (consciousness intellect/mind)

After this discussion, the author has discussed and explained Naiyāyika's and Śaṇkara's view in this regard and explained the method of realization of God according to Vāllabha doctrine, in the end of this chapter.

Difference between the method of emergence of knowledge of direct perception and the method of realization of God is; the realization of God takes place by the power of the Lord/times/(प्रमेय) and not by the power of means of valid knowledge.

> 'This self is not attained through study, nor through the intellect, nor through much hearing. The very self which this aspirant seeks is attainable through that fact of seeking, this self of his reveals his own nature''.
>
> (Muṇdakopaniṣad. III ii-3)

—this statement from Muṇdakopaniṣad. Supports that realization of God is possible by 'His' acceptance only. Meaning of the word (वरण) (Acceptance) should not be taken in the sense of desire to give fruit related to the mundane world or to liberation. It is to be taken in the sense of desire to give an experience of his own form 'or' to inculcate extreme love for 'His Own form'. This acceptance (वरण) is only in the form of Grace (अनुग्रह).

The acceptance by the God Lord during the period of incarnation becomes the seed to sprout and bloom devotion towards the God, but during the period of non-incarnation (अनवतारदशा) acceptance by the God takes the form of desire of the God to manifest before, the devotee. Thus, a devotee or non-devotee, everyone can perceive the God. The method is same, i.e. through the power of object to be known, i.e. God's power this 'Darśana' (vision) is possible and not through the means of valid knowledge.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

प्रत्यक्षप्रमाणके बारेमें कुछ पुरःस्फूर्तिक विचार

(वाल्लभ दृष्टिकोण)

गोस्वामी श्याम मनोहर

(उपक्रम)

वाल्लभ दृष्टिकोणके अनुसार यह सम्पूर्ण दृग्द्रष्टृदृश्यात्मक नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् उस एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मकी सत्यसंकल्पता तथा सर्वभवनसामर्थ्य की इतिकर्तव्यतारूपा आविर्भाव-तिरोभावरूपा शक्तिओंद्वारा सम्पन्न होती एक लीला है. ब्रह्म तत्त्व लौकिक प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणोंसे गम्य कोई प्रमेय न हो कर एक शास्त्रीय प्रमेय ही है. अतः प्रत्यक्षग्राह्य नाम-रूप-कर्मोकी ब्रह्मात्मकता भी प्रत्यक्षका विषय न हो कर श्रुति-स्मृति-सूत्र-पुराण-तन्त्र-इतिहासरूप शास्त्रवचनैक-गम्य प्रमेय है. फिरभी उस ब्रह्मकी लीलाके रूपमें प्रकट हुवे ये नाम-रूप-कर्म तो प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणोंसे गम्य बनते ही हैं. और अतएव अपने लीलार्थ परिगृहीत इन नाम-रूप-कर्मोकि पहलुमें ब्रह्म भी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका प्रमेय भी बनता ही है. अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण कहते हैं :

> ‘‘अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च विरुद्धसर्वधर्माणाम् आश्रयं युक्त्यगोचरम्. ब्रह्मैव हि सर्वाधारं, यथा भूमिः सहजविरुद्धानामपि मूषकादिजीवानां, कारणगतधर्मः पृथिव्यां भासते. विशेषेण लौकिकयुक्तिः अत्र नास्ति, तदगम्यत्वात्... ननु अवतारेषु भगवत्त्वश्रुतेः लौकिकप्रमाणविष-

यत्ववद् लौकिकयुक्तिविषयत्वमपि कुतो न? इति आशंक्यय आह 'आविर्भावतिरोभावैः मोहनं बहुरूपतः इन्द्रियाणान्तु सामर्थ्याद् अदृश्यं स्वेच्छयातु तत्'... चक्षुः न स्वसामर्थ्येन भगवन्तं विषयीकरोति किन्तु भगवदिच्छयैव 'सर्वे पश्यन्तु!' इत्येतद्रूपया तद् दृश्यम्.''

(त.दी.नि.प्र.१।७१-७२)

अतः लौकिक विषयोंके शास्त्रीय स्वरूपके बारेमें लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका प्रामाण्य अवनसरपराहत होनेपर भी शास्त्रीय विषयोंके लौकिक स्वरूपके बारेमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका प्रामाण्य वाल्लभ चिन्तनमें भी सर्वथा स्वीकारा ही गया है. क्योंकि अन्यथा ब्रह्म या ब्रह्मात्मिका लीला के प्रतिपादनार्थ, सर्वथा अदृष्ट या अश्रुत रहनेपर तो, ब्रह्मविषयिणी परोक्ष शाब्दी प्रमाके जननके व्यापारमें भी शास्त्रवचन अक्षम हो जायेंगे.

अतएव रूपसृष्टिके साथ-साथ तत्प्रतिरूप एवं तदन्तर्गत नामसृष्टिके प्राकट्यका प्रयोजन रूपलीलाद्वारा व्यामुग्ध एवं बद्ध चिदंशरूप जीवात्माओंका नामलीलाद्वारा उद्धार प्रतिपादित हुवा है.[१] जीवात्मचैतन्य अपने चिदंश होनेके रूपमें नतो रूपसृष्टिमें अन्तर्गणित होता है और न नामसृष्टिमें ही. फिरभी उसी चिदंशके जीवभावापन्न होनेपर वह अपने ज्ञानकर्मादि व्यापार रूपसृष्टि और नामसृष्टि के साथ संहत हो कर ही सम्पन्न कर पाता है. नामसृष्टि और रूपसृष्टि के बीच रहे इतरेतरविलक्षण स्वभावका निरूपण महाप्रभु यों करते हैं कि रूपसृष्टि अन्तवती स्थूल विकृत एवं जड़ात्मिका होती है जबकि नामसृष्टि अनन्तं सूक्ष्म अविकृत एवं बोधात्मिका होती है[२] यों बन्धनकारिणी रूपसृष्टि और मुक्तिदायिनी नामसृष्टि दोनों ही भगवल्लीलारूपा ही होती हैं. अतएव श्रुत्यादिशास्त्रैकगम्य तत्त्वस्वरूपोंकी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अगम्यता बन्धनकारिणी लीला होती है. क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे गम्य रूपरसगन्धस्पर्णशब्दादि विषय स्वयं

बन्धनकारी होते हैं. इन्हीं, किन्तु, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे गम्य नाम-रूप-कर्मोंके श्रुत्यादि शास्त्रोंके वचनोंमें प्रतिपादित या विहित स्वरूप मुक्तिसम्पादक भी हो पाते हैं. एतावता सिद्ध होता है कि बन्धनकी तरह मुक्ति भी उसी परम तत्त्वकी एक लीला है. और अतएव प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका इस अर्धजरतीयन्यायसे प्रमाण और अप्रमाण होना दोनों ही भगवल्लीलाके ही दो विलक्षण अनुभाव हैं! अस्तु.

(विषय)

प्रत्यक्षके प्रामाण्यका, इस अर्धजरतीयन्यायसे, अभ्युपगम हमें सोचनेकी इस दिशाकी ओर अग्रसर करता है कि प्रत्यक्षानुभूति अपने किस स्वरूपमें प्रमाण होनेकी पदवीपर आरूढ़ हो नहीं पाती ?

वाल्लभ दृष्टि इस विषयमें यों है कि प्रत्यक्षानुभूतिका केवल एक अनुभूतिके रूपमें प्रमाण होना नियत या अनिवार्य न होनेपर भी उससे पैदा होनेवाली बौद्धिकी निश्चिति, जिसके आधारतया बुद्धिका सात्त्विकी अवस्थामें होना एक अनिवार्य निकष माना गया है[3], इस रूपमें वह अनुभूति प्रमाणपदवीपर आरूढ़ हो पाती है.

(संशय)

स्पष्ट है कि प्रत्यक्षानुभूति निर्विषयकचैतन्यरूपा तो हो ही नहीं सकती. अतः प्रत्यक्षानुभूतिके घटक (विषय / कर्म; तथा, विषयी / बाह्याभ्यन्तरकरण तथा कर्ता या अधिष्ठान यों) न्यूनतम दो या तीन तो स्वीकारने ही पड़ते हैं. अतः इस जिज्ञास्यविषयके मूलमें कुछ विकल्प इस तरह संशयात्मना उभरते हैं यथा —

१.क्या प्रत्यक्षानुभूति निश्चेष्ट (passive) ग्राहक

बाह्याभ्यन्तर करण या कर्ता के ऊपर सचेष्ट (active) बाह्य विषयोंका कोई वास्तविक प्रभाव (real impression) है ?

२.अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति विषयद्वारा विषयीपर आरोपित कोई मिथ्या प्रभाव (super-impossed impression) होता है ?

३.अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति निश्चेष्ट (passive)बाह्य विषय, उसे द्रव्य (Matter) प्राकृत विषय (Natural object), वस्तुका अकल्पित स्वरूप (Thing-in-itself=Noumenon), स्वप्रयोजनक अभोग्य वस्तु (pour soi), परप्रयोजनक या अस्वप्रयोजनक भोग्य वस्तु (en soi) जिस किसी भी रूपमें देखा जाये, उसके बारेमें सचेष्ट (active) विषयी ज्ञानकरण अथवा ज्ञाता का कोई प्रतिभाव (reaction/expression) है ?

४.अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति ज्ञानकरण / ज्ञाता द्वारा विषयपर किया गया कोई मिथ्या आरोपण (projection/superimposition) है ?

५.अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति विषयीके गुणधर्मोंका इकतरफा मिथ्यारोपण न हो कर विषय और विषयी दोनोंके गुणधर्मोंके अन्योन्यारोपणात्मक अध्यासरूपा घटना है ?

६.अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति इन दोनोंके बीच उभयत्र परस्पर घटित होती क्रिया-प्रतिक्रियारूपा कोई उभयविलक्षण घटना है ?

७.अथवा क्या यह प्रत्यक्षानुभूति दोनोंमें निगूढ़ सम्भावनाके तोरपर रहे हुवे अनभिव्यक्त गुणधर्मोंकी

अन्योन्यसहयोगवश उभरनेवाली कोई वास्तविकता या अभिव्यक्ति है?

ये हैं : जिज्ञास्य विषयरूप प्रत्यक्षप्रमाणके बारेमें संशयकी विभिन्न कोटियोंके विभिन्न कल्प.

(पूर्वपक्ष)

१.हम देख सकते हैं कि जिज्ञास्यविषयके बारेमें संशयका प्रथम कल्प सांख्यसदृश निष्क्रिय पुरुषचैतन्य तथा सक्रिय जड़प्रकृति के द्वैतवादी चिन्तनमें मान्य होना शक्य होनेपर भी शुद्धाद्वैतवादी वाल्लभ वेदान्तमें मान्य नहीं हो सकता है.

२.द्वितीय कल्प उन दार्शनिक चिन्तनोंमें सम्भव है जो चैतन्यको सर्वथा निर्गुण निष्क्रिय निराकार या निर्धर्मक मानते हैं परन्तु वाल्लभ चिन्तन चैतन्यको उसके मूलस्वरूपमें तो निर्गुण निष्क्रिय निराकार या निर्धर्मक तो कथमपि नहीं मानता. अतःप्रत्यक्षकी ऐसी व्याख्या भी वाल्लभ चिन्तनमें पूर्वपक्षमें ही अन्तर्भूत होगी.

३.इसी तरह तृतीय कल्पमें भी मूलतः बाह्य विषय और विषयी के बारेमें एक तरहका द्वैतवादी पूर्वाग्रह तो भासित हो ही रहा है. क्योंकि बाह्य विषय प्रत्यक्षानुभूतिके जननव्यापारमें निश्चेष्ट सहयोगी (active partner) होते हैं या होता है. वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिके अनुसार जड़ द्रव्यका अकल्पित वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्दात्मक ही होता है, जो जीवचेतनाद्वारा सामान्यतया प्रत्यक्षग्राह्य नहीं हो पाता. सच्चिदाननन्द ब्रह्मके सत्यसंकल्प और सर्वभवनसामर्थ्य के वश सदंशमें चैतन्य और चिदंशमें आनन्द के तिरोभाववश प्राकृत सदंशोंमें

गृहीत होनी जड़ताका कुछ विषयगत आधार (objective ground) होनेपर भी चिदानन्दांशके तिरोभाववश उन जड़ द्रव्योंमें चेतना या आनन्द के ऐकान्तिक अत्यन्ताभावकी प्रतीतिमें हेतु जीवात्माओंका अपना परिच्छिन्न बोधसामर्थ्य भी विषयिगत आधार (subjective ground) स्वीकारा गया है. अतः इस सन्दर्भमें वाल्लभ वेदान्त प्रत्यक्षानुभूतिके गोचर विषयोंको (nonmena/phenomena) के ऐकान्तिक वर्गोंमें विभक्त करनेको जर्मनीके अज्ञेयवादी इमानुएल कान्टकी तरह समुद्यत नहीं हो पाता. रही बात द्रव्यके बारेमें निश्चेष्टताकी तो, ऐसी (inertia) की धारणा भी पुनः शुद्धाद्वैत वेदान्तको रास नहीं आ सकती है. क्योंकि न्याय-सांख्यमतोंकी तरह जड़ प्राकृत द्रव्योंका भोग्यभावात्मना प्रकट होना तथा पुरुषचैतन्यका भोक्तृभावसे मण्डित होना, वाल्लभ वेदान्तमें भी, लीलार्थ प्रकट ऐच्छिक द्वैतके अनुरोधवश तो मान्य है ही. वाल्लभ वेदान्तमें, फिरभी, नतो न्यायमतकी तरह जड़ द्रव्यको सर्वथा निष्क्रिय और न सांख्यमतकी तरह पुरुषचैतन्यको ही सर्वथा निष्क्रिय माना गया है. और न केवल जड़ प्रकृतिको ही सक्रिय माना गया है. अतः पुरुषचैतन्यको केवल भोक्तृभावापन्न (en soi) मान लेने भी वाल्लभ वेदान्त समुद्यत नहीं है. क्योंकि उसके भोक्तृभावके घटक बाह्याभ्यन्तर करण स्वयं भोग्यभावापन्न जड़प्रकृतिसे उसे उधार मिले हुवे होते हैं. अंशी परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णको वाल्लभ वेदान्त ‘‘**क्रीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजगत् कृतं ते**’’ (भाग.पुरा.८।२२।२०) तथा ‘‘**अत्ता चराचरग्रहणात्**’’ (ब्र.सू.१।२।९) वचनोंके आधारपर मूलभोक्ता स्वीकारता होनेसे, उन्हें ही (primordial en soi) स्वीकारेगा. जीवात्माओंके तो ब्रह्मके चिदंश होनेके कारण उनका कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी आंशिक अभिव्यक्ति ही होती है. यह हम देख सकते हैं कि ब्रह्मसूत्रगत ‘चराचर’ पद भी जड़जीवके प्रभेदका वाचक नहीं माना गया है. क्योंकि अक्षरब्रह्म कूटस्थचैतन्य अचर भी होता है और अंशभूत

जीवचैतन्य चर भी. इसी तरह आकाशको जड़ होनेपर भी अचर माना गया तो अन्य भौतिक तत्त्वोंको चर भी. अतएव जड़जीवात्मक उभयविध जगत्को ब्राह्मिक सन्दर्भमें वाल्लभ वेदान्त न तो ऐकान्तिकतया भोग्य ही और न ऐकान्तिकतया भोक्ता ही मान पाता है. व्यवस्थित विकल्पवश ब्रह्मके सदंशभूत जड़ द्रव्योंमें प्रकट भोग्यभाव तथा जीवात्माओंमें जड़ द्रव्योंद्वारा निरूपित प्रकट भोक्तृभाव होनेपर भी, पारमात्मिक भोक्तृभावनिरूपित प्रकट भोग्यभाव भी स्वीकार्य है ही.

४.इस प्रकारका मत भारतीय चिन्तनमें तो उपलब्ध न होनेपर भी पाश्चात्य चिन्तनमें अनुभववादिओंद्वारा प्रस्तावित किया गया है. इस अनुभववाद *विरु.* तर्कवाद के आपसी विरोधाभासके बारेमें वाल्लभ वेदान्तकी धारणा कुछ इस तरहकी सोची जा सकती है कि प्रत्यक्षगोचरतया अनुभूयमान सारेके सारे प्रत्यय न तो हमारी चेतनामें, तर्कवादी (Retionalistic) धारणाके अनुरूप अन्तर्निगूढ़ ही रहते हैं और नहीं अनुभववादी (Empiricistic) धारणाके अनुरूप केवल इन्द्रियार्थसत्सम्प्रयोग-जन्य ही. पुनश्च, अर्धजरतीयन्यायेन, चेतनाके भीतर बाह्य उद्बोधकसामग्रीवशात् उद्बुद्ध होते हैं और कुछ बौद्धिकी चेतना अपनी सात्त्विकी राजसी या तामसी अवस्थाओंके अनुरूप अपने भीतर घड़े प्रत्ययोंका बाह्यप्रक्षेपण भी करती है. 'प्रस्थानरत्नाकर' ग्रन्थके प्रमास्वरूपबोधोपयिकज्ञानभेदोपभेदनिरूपक कल्लोलमें दशविधज्ञानकी निरूपक आद्य तरंगमें[४] इस विषयका विस्तारपूर्वक भलीभांति उपपादन हुवा है.

५.भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यने अपने शारीरकभाष्यके उपोद्घातमें इस तरहके अध्यासका[५] मनोरम निरूपण किया है परन्तु महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण अपने भाष्यमें इस प्रक्रियाका प्रत्याख्यान इन शब्दोमें करते हैं :

(क)"वेदेनैव तावत् कर्तृत्वं बोध्यते. वेदश्च परमाप्तो

अक्षरमात्रमपि अन्यथा न वदति. अन्यथा सर्वत्रैव तदविश्वासप्रसंगात्. नच कर्तृत्वे विरोधो अस्ति, सत्यत्वादिधर्मवत् कर्तृत्वस्यापि उपपत्तेः. सर्वथा निर्धर्मकत्वे सामानाधिकरण्यविरोधः. 'सत्य'-'ज्ञाना'दिपदानां धर्मभेदेनैव तदुपपत्तेः. नच कर्तृत्वं संसारिधर्मो देहाध्यासकृतत्वाद् इति वाच्यं, प्रापञ्चिके कर्तृत्वे तथैव नतु अलौकिककर्तृत्वे... प्रतीतञ्च निषेध्यं न अप्रतीतं न श्रुतिप्रतीतम्. सत्यत्वादयश्च लौकिकाः ततः सर्वनिषेधे तदज्ञानमेव भवेत्. नच सत्यत्वादिकं लोके नास्त्येव, व्यवहारमात्रत्वात् कारणगतमेव सत्यत्वं प्रपञ्चे भासते इति वाच्यं, तर्हि कर्तृत्वं तथा कुतो न अंगीक्रियते? स्मृतिश्च स्वीकृता भवति 'कर्ता कारयिता हरिः' इति. नच आरोपन्यायेन वक्तुं शक्यं तथा सति अन्यस्य स्यात्. तत्र न प्रकृतेः, अग्रे स्वयमेव निषिध्यमानत्वात्. न जीवानाम्, अस्वातन्त्र्यात्. नच अन्येषाम्, उभयनिषेधादेव. तस्माद् ब्रह्मगतमेव कर्तृत्वम् एवं भोक्तृत्वमपि"(ब्र.सू.भा.१।१।२).

(ख)"कर्तृत्वं ब्रह्मगतमेव तत्सम्बन्धादेव जीवे कर्तृत्वं तदंशत्वाद् ऐश्वर्यादिवत् नतु जडगतम् इति"(ब्र.सू.भा.२।३।-४१).

अतः भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यद्वारा प्रतिपादित आध्यासिकी प्रक्रिया प्रत्यक्षानुभूतिके बारेमें सर्वांशमें वाल्लभ वेदान्तमें अभिमत हो नहीं पाती है.

६. इसके बाद आते षष्ठ कल्पके मूलमें भी किसी तरहकी द्वैतवादी पूर्वधारणा ही सुस्पष्ट झलकती है. अतः लीलार्थ प्रकट विषय-विषयीके द्वैतवश प्रत्यक्षानुभूति इन दोनोंके बीच एक क्रिया-प्रतिक्रियारूप प्रकट

हुयी वास्तविक घटना है, इस अंशमें तो वाल्लभ वेदान्तको भी कोई आपत्ति न होनेपर भी, विषय-विषयीके बीच रहे मौलिक अद्वैतको भुलाया न जाये, तभी यह कल्प वाल्लभ वेदान्तमें मान्य हो पायेगा. अतएव श्रीमद्भागवतके द्वादशस्कन्धमें **''आसीद् ज्ञानम् अथोहि अर्थो एकमेव अविकल्पितं... तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितं वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं द्विधा समभवद् बृहद्. तयोः एकतरोहि अर्थो प्रकृतिः सा उभयात्मिका. ज्ञानन्तु अन्यतमो भावः पुरुषः सो अभिधीयते. तमो रजः सत्त्वम् इति प्रकृतेः अभवन् गुणाः. मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च... सञ्चोदिता भावाः सर्वे संहत्यकारिणो अण्डम् उत्पादयामासुः मम आयतनम् उत्तमं, तस्मिन् अहं समभवम् अण्डे सलिलसंस्थितौ''** (भाग.पुरा.११।२४।२-१०) कहा गया है. अतः यहां निरूपित एकका अनेकवद्भाव और उन अनेकवद्भावापन्नोंमें पुनः परस्पर संहत्य अर्थक्रियाकारिताके सिद्धान्तको न भुलाया जाय तो विषय-विषयीके बीच क्रिया-प्रतिक्रियारूपेण प्रत्यक्षानुभूतिको एक वास्तविक घटनाके रूपमें स्वीकार करनेमें वाल्लभ वेदान्तको कोई संकोच नहीं होगा. अन्यथा यह भी कल्प पूर्वपक्षकुक्षिमें निविष्ट ही स्वीकारना पड़ता है.

(उत्तरपक्ष / सिद्धान्तपक्ष)

अतः अवशिष्ट अन्तिम सातवां *''यह प्रत्यक्षानुभूति दोनोंमें निगूढ़ सम्भावनाके तोरपर रहे हुवे अनभिव्यक्त गुणधर्मोकी अन्योन्यसहयोगवश उभरनेवाली कोई वास्तविकता या अभिव्यक्ति है''* ऐसा कल्प ही हमारे सामने वाल्लभ सिद्धान्तके रूपमें प्रस्तुत होता है.

एतदर्थ कुछ मौलिक प्राग्धारणाओंको बुद्धिगत रखना जिज्ञास्यविषयके भलीभांति समाकलनके हेतु उपकारक हो सकता है.

प्रथम प्राग्धारणा :

उनमें सर्वप्रथम तो यह कि यहुदी-ईसाई-इस्लामी धर्मग्रन्थोंमें सृष्टिका

प्रादुर्भाव जैसे एक सीधी रेखाके रूपमें स्वीकारा गया है, वैसे वेदादि शास्त्र या वाल्लभ वेदान्तमें वह नहीं स्वीकारा गया है. यहां वह चक्रकाकार रेखामें स्वीकारा गया है. क्योंकि ब्रह्मकी परिभाषा **''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म''** (तैत्ति.उप.३।१) में ही **''जायन्ते-जीवन्ति-प्रयन्ति-अभिसंविशन्ति''** यों चारों ही क्रियापदोंमें वर्तमानकालका प्रयोग इसकी गवाही देता है. अतः एकमेवाद्वितीय तत्त्वका अनेकवद्भावापन्न होना, उस सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदवर्जित तत्त्वका सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदवत्तया प्रकट होना, देश-काल-स्वरूपतो अपरिच्छिन्नका अपने-आपको देश-काल-स्वरूपके परिच्छेदोंमें प्रकट करना, उस विशुद्ध विज्ञानात्मक तत्त्वका अपनेसे पृथक् ज्ञेयार्थतया भी प्रकट होना, उस कृत्स्नप्रज्ञानघन एकरस तत्त्वका अज्ञान संशय भ्रम स्मृति स्वप्न निद्रा आदि अनेकरसभावोंमें प्रकट होना, यह सभी कुछ सकृद्घटित होनेवाली आकस्मिक घटना न हो कर कोई सनातन असकृदावर्तनोंके चक्रोमें चलती रहनेवाली एक लीलाके रूपमें स्वीकारा गया है. अतएव उस आत्मरमणशील[६] चेतनामें अनात्मवत् जड़-जीवात्मिका सृष्टिका प्रादुर्भाव लीलारूप माना गया है. अतएव बृहदारण्यकोपनिषद्में इसे यों कहा गया है :

> **''सवै नैव रेमे तस्माद्-एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत्- स ह एतावान् आस. यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ-स इममेव आत्मानं द्वेधा आपातयत्... स ह इयम् ईक्षाञ्चक्रे 'कथन्तु मा आत्मनएव जनयित्वा सम्भवति, हन्तः तिरोसानि' इति सा गौः अभवत्- ऋषभःइतरः तां समेव अभवत्...यदिदं किञ्चन मिथुनं...तत् सर्वम् असृजत. सो अवेद् 'अहं वाव सृष्टिः अस्मि'-'अहं हि सर्वम् असृक्षि' इति. ततः सृष्टिः अभवत्. सृष्ट्यां ह एतस्यां भवति य एवं वेद.''**
>
> (बृह.उप.१।४।३-५).

एतावता सिद्ध होता है कि उस अखण्डबोधरूप परमतत्त्वका निजात्मद्वैधापादन, अर्थात् विषय और विषयी बनना, आंख-मिचौनीके जैसी कोई क्रीड़ा है. अर्थात् छिपे हुवे विषयको विषयी खोज रहा है और विषयीके छिप जानेपर उसे विषय खोजने लग जाता है! यह निरन्तर चक्रवत् चलती लीलामें उस एकमेवाद्वितीय तत्त्वका अनेकवद्भावापन्न होना और अनेकवद्भावापन्न हो जानेपर पुनः अपनी एकमेवाद्वितीयताको खोजने लग जाना ही सृष्टि-प्रलयके चक्रतया उपनिषदोंमें प्रतिपादित हुवा है.

हमारा जिज्ञास्यविषय प्रत्यक्षप्रमाण भी इस प्रक्रियामें अपवाद हो नहीं सकता. अतः विषयी चेतनामें प्रकट हुवा लीलात्मक अज्ञान विषयके बारेमें इच्छा-यत्न-उपलब्धिके अनुरोधवश परोक्षापरोक्ष अवभासोंसे निराकृत होनेकी एक क्रीड़ा है. उसी तरह विषयके इर्दगिर्द रहे आवरणोंमेंसे विषयकी भी झलक प्रकट करनेको कुछ न कुछ काल-कर्म-स्वभावके अनुरोधवश क्रीड़ा चलती रहती है. अन्यथा सर्वथा अनवगत अनाकांक्षित अद्भुत या अनिष्ट विषयोंके आकस्मिक परोक्षापरोक्ष विज्ञानकी सम्भावना ही प्रकट हो नहीं पाती! एतावता सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु ज्ञानविषय बन कर विषयी ज्ञानके साथ जुड़ना चाहती है और प्रत्येक चेतना आत्मरत रहनेके बजाय ज्ञेयार्थविषयिणी बनना चाहती है. यदि यह क्रीड़ा चक्रवत् नैरन्तर्य लिये हुवे न होती, तो सभीके लिये सीधी ऋजुरेखाके रूपमें निर्विकल्प समाधिकी अवस्थाको पा लेना एक सुलभ सिद्धि ही हो जाती! निष्कर्षतया *"प्रत्यक्षानुभूति विषय और विषयी दोनोंमें निगूढ़ सम्भावनाके तोरपर रह हुवे अनभिव्यक्त गुणधर्मोंकी अन्योन्यसहयोगवश उभरनेवाली कोई वास्तविकता या अभिव्यक्ति है"* यह सिद्ध हो जाता है.

<u>द्वितीय प्राग्धारणा</u> :

दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि ज्ञानके परोक्षावभासके

अन्यान्य सभी उदाहरणोंमें रूपसृष्टि (percept) और नामसृष्टि (concept) के बीच प्रकट ऐच्छिक द्वैतकी ही प्रधानता रहती है. प्रत्यक्षावभासमें, जबकि, इन दोनोंके बीच पुनः एक निगूढ़ तादात्म्यका अनुसन्धान सुलभ बन जाता है, क्योंकि प्रत्यक्षानुभूति अपनी आद्यावस्था निर्विकल्पानुभूति (sense datum) के स्तरपर विषयीकी इच्छा आकांक्षा या प्रयत्न से नियततया जन्य नहीं होती. अतः विषयीसे बाह्यार्थ न केवल अपरोक्षावभासेंगित दिशाके अनुरोधवश अपितु वैसे अवभासप्रयुक्त प्रवृत्तिहेतुक अन्यथानुपपत्तिके बलपर भी बाह्यार्थ और निर्विकल्पानुभूति के बीच जन्यजनकभाव सिद्ध होता है. यद्यपि बृहदारण्यकोपनिषद्में इन नाम-रूप-कर्मोके तादात्म्यका निरूपण यों उपलब्ध होता है कि—

> **''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म. तेषां नाम्नां वाग्...अतोहि सर्वाणि नामानि उत्तिष्ठन्ति... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति. अथ रूपाणां चक्षुः... अतोहि सर्वाणि रूपाणि उत्तिष्ठन्ति... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति. अथ कर्मणाम् आत्मा... अतोहि सर्वाणि कर्माणि उत्तिष्ठन्ति... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा आत्मा उ एकःसन् एतत् त्रयम्.''**
>
> (बृह.उप.१।६।१-३).

तथापि यहां नाम-रूप-कर्मोके उत्थानहेतु 'उत्तिष्ठन्ति' और आधारहेतु 'बिभर्ति' के सूक्ष्म प्रभेद ऐच्छिक द्वैत और स्वाभाविक अद्वैत के ही लिंग हैं. अतः स्पष्टतया नाम-रूप-कर्मके बीच रहे इस निगूढ़ एवं घनिष्ठ ब्राह्मिक तादात्म्यका अनुसन्धान प्रत्यक्षानुभूतिमें शक्य जो बन जाता है, वही इस प्रत्यक्षप्रमाणका असाधारण महत्त्व है. वाल्लभ वेदान्तमें नाम और रूप को, जर्मनीके सत्रहवीं सदीके चिन्तक लाइप्नीत्ज़के मोनाड्स्की तरह, आत्मपर्याप्त समानान्तर गवाक्षविहीन प्रकोष्ठोपम नहीं माना गया है. और न इन नाम-रूपोंको आविद्यक विकल्प ही अर्थात्

अविद्याकल्पित मिथ्याभास ही. क्योंकि इनकी त्रयीका आत्मतया एकत्व और एकात्माका नाम-रूप-कर्मतया त्रित्व कण्ठोक्त सिद्ध है. यह तादात्म्य, क्योंकि, विषयके परोक्षावभासमें यद्यपि सुबोध्य नहीं होता; फिरभी, प्रत्यक्षानुभूति एक ऐसा प्रयागराज है कि जहां नाम-रूप-कर्मकी त्रिवेणीका पवित्र संगम हो ही जाता है.

प्रस्तुत विमर्शके यहां इस मुकामपर पहुंचनेपर ही तैत्तिरीयोपनिषद्में निरूपित "**सो अकामयत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति... स... इदं सर्वम् असृजत. यदिदं किञ्च... सच्च त्यच्च अभवत्, निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च, निलयनञ्च अनिलयनञ्च, सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवत्. यदिदं किञ्च तत् 'सत्यम्' इति आचक्षते**" (तैत्ति.उप.२।६) उस परम तत्त्वकी विरुद्धधर्माश्रयताका सत्यापन शक्य बन जाता है.

तृतीय प्राग्धारणा :

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके आत्मज श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणद्वारा वाल्लभ वेदान्तके नामाभिधानार्थ प्रयुक्त 'साकारब्रह्मवाद' पदके अभिप्रायका विमर्श करनेपर 'ब्रह्म'पद त्रिविध अपरिच्छिन्नताका भाव द्योतित करता है परन्तु 'साकार' पदसे विरुद्धधर्मका भाव द्योतित होता है. जैसा कि महाप्रभु स्वयं भी कहते हैं "**ब्रह्मणि विरुद्धधर्माः सन्तीति ज्ञापनार्थम् आह 'अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च विरुद्धसर्वधर्माणाम् आश्रयो युक्त्यगोचरम्' अनन्ताः मूर्तयो यस्य (तद्) ब्रह्म एकं व्यापकं च. तेन अनेकत्वम् एकत्वं च निरूपितम्**" (त.दी.नि.प्र.१।७१) अतः आधुनिक सूक्ष्मजैविकविज्ञानके (Microbiology) के एककोशीय जीवाणु (protoplasmic cell) मॉडलपर कुछ कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि 'साकार' पदबोधित परब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण Nucleus के जैसे होते हैं. इसी तरह 'ब्रह्म'पदबोधित त्रिविध अपरिच्छिन्नता / व्यापकताको 'अक्षरब्रह्म' कहा गया है. यह एककोशीय जीवाणुमें Cytoplasm की तरह होता है. यहीं नाभीकीय सत्यसंकल्प

तथा सर्वभवनसामर्थ्य द्वारा आत्मद्वैधापादन (splitting of cell) की प्रक्रिया सम्पन्न होती है.[७] सच्चिदानन्दरूप अक्षरब्रह्मकी पञ्चविधता काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषतया निरूपित हुयी है. इनमें प्रकृति सत्त्वरजस्तमोगुणोंकी साम्यावस्थारूपा सदंश होती है. महद् (व्यष्टिचित्तोंकी समष्टि), अहंकार (व्यष्टिक्रियाशक्तिओंकी समष्टि). इस तरह ये हमारे भीतर प्रत्यक्षोपकरण मन बुद्धि इन्द्रिय तन्मात्रा पञ्चमहाभूतोंके अवान्तरोपादानकारणरूप बनते हैं. आनन्दांशके तिरोभावपूर्वक जीवचेतनाकी समष्टिको पुरुष माना गया है. यह साराका साराका आत्मविभाजन cytoplasm के जैसे अक्षरब्रह्मात्मक प्रकोष्ठमें सम्पन्न होता माना गया है. इनमें Nucleus स्थानीय पुरुषोत्तमको सर्वस्तुविषयक स्वाभाविक= अनौपाधिक ज्ञानसे सर्वदा युक्त माना गया है. यह स्वभावसिद्ध सर्वज्ञता, किन्तु, जीवचेतनामें आनन्दांशके तिरोधानवश तिरोहित हो जाती मानी गयी है. अतः ब्रह्मके चिदंशोंमें चेतनाका स्वरूप निर्विषयक चैतन्यवत् हो जाता है. बादमें ब्रह्मके ही सदंशभूत प्राकृत चित्त अहंकार मन इन्द्रिय तन्मात्रा बुद्धि आदि उपाधियों या उपकरणों के सहयोगवश ही वह जीवचेतना पुनः सविषयक ज्ञानवान् ज्ञाता बन पाती है. अतः जिसे हम 'विषयी' कहते-समझते हैं वह चेतनैकरस या बोधैकरस (homogeneously cognisant spitit) न हो कर चेतनाचेतन तत्त्वोंका संघात होता है. निष्कर्षतया जिसे हम प्रत्यक्षोपलब्धि समझते हैं, उसे भी चेतनाचेतनसंघातमें घटित होनेवाली एक विलक्षण घटनाके रूपमें निहारना आवश्यक होता है. अतः हमारी प्रत्यक्षोपलब्धि भी हमारा सहज सामर्थ्य न हो कर विषयीके घटक चेतनाचेतन उपादानोंका संघातोपाधिक सामर्थ्य ही होता है. अतः संघातोपादानभूत तत्त्वोंकी परिच्छिन्न सामर्थ्यके अनुरूप परिच्छिन्न सामर्थ्य भी वहां अनुक्तसिद्ध ही हो जाता है.

ये तो प्रत्यक्षानुभूतिके सिद्धान्ताभिमत स्वरूपके बारेमें तत्त्वमीमांसकीय या पराभौतिकी (metaphysical) प्राग्धारणाएं हैं. ज्ञानमीमांसकीय (episemological) प्राग्धारणोंपर भी थोड़ा सा दृष्टिपात अपेक्षित है.

चतुर्थ प्राग्धारणा :

यह समूचा निरूपण श्रीमद्भागवततृतीयस्कन्धके छब्बीसवें अध्यायके आधारपर ही प्रस्थानरत्नाकरकारने भी किया है. अतः विस्तारपूर्वक तो वहीं देख लेना उपकारक होगा. फिरभी थोड़ी सी रूपरेखा यहां भी दी जा सकती है.

हम देख चुके हैं कि जीवचेतनाका साक्षात् सम्पर्क जिस प्राकृतिक तत्त्वके साथ जुड़ता है, उसे 'महत्' या 'चित्त' कहा गया है. इसके बारेमें भागवतकारिकाकी सुबोधिनीमें महाप्रभु कहते हैं कि चित्त वह पदार्थ है जो सदंशमें प्रकटी प्रकाशोपम चिदंशके प्रति प्राथमिकी, दर्पण (या केमेरामें भरी जानेवाली (photosenstivie reel) के जैसी, चैतन्यका ग्रहण और उसे प्रकट करनेकी सामर्थ्य है. इसे ब्रह्माण्डकी अंकुरावस्थाके रूपमें निरूपित किया गया है. इस चित्तमें से जो द्वितीय तत्त्व प्रकट होता है वह क्रियाशक्तिमान् अहंकार है. इसमें निजोपादानके गुणके अलावा क्रियाशक्तिका भी वैशिष्ट्य उल्लेखनीय है. अर्थात् अब चित्त न केवल चैतन्यको अपने भीतर प्रतिफलित कर पाता है अपितु अहंकारात्मना परिणत चित्त प्रतिक्रिया भी प्रकट करने लग जाता है. हम देख चुके हैं कि चित्तको अंकुरोपम माना गया सो अहंकारात्मना सक्रिय हो पानेके कारण अब उसमें न केवल चैतन्य अपितु विश्वके मूलांकुरमें रही सूक्ष्मावस्थागत विविध नाम-रूप-कर्मोवाले मन इन्द्रिय और तन्मात्राओं के प्रति समानता तथा सचेष्टता भी प्रकट हो पाती है. और इस तरह वे स्थूलभावापन्न हो जाते हैं. शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध तन्मात्राएं ही घनीभूत हो कर आकाश वायु तेज जल और पृथिवी के रूपोंमें परिणत हो जाते हैं[८]. इसका सुविशद निरूपण तो आकर ग्रन्थमें ही अवलोकनीय है. फिरभी यहां उसके स्थालीपुलाकन्यायेन निरूपणका मुख्य प्रयोजन यह दिखलाना है कि कैसे एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्दके सदंश और चिदंश अपने मौलिक रूपमें एकरस (homogeneous) होनेपर भी

आत्मविभाजन (self-splitting) द्वारा भिन्नरस (heterogeneous) बन जाते हैं. इन भिन्नरसभावापन्न सदंश और चिदंश के परस्पर संहत हो कर एक-दूसरेके प्रति क्रिया-प्रतिक्रियाशील होनेपर जीवशास्त्रीय mitotic और meiotic आत्मविभाजनपूर्वक उत्तरोत्तर विकास भी शक्य बन जाता है.

एतावता सिद्ध होता है कि नामकी बोधात्मकता और रूपकी जड़ात्मकता आत्मविभाजनकी जीवशास्त्रीयक प्रक्रिया सदृश एक प्रक्रिया है. अतः इन दोनोंके बीच रहे वैरूप्यके तिलका ताड़ बना कर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और सविकल्पक प्रत्यक्ष में अन्यतरके पक्षपाती बन कर किसी एकतरके प्रत्याख्यानको वाल्लभ वेदान्ताभिमत प्राग्धारणाओंके विमर्श करनेपर अनावश्यक सिद्ध किया जा सकता है. अतएव विषयमें विषयी और विषयीमें विषय ओतप्रोत माने गये हैं. निष्कर्षतया बाह्य रूप आन्तर नामका उद्बोधक होता है और आन्तर नाम बाह्य रूपोंके विकल्पोंका अवगाहन कराता है. इस प्रक्रियाका सर्वाधिक प्रस्फुटन प्रत्यक्षानुभूतिमें ही सम्भव होनेसे ज्ञानमीमांसकीय प्राग्धारणाओंके आधारपर भी सदंश-चिदेशका, नाम-रूपका; एवं, अनुभूति तथा संस्कार का पवित्र संगमस्थल होनेके कारण ही प्रत्यक्ष प्रमाणतया भी आदरणीय होता ही है. अतः विशुद्धचैतन्य और नामरूपकर्म; अथवा तो, नाम या रूपके बीच भी किसी एकको अनावश्यक ही अविश्वसनीय, मिथ्या या असत् मानना वाल्लभ वेदान्तको श्रुत्यादि शास्त्रोंके अभिप्रेतार्थतया आवश्यक नहीं लगता.

पञ्चम प्राग्धारणा :

हम देख आये कि प्रथम ब्राह्मिक सदंश प्रकृति गुणत्रयीकी साम्यावस्था है. उन्हीं तीनों गुणोंकी साम्यावस्थामें कालकृत गुणक्षोभवशात् प्रकट हुवा वैषम्य यह समूचा महदादि पञ्चभूतान्त प्राकृत विकार है. अतएव प्रपञ्चकी छोटी हो या बड़ी प्रत्येक घटनाओंमें गुणत्रयीका

वैषम्य अनुस्यूत रहता है. परिणामतः निर्विकल्पकानुभूतिके बाद बुद्धिमें सात्त्विकावस्थाके प्रबल होनेपर अध्यवसायाकारक परोक्षापरोक्ष भान होता है. राजसावस्थाके प्रबल होनेपर संशयाकारक ज्ञान प्रकट होता है. और तामसावस्थाके प्रबल होनेपर अज्ञान निद्रा भ्रमाकारक ज्ञान प्रकट होता है[९]. इसका भी सुविशद विवेचन 'प्रमेयरत्नार्णव' नामक ग्रन्थके 'प्रपञ्चविवेक' और 'ख्यातिविवेक' नामक प्रकरणोंमें तथा प्रस्थानरत्नाकर के भी प्रमास्वरूपबोधौपयिक-ज्ञानभेदोपभेदनिरूपक कल्लोलके द्वितीय तृतीय तथा चतुर्थ तरंगोमें हुवा ही है. यहां इसके उल्लेखका प्रयोजन तो केवल इतना ही है कि प्रत्यक्षानुभूति स्वयं अनुभूतिके स्तरपर प्रमाकारिका संशयाकारिका या भ्रमाकारिका कुछ भी हो सकती है. क्योंकि बुद्धिका कार्य, श्रीमद्भागवततृतीयस्कन्धके पूर्वोक्त अध्यायमें, बुद्धिको परिभाषित करते हुवे यों कहा गया है कि *"समनस्केन्द्रियोंमें द्रव्यके स्फुरित होनेपर, अर्थात् सामान्यज्ञानके सम्पन्न होनेपर, उसे विशेषज्ञानमें पर्यवसित करनेवाली बुद्धि होती है."*[१०] अतः प्रत्यक्षप्रमा न केवल बुद्ध्याश्रिता घटना होती है और न केवल इन्द्रियाश्रिता ही; प्रत्युत, इन्द्रिय और बुद्धि उभयाश्रिता घटना है. अतएव जैसे सर्वथा इन्द्रियोंसे अगोचर वस्तुके बारेमें बुद्धि प्रत्यक्षप्रमा प्रकट नहीं कर पाती, वैसे ही बुद्धिसे सर्वथा अगृहीत अथवा सर्वथा अग्राह्य या असम्भाव्य वस्तुओंके बारेमें इन्द्रियां भी सहसा प्रत्यक्षप्रमा प्रकट करनेमें सक्षम नहीं हो पाती हैं. इसे आधुनिक मनोविज्ञानने भी अनेक प्रयोगोंद्वारा सिद्ध किया है. निष्कर्षतया पुनः दोहराना चाहेंगे कि *"प्रत्यक्षानुभूति दोनोंमें निगूढ़ सम्भावनाके तोरपर रहे हुवे अनभिव्यक्त गुणधर्मोंकी अन्योन्यसहयोगवश उभरनेवाली कोई वास्तविकता या अभिव्यक्ति है"* अस्तु.

[संगति]

प्रत्यक्षप्रमाके बारेमें इन सैद्धान्तिक प्राग्धारणाओंका विहंगावलोकन कर लेनेपर कुछ महत्त्वपूर्ण संगतिओंका विचार कर लेना इस विषयमें प्रसंगोपात्त होगा.

(१) श्रीमद्भागवतके पूर्वनिर्दिष्ट "**महत्-तत्त्वाद् विकुर्वाणाद् भगवद्वीर्यसम्भवात् क्रियाशक्तिः अहंकारः त्रिविधः समपद्यत, वैकारिकः तैजसश्च तामसश्च यतो भवो मनसश्च इन्द्रियाणाञ्च भूतानां महतामपि**" (भाग.पुरा.३।२६।२३-२४) इस वचनमें अहंकारको क्रियाशक्तिमान् माना गया है. तथा इसीमेंसे मन इन्द्रियों और तन्मात्राओं की उत्पत्ति स्वीकारी गयी है. वैसे तो सर्वत्र उपादानकारणके गुण उपादेय कार्यमें अनुगत होते हैं. अतः चित्तोपादानकतावश इन्द्रियोंमें ज्ञानशक्ति और अहंकारोपादानकतावश क्रियाशक्ति यों साक्षात् / परम्परया द्विविध शक्तियोंका अनुगम मन तथा इन्द्रियोंमें माना गया है. साथ ही साथ इन्द्रियोंमें पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय यों विभज्यानुगति भी निरूपित हुयी है. अतएव "**एकादशाः आसन् मनसोहि वृत्तयः आकूतयः पञ्च धियो अभिमानः**" (भाग.पुरा.५।११।९) वचनमें " 'आकूति'[५] + 'धी'[५] + 'अभिमान'[१] = ११ मनोवृत्तियां" ऐसा समीकरण भी कण्ठोक्त है. साथ ही साथ "*वाचनिके शास्त्रे वाचनिक्येव व्यवस्था*" उचित होती है, फिरभी मनको, क्योंकि ग्यारहकी ग्यारह इन्द्रियोंका प्रेरक अधीश्वर माननेके साथ-साथ भगवद्गीतामें "**मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि**" (भग.गीता.१५-।७) वचनमें इन्द्रियरूप भी माना गया है. अतः अपेक्षित बारह संख्याका अनुल्लेख इस तथ्यकी ओर इंगित करता है कि संख्या अनियततया यथासन्दर्भ सापेक्ष होती है ऐकान्तिक नहीं. एतावता संघातस्वभाव, ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के आधीन सभी इन्द्रियोंकी चेष्टा अनुभवसिद्ध होनेसे कर्मेन्द्रियोंमें भी किसी प्रकारकी अनुभूति और ज्ञानेन्द्रियोंमें भी किसी प्रकारका कर्म भी क्यों स्वीकारा नहीं जा सकता?

उदाहरणतया वागिन्द्रिय और रसनेन्द्रिय केलिये मुखमें एक ही जिह्वा उभयविध शक्तिओंसे सम्पन्न रहती है. पाणीन्द्रिय वैसे एक कर्मेन्द्रिय होती है परन्तु द्रव्यके गुरुत्वके ज्ञानार्थ वह ज्ञानेन्द्रियका कार्य भी करती ही है. पायूपस्थेन्द्रियां भी कर्मेन्द्रियां है फिरभी मलमूत्रादिकी वेगबाधा और वेगोपशम के अभिज्ञानार्थ ज्ञानेन्द्रियोंका काम भी करती

ही हैं. इसी तरह चरण कर्मेन्द्रियां होनेपर भी धावनश्रम और श्रमोपशम के विज्ञानार्थ ज्ञानेन्द्रियोंका कार्य भी निभाते ही हैं. इसी तरह ज्ञानेन्द्रियोंके अन्तर्गत चक्षु वैसे रूपादि प्रत्यक्षकी करण है परन्तु पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-ऊर्ध्व-अधो दिशाओंके निरीक्षणार्थ वह कर्मेन्द्रियकी तरह भी बरतती हैं. प्रकाशबाहुल्य तथा प्रकाशमान्द्य के अनुरूप नेत्रगोलकके भीतर अन्तर्पटलको (iris) संकुचित/विकसित करनेकी क्रिया कर्मेन्द्रियवत् ही चक्षु सम्पन्न करती है. नासिका एकाकिनी ही गन्धग्रहण तथा श्वसनीय वायुके पूरण-रेचनकी क्रिया भी करती ही है. यों दोनों ही कार्य करती है. कर्णेन्द्रियके कर्णशूर्प यद्यपि मनुष्ययोनिमें बाह्य कर्म नहीं करते परन्तु पशुओंमें तो स्पष्टतया ध्वनिस्रोतकी दिशामें कर्णेन्द्रियचालनद्वारा श्रवणोपकरण बनते उन्हें देखा जा सकता है. रसनेन्द्रियके लिये भी कहा जाता है कि लालारस उत्पन्न करनेकी क्रिया न करे तो आस्वादनार्थ भी समर्थ वह नहीं हो पाती. इसी तरह त्वगिन्द्रिय भी कट-फट जानेपर पुनःसन्धानकी क्रिया करती ही है. इससे सिद्ध होता है कि इन इन्द्रियोंके ज्ञानोपकरण तथा कर्मोपकरण होनेके प्रभेद "*प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति*" न्यायका अनुसरण है नकि किसी एकतरमें अन्यतरके आत्यन्तिक अभावके वश. एतावता सिद्ध होता है कि केवल कर्म ही इच्छातन्त्र नहीं होता अपितु प्रत्यक्षानुभूति भी इच्छातन्त्र होती है. वैसे भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि—

> **"कर्तव्ये हि विषये न अनुभवापेक्षा अस्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात्, पुरुषाधीनात्मलाभत्वात् च कर्तव्यस्य. कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म. यथा अश्वेन गच्छति पद्भ्याम् अन्यथा वा नवा गच्छति इति. तथा 'अतिरात्रे षोडषिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडषिनं गृह्णाति', 'उदिते जुहोति अनुदिते जुहोति' इति. नतु वस्तु एवं/नैवम् अस्ति/नास्ति इति वा विकल्प्यते. विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः. न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध-**

त्यपेक्षम्. किन्तर्हि? वस्तुतन्त्रमेव तत्, नहि स्थाणौ एकस्मिन् स्थाणुः वा पुरुषो वा इति तत्त्वज्ञानं भवति. तत्र पुरुषो वा अन्यो वा इति मिथ्याज्ञानम्. स्थाणुरेव इति तत्त्वज्ञानं वस्तुतन्त्रत्वात्.''

(ब्र.सू.भा.१।१।२).

श्रुत्यादि शास्त्रोंमें जहां ''त्वं स्त्री त्वं पुमान् असि त्वं कुमारः उत वा कुमारी... त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः'' (श्वेता.उप.४।३) ''एकएव अग्निः बहुधा समिद्धः, एकः सूर्यो विश्वम् अनुप्रभूतः, एकैव उषाः सर्वम् इदं विभाति, एकं वा इदं विबभूव सर्वम्'', ''पुरुषएव इदं यद् भूतं यच्च भव्यम्'' (ऋक्संहि.८।५८।२, १०।९०।२) जैसे वचन उपलब्ध होते हैं वहां एवंकी अनेवंताके अथवा एककी अनेकताके प्रतिपादनको संशय या भ्रान्ति का जनक माना नहीं जा सकता. स्वयं भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके भी—

''दृष्टश्च लोके विवक्षातः शब्दप्रयोगः 'ग्रामः आगतः', 'ग्रामः शून्यः' इति. कदाचिद् 'ग्राम' शब्देन निवासमात्रविवक्षायां 'ग्रामः शून्यः' इति शब्दप्रयोगो भवति. कदाचिद् निवासिजनविवक्षायां 'ग्रामः आगतः' इति. कदाचिद् उभयविवक्षायामपि 'ग्राम' शब्दप्रयोगो 'ग्रामं न प्रविशेद्' इति.''

''तस्मात् तार्किकचाटभटराजाऽप्रवेश्यम् अभयं दुर्गम् इदम् अल्पबुद्ध्यगम्यं शास्त्रगुरुप्रसादरहितैः च 'तद् एजति तद् न एजति तद्दूरे तदु अन्तिके इत्यादिविरुद्धधर्मसमवायित्वप्रकाशकमन्त्रवर्णेभ्यः च.''

(बृह.उप.भा.१।४।७, २।१।२०).

ऐसे उद्गारोंका विमर्श करनेपर ऐसा प्रतीत नहीं होता कि प्रमातमक

बोध ऐकान्तिकतया वस्तुतन्त्र ही होता है. अन्यथा जीवात्मा और ब्रह्म के आत्यन्तिक भेदवर्जित होनेपर भी ब्रह्मके प्रमात्मक साक्षात्कारके हेतु श्रवण मनन निदिध्यासन जैसी इच्छातन्त्र क्रियाओंको अनावश्यक होना अधिक उचित होता.

श्रीमद्भगवद्गीताके, परन्तु, "**अदृष्टपूर्वं हृषितो अस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे तदेव दर्शय, देव!, रूपं**" (भग.गीता.११।४५) वचनमें भगवान्के मानुष रूप और विराट् रूप दोनोंके दर्शन अर्जुनको अपनी इच्छा या अभ्यर्थना के आधारपर इतरेतरविकल्पतया हुवे. एतावता प्रत्यक्षानुभूतिको भी ऐकान्तिकतया वस्तुतन्त्र नहीं माना जा सकता है. अन्यथा योगिप्रत्यक्षको अप्रत्यक्ष मानना पड़ेगा. अतएव उन्नीसवीं सदीके जर्मनीके लुड्विग् विट्गन्स्टीन् भी निर्विकल्पानुभूति और प्रत्यय के बीच तारतम्य दिखलाते हुवे कहते हैं "Sensation gives knowledge about external world... Images tell us nothing, either right or wrong, about external world (Images are not hallucination, nor yet fancies). While I am looking at an object I Cannot imagine it... Images are subject to will"[12] इसे वे अधोनिर्दिष्ट आकृतिद्वारा समझाते हैं :—

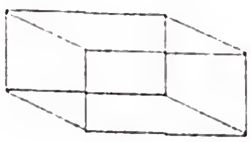

वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिके अनुसार परन्तु यह कहा जा सकता है कि अनिच्छातन्त्र कल्पनाके कारण उत्पन्न होती प्रतीति बहुधा मायिकी ही होती है. भावानुरूप प्रतीतिका, किन्तु, अवास्तविक होना आवश्यक नहीं, यदि वस्तुमें भावानुसरणसामर्थ्य हो तो. श्रीमद्भागवतमें, अतएव, आता है कि "**त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु, नाथ!, पुंसां यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे**

सदनुग्रहाय'' (भाग.पुरा.३।९।११). संगीतशास्त्रके सप्तस्वरोंमें से किसी भी एक स्वरके बारेमें गायकके अपने कण्ठस्वभावके अनुरोधवश स्वेच्छया षड्जभाव स्थापित कर लेनेपर अवशिष्ट सभी ऋषभ गन्धार मध्यम पञ्चम धैवत निषाद स्वर श्रुतिगोचर होने लगते हैं, ''षट्त्सु जायतइति षड्जः'' व्युत्पत्तिके अनुरूप. इन्हें केवल इमेजके रूपमें अबाह्य मान कर खपाया नहीं जा सकता गायकेतर श्रोता इसे अपने कर्णोंद्वारा साक्षात् सुन सकता है. अतएव कर्म और ज्ञान के बीच इच्छातन्त्र और वस्तुतन्त्र होनेका प्रभेद भी आत्यन्तिक नियति नहीं हैं. वाल्लभ वेदान्त कर्म और ज्ञान दोनोंको ब्रह्मात्मिका शक्तियोंका अनुभाव ही मानता है और परस्परोपकारक भी[१३] अस्तु.

(२) एक और विषय प्रत्यक्षानुभूतिकी चर्चाके अन्तर्गत यहां उल्लेखनीय लगता है कि श्रीमद्भागवतके उल्लिखित स्थलपर ही ''द्रव्याकृतित्वं गुणता व्यक्तिसंस्थात्वमेव च तेजस्त्वं तेजसः... रूपमात्रस्य वृत्तयः'' (भाग.पुरा. ३।२६।३९) कारिकाकी सुबोधिनीमें महाप्रभु कहते हैं :

> ''द्रव्यस्य घटादेः या आकृति सैव रूपस्य, पृथुबुध्नोदराकारं रूपमपि आतानवितानात्मकं च. 'द्रव्यस्येव आकृतिः' इति द्रव्यस्य न उपमेयत्वम् अतो रूपस्यैव लक्षणम्. 'गुणता' इति सर्वदा उपसर्जनतया प्रतीतिः. नैवं शब्दादिषु, स्वतन्त्रतयापि प्रतीयमानत्वात्. व्यक्तेः संस्थेव संस्था यस्य. यदि व्यक्तिः वक्रा भवति रूपमपि वक्रं भवेदिति. उपविष्टे रूपवति रूपमपि उपविष्टं भवति. आतानवितानात्मकसंकुचीकरणयोः भेदात्. तेजसश्च तेजस्त्वं रूपतन्मात्रत्वं सूक्ष्मावस्था... रूपतन्मात्रस्य सर्वगतरूपस्य वा चतस्रो वृत्तयः. तेजसो लक्षणानि आह 'द्योतनं पाचनं पानमदनं हिममर्दनं तेजसो वृत्तयस्तु एताः शोषणं क्षुत् तृडेव च' द्योतनं सूर्यादेरिव.''
>
> (सुबो.३।२६।३९-४०).

इस आचार्यवचनके विमर्श करनेपर ऐसा नहीं लगता कि रूपके चाक्षुष प्रत्यक्षार्थ नेत्रकिरणोंका नेत्रोंसे बहिर्निःसरण और विषयदेश पर्यन्त गमन कर प्राप्यकारी होना अनिवार्य हो. आधुनिक युगमें एकीकृत इलेक्ट्रोमेग्नेटिक तरंगविस्तारके सिद्धान्त (The unified theory of electromagnetic field) के अनुसार चक्षुर्ग्राह्य प्रकाश तो रूपद्योतनक्षम किरणोंके प्रभेदोमें एक अतीव क्षुद्रांश होता है. आधुनिक युगमें मानवचक्षुसे अग्राह्य एक्सरे इन्फ्रारेड् अल्ट्रावायोलेट् ध्वनितरंग के ग्राहक उपकरणों अलावा उष्णताग्राहक उपकरणोंसे भी रूपाकृतिका ग्रहण शक्य हो गया है. अतः न तो सूर्यके चक्षुर्ग्राह्य प्रकाशकिरणोंकी और न तथाकथित नेत्रकिरणोंकी ही कोई अनिवार्य आवश्यकता अब रूपग्रहणार्थ स्वीकारी जा सकती है.

असकृत् स्वीकृतिद्वारा हम यह तो स्पष्ट कर ही चुके हैं कि वाल्लभ वेदान्त शास्त्रव्याख्यारूप चिन्तन है नकि तार्किक उत्प्रेक्षारूप. और प्रस्थानरत्नाकरकारके शास्त्रावगाहनसे अधिक या तत्सम शास्त्रावगाहनकी कथा तो दूर, उनके शास्त्रावगाहनकी तुलनामें अपना एकचतुर्थांश भी शास्त्रावगाहन प्रस्तुत लेखकका हो तो अपने-आपको कृतकृत्य मान लेता! फिरभी "नभःपतन्ति आत्मसमं पतत्त्रिणो" न्यायेन ऐसा लगता है कि कदाचित् चाक्षुषकिरणोंके बहिर्निर्गमनका सिद्धान्त श्रुत्यादि शास्त्रसिद्ध न हो कर प्रस्थानरत्नाकरकारकी एक कामचलाउ उत्प्रेक्षा ही है. अतः प्रस्थानरत्नाकरकार भी न्याय आदि मतोंकी तरह उसीके सहारे चाक्षुष प्रत्यक्षकी व्याख्या करनेमें कल्पनालाघव मान कर अग्रसर हुवे हैं. अन्यथा दर्पणमें तो नयनकिरणोंका परावृत हो कर स्वमुखग्रहण करना शक्य भी हो, तावता केमेरामें बाह्य दृश्यका प्रतिफलित हो जाना सूर्यकिरणोंकी रूपवाहकताके बिना कथमपि उपपन्न हो नहीं सकता. ग्रन्थकारकी यह युक्ति कि सूर्यकिरणोंद्वारा रूपनयन स्वीकारनेपर द्रव्य रूपविहीन हो जायेगा[१४] महाप्रभुके इस विधान कि "घट आदि द्रव्यकी जो आकृति होती है वैसी ही रूपकी भी. रूप भी घटकी तरह

पृथुबुध्नोदराकार होता है. रूप पट द्रव्यकी तरह आतानवितानात्मक होता है. 'द्रव्यके जैसी आकृति' ऐसे कहनेके कारण द्रव्यको उपमेय नहीं मान लेना चाहिये. इसे रूपका लक्षण जानना चाहिये. 'गुणता' कहनेके कारण रूपकी सर्वदा उपसर्जनतया प्रतीति होती है... तेजका लक्षणोंका निरूपण 'द्योतन आदि तेजस्की वृत्तियां होती हैं.... सूर्य जैसे द्योतन करता है'' इसके साथ मेल खाती हुयी नहीं गलती है.

अतएव चक्षुर्ग्राह्य रूपवद् वस्तुके प्रत्यक्षमें चक्षु और सूर्यकिरण का संयोग, तत्तादात्म्यापन्न रूप, तज्जनक सूर्यकिरणोंका रूपवद्द्रव्यके साथ संयोग; और, वहां उस रूपवद्द्रव्यमें रूपकी तादात्म्येन विद्यमानता यों परम्परया अनेकसम्बन्धोंका ऊह अकाम गले पतित होता है. अतएव ऐसे सम्बन्धोंकी भी अपरिगणना प्रस्थानरत्नाकरमें यत्किञ्चित् संशोधनकी अपेक्षा रखती है, यदि ये परिगणित सम्बन्ध स्वयं श्रुत्यादिशास्त्रसिद्ध या आचार्यवचनसिद्ध न हों तो. अन्यथा ''वाचनिके शास्त्रे वाचनिक्येव व्यवस्था'' भी हमें सर्वदा स्वीकार्य होनी ही चाहिये. प्रत्यक्षतः उपपन्न न होनेपर प्रत्यक्षतोग्राह्य लौकिक वस्तुओंके किसी अलौकिक आध्यात्मिक या आधिदैविक स्वरूपविषयक ऐसी प्रक्रिया भी स्वीकारी जा सकती है. उदाहरणतया शिवपुराणमें यह उल्लेख मिलता है कि **''ततः सम्प्रेक्ष्य मदनं हसन् देवः त्रियम्बकः नयनेन तृतीयेन सावज्ञं तम् अवैक्षत. ततो अस्य नेत्रजो वह्निः मदनं पार्श्वतः स्थितं अदहत् तत्क्षणादेव''** (शिवपुरा.१।१०१।४०-४१). अतः कोई मापक यन्त्र हो तो प्राणीके नयनोंमेंसे भी निःसृत होती उष्णताका मापन सर्वथा अशक्य कथा नहीं. फिरभी सुदूर दृश्यवस्तुदेश पर्यन्त उनका गमन कुछ क्लिष्टकल्पना लगती है. ऐसे ही किसी असामान्य या अलौकिक सन्दर्भमें नेत्रोंसे भी किरणोंकी उपपत्ति सोची जा सकती है.

[उपसंहार]

अन्तमें आधुनिक विज्ञानने भी प्रकाशकी तरंगरूपता और कणगुच्छरूपता

यों विरुद्धधर्माश्रयता मान्य की ही है तावता हमारी चेतनामें प्रत्यक्षानुभूतिका उद्‌भव भी ब्रह्मांशभूत चेतनामें अनुस्यूत ब्राह्मिकी विरुद्धधर्माश्रयताका ही आंशिक अनुभाव है. अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके एक उद्‌गार —

अचिन्त्यानन्तशक्तेः तद् यद् एतद् उपपद्यतेः।
अतएव श्रुतौ भेदाः सृष्टेः उक्ताः हि अनेकधा॥
(त.दी.नि.१।४०)

अपने इस आलेखनका उपसंहार करना चाहेंगे कि प्रत्यक्षानुभूति भी उस सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके मूलस्वरूपकी अनुभूति न भी हो तो क्या हुवा? है वह उसके लीलाविहारकी अनुभूति ही! इति शम्.

……+……

सन्दर्भ

[१](क)“रूपप्रपञ्चकरणाद् आसक्तस्वांशवारणे श्रुतिम् आत्मप्रसादाय चकार आत्मानमेव सः. विचित्रो रूपप्रपञ्चो, जीवाः च अंशाः, अल्पानां विचित्रे भ्रमो भवत्येव. अतः निवारणार्थं श्रुतिं चकार. तस्याः स्वरूपम् आह ‘आत्मानम्’ इति. ननु अन्तर्यामिणैव कथं न निवार्यते तत्र आह ‘आत्मप्रसादाय’ इति, अन्तःकरणप्रसादाय. जीवान्तर्यामिणौ पूर्वमेव हृदये प्रविष्टौ, भोगभोजनार्थं, तदनुभोगेन मालीन्यं चित्ते जातं न अन्तःस्थितेन दूरीकर्तुं शक्यम्. अतो बहिःस्थितेन प्रवेशसमर्थेन तद् दूरीकर्तव्यमिति श्रुतिनिर्माणम् इति अर्थः”(त.दी.नि.प्र.२।१८-१९).

(ख)“शब्दएव प्रमाणं तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव. तत् स्वतःसिद्धप्रमाणभावं प्रमाणं वेदाः सर्वएव[त.दी.नि.प्र.] … तथाच प्रत्यक्षादिषु भ्रान्तत्वस्यापि दर्शनात् तेषु नैकान्तिकं प्रामाण्यम्. अतः तानि विहाय आप्तवाक्यत्वाद् वेदादयएव आद्रियन्ते इति अर्थः. ननु वेदादीनां चेत् शब्दत्वेन प्रामाण्यं तर्हि लौकिकेऽपि तुल्यं

प्रत्यक्षोपजीवकत्वात् प्रमाणान्तरतौल्यं च इत्यतः आहुः 'तत्रापि' इत्यादि. नहि अस्माभिः शब्दत्वेन वेदानां प्रामाण्यम् उच्यते अपितु अलौकिकज्ञापकशब्दत्वेन, औत्पत्तिकसूत्रानुरोधात्. तथा सति यथा धर्मे सपरिकरे चोदनैव प्रमाणम् अत्र (सपरिकरे ब्रह्मणि) वेदादिरेव मानम् इत्यतो न तौल्यं नवा प्रत्यक्षोपजीवकत्वं, नहि वेदोदितो धर्मो वा ब्रह्म वा अन्येन प्रमातुं शक्यते, तयोः तदेकवेद्यत्वस्यैव तन्मीमांसासिद्धत्वाद् (त.दी.नि.प्र.आ.भ.१।७).

[२]"रूपसृष्ट्यपेक्षया नामसृष्टिः विलक्षणा. अन्तवती रूपसृष्टिः अनन्ता नामसृष्टिः. स्थूला रूपसृष्टिः सूक्ष्मा नामसृष्टिः. विकृता रूपसृष्टिः अविकृता नामसृष्टिः. जडरूपा रूपसृष्टिः बोधरूपा नामसृष्टिः. एवं चतुर्धा वैलक्षण्यम् उक्तम्" (सुबो.१०।१३।४३).

[३](क)"सर्वयोनिषु, कौन्तेय!, मूर्तयः सम्भवन्ति या तासां ब्रह्म महद् योनिः अहं बीजप्रदः पिता, सत्त्वं रजः तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः निबध्नन्ति, महाबाहो!, देहे देहिनम् अव्ययम्. तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकम् अनामयं, सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन च, अनघ!, रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवं तद् निबध्नाति, कौन्तेय!, कर्मसंगेन देहिनं, तमस्तु अज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनां प्रमादालस्यनिद्राभिः तद् निबध्नाति भारत!" (भग.गीता.१४।४-८).

(ख)"सर्वभूतेषु येन एकं भावम् अव्ययम् ईक्षते अविभक्तं विभक्तेषु तद् ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्. पृथक्त्वेनतु यद् ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तद् ज्ञानं विद्धि राजसम्. यत्तु कृत्स्नवद् एकस्मिन् कार्ये सक्तम् अहेतुकम् अतत्त्वार्थवद् अल्पं च तत् तामसम् उदाहृतम्." (भग.गीता.१८।२०-२२).

[४]"१.सर्वात्मभूतम् अविकृतं स्वस्वरूपात्मकं नित्यं २.धर्मरूपं नित्यं ३.वेदात्मकं नित्यं ४.सृष्टिबीजताभावापन्नानेकशब्दरूपं नित्यं ५.ततः तादृशद्विविधशब्दात्मकशरीर-विशिष्टमेव लोके प्रकटीभवितुं लौकिकं प्रमातारं प्रमेयं च आश्रयते. तत्र शब्दशरीरविशिष्टस्य प्रमात्राश्रयणं 'पश्यन्त्या'ख्यया शब्दावस्थया तद्बोधकश्रुत्या च अवसीयते. तथाच आनुभविकोक्तिः 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्दने भासते'. तत्र प्रमेयाश्रयं प्रमेयानन्त्याद् अनन्तमेव... प्रमातरितु अन्तःकरणेन्द्रियाश्रयणात् पञ्चधा. तत्र इन्द्रियेषु (निर्विकल्पकत्वेन) एकधा. अन्तःकरणेतु चतुर्धा..."(प्रस्थानरत्नाकर पृ.२-७).

[5]"'युष्मद्' - 'अस्मत्' प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोः तमःप्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोः इतरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतराम् इतरेतरभावानुपपत्तिः. इत्यतो 'अस्मत्'प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके 'युष्मत्'प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां च अध्यासः, तद्विपर्ययेण विषयिणः तद्धर्माणां च विषये अध्यासो मिथ्या इति भवितुं युक्तं; तथापि, अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकताम् अन्योन्यधर्मान् च अध्यस्य इतरेतराविवेकेन अत्यन्तविविक्तयोः धर्मधर्मिणोः मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य 'अहम् इदं - मम इदम्' इति नैसर्गिको अयं लोकव्यवहारः"(ब्र.सू.शां.भा.१।१।१).

[६]"आत्मरतिः आत्मक्रीडः"(छान्दो.उप.७।२५।२).

[७]तुलनीयः"The cell has main two parts a nucleus, containing the genetic material deoxyribonucleic acid (DNA), and a surrounding cytoplasm... The nucleus-cell headquarter governs the major activities of the cytoplasm; its finest hour, however, comes at reproducting time, when chromosomes containing DNA split. It is in the cytoplasm that the cell's day-to-day business is carried on." pp.14 The body by Alan E. Nourse.

[८]द्रष्टव्य : सुबोधिनी ३।२६।१-७२.

[९]द्रष्टव्य : सुबोधिनी ३।२६।३०-३१.

[१०]द्रष्टव्य : प्रस्थानरत्नाकर प्रमास्वरूपबोधोययिकज्ञानभेदोपभेदनिरूपककल्लोल तरंग तृतीय.

[११]"वैकारिकाद् विकुर्वाणाद् मनःतत्त्वं... यद् विदुः 'अनिरुद्धा'ख्यं हृषीकाणाम् अधीश्वरम्" (भाग.पुरा.३।२६।२८).

[१२] pp.174 The Wittgenstein Reader=Aspect and Image Ed.by Anthony Kenny. Pbl. Black well. USA.

[१३]द्रष्टव्य : तत्त्वार्थदीपनिबन्ध १।११-१२ तथा तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाश २।२८.

[१४]द्रष्टव्य : प्रस्तानरत्नाकर पृ.१४८-१५०.

चर्चा

गोस्वामी श्याम मनोहर

सिद्धेश्वर भट्ट : आपने दो प्रकारकी प्राग्धारणायें प्रस्तुत कीं: १. सत्ताशास्त्रीय और २. ज्ञानशास्त्रीय. क्या मूल्यमीमांसीय प्राग्धारणा प्रस्तुत नहीं की जा सकती थी? क्योंकि प्रत्यक्ष ही नहीं, ज्ञानकी सारी प्रणालियें मूल्योन्मुखी होती हैं. प्रत्यक्षमें भी, जिसको हम देखना चाहते हैं उसीको देखते हैं, नहीं देखना चाहते हैं उसको हम तिरस्कृत कर देते हैं. तो प्रत्यक्षविषयक मूल्योन्मुखी प्राग्धारणापर भी आप प्रकाश डालें.

दूसरी बात. सदंश और चिदंश के विषयमें तो आपने बात की पर आनन्दांशको क्यों छोड़ दिया? यह इसलिये पूछ रहा हूं क्योंकि मूल्यकी चर्चामें हम परिणति तो आनन्दमें ही करते हैं. क्योंकि ज्ञानपिपासा भी केवल बौद्धिक क्रीड़ा तो नहीं है! अन्ततो गत्वा उससे आत्मरञ्जन भी होता है और निःश्रेयसकी प्राप्ति भी होती है. अतः आनन्दांश भी महत्वपूर्ण है. और यदि इन तीनोंको हम एकीभूत मान लें तो अद्वैतवेदान्तकी चिन्मात्र ब्रह्मकी, जिसकी अभिव्यक्ति बादमें त्रिविध चैतन्यके रूपमें होती है, अवधारणा और शुद्धाद्वैत ब्रह्मवादकी अवधारणमें क्या फर्क होगा?

गो. श्या. म. : त्वरामें आलेख पत्र लिखनेके कारण मूल्यमीमांसाकी दृष्टिसे प्रत्यक्षके विषयमें मैं कुछ लिख नहीं पाया हूं. चर्चाके बाद मेरे आलेख पत्रमें कुछ परिवर्धन कर दूं तो वह हो जायगा. आनन्दके प्रत्यक्षकी मीमांसा मैंने इसलिये नहीं की क्योंकि श्रीपुरुषोत्तमचरणोंने प्रस्थानरत्नाकरमें उस सम्बन्धमें दिशानिर्देश किये हैं. अतः उस बारेमें विशेष

कथ्य मुझे अपनी इस त्वरामें प्रतीत नहीं हुवा. और प्रमाणचैतन्य और प्रमेयचैतन्य के बारेमें मैं यह कहना चाहूंगा कि वहां वह सारा विषय प्रमात्रोपाधिक विषयौपाधिक या अन्तःकरणौपाधिक चैतन्य, इस तरहका प्रभेद अद्वैतवेदान्ती करते हैं. इस तरहका प्रभेद हमारे दर्शनमें स्वीकार्य नहीं हुवा है. इसलिये अपने आलेखमें अद्वैतकी अध्यासभाष्यकी प्राक्रियाको पूर्वपक्षमें रखकर मैने यह दिखलानेका प्रयास किया है कि हमारे यहां केवल अध्यास नहीं है. वस्तुतः संयोग भी है. क्योंकि सदंश और चिदंश ब्रह्मकी इच्छासे संयुक्त हुवे हैं. केवल अपने अध्यासके कारण संयुक्त नहीं हुवे हैं. "**तच्छक्त्या अविद्ययातु अस्य जीवसंसारः उच्यते**". अब संयुक्त हो गये हैं तो उसके बाद उनको भ्रम भी हो जाता है. इसलिये मैने अपने आलेखपत्रमें लिखा है कि "सर्वांशमें मान्य नहीं है". कुछ अंशमें मान्य है मगर अध्याससे हम सारी बातको उठाना नहीं चाहते हैं.. उठाना चाहते हैं ब्रह्मकी इच्छासे, ब्रह्मसंकल्पसे. तो सदंश और चिदंश का संयोग अथवा शुद्ध चेतना और अन्तःकरण और बाह्य करण का संयोग अपनी इच्छासे नहीं हुवा है परन्तु ब्रह्मकी लीलाके संकल्पके कारण हुवा है. अब ब्रह्मके संकल्पवशात् हुवा है और हमारी चेतना और हमारे उपकरण परिच्छिन्न हैं इसलिये हमको भ्रम भी हो जाता है—परन्तु केवल भ्रम ही नहीं होता है. यह हमारा सिद्धान्त है. इसीको मैने अपने आलेख पत्रमें "सर्वांशमें मान्य नहीं है" यह लिख कर जताया है (द्रष्टव्य : संगोष्ठ्युत्तरलेखन).

कश्चित् : (प्रश्नो ध्वनिमुद्रणयन्त्रे न श्रूयते)

गो. श्या. म. : अरूपस्य प्रतिबिम्बो न भवति इत्येतस्मिन् विषये महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यचरणैरेव निबन्धे तादृक् प्रतिपादनं कृतम्

अस्ति. तस्माद् बिम्ब-प्रतिबिम्वभावेन अध्यासो नास्ति अस्माकं मते. अयोगोलकन्यायेन चैतन्यस्य आवेशो भवति अन्तःकरणेषु देहेन्द्रियादिषु च. तदावेशेन अध्यासो भवति, बिम्ब-प्रतिबिम्वभावेन अध्यासो न भवति. तस्माद् रूपम् अस्ति चेद् भवतु. नास्ति चेद् मा भूत् न तेन कोपि ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : ... और नीरूप प्रतिबिम्बको ग्रहण भी कर सकता है. यह श्रीवल्लभाचार्यजीको मान्य हो सकता है ऐसा मुझको लगता है. क्योंकि ''आभासएव च'' सूत्रके भाष्यमें जीव तो परमात्माका प्रतिबिम्ब है यह सिद्धान्त है. इस विषयमें श्रीवल्लभाचार्यजीका सिद्धान्त तो देखा नहीं है. लेकिन अद्वैतमें तो ऐसा ही है. ''रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव:'' ऐसी श्रुति है. इसी तरह ''यथा हि अयं ज्योतिः आत्मा विवस्वान् अपो भिन्नात् क्रियते भिन्नरूप:, देवा: क्षेत्रेषु एवम् अजो अयम् आत्मा''. तो श्रुति - सूत्रके अनुसार जीवको प्रतिबिम्ब माननेमें इनको कोई विरोध नहीं होना चाहिये. इसीलिये १५५ पृष्ठपर उसे पहले कह कर वे कहते हैं कि ''अय:पिण्डसमारोहेण दाहकस्य अग्नेः साक्षात्संसृष्ट-दाहकत्वदर्शनाद् वृत्त्युपारोहेण प्रकाशकस्य जीवस्य साक्षाद् अन्तःकरण-संसृष्टप्रकाशकत्वं सुतरां सुवचमिति अन्तःकरणे प्रतिबिम्बितानां प्रकाश:''. अन्तःकरण तो नीरूप यहां वाल्लभ मतमें भी है. यहां अयोगोलकका दृष्टान्त उन्होंने ... यह भी कहते हैं ''अन्तःकरणे प्रतिबिम्बितानां''. प्रतिबिम्बाधारत्वम्... (द्रष्टव्य : संगोष्ठ्युत्तरलेखन).

देवनाथन : अप्रत्यक्षेऽपि हि आकाशे बालाः तलमलिनताम् अध्यस्यन्ति इति अध्यासभाष्ये उक्तं तस्य का गतिः?

गो. श्या. म. : अस्मिन् विषये पुरुषोत्तमचरणानाम् एतादृशो अभिप्रायो वर्तते. आकाशस्तु न इन्द्रियसामर्थ्येन प्रत्यक्षो भवति किन्तु पिशाचवत् स्वसामर्थ्येन प्रमेयबलसामर्थ्येन प्रत्यक्षो भवति. तस्मात्

प्रतिबिम्बोऽपि तस्य वक्तुं शक्यते. पिशाचादीनां स्वसामर्थ्येनैव प्रत्यक्षयोग्यता वर्तते, इन्द्रियसामर्थ्येन नास्ति. अस्माकं मते प्रमेयबलं प्रमाणबलम् इत्यादिरूपेण बलभेदः कश्चन स्वीकृतो ...

डॉ. कृष्ण.शास्त्री : आकाशस्य बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वं वा मानसप्रत्यक्षत्वम्? आकाशको प्रत्यक्ष मानते हैं?

गो. श्या.म. : न इन्द्रियसामर्थ्याद्.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : आकाश तो प्रत्यक्ष ही नहीं है. अतएव ''अप्रत्यक्षेऽपि हि आकाशे... अध्यस्यन्ति'' इति अध्यासभाष्ये भगवान् शंकराचार्यजी आकाशका प्रत्यक्ष नहीं मानते. वल्लभाचार्यजीका सिद्धान्त तो मुझको ज्ञात नहीं है.

यज्ञेश्वर शास्त्री : वाल्लभैः अनुपलब्धिप्रमाणं न अंगीकृतं परन्तु अभावस्य प्रत्यक्षं स्वीकृतम्. कथम् अभावस्य प्रत्यक्षम्? नैयायिकैः विशेषविशेष्यभावसन्निकर्षः स्वीकृतः प्रत्यक्षस्य कृते वाल्लभमते कीदृशः सम्बन्धः पुरस्क्रियते? (द्रष्टव्य : संगोष्ठ्युत्तरलेखन).

कृष्णमूर्ति शास्त्री : उनका पूछना ऐसा है कि सभी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों दोनोंके काम करती हैं ऐसा आपने अपने पत्रमें लिखा है. इसपर उनका प्रश्न है.

गो. श्या.म. : मैने इसीलिये अपने पत्रमें 'रसनेन्द्रिय' शब्दका प्रयोग नहीं किया है. मैने लिखा है कि एक जिह्वा रसेन्द्रियका कार्य भी करती है और शब्दोच्चारणका कार्य भी करती है. मैने 'एक जिह्वा' कहा है 'रसनेन्द्रिय' नहीं कहा है.

बलिराम शुक्ल : जिह्वा इन्द्रिय नहीं है. वह शरीरावयव है.

गो. श्या. म. : मेरा प्रतिपिपादयिषित इतना ही है कि जिह्वारूपी अवयवमें, आप उसको 'इन्द्रिय' न कहें, ज्ञानेन्द्रियत्व और कर्मेन्द्रियत्व दोनोंकी समानाधिकरणता है.

बलिराम शुक्ल : वह तो ठीक है.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : गुरुत्वं ज्ञायते चेत् कर्मेन्द्रियेण न गृह्यते. अनुमानके सहयोगसे ही कर्मेन्द्रिय गुरुत्वको गृहीत करती है (द्रष्टव्य : संगोष्ठ्युत्तरलेखन).

गो. श्या. म. : मैने पहले ही इसीलिये कह दिया है कि मूलकारोंने कहीं इस तरहसे प्रतिपादन नहीं किया है. मुझको ऐसा लगता है कि इन्द्रियोंमें ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के रूपमें इस तरहका ऐकान्तिक विभाजन प्राधान्येन व्यपदेश है. मूलतः सभी इन्द्रियां ज्ञान और कर्म दोनों कार्य करती हैं.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : हो सकता है. क्योंकि इन्द्रियोंकी उत्पत्तिके बारेमें शास्त्रमें चर्चा हुयी है. सत्त्वगुणके प्राधान्यसे जो इन्द्रियें उत्पन्न हुई हैं वो ज्ञानका ग्रहण करती हैं. रजोगुणके प्राधान्यवाली इन्द्रियें क्रियाको करती हैं. उपादानके गुण उपादेयमें आते हैं. इस तरह उपादान-उपादेयभावको सोचनेसे. अलग-अलग जब कहते हैं तब तो सामान्येन व्यपदेशाः भवन्ति इस न्यायको नहीं चला सकते हैं. ...उच्यते. आहंकारिकत्वे सर्वैः इन्द्रियैः सर्वं कार्यं कर्तुं शक्यते वा अविशेषात्? न (द्रष्टव्य : संगोष्ठ्युत्तरलेखन)..

शुक्लजीके कुछ कहने पर

गो. श्या. म. : नैमित्तिके सति निमित्तानुसरणं भवति नतु निमित्तमस्तीति नैमित्तिको अन्वेष्टव्यः.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : वैयक्तिकरूपेण है त्वगिन्द्रिय. इससे वह स्पर्शका ग्रहण कराता है. इसीलिये व्यवस्थामें बाधा पड़ेगी.

वशिष्ठनारायण झा : 'कर्मेन्द्रिय' कहते हैं तो मतलब होता है कर्मजनक इन्द्रिय. 'ज्ञानेन्द्रिय' कहते हैं तो मतलब होता है ज्ञानजनक इन्द्रिय. दोनोंमें रहा हुवा जनकत्व भिन्न-भिन्न धर्मोंसे निरूपित है. एक जगह ज्ञाननिरूपकत्व है, दूसरी जगह कर्मनिरूपकत्व है. निरूपक धर्मोंके भिन्न होनेके कारण ये दो एक नहीं हो सकते हैं.

गोस्वामीजी ! यहां विरुद्धधर्माश्रयत्व दिखलाना चाहते हैं. पर क्या यह यहां सम्भव है ? हाथसे यदि चलनक्रियाकी उत्पत्ति होती है तो चलनक्रियाकारी ... क्रियानिरूपित धर्म वहां है. और 'ज्ञानेन्द्रिय' जब कहते हैं तो ... अब बात यह है कि दोनोंको इन्द्रिय कह दिया. यहां भी इसको इन्द्रिय कह दिया, वहां भी इन्द्रिय कह दिया. तो किसी एक को मुख्य मानकर दूसरेको गौण मानें तब ही इससे काम बनेगा. दोनोंको एकाकार करनेसे दिक्कतें होंगी ऐसी मेरी समझ है. यह एक बात हुई.

दूसरी बात, मैं यह जानना चाहता हूं कि जैनियोंके अनेकान्त और आपके विरुद्धधर्माश्रय के बीच क्या अन्तर है ?

गो. श्या. म. : निरूप्य-निरूपकभावके भेदसे धर्मभेद तो होता है. उन धर्मोंमें हम संकीर्णता बताना नहीं चाहते हैं. पर भिन्न धर्म एक धर्मीमें या विरुद्ध धर्म एक धर्मीमें सामानाधिकरण्येन रह नहीं सकते हैं ऐसा हम नहीं मानते. विरुद्धधर्माश्रयता ब्रह्मका गुणधर्म है और ब्रह्म क्योंकि अभिन्ननिमित्तोपादान है अतः महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि चूहे - बिल्लीमें वध्य-घातकता होनेपर भी पृथ्वी उन दोनोंको धारण कर सकती है. इसी तरह इन्द्रियोंमें दोनों धर्मोंका सामानाधिकरण्य है. एतावता दोनों धर्म विरुद्ध नहीं हैं ऐसा नहीं है. निरूप्य-निरूपकभावमें जो विरोध आ रहा है वह तो विरोध ही है. अतः मैं उन धर्मोंमें संकीर्णता नहीं कहना चाहता हूं. और जैनमताद् विशेषो भवतु मा वा भवतु तत्र नास्माकं आग्रहः. श्रुत्यर्थः प्रतिपादितो भवति न वा ? अविशेषोऽपि भवतु चेद् विशेषोऽपि भवतु. भवतु नाम. श्रुत्यादिप्रमाणैः सिद्धम् अस्ति न वा. नहि आर्हतैः महावीरः सर्वज्ञतया अभ्युपगतइति अस्माभिः परमेश्वरः सर्वज्ञो न भवति अवश्यमेव

अंगीकरणीयम्!

वशिष्ठनारायण झा : ...जैसे एक व्यक्ति पिता भी है, पुत्र भी है, स्वामी भी है. तो इतने सब धर्म होते हुवे भी उनमें विरोध नहीं है...

गो. श्या. म. : ''नहि विरोधः उभयं भगवति अपरिगणित-गुणगणे ईश्वरे अनवगाह्यमाहात्म्ये अर्वाचीन-विकल्प-वितर्क-विचार-प्रमाणा-भास-कुतर्क-शास्त्रकलिलान्तःकरणाश्रय-दुरवग्रहवादिनां विवादा-नवसरे''(भाग.पुरा.६।९।३६). अस्माकम् अभिप्रायः एतस्मिन् विषये एतादृशोऽस्ति. यत्र सामानाधिकरण्यं तत्र विरोधो नास्ति. अन्यत्रतु तेषां विरोधः स्पष्टएव.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अतएव देवानाथाचार्यैः इदम् उक्तम् यत् प्रमाणेन गृह्यते विरुद्धमिति न स्वसम्प्रतिपन्नमिति यत्... प्रमाणेन अवगम्यते'' इति भामतिकारा वदन्ति. प्रमाणेन अवगम्यते ... विरुद्धता नास्त्येव. यत्रतु नावगम्यते तत्रैव विरोधः. अतएव वेदान्तिभिः मन्दान्धकारे प्रकाशस्यापि तद्विरुद्धस्य तमसः सामानाधिकरण्यं स्वीकृतम्.

गो. श्या. म. : यत्र विरुद्धयोः धर्मयोः ऐकाधिकरण्यं तत्र विरोधो नास्ति, अन्यत्र तेषां विरोधः.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : बन्धनकारिणी रूपसृष्टिः मुक्तिदायिनी नामसृष्टिः ये दोनों ही भगवान्‌की लीलारूपा सृष्टि है. यहां नामसृष्टिको 'मुक्तिदायिनी' कहा है उसका तात्पर्य क्या है?

गो. श्या. म. : श्रीमदाचार्यचरणानां वचनमेव उद्धृतम् अस्ति. सन्दर्भे दृष्टिः प्रदीयताम्. ''रूपप्रपञ्चकरणाद् आसक्तस्वांशवारणे, श्रुतिम् आत्मप्रसादाय चकार आत्मानमेव सः'' (निबन्धकारिका १८)'-'विचित्रो रूपप्रपञ्चः. जीवाश्च अंशाः. अल्पानां विचित्रे भ्रमो भवत्येव. अतः तस्मिन् निवारणार्थं श्रुतिं चकार. तस्याः स्वरूपम् आह आत्मानम् इति. ननु अन्तर्यामिणैव कथं न निवार्यते? तत्र आह आत्मप्रसादाय इति. अन्तःकरणप्रसादाय.

जीवान्तर्यामिणौ पूर्वमेव हृदये प्रविष्टौ भोगभोजनार्थं तदनुभोगेन मालिन्यं चित्ते जातं. न अन्तःस्थितेन दूरीकर्तुं शक्यम्. अतो बहिस्थितेन प्रवेशसमर्थेन तद् दूरीकर्तव्यमिति श्रुतिनिर्माणम् इति अर्थः"(निबन्धप्रकाश). इसका तात्पर्य यह है कि जीव आंशिकी चेतना है और आंशिक उपकरणोंके सामर्थ्यसे युक्त है. अतः किसी विचित्र वस्तुको देखनेपर हमको भ्रम होना स्वाभाविक है. अतः "जिह्वा एकतो, अच्युत!, विकर्षति मा अवितृप्ता, शिश्नो अन्यतः, त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चिद्, घ्राणो अन्यतः चपलदृक् क्व च कर्मशक्तिः. बह्व्यः सपत्न्यइव गेहपतिं लुठन्ति" हर विषय हमारी इन्द्रियोंको इस तरह आकृष्ट करता है कि मोह उत्पन्न हो जाता है. अब यदि श्रुति न हो तो रूपोंमें आसक्त हमारी इन्द्रियोंको कौन छुड़ाये? इसलिये भगवान्ने नामसृष्टि की. सारी नामसृष्टि श्रुतिसे उत्पन्न हुई है ऐसे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने प्रतिपादन किया है. प्रस्थानरत्नाकरमें भी प्रारम्भमें ही वह बात बता दी है कि सारी नामसृष्टि श्रुतिपूर्विका है.

डॉ. कृष्ण.शास्त्री : इसपरसे एक प्रश्न उठता है कि जब नाम-रूप सब भगवान्का ही गृहीत रूप है... तब नाम-रूपका जो इन्द्रियोंसे... "परञ्चि खानि व्यतृणोत् स्वयम्भूः तस्मात् पराङ् पश्यति न अन्तरात्मन्" ऐसी हिंसा तो कहां होती है? रूपदर्शन और शब्ददर्शन भी तो परमात्माकी लीला है, परमात्माके रूपमें इनको देखते हैं. इसमें विषयज्ञान बन्धक है और आत्मज्ञान मोचक है इस तरहकी व्यवस्था कैसे हो सकती है?

गो. श्या. म. : भगवान्के विराट् स्वरूपमें भगवान्ने न केवल अपने मित्र अर्जुनका प्रदर्शन कराया परन्तु दुर्योधनका भी. तो भगवान्की विराटतामें ये सब मौजूद हैं. और इस तरहका प्रभेद लीलार्थ प्रकट हुवा है. इसीलिये "एको अहं बहु

स्यां प्रजायेय'' की व्याख्या करते हुवे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि 'प्रजायेय' नाम प्रकर्षेण जायेय. प्रकर्षेण जननं कीदृग् ? उच्चनीचभावेन जायेयम्. तद् उपलक्षणम्. उच्चनीचभावेन जायेयं नाम विरोधिभावेनाऽपि जायेयम्. सबसे बड़ी मजेदार बात यह है कि रावण हो या शिशुपाल हैं वे भगवान्के द्वारपाल.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : शिशुपालको ही जल्दि मुक्ति होगी. वह कृष्णशरीरपर पहुंच गया. भीष्मके साथ ऐसा नहीं हुवा.

गो. श्या. म. : इसीलिये हम जल्दि मुक्ति नहीं चाहते हैं, भक्ति चाहते हैं. ''मम उत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः त्वन्मायया आत्मात्मजदारगेहेषु आसक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्''. भक्ति चाहते हैं, मुक्ति नहीं चाहते हैं.

.....+.....

संगोष्ठ्युत्तरलेखन

श्रीसिद्धेश्वर भट्टजीका यह कहना कि सत्ताशास्त्रीय और ज्ञानशास्त्रीय प्राग्धारणाकी तरह मूल्यमीमांसासम्बन्धी प्राग्धारणा भी मुझे दरसानी चाहिये थी. यह बात अंशतः सत्य है इस अर्थमें कि मैं विचार्यबिन्दुके निर्देशपूर्वक उन्हें दरसा नहीं पाया. अंशतः यह बात अनवधानताप्रयुक्त भी है जो स्वयं मुझे भी अपनी अनवधानताके कारण तब चर्चाकालमें स्फुरित नहीं हुवा. अन्यथा अंशी सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंशरूप जड़ और चिदंशरूप जीव के पृथक्तया आविर्भूत होनेपर भी परस्पर गाढ़भावेन सम्पृक्त हो जाना और वह भी उस सीमा पर्यन्त कि दोनोंका एक-दूजेमें तादात्म्याध्यास फलित हो जाये, इसे परब्रह्म परमात्मा भगवान्की विवेकविहीन कृति न माननी हो तो लीला ही माननी पड़ेगी. अन्यथा पृथक्तया प्रकट करने हों तो तादात्म्याध्यास नहीं होना चाहिये था और अन्तमें तादात्म्याध्यास ही अभीष्ट हो तो व्यर्थ पृथक्तया प्रकट नहीं करना चाहिये था. यह

मेरे आलेखपत्रगत ''स वै नैव रेमे...'' आदि बृहदारण्यकोपनिषद्के वचनके मेरे द्वारा लिखी गयी व्याख्याके आधारपर ध्वनित हो ही जाता है. वहां यह स्पष्ट शब्दोंमें निरूपण किया है : उस अखण्डबोधरूप परमतत्त्वका निजात्मद्वेधापातन, अर्थात्, विषय और विषयी बनना, आंख-मिचौनी जैसी कोई क्रीड़ा है... अर्थात् छिपे हुवे विषयको खोज कर चेतना विषयी बनना चाहती है और इसी तरह छिपी हुयी वस्तु चेतनाको खोज कर उसका विषय बनना चाहती है... हमारा जिज्ञास्यविषय प्रत्यक्षप्रमाण भी इस प्रक्रियामें अपवाद नहीं... अतः विषयी चेतनामें प्रकट हुवा लीलात्मक अज्ञान विषयके बारेमें जिज्ञासा लिप्सा प्रयत्न या उपलब्धि के अनुरोधवश परोक्षापरोक्ष अवभासोंसे निराकृत होता है. उसी तरह विषयके इर्दगिर्द रहे आवरणोंमें से विषय भी अपनी झलक देनेको कुछ न कुछ काल-कर्म-स्वभावके अनुरोधवश क्रीड़ोपम कुछ न कुछ क्रिया प्रकट करते ही हैं.

यह अंश प्रत्यक्षानुभूतिकी मूल्यमीमांसकीय विवेचना है. जहां तक आनन्दांशके प्रत्यक्षका प्रश्न है तो ''एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति'' (बृह.उप.४।३।३२), ''कोहि एव अन्यात् कः प्राण्याद् यद् एष आकाशे आनन्दो न स्यात्'' (तैत्ति.उप.२।७), ''या प्रीतिः अविवेकानां विषयेषु अनपायिनी'' (विष्णुपुरा.१।२०।१९) जैसे वचनोंके आधारपर समस्त उपकरणोपेत आत्मचेतनामें विषयानुराग इतना प्रबल होता है कि विषयविरक्तका किसी न किसी विषयासक्तिमें फंस जाना उतनी अनहोनी बात नहीं लगती जितनी कि विषयानुरागीका विरक्त हो जाना! यह स्वभावसिद्ध परस्पराकर्षण ही जड़-चेतनाके बीच प्रत्यक्षानुभूतिके सारे मूल्योंका निर्वाहक होता है. वाल्लभ वेदान्त, अतएव, अयोगोलकन्यायेन प्रमात्रवच्छिन्न और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य तो स्वीकारता है परन्तु विषयावच्छिन्न चैतन्यकी, विषयके अकल्पित होनेके कारण उसे प्रत्यक्षप्रक्रियामें अपेक्षा नहीं लगती. ब्रह्मको अभिन्ननिमित्तोपादानतया स्वीकारा गया होनेके कारण जड़-चेतना दोनोंका तिरोहित अंशी तो वह स्वीकारता ही है.

आदरणीय श्रीकृष्णमूर्ति शास्त्रीजीका प्रश्न कि नीरूप पदार्थ प्रतिबिम्बग्राही क्यों नहीं बन सकता है? वस्तुतः अप्रसक्तविमर्श है क्योंकि मीमांस्य मुद्दा

यह था कि नीरूप बिम्बका कहीं प्रतिबिम्ब पड़ सकता है या नहीं?. नीरूप उपाधिमें प्रतिबिम्ब पड़ सकता या नहीं यह मीमांस्य विषय ही नहीं था. फिरभी नीरूप आकाशमें तलमलिनताके उदाहरणको ले कर किसी तरहकी कोई चर्चा करनी हो तो जैसा कहा जा चुका तदनुसार नीरूप आकाश चक्षुःसामर्थ्येन अदृश्य होनेपर भी रूपवत् पदार्थोंके आधारभूतविशेषणतया अथवा स्वसामर्थ्येन प्रमेयबलद्वारा चक्षुर्ग्राह्य बनता स्वीकारा गया होनेसे उसमें अविद्यमान तलमलिनताका अधिष्ठान बन सकता है. एतावता वह तलमलिनता वहां प्रतिबिम्बित नहीं मानी जा सकती है. क्योंकि तब तो मलिनबिम्बको कहीं खोजना अनिवार्य हो जायेगा. रही बात अन्तःकरणमें विषयोंके प्रतिबिम्बकी तो वाल्लभ वेदान्त वहां यह स्पष्टीकरण देना चाहेगा कि अन्तःकरण ऐकान्तिकतया निरूप नहीं होता. क्योंकि वह स्वतः नीरूपप्रायः होनेपर भी विषयोपरागवश अपनी रूपग्राहिका वृत्तियोंके कारण अस्थायी फिरभी वास्तविक रूपग्रहण भी करता ही रहता है. मृत्तिकामें घटाकृति सहज न होनेपर भी कुम्भकारके प्रयत्नोंके वश वह वास्तविकतया प्रकट होती है. अथवा जैसे चित्रकारकी तूलिकाद्वारा कागज या भीत्ति वर्णाकृति धारण कर लेती है तद्वत्. रही बात एक ही इन्द्रियद्वारा बोध और क्रिया दोनों उत्पन्न हो सकती है या नहीं, इस 'विवादकी तो इस विषयमें अवधेय है कि सृष्ट्युत्पत्तिकी प्रक्रियामें स्वयं त्रिगुणात्मिका प्रकृति क्रियाशक्तिमती और गुणातीत चेतनात्मक पुरुष बोधशक्तिमान यों इन दोनोंके परस्पर संयुक्तरूपेण ही महद् अहंकार मन ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय पञ्चतन्मात्रा और पञ्चमहाभूतों का क्रमिक विकास हुवा माना गया है. अतः जहां क्रिया अनुभूतिगोचर होती हो पर बोध अनुभूतिगोचर न होता हो वहां वैसा स्वरूपप्राकट्य; अथवा जहां बोध अनुभूतिगोचर होता हो क्रिया अनुभूतिगोचर न होती हो वहां वैसा स्वरूपप्राकट्य, स्वीकारना उचित होता है. पर जहां दोनों निजानुभूतिगोचर होते हों वहां उभयरूपता स्वीकारनेमें क्या आपत्ति होनी चाहिये? ऐसा विशेषतः इसलिये कि धातु या शिला आदिमें बोध अनुभूत नहीं परन्तु सजीव प्राणिओंमें बोध एवं क्रिया दोनों प्रकट अनुभूतिगोचर होते ही हैं. अतः प्रकृति-पुरुषकी संयुक्तोपादानता स्वीकारनेमें संकोच क्यों होना चाहिये? वस्तुतः शिला-धातु आदिमें संयुक्तोपादानता है ही फिरभी पुरुषचैतन्यको वहां तिरोहित मानना पड़ता है, जबकि प्राणिओंमें अतिरोहित.

श्रीयज्ञेश्वरजीके प्रश्नका समाधान तो आधारपत्रमें ही समाहित होनेसे पिष्टपेषण अनावश्यक है. फिरभी संक्षिप्त सूचन इतना अवश्य ही दिया जा सकता है. चारों तरहके अभावकी व्याख्या वाल्लभ वेदान्त तिरोभावकी सैद्धान्तिकी प्रक्रियाद्वारा करता ही है. अतः अनुपलब्धिको प्रत्यक्ष अनुमिति शाब्द ज्ञानके तिरोभावके रूपमें स्वीकार कर तत्तत् प्रमाणोंमें ही अन्तर्भाव स्वीकारना उचित होगा. क्योंकि जहां पर्वतके बारेमें प्रत्यक्षगोचरतया अनुपलब्धि होती है अनुमितिसे उपलब्धि होती है. सृष्टिकी ब्रह्मोपादानकता या ब्रह्मकर्तृकता के बारेमें अनुमित्यात्मक अनुपलब्धि होती वहां शाब्दी उपलब्धि तो होती ही है. अतएव नैयायिकोंने प्रतियोगी और अभाव को समानेन्द्रियसे ग्राह्य माननेका ज्ञानशास्त्रीय प्रस्ताव प्रस्तुत किया है. स्वयं शांकर वेदान्तमें भी मूलतः अनुपलब्धि प्रमाणतया मान्य थी कि नहीं, यह विचार्य विषय है. ऐसा सहज सम्भव है कि ''व्यवहारे भाट्टाः'' नीतिके अन्तर्गत अनुपलब्धिको परवर्ती कालमें कभी प्रमाणतया मान्य किया गया हो.

TOWARDS UNDERSTANDING PERCEPTION

Prof. S.R.Bhatt, Delhi

Perceptual Cognition has been a basic and important factor in human life, in fact for all life in general. It may be regarded as pivotal to mental functions and physical behavior of human beings and its central and pervasive role needs no special mention.

The claim of primacy and significance of perception as a foundational mode of knowing can hardly be a matter of dispute and disagreement as all other modes of knowing like inference seem to originate in perception and find their ultimate validation in perception. It cannot be denied that all cognitive processes in the empirical sphere begin with perception but there may be difference of opinion whether they end up in perception.

There can again be no unanimity in regarding empirical perception as the sole variety of perception. In spiritual, mystical, religious and some schools of moral thinking there has been an acceptance of trans-empirical perception. In fact there have been claims that this alone is genuine and truly veracious perception. However as a worldly being our main

concern in with empirical perception, which may be the subject matter of our deliberations, though some references to the trans-empirical may not be ruled out. Without denying the validity of trans-empirical perceptions that are intuitive realizations of a higher type available only to realized souls it must be pointed out that they are beyond the ken of our thought and language. They are to be experienced and not to be analyzed or deliberated upon.

The role of perception in cognizing the reality has always been regarded as inevitable and valuable. Through perception alone the reality is said to be directly apprehended. It has been a perennial human quest to know the reality as it is. That is why truth-claim is built in knowledge-claim. But the basic epistemological issue has been substantiation of truth-claim. The entire exercise of Pramana Sastra of epistemology has been undertaken precisely for this purpose. It has been argued that in perceptual cognition truth-claim can be self-substantiated but in the face of the possibility, or rather actual and painful experience, of perceptual errors this claim gets falsified. We do say 'Pratyakse kim pramanam?', i.e., what is the need for evidencing truth in perception as it is self-evidencing, but at the same time we do doubt the verdicts of our own perception.

With the rise of science and its phenomenal successes the attitude of scientism and positivism has cropped up in some quarters. It has not only been claimed that all perception

is sense perception with or without the aid of external instruments and appliances technology has produced, it has also been maintained that 'scientific method generated perception' alone can guarantee of objectivity and reliability and, further, it alone can have the feature of being shared (shared-ness). In view of the proven hollowness of this claim the positivistic attitude has lost its creditability in the fields of natural sciences but its borrowed remnants in the social sciences still persist. There are many natural scientists that have the gradual realization of the limitations of the scientific method and consequent disenchantment from its absolute sway. They have come to maintain that even this knowledge can be subjective and falsifiable. Of course the impact of this conclusion is being felt in the field of social sciences as well but still old dogmatism is seen persisting in some quarters. It must, however, be accepted that no finality can be claimed in the sphere of human knowledge and these issues come up again and again as puzzles for our consideration.

PUZZLES OF PERCEPTION

There are several issues concerning its nature, process, types, extent, limits and their transcendence that pose problems and puzzles for our consideration. The phenomenon of perception in sub-human species has its own problems and puzzles but the complex biological structure constituting human organism and its intricate functioning through cognitive senses and brain is no doubt mind-boggling and equally wondrous is its cognizing capacity, potential or actualized, which is

vast and variegated. Added to this is the availability of freedom of will and selectivity of attention, choice of the objects of perception and degrees of concentration. The macro and micro objects which are external to the cognizing consciousness as well as the subtle and sophisticated mental objects that are inherent in consciousness present innumerable riddles as they become percepts for human intelligence, natural or artificial. Perceptual cognitions do not remain simple sensations but get conceptualized and verbalized. The latter variety of perception is highly complex and intricate having a fine and subtle networking which is quite amazing. For a self-reflective mind it is both an amusement and a puzzle to observe and to analyze this astonishing fit of human mind.

In fact there are countless puzzles of multifarious and multi-dimensional perceptual cognition and only some of them can be indicated for our consideration. We may take up any or all of these or any other of our choice and interest in our deliberations. Some of the issues are as under:

1. Is perception a direct experience of the real? What is perceived—an independently existing object or its impression or just a mental projection? Is perception presentative or representative?
2. Perception is usually taken to be self-evidenced. Is it really so?
3. Is perception foundational or basic source of knowing?
4. Perception with external aids is taken to be accurate. Is

it really so ?

5. It is believed that there are social, racial, individual's subconscious or previous birth's impressions that are operative and influencing perceptual process. Can this be regarded as tenable ?
6. Is 'Nirvikalpaka Pratyaksa' a psychological fact or a logical myth? How is it related to the 'Savikalpaka Pratyaksa' ?
7. Is perception both empirical and trans-empirical ?
8. Who is the perceiver? Consciousness, conscious self, or mind or senses and brain as parts of the body ?
9. What is the role of various physical and mental factors in generating, facilitating or influencing perceptions? They may pertain to structure of body, development of mind, circumstantial placement of object or any other type.
10. Can there be error-free or non-erroneous perception? What are the causes of error and can they be eliminated absolutely? Can we meaningfully talk of degrees of truth and error ?
11. Can there be objectivity in perception ?

These issues can be approached keeping the following points in view:

1. Relation between consciousness, mind, cognition and perception.
2. The conscious and the non-conscious aspects of perception.
3. Total experience and perception.
4. Perception of objects in normal people and those with handicaps.

5. Perception in the context of Media and Arts.
6. Perception and Artificial Intelligence.
7. Aeronautical perception.
8. Relation between language and perception.
9. Perception of abnormal people or biased people. Is there a secret self or a racial self?

The phenomenon of perception of perception is of concern to common human as well as to specialists in perhaps every field. In every discipline one comes across puzzles pertaining to it and they have been demanding our attention for all the times. Some of the problems may be age-old and some might be caused by the explosion in our knowledge. There is a need for an interdisciplinary dialogue drawing upon varied perspectives for mutual understanding and exchanges of ideas with the spirit of the ancient saying "Vāde vāde jāyate tattvabodhaḥ". In this Jnanayajna there can be alternative approaches to these issues from varied perspectives though the focal point can be Prasthānaratnākara.

चर्चा

प्रो. एस्. आर्. भट्ट

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अद्वैतवेदान्ते ...

डी. प्रह्लादाचार : भट्टमहाभागानाम् आशयो यथा मया अवगतः तथा अनूद्यते. ममापि केचन संशयाः भवन्ति. भट्टमहाभागैः उक्तं यत् अद्वैतदर्शने अन्तःकरणं साम्प्रदायिकरीत्या यद्यपि चक्षुर्द्वारा बहिर् निर्गत्य विषयाकारं लभते. अन्तःकरणस्य यो विषयाकारो भवति सा वृत्तिः. When Antaḥkaraṇa goes out through the sense organ and takes the shape of the object that itself is called 'Vṛtti'. This is the view of the Advaita. But it seems that you explained in a slight different manner. The main intention of Advaita here is to say that the Antaḥkaraṇa becomes attentive to the object through the senses. I have some doubts here. A blind person also can be attentive to the object. So, according to you the Indriya is not 'Dvāra' here.

सिद्धेश्वर भट्ट : Some other Indriya will be the Dvāra.

डी.प्रह्लादाचार : तत्र अन्तःकरणस्य या विषयाकारता दर्शने प्रतिपाद्यते तत्र केवल आलंकारिकतया उच्यते वा अथवा वस्तुतः अन्तःकरणं बहिः गच्छति. अन्तःकरणं हि तैजसम् इति अंगीक्रियते. तैजसत्वादेव तस्य चक्षुर्द्वारा बहिर्गमनं युज्यते.

सिद्धेश्वर भट्ट : This is not to be taken literally.

डी.प्रह्लादाचार : That is the point. Whether this is it

to be taken literally or figuratively.

बलिराम शुक्ल : Antaḥkaraṇa is not a Jaḍa dravya like water. They are using metaphor.

प्रद्योतकुमार : We have here two alternative views. One is saying that it should not be taken literally and other is saying that it should be. Now think over what if we take it literally ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : मनसो बहिर्गमने को दोषः ? उच्यताम्. संकोच-विकासशाली तैजसम् इन्द्रिय...

के.ई.देवनाथन् : गच्छत्येव. It literally goes out.

सिद्धेश्वर भट्ट : Generally we take a concrete tangible object to move. We do talk of the movement of the mind. But it is only figurative and not literal.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : एवं चेत् तर्हि चक्षुषः प्राप्यकारित्वमपि न स्यात् नैयायिकमते. चक्षूरश्मयो गच्छन्ति, चक्षुषः श्रोत्रस्य च प्राप्यकारित्वम् इत्यादि यद् उच्यते नैयायिकैः. तत्र चक्षुः कथं गच्छति ? इति उक्तौ किम् उत्तरम् भवदपेक्षया ? अतिसूक्ष्मत्वाद् गमनमिव इत्येव उच्यते.

सिद्धेश्वर भट्ट : गमनमिव, नतु गमनम्.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : नैव नैव, गमनमेव. इवकारः एवकारार्थे. अतएव संकोचविकासशाली.

प्रद्योतकुमार : अन्तःकरणस्य जडत्वं तैजसत्वं च. जडतया तैजसतया च अन्तःकरणस्य बहिर्गमनं सम्भवति. Since you said that all these views are depended basically on the... If this is so and that is a good point also... conception of Antaḥkarana is important. And there is no doubt about this that the Advaita Vedāntins are very categorical about two things that Antaḥkaraṇa is

Jaḍa and the Antaḥkaraṇa is Taijas. So because of this... Why they insist on these two? And these accounts for its literal going out. Number one thing. And the second thing is that even when it goes out, Prahladachrji sometimes might be suggesting that only that... even that part which is in between that also is Vṛtti. So Antaḥkaraṇ is separated in three parts. One, Antaḥkaraṇa that remains inside. The other that is in-between the person and the object. And other is the object. All these three ...

बलिराम शुक्ल : ... अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य ...

सिद्धेश्वर भट्ट : In order to understand the perceptual cognition we have to take into account the psychological factors, the physiological factors, the optical factors and the epistemic factor. All these four must be taken into account. You can't just make epistemic analysis and say that this is the explanation of the perceptual process. You also have to go to an ophthalmologist, neurologist and explain. And I think the neurologist will laugh at it if you say that Antaḥkaraṇa goes out.

प्रद्योतकुमार : Let him laugh. We will laugh at his ignorance. Bring anyone.

डी.प्रह्लादाचार : Prof. Bhatt told that these views need not be considered as alternative views. They may be considered as complementary to each other. But I think it is not so. E.g. take Advaitin's view.

When Antaḥkaraṇāvacchinna caitanya i.e. pramaṇa-
-vacchinna caitanya, and pramatṛvacchinna-caitanya, viṣayavacchinna-caitanya these three Caitanyas becomes one. Then we perceive the object. This is the perception of the object. But the Nyāya view is altogether different here. They don't understand what is this Caitanya being reflected in this Antaḥkaraṇ-vṛtti. They don't have such concept at all. Antaḥkaraṇ Vṛtti is something doesn't exist as per the Nyaya school. Therefore, Antaḥkaraṇavṛtti-pratibimbita Caitanya and that Caitanya is going to manifest pramatṛviṣayavacchi-nna-caitanya etc. all those things are not at all acceptable to the Nyāya School. Similarly whatever is accepted by the Nyāya school is not totally acceptable to Advaitins.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : ऐसा नहीं हो सकता है. क्योंकि ''इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षं'' इति न्यायशास्त्रेऽपि इदम् उच्यते. तत्र ज्ञानं नाम बुद्धेः वृत्तिः. एवञ्च 'वृत्ति'शब्देन यद्यपि न उक्तम्.

डी.प्रह्लादाचार : शास्त्रिमहाभागाः ! शृण्वन्तु. न्यायदर्शने ज्ञानम् आत्मनो गुणः आत्मभिन्नो, नतु आत्मस्वरूपम्. चैतन्यमेव ज्ञानम्. इदञ्च ज्ञानं यदा अन्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बितं भवति तदा प्रत्यक्षं ...

सिद्धेश्वर भट्ट : I understood your point. My brief replay would be that the reality is too complex to be approached in a strait jacketed manner such that one particular model will explain all gamut all aspects of reality. There are some aspects that Advaitic

model will hold good, there are some other model that Buddhist model will hold good. There will be some other aspect of reality where ...

डी.प्रह्लादाचार : No, the point that I am making is that how can we consider them as complementary to each other ? That is the point.

सिद्धेश्वर भट्ट : Because one aspect is explained by one model. Another aspect is explained by another model.

डी.प्रह्लादाचार : That means they are alternative models.

सिद्धाश्वर भट्ट : No. Not alternative.

Infrequently Asked Questions on Perception And the Outlook of Vāllbha School of Philosophy

Achyutananda Dash

Perception, the principal and primary means for acquiring knowledge, perhaps is the only meeting ground of the śāstra and the science. The śāstra examines perception with reasoning whereas the science examines the same with experiments. The results brought about by both these processes are surprisingly very close, almost identical, and therefore the scientific nature of śāstra is left with little doubt. The process of acquiring perceptual knowledge in science and śāstra has been defined in clear terms, almost with certainty. At times science honestly confesses its inability to explain adequately many intriguing phenomena in perception whereas śāstras do not seem to be doing so. Is it because, there is no reason for reasoning to fail? Sense-Object-Contact (SOC), which is the very foundation of perception according to sastra, is generally accepted of two types: (a) empirical (laukika) and (b) transcendental (alaukika). The former is of six types depending upon six sense-organs including the mind and the latter is of three types depending upon three types of transcendental relations namely (i) universal, (ii) cognitive and (iii) yogic[1]. However, there remains ample scope for

asking questions on the procedural as well as cognitive aspects of perception, which demands more reflections. For instance, the scientists still ponder on the questions like - 'how the brain interprets the inverted image it receives from the retina of the eyes', 'how the brain appreciates different tonal qualities' and 'how to fix the position of the source of sound' so on and so forth[2]. The śāstras, on the other hand appear to be seriously pondering on the cause-effect relationship between the SOC and the cognitive state. The śāstras also ponder on the justifiability as well as preferentiality of one cognitive state over the other in accordance with reasoning. The reasoning on the background of longstanding experience and logical principles is no doubt dependable, but it does not mean that that is not subject to verification. The tradition is always open to new ideas and it appreciates reasonable concepts coming from any corner of humanity. We, therefore, wish to investigate on some infrequently asked questions on perception and look into the answers in śāstras, especially in the Vāllabha school of Vedānta in this paper. This may give new insights to the richness of the śāstric world.

Primacy of Perception :

We know perception is the foremost of cognitive means, because, its causes are non-epistemic, non-epistemic in the sense that it is not caused by any other cognitive instance. Gaṅgeśa defines perception as 'jñāaṅkaraṇaka-jñānam' (knowledge, that is not caused by any other cognition), and that distinguishes it from other cognitive instances like those caused

by inference, verbal testimony etc. The primacy of perception is undisputed for that is the beginning of cognition and other cognitive instances somehow or other depend upon perception. The Jains advocate in favor of primacy of perceptual cognition on account of 'clarity' (vaisadyam)[3]. The clarity is explained in terms of 'immediacy' since the perception is caused being independent of mediation of any other cognition[4]. This goes close to Gaṅgeśa's above said definition. The question is - 'is it enough to ascertain the primacy of perception only on the ground of it being independent of mediation of other cognitive instances'? Moreover, it further may be asked that whether the perception that is just caused by SOC is cognizable or describable or not.

Bhartṛhari the doyen of grammarian philosophers on the contrary advocates strongly that every piece of knowledge is intertwined with the 'word'[5] and there is no knowledge that is bereft of 'word'. This leads to the theory that perception is 'linguistic'. Vācaspati Miśra justifying the linguistic nature of perception says: 'It is linguistic not in the sense that it arises from 'word' as its means, but rather it arises in word. Word is here the cause only qua object, and there is an identity between the entity and the word'[6]. The grammarians essentially uphold this view and go to the extent that the relation between 'word' and 'meaning' is identity (tādātmya)[7].

Buddhists, however, think that it would be too wide

of perceptual cognition if it were accepted to be incorporating 'word'. To them the perception should be strictly reflexive and exclusive of the object (artha-mātra-nirbhāsam), free from name (nāma) and generic property (jāti). Dharmakīrti goes a step foreword and defines perception to be free from 'conception' (kalpanā) and 'error'[8]. The term kalpanā here refers to every input cognitive instance that either is related to linguistic expression or otherwise to the subjective imagination. According to Dharmakīrti perception can present bare particular which is of 'its own nature' (svalakṣaṇa) and which is radically different from that which is related to that of the common in many (sāmānya-lakṣaṇa).

In view of the radical opposition between Bartṛhari and the Buddhists, most schools of Hindu philosophy sought to accommodate both by admitting two types, or rather two levels of perception: one non-linguistic and non-conceptual (nirvikalpaka) and the other linguistic, conceptual and thus judgemental (savikalpaka). It is of course, unanimously accepted that the savikalpaka perception is useful as far as the cognitive behavior is concerned. This language centric perceptual cognition, to my mind, questions the primacy of perception in one hand and its upajīvakatā of the other cognitive instances on the other.

Modern scientists add more doubt on the primacy of perception when they say that we start with 'simple perception' and then go further to reconstructing 'full perception' by

mind (past experience). To quote H. S. Subrahmanyam:

> "We often begin with simple perception and then work backwards to reconstruct the full perception out of its elements. When we look we are not looking with our eyes, we are looking with our mind (past experience). Perception is not passive. It is an active construction. It is multidisciplinary - physical, physiological, psychological and metaphysical.[9]

This observation though rejects the exclusivist theory of the Buddhists, it equally questions the validity of Gaṅgeśa's definition viz. 'jñāañkaraṇaka-jñānam pratyakṣam', for scientifically speaking perception includes many more aspects beyond just bare sense object contact. This need more elaboration and we shall deal on this issue while discussing on the jñāana-lakṣaṇa-pratyāsatti. Before coming to that let us see what else the modern thinkers say on perception.

'Attention' according to scientists 'is another basic factor in perception'[10]. Attention is intentional. J. N. Mohanty, therefore, argues in favour of intentionality of conception of knowledge[11]. The intentionality can further be extended to the 'selective nature' as far as the perceptual cognition is concerned. For instance, while watching a football match, we focus only on the ball and the ball carrier and the rest is in the background. With that we have full satisfaction

of watching the entire match. But is it so? It further may be argued that - does 'the background' refers to the 'past experience' that gives a satisfaction of watching the 'whole match' as such? If 'yes', then the question again may be asked: 'what is the role of 'past experience' (smṛti) in perception'? Any way, if the reconstruction theory of modern science is accepted than the primacy and supremacy of perception will remain questionable.

Gosvāmī Śrī Puruṣottama seems to be thinking in the same direction while arguing in favor of establishing the primacy of Śabda in his Prasthanaratnakara. Though he agrees to accept the subordination of śabda to perception as far as the empirical knowledge is concerned, still he thinks that the perception of transcendental, psychological and metaphysical aspects are not possible without śabda, and thus he advocates that primacy be given to Veda or śabda alone amongst the pramāṇas. To quote Gosvāmī Śrī Puruṣottama:

> "अतो लोकानधिगतार्थ-गन्तृत्वात् तदर्थस्य प्रमाणान्तराबाध्यत्वेन नित्यम् अर्थेन सह सम्बद्धत्वेन च वेदात्मकशब्दस्यैव मूर्धन्यत्वम् उचितम्, न अन्यस्य इति निश्चयः"[१२]

This indeed is a challenge to the tradition on the primacy of perception and possibly Gosvāmī Śrī Puruṣottama supports the theory of 'reconstruction' when he argues for the primacy of Śabda. According to Prof. J. N. Mohanty -'the thesis of primacy of perception is to be understood at least in the

sense that all pramāṇas begin with perception[13]. It neither necessarily refers to the supremacy of perception nor advocates that the perception is independent of other cognitive instances. Therefore, we need to reinvestigate whether 'jñānākaraṇakam jñānam pratyakṣam' the definition of perception given by Gaṅgesa is still valid or not. Moreover, empirically speaking if the theory of reconstruction can be incorporated into the śāstric tradition or not?

Perceptual Mechanism In Śāstra and Science:

The causal mechanism of perceptual cognition (pratyakṣa), which is almost unanimously proposed by all, that first of all, the soul is connected with the mind, the mind is connected with the sense organ, and then the sense organ is connected with the object which produces the perceptual cognition[14]. Here, I suggest a formula of cognitive mechanism that may be treated as a 'skeletal causal model' for any cognitive event[15]:

$$\text{'}(I + F) \rightarrow R\text{'}$$

Here I stands for 'Instrumental cause', F stands for 'Function or Auxiliary action' and R stands for 'Result' or the 'end product'.

This is the standard mechanism of the causation of any cognitive event. For instance, in the **'(I + F) → R'** model of visual perception, I is the eye, F is 'the connection' which is technically called sannikarṣa (perceptual functional relation[16])

or vyāpāra (function) in Nyāya system of Philosophy. The R is the result namely the cognitive structure.

The result or the cognitive structure can be presented in the PSV-model. Here P stands for prakāra, S stands for saṃsarga and V stands for viśeṣya in the cognitive structure.

If we take an example like:

A. 'Parvato vahnimān' (The hill is fire-possessive) as an instance of perceptual cognition, the P in that case will be vahni (fire), and the V is parvataḥ (the hill). The relation, i.e., the S between P and V is saṃyoga (contact). Let us see how the causal mechanism of the perceptual cognition functions. First of all, the viewer sees the fire (or may be the hill first, the order does not matter) through his eyes, (the causal instrument of perception). The perceptual functional relation (sannikarṣa) between the eye and the object is saṃyoga (contact). It may be underlined here that the 'connection' between the instrument (eye in the present case) and the object (the fire / hill in the present case) does not function as the relation in the qualifier-qualificand structure of the perceptual cognition of 'parvato vahnimān'. The connection between the eye and the fire / hill, which is F of I, first of all present the perceptual cognition of the fire and the hill independent of their mutual relation. The perceptual knowledge at that stage is 'ayam parvataḥ'(this is a hill) and / or 'ayam vahniḥ'(this is fire) in which the eye acts as the instrument of single object perception and the connection

between the 'eye' and the 'object' is the 'operator' (vyāpāra = function), without which no instrument can be an instrument[17]. Thereafter, the viewer perceives the 'contact' (saṃyoga) by his eye only through the perceptual functional relation (sannikarṣa) called saṃyukta-samavāya (inherence in what is connected). This is S in the PSV-model of the cognitive structure, which acts as the vyāpara between the 'contact' and the eye. (It may be recalled here that the eye is in contact with the hill and the fire in which the 'contact' (saṃyoga) inheres being a guṇa (a separate category called 'quality' in the Nyāya-Vaiśeṣika system). This 'contact' (saṃyoga) functions as the relation between the fire and the hill making it a compact cognitive state as 'saṃyoga-saṃbandhena parvato vahnimán', (the hill is possessed of fire through the relation of 'contact'). In the objective structure, or in the empirical reality, there is in fact a 'contact' between the objects, which now in the cognitive state of the viewer functions as the relation. In other words, all the entities in the perceptual state of 'parvato vahnimān', i.e., both the relata (the P = fire and the V = hill) and the relation (S = 'contact') are seen / perceived by the viewer. Technically speaking, thus, the perceptual cognitive relation is called 'sannikarṣa-bhāsya' i.e., the relation that is apparent through sannikarṣa (perceptual functional relation) in the system of Navya Nyāya, which distinguishes the perceptual cognitive episode from other cognitive episodes of the same objective structure. We must understand that this 'cognitive relation' is different from the 'objective relation' as well as 'functional

relation'. There are only two types of primary 'objective relations' generally accepted in Navya-Nyāya, saṃyoga (contact) and samavāya (inherence)[18]. The saṃyoga and samavāya, when function as relations between the sense-organ and the object concerned, they are called 'functional relations'. These two are simple functional relations. These two functional relations conjunctively make further three complex functional relations, namely, 'saṃyukta-samavāya' (inherence in what is connected), saṃyukta-samaveta-samavāya (inherence in what is inherent in what is connected) and samaveta-samavāya (inherence in what is inherent) which function as vyāpāra for different perceptions. Gaṅgeśa gives an account of how the perceptual functional relations (sannikarṣa) function. According to him, by 'saṃyoga' (contact) matter (dravya) is seen, by 'saṃyukta-samavāya' (inherence in what is connected) quality and action are seen, by saṃyukta-samaveta-samavāya (inherence in what is inherent in what is connected), the universal or generic properties belonging to the qualities like colour-ness etc. (rūpatva etc.) are seen, by samavāya (inherence) the 'word' (śabda) is cognised, and by samaveta-samavāya (inherence in what is inherent) the invariable property of word (śabdatva) is cognised[19]. There is another type of functional relation accepted in Navya-Nyāya called 'indriya-sambaddha-viśeṣaṇatā-sannikarṣa' (the perceptual functional relation of sense-organ-connected-qualifier-ness) for the perceptual cognition of abhāva (absence) and samavāya (inherence)[20]. Thus there are in total six types of perceptual functional relations, which act as the function i.e., F, in the causal

mechanism of perceptual cognition. The author of Prasthāna Ratnākara, however, accepts five types of empirical functional relations as: (a) saṃyoga (contanct), (b) tādātmyam (identity), (c) saṃyukta-tādātmyam (identity in what is connected), (e) saṃyukta-viśeṣaṇatā (the qualifierness in what is connected) and (f) svarūpa (self-linking or reflexive relation). There are reasons for accepting these functional relations and we wish not to delve into them now.

The pertinent question in present context is, if there is an instance of a cognitive state like:

B. "ghaṭavad bhūtalam" "The ground is pot-possessive" then what would be the cognitive mechanism? The relational structure of perceptual cognition of (B) would be "saṃyogena ghaṭa-viśiṣṭam bhūtalam" (the ground is pot-possessive through the relation 'contact'). Here 'the ground' and 'the pot' both are seen by the perceptual instrument eye through the functional relation (vyapara) called 'contact' (saṃyoga-sannikarṣa). The cognitive relation between 'the ground' and 'the pot' is also 'contact', i.e. S, in our PSV-model. This relation 'S' is also seen by the eye itself, through the functional relation called 'inherence in what is connected' (saṃyukta-samavaya), which is F of I in the causal mechanism. Therefore, the saṃyoga saṃbandha that is apparent in the cognitive relational structure of perceptual cognition of 'ghaṭavad bhūtalam' is called sannikarṣa-bhāsya (apparent by perceptual functional relation).

Now let us see if we can see:

With this background, now let us see if we can see the objective structures of the phenomena like:

C. "bhūtale ghaṭaḥ" (The pot is on the ground),

D. "parvate vahniḥ" (The fire is on the hill).

When we are talking of seeing, it obviously mean that these situations are instances of perceptual cognition (pratyakṣa) itself. The question may be asked that - is there any difficulty in seeing (C) or (D)? Well, one can perceive the ground as the locus of the 'pot' or the 'hill' as the locus of fire. The perception of (C) or (D), that gives a different cognitive structure, is certainly different from the perception of (B) 'ghaṭavad bhūtalam' or (A) 'parvato vahnimān'; because, in this case, the viewer sees the ground or hill as the location of pot and fire respectively, but not just as 'the ground is pot-possessive' or 'the hill is fire possessive'. The question in other words is - how to see the 'location' (adhikaraṇatā)? It further may be asked that - how the perception of (D) 'parvate vahniḥ' cause the cognitive structure that is different from that of (A) 'parvato vahnimān'? In these two cases of perception, the objective structure of the cognitive events, of course, do not differ from one another. In both the cases the eye-object contact remains the same and the objective relation, namely, 'contact' (saṃyoga) remain the same. However, everybody realises that the perceptual cognition of (A)'parvato vahnimān' is different from that of (D) 'parvate vahni', since in one case he sees the hill as fire-possessive

and in the other the fire as located on the hill. The question again arise is - if the perceptual relation namely 'contact' remains the same in both these instances of cognitive structure of perception then how these two be treated as different instances of perception? We can solve the problem in the following argument. The cognitive structure of both these instances of perceptual cognition, namely 'parvato vahnimān' and 'parvate vahni', ought to be different from each other depending upon their different perceptual cognitive relations, and they are 'contact' in one case and 'location' / 'substratum' (adhikaraṇa) or 'super-stratum' (ādheya) in the other. The way, in which, the perceptual cognitive relation 'contact' plays its role in the cognitive structure of (A) 'parvato vahnimān' by perception itself through the functional relation namely saṃyukta-samavāya-sannikarṣa, has already been explained above. Now in the cognitive structure of (D) 'parvate vahni', where the hill is perceived as the location (of fire), the perceptual relation namely 'location' or 'substratum' is also perceived, is to be explained. The question is what is the perceptual functional relation between the eye and the 'location' (adhikaraṇa)? Can we see 'location or substratum' (adhikaraṇa) directly through our eyes? The answer will be 'yes' if and only if it belongs to one of the seven basic categories (sapta-padārthas) of the Nyāya-Vaiśeṣika system. However, we do not find it in the standard list. Therefore, none of the standard six empirical perceptual functional relations will be useful for seeing 'location'. May we think that the 'location' is perceivable through the mind, which also functions as

an instrument in perceptual cognition? This may be called 'jñāna-lakṣaṇa-sannikarṣa (or jñāan-lakṣaṇā-pratyāsatti[21]), where the prior knowledge of location functions as the perceptual functional relation (sannikarṣa) with the mind. That gives rise to a special kind of perceptual cognition, which is otherwise called mānasa pratyakṣa (mental perception or perception through past experience)[22]. This amount to saying that jñāna-lakṣaṇa-pratyāsatti is accepted when the six empirical functional become inapplicable and still the perceptual cognition takes place.

E. "Surabhi-candanam" "The sandalwood [is] fragrant" is given as a śāstric example for jñāna-lakṣaṇā-pratyāsatti. Here only the sandalwood comes in contact with the eye and then the fragrance of the sandalwood is remembered, because, the fragrance that invariably is related to the sandalwood from a prior knowledge. In the same manner, when the hill is intended to be perceived as location of fire and of course if the hill as well as fire are directly found in the range of the eye, then through jñāna-lakṣaṇa-sannikarṣa the 'location-hood' of the hill is perceived giving rise to the cognitive structure of 'parvate vahniḥ'. Similarly (C) 'bhūtale ghaṭaḥ' can be explained where the prior knowledge of 'location-hood' (adhikaraṇatā) of the ground is remembered in the event of eye-contact with the pot which is on the ground, giving rise to the said cognitive structure where 'location' plays the role of perceptual cognitive relation. Therefore, it can be said without any hesitation that it is through

jñāna-lakṣaṇā-pratyāsatti, that the perception of the kāraka-relations function as perceptual relations. The kāraka relations like kartṛtva (agency), karmatva (object-hood), karaṇatva (instrumentality) or adhikaraṇatva (locus-hood) etc. are perceptible through the jñānalakṣaṇā-pratyāsatti, if and only if the cognitive structure demands these properties to be instances of perceptual cognition. The situations like 'pacantam paśyati', 'pacamānam paśyati' (sees someone who is cooking), are perceptible, where the performer of the main action becomes the object of seeing. Gaṅgeśa accepts anuvyavasāya (introspective cognition) for the perception of kartṛtva (agency), karmatva (object-hood), dhātv-arthatva / kriyātva (action-hood) etc.[23]. He further says that, since it is otherwise not possible to perceive the kāraka relations they are perceived through the mind.

Similarly one can see a royal official (rāja-puruṣa) even when someone is just seeing the person (puruṣa). The royalty (rāja-saṃbandhitva = belonging to the royalty) if known earlier, is remembered in this case and thus the perception of rāja-puruṣa can be an instance of jñānalakṣaṇa-sannikarṣa. We may take another instance like: 'I saw the Prime Minister of India'. Here, it might be the case that I saw a person called Mr. Atal Bihari Vajpayee. However, I did not see Atal Bihari Vajpayee as a person, but as the Prime Minister of India. This perception is possible only through jñānalakṣaṇa-sannikarṣa, only if I have the prior knowledge of 'Premier-ship'. In fact, in some cases the transcendental cognitive relation

is so strong that it suppresses the empirical sense object contact completely. We can take the example of 'I see my mother' or 'I see my teacher', where though the visual object is a person with a normal name and a form completely disappears from the sight and what is seen is 'the mother', 'the teacher', that is a 'feeling', a 'concept' heavily embedded with 'culture'. Therefore, such perceptual cognitive events can arise only through the mind that takes the 'given concept' into account. Needless to say that, such a perceptual cognitive structure would be different from sentential cognitive structure (śābdabodha), since the causal mechanism and the relation in the sentential cognitive structure will be totally different from that of the perceptual cognition.

Some scholars consider to accept the functional relation 'qualifier-ness what is connected with the sense organ' (indriya-sambandha-viśeṣaṇatā) for the above case of 'adhikaraṇa pratyakṣa'[24]. Adhikaraṇa, though is one amongst the kārakas it holds a special position as far as the perception of absence or inexistence (abhāva) is concerned. Naiyāyikas disagree with the Mīmāṃsakas to accept anupalabdhi as an independent pramāṇa for the perception of abhāva. They say one can see 'bhūtale ghaṭābhāvaḥ' by one's own 'eye' through the cognitive functional relation 'qualifier-ness that is connected with the sense organ'. The perception of samavāya an independent category in the system of Nyāya-Vaiśeṣika school of Indian philosophy is also seen by the same functional relation - opine some. Similarly adhikaraṇa being the very

nature of bhūtala, can be seen by the same functional relation.

Śrīmad-Vallabhācārya accepts 'substratum' and 'super-stratum' (ādhāra- and ādheya) forming separate categories[25] and in that case the contact of eye with the object namely the ādhāra or ādheya would be possible through the self linking functional relation called svarūpa as accepted by the Vāllabha school of Vedānta. Goswāmī Puruṣottama Caraṇa appears to be suggesting the same in his Prasthāna Ratnākara.

Sententio-Perceptual Cognition :

Śabda is a distinct pramāṇa and any cognitive episode caused by śabda certainly is not an instance of perceptual cognitive event, for that is caused by a different cognitive means[26]. However, Advaitins cite an interesting situation claiming a cognitive episode caused by śabda to be perceptual. According to the Advaitins, the Upaniṣadic mahāvākya namely 'Tat tvam asi' [Thou art that] is a samāañdhikaraṇa type statement that establishes complete identity between the "individual self" with the "Supreme Self'. However, the point to underline is that this statement establishes the identity in a perceptible manner, as is the case in pratyabhijñā pratyakṣa, perceptual recognition of "so'yam devad0attaḥ" i.e., "this is the same Devadatta as that'. The sentence is used in the context of recognizing a person called Devadatta, when seen by two other persons, say A and B, who had seen him earlier at a different time and at a different place. Suppose A had forgotten Devadatta, and on seeing him, B recognizes

him and reminds A, "this is the same Devadatta as that'. Essentially this is an identity statement like:

"that Devadatta = this Devadatta"

According to Advaitins, the identity is possible only if the 'this-ness' and 'that-ness' referring to spatiotemporal context is left out and only the cognitive referent Devadatta is retained. The recognition perception (pratyabhijñā pratyakṣa) is a fit case, according to Nyāya, of partly remembrance and partly perception (saṃskārendriyobhaya-janyam jñānam pratyabhijñā)[27]. However, the Advaitins believe in admitting immediate knowledge even from verbal testimony in this context. Dharmarājādvarīndra in his Vedāntaparibhāṣā goes on elaborating this point and rejects the contentions of the Naiyāyikas. He cites another example of "daśamas tvam asi" (Thou art the tenth one)[28]. According to Dharmarājādvarīndra, due to immediacy of an object, perception arises even from 'words'[29]. 'Tat tvam asi' (thou art that), the so called mahāvākya also causes perceptual / immediate (a-parokṣa) cognitive episode. This creates a peculiar situation for those who take up the epistemological issues seriously, for the verbal testimony causing the perceptual cognition goes beyond the convincing acceptability as far as the convention of pramāṇa-śāstra is concerned. The recognition perception (pratyabhijñā pratyakṣa) is a fit case of perceptual reconstruction where the cognitive apparatus (sāmagrī) for sentential cognition cause the perceptual cognition.

Goswāmī Puruṣottama argues in this context that that could either be an instance of sentential cognition or an instance perceptual cognition, but no sententio-perception as such is possible, for śabda can never be regarded as a cause for perceptual cognition. He says: In explaining the sentence "daśamas tvam asi', how can one get the cognitive episode of 'self' / 'I' (aham) from the word 'yuṣmat' (you)? Presentation of word-meaning through their signification function (vṛtti / śakti) of 'words' in the context of śābdabodha is the essential causal factor, and śabda can not present 'some / any meaning' that is not cognized from the word beforehand. The "invert secondary function" (vīparīta-lakṣaṇā) (even in some cases accepted) can not be accepted in this case, because it will lead to non-perceptual cognitive instance and that in turn will further lead to abandonment of ones' own position of establishing immediate knowledge[30]. According to Goswāmī Puruṣottamacara(a one has to accept in present case that though the eye etc. play as auxiliary factors that however do not cause a perceptual cognitive instance and thus no śabda can be accepted as causing perceptual cognition[31].

The story of "daśamas tvam asi" in fact can be explained by the 'mind-brain-gap' theory of modern science. According to this theory when we see, due to mind-brain-gap we see only partially because we are preoccupied with many things conditioned by society or burdened with belief, tradition and with past-experience. The brain and the sense-organs somehow put together a lot of information and the perception depends

upon all aspects of this information. If we examine closely the present situation of "daśamas tvam asi" we may find the following psychological factors. It is possible that while crossing the stream, the current was very strong and everyone of the group of ten struggled to cross it. The fear that persisted in everyone's mind if someone is drowned. And that trauma is the cause of mind-brain-gap which played its role in mis-assessing the situation and when someone started to count the heads to confirm the number, he ended with nine only, forgetting to count to himself. One can overcome such traumatic situation only by consoling words of a trustworthy person and when such a person arrives and says the sentence "daśamas tvam asi" that causes a cognitive state that is as dependable as perception, which destroys the veil of ignorance completely about the 10th one. Similarly one gets the ātma-sākṣātkāra, perceptual cognition of 'self' through the Vedic statements like "tat tvam asi'. Thus, the Advaitins consider the cognitive episode arising from words to be perceptual. The explanation of the Advaitins in this case is certainly convincing and its nature of perceptibility is also appreciable. However, the question is - can we count for the 'mind-brain-gap' theory, which is more psychological, in the śāstras? Is there any reference to that in the śāstras also? If not, what harm will be there if it is incorporated into the śāstras?

Auditory Perception:

The followers of Nyāya-Vaiśeṣika schools of Indian

philosophy almost authoritatively say— sound (śabda) is perceived by the 'ear' through the cognitive functional relation 'inherence' (samavāya), for śabda being a quality of space (ākāśa) and the space being delimited by the ear-canal is called the sense-organ 'ear'[32]. Physiologically speaking it appears to be little convincing. The question arises that how the sound is heard quickly and clearly in the direction of air and not so quickly or clearly from the opposite direction. If sound is an incorporeal quality (amūrta guṇa) of the all pervading ether (ākāśa), how can it be carried away by air? Moreover the other question is - how the contact of mind (being atomic) with an all-pervading entity (ākāśa), though being limited by ear canal, takes place? Is it partially or wholly? If partially then one has to accept parts of an all-pervading entity. Will it be acceptable? If wholly then ākāśa being all-pervading, a sound produced in anywhere in the space would be audible. To solve these problems there were two theories proposed in śāstras: (a) the wave theory of the sound (b) the reaching-out theory of auditory sense organ to the place of sound. The first theory is proposed and accepted in Nyāya-Vaiśeṣika school and the second in the Sāṃkhya-Vedānta schools. The Nyāya-Vaiśeṣika scholars think ear the auditory sense organ is passive (like the other sense organs of touch, smell and taste). The wave theory proposes that the initial sound produces another similar sound to it, which in turn produces a similar sound, the third one and the fourth one and so on and so forth in the manner of wave giving rise to another wave, till the last

one is produced in the ear canal. It is the last sound in the series that is apprehended by the auditory organ. This is fine. However, there many questions remain unanswered that - why is the supposed series of sounds not produced in all directions and heard by everyone in the world? Why is the sound not able to cross the obstacles such as wall etc.? The Sāṃkhya and the Advaitins on the contrary accept the reaching-out theory. According to this theory, the ear is an active sense organ and they propose a typical vṛtti of the auditory sense like that of the visual sense organ eye, which goes out to its object. In this case also the same objection stands as - why the vṛtti of the auditory organ being non-corporeal (amūrta) cannot cross the material obstacles like wall as such?

The Mīmāṃsakas especially Kumārila, however, contended that when a person speaks the air inside his body struck by his effort moves out of his mouth and this air is helped by conjunction and disjunction of his palate, tongue and throat etc. The extent the air goes is determined by its initial velocity, which depends on the intensity of the speaker's effort. When this air reaches the ear-canal it imparts a certain potency to the auditory organ, which produces certain modification (saṃskāra) in the latter. Different modifications are caused by different sounds and they are the cause of difference in sound perception. Sound is not heard everywhere because of obstacles such as wall etc. because those obstruct the passage of the air. When loud sounds are heard, some

pressure is experienced upon the ear. This is caused by the air-current striking the ear with a great force. The initial velocity of the sound gradually decreases and hence the intensity of sound differs at different points of its passage till it disappears completely. That is why the sound is not heard everywhere. Thus the sequence, loudness, lowness etc. of the sound can fully be explained.

The theory that PR presents goes close to this theory. They also think that the air is the carrier of the sound and thus they consider 'contact' (as against 'inherence') is the functional relation between the sound and the auditory organ. According to them when the sound reaches the ear by the air, the eardrum being struck by the air enables to hear the sound through that contact. One does not experience the contact of the air because of the intensity of the apparatus of sound operation. However, if someone speaks close to the ear canal there is possibility of experiencing the contact of the mouth-air of the speaker as well. One listens the absence of sound through the ear itself but in that case, the functional relation will be ''qualifier-ness that is connected with sense organ'. Alternatively, the Goswāmī Puruṣttamacaraṇa suggest that the very nature of the sound itself may be regarded as the functional relation for sound perception that is carried by the air[33].

MM Ramavatar Sharma, a traditional scholar, who is the founder of a neo-school of philosophy namely

Paramārtha-darśanam also accepts the modern scientific theory that the sound is caused by air and it can not be the quality of the ether as proposed in the Nyāya-Vaiśeṣika school[34].

In modern science, B.V.A Rao, a professor in IIT, Madras, in his paper "A New Theory in Auditory Perception'[35] reports a hypothesis similar to that as has been proposed by Sāṃkhya-Advaita school of Indian philosophy, which has been put forward as recently as November 1983, in a prestigious journal (Hugo Zuccarelli, The New Scientist, 10th Nov. 1983, pp.438-440). It claims that the ear is an active organ, which transmits sounds and not just passive receiver. According to this theory, each ear in an individual produces a medium frequency sound wave (of about 1kHz). This is transmitted by the ear which itself acts like an antenna to propagate this energy. These sound waves and the incoming sound waves from external sources generate an interference pattern, which reaches the ears. This interference pattern, which depends on the direction of the incoming sound is analyzed by the cochlea - in a way analogous to an optical hologram - to locate the sound sources. The analysis, which is a pattern in the hair-cell in the organ of Corti recreating the interference pattern outside the ear, is recognized by the brain and so we are able to distinguish sounds of different tonal quality and also locate their sources. We do not hear the sound that is outside, but its recreated pattern inside. As is now known, each point in a hologram represents the amplitude and phase information of the original object in all its three

dimensional detail. The hypothesis of Zuccarelli is that the acoustic perception is achieved in a similar manner.

Concluding the discussion Prof. Rao remarks, and I quote:

> "It is an outstanding example of the potentiality of the views of ancient seers who have experienced the physical and physiological world in an objective and transcendental manner through intuitive insight. It is high time that scientists look into these aspects in an objective and sustained manner based on the insight contained in śāstras"[36].

In the conclusion, we only can re-ascertain this statement, for Goswāmī Puruṣuttamacaraṇa sets an example in this direction by looking at things differently as is evident in his Prasthāna Ratnākara. The sastrakaras had always an open mind to new ideas and it is for us to see everything in proper perspective.

Notes and References:

1. Sāmānya-lakṣaṇā-pratyāsatti, jñānalakṣaṇā-pratyāsatti, yoga-ja-pratyāsatti.
2. Eric A Lord, 1986, 'Sensory Perception Mechanisms', SENSE PERCEPTION IN SCIENCE AND ?(STRA, Ed. by T.M.Srinivasam and B. G. Shreelakshmi, Pub. Sri Sharada Trust, Sringeri.
3. Cf. 'viśadam pratyakṣam' Prameyakamalamārtaṇḍa, Nirnaya-sagar Press, 1941, p. 216.
4. 'avyavadhānena pramāṇāntara-nirapekṣatayā pratibhāsanam

vastuno'nubhavo vaiśadyam vijñānasya' ibid. p. 219.

5. 'na so'sti pratyayo loke yaś śabdānugamād ṛte / anubiddham iva jñānam sarvam śabdena bhāsate //' Vākya-Padīyam by Bhartṛhari.

6. Cf. 'na śabda-pramāṇakatayā śābdam, api tu śabde jātam śābdam, śabdaś cāsya viṣayatvena janako'rtha-tādātmyāt'. Nyāyavārttika-Tātparya-Ṭīkā on NSBh-Vā. 1.1.4, ND. p. 109-110.

7. We need not discuss the identity theory here because it is beyond the scope of this paper.

8. 'Pratyakṣam kalpanāpoḍham abhrāntam' Nyāya-Bindu 1.4.

9. H.S.Subrahmanyam, 1986, 'Physiology and Psychology of Perception', SENSE PERCEPTION IN SCIENCE AND ŚĀSTRA, Ed. By T. M. Srinivasam and B. G. Shreelakshmi, Pub. Sri Sharada Trust, Sringeri. p.70.

10. In śāstras also we find references to the saying 'anyatramanā abhūvam nāham kiñcid avediṣam', which essentially talk of the role of 'attention' in perception.

11. J. N. Mohanty, 1992, Reason and Tradition in Indian Thought (An Essay on the Nature of India Philosophical Thinking) Clarendon Press, Oxford p. 42.

12. Prasthāna Ratnākara (PR), ed. By Goswamī Shyām Manohar, Kolhapur, VS. 2056. p.53.

13. J. N. Mohanty, 1992: op cit. p. 240.

14. Cf. 'ātmā manasā saṃyujyate, mana indriyeṇa, indriyam artheneti' NS-B. ND. p. 94

15. Cf. Matilal, B. K. 1990, The Word and the World: India's Contribution to the Study of Language. Oxford University

Press. Oxford / New York, p. 51. and see my paper Dash, A, 1999, Śābdabodha, Cognitive Priority and the Odd Stories on PrakārataYCvāda & Saṃsargatāvāda, Journal of Indian Philosophy, Vol. 27, No. 4. Kluwer Academic Publishers, Dordrecht, The Netherlands, pp. 17-41.

16. This we call perceptual functional relation, because sannikaraṣa is a relation between the 'instrument' i.e., I or the "means of perception" with the 'object' at the same time it is a 'function' as well, because without the "function' of the instrument no perceptual cognition can be generated. The term sannikarṣa takes both these responsibilities and therefore, we call it a "perceptual functional relation'.

17. cf. 'vyāpāravad asādhāraṇa-kāraṇam karaṇam', i.e., the extraordinary cause, engaged in operation, is the instrumental cause.

18. cf. 'dvividhaḥ saṃbandhaḥ saṃyogaḥ samavāyaś ca' Tarka-Bhāṣā by Keśava Miśra (TB) P. 28.

19. cf. 'pratyakṣa-viśeṣe sannikarṣa-viśeṣo hetur anugata eva saṃyogena dravya-grahaḥ, saṃyukta-samavāyena rūpa-karmaṇor grahaṇam, saṃyukta-samaveta-samavāyena rūpatva-deḥ, samavāyena śabdasya, samaveta-samavāyena śabdatva-deḥ'. TC. Vol. I. pp. 572-574. See also TS. p. 31, TB. p. 34-36, KM. (kārikās : 59-62), NS-V. p. 94-95.

20. Cf. 'indriya-sambaddha-viśeṣaṇatayā samavāya-ghaṭābhāva-der yogya-sannikarṣād eva graho na sannikarṣamātrāt' TC. Vol. I. pp. 575-576.

21. Matilal, B.K. translates the jñānalakṣaṇā-pratyāsatti as

"presentation through revived memory'. See more on this issue in Matilal 1986, PERCEPTION (An Essay on Classical Indian Theories of Knowledge), Clarendon Press, OXFORD 286-291.

22. See Bhattacharya, Gopika Mohan, 1977, Śābdabodha as a separate type of Pramāṇa, Journal of Indian Philosophy, Vol. 5, Ed. B.K.Matilal, D. Reidel Publishing Company, Dordrecht Holland, pp. 73-84 73-84, for the details on jñānalakṣaṇa-sannikarṣa.

23. 'api ca kriyāyāḥ kṛter vā samavāyitvam kartṛtvam, para-samaveta-kriyā-phala-śālitvam karaṇa-vyāpāra-viṣaya-tvam vā karmmatvam, dhātvarthatvam anyad vā kriyātvam idam aham jāañmīti vyavasāye na bhāsate tad-bodhakendri-ya-sannikarṣābhāvāt kintv idam viṣayaka-jñānatva-viśiṣṭasya jñānasya vaiśiṣṭyam ātmani bhāsate na ca svaprakāśe vyavasāye tādṛśam svasya vaiśiṣṭyam bhāsitum arhati, púrvvam viśeṣaṇasya tasyājñāañt tasmāt idam aham jāañmīti na vyavasāyaḥ kintv anuvyavasāyaḥ' TC. Vol. I. , pp. 795-796.

24. Prof. D. Prahlladachar, Hon Vice chancellor of Rastriya Sanskrit Vidyapeetham, Tirupati suggested me this view over a personal discussion on this issue.

25. 'ādhārādheya-bhāvaś ca meyāntaram' Nyāya-Līlāvatī, (1st Part) ed. with Śāmbhavī and Candrakāntī by Rajendra Prasad Sharma, Department of Philosophy, Rajasthan University, Jaipur, 1996. p. 34.

26. Goswami Puruṣottama presents the idea in a very interesting manner saying that "difference of pramāṇa is established

by difference of functional relations of cognitive means; and in that case difference of cognitive structure alone is not necessarily required'. To quote him 'vṛttivaijātyasya pramāṇa-vaijātyopapādakatve phala-vaijātyasya tad-aniyatatvāt' PR. p. 143.

27. It may be noted here that pratyabhijñā is a verity of perception and the definition itself counts for 'memory input' in the case of perception recognition. This no doubt is direct reference to the reconstruction theory of modern science. Prtyabhjñā has been developed into a full-fledged school of Philosophy by Abhinavagupta. The perceptual reconstruction due to 'memory input' into perception might be the very foundation of their thought. More in depth study in the field is required in this direction.

The above definition of pratyabhijñā is quoted by Prof. Badarinatha Shukla, (Hindi Comm.) on Tarkabhāṣā, Motilal Banarasidass, Delhi. (Reprint 2000), p. 23.

28. The story is briefly and nicely narrated by Svami Madhavananda in his translation of Vedānta Paribhāṣā and I quote him in his languages. 'Ten rustics swam across a stream, and one of them counted their number to see if all had crossed. To their dismay, one was found missing. Then everyone took his turn at counting, but the result was the same. So they began to lament, when a kind passer-by inquired what it was all about. On being told what has happened, he readily understood the situation, and asked one of them to count again. When the man stopped at nine, the new-comer said to him 'You are

the tenth man'. This he repeated with the rest of them. Then they saw their mistake and went away happy".

29. 'daśamas tvam asi ityādau sannikṛṣṭa-viṣaye śabdād apy aparokṣa-jñanābhyupagamāt'; also 'so "yam devadattaḥ' iti vākyajanya-jñānasya pratyakṣatvam. Evam "tat tvam asi" ityādivākyajanyajñānasyāpi". Vedānta Paribhāṣā, Tr. By Svami Madhavananda, Advaita Ashram, Calcutta, 1989, p. 19, p. 33.

30. "yat tu "daśamas tvam asi" iti vākyād "daśamo'ham" ity ākārakam pratyakṣam kecid aṅgīcakruḥ. Tad api na. śabde yuṣmat pada-prayogeṇa tajjanye jñāne 'aham' ity ākrasya vaktum aśakyatvāt. padajanyopasthiteḥ śābdabodhe tantratvāt yuṣmat-padena svārtha-viruddha-pratyaktvasya upasthāpayitum aśakyatvāt. anyathā atiprasaṅgāpatteḥ. na ca tatra vīparīta-lakṣaṇayaiva upasthitiḥ iti yuktam. Tathā sati parokṣa-jñānasyaiva āpattyā pratijñāvādhāt". PR. p.123.

31. 'śabde cakṣurādisahakāritvasya parokṣavṛttijanakatvasya ca niścayena śabdāt pratyakṣasya sarvathā anupapannatvāt ca' PR. p. 143.

32. 'karṇa-śaṣkuly-avacchinnam nabhaḥ śrotram'. However, Raghunātha Śīromaṇi defines śrotram as 'karṇa-śaṣkulī-vīvarāvacchinna-Īśvara eva' Padārthatattvanirūpaṇa, ed. by Bisvambhara Pahi et al. Department of Philosophy, Rajasthan University, Jaipur. 1997. p. 3.

33. Cf. 'śrotreṇa śabda-grahaṇe saṃyoga eva vyāpāraḥ. śabdo hi vāyunā upanītaḥ śrotraparyantam yadā āyāti tadā śrotrāvacchinna tvacā vāhaka-vāyusaṃyoge tam eva saṃyogam vyāpārayitvā śrotrendriyeṇa śabdo gṛhyate.

śabda-grāhaka-sāmagrīprābalyena saṃyogāśrayasya vāyoḥ apratyakṣatvāt na tasya saṃyogasya grahaṇam. Saṃyogagrāhakasāmagrīprābalye tu saṃyogasyāpi grahaṇam. Yathā karṇābhyarṇam āgatasya vārtāśravaṇe vaktṛmukhavāyusaṃyogasya. Abhāve viśeṣaṇateva. Śabdagrahe saṃyukta-vāyūḍha-śabda-svarūpam eva vā dvāram'. PR. p.138.

34. Cf. 'punar anyadā devadattaḥ paramārthajñam sukratum upāste. Pṛcchati cainam - bhagavan ! śabdaḥ kasya guṇaḥ. tau ha mantrayete. Vāyumaṇḍalād bhūmiveṣṭanād ūrdhvam candra-sūryādyaḥ. vāyumaṇḍale punar meghāḥ saṃplavante. Meghebhyo vaidyutaḥ prakāśaḥ pṛthivīm āgacchati. Tad anantaram stanitam śrotravidāraṇam ākarṇyate. Prakāśamātram tu sūryādiṣūpalabhyate na saṃbhavann api tatratyaḥ ko'pi śabdo'tra śrūyate. Tad etad gamayati vāyavīyāañm aṇūañm kampe śabdaśravaṇam. Tad abhāve śabdāśravaṇam. Ākāśas tu prakāśa-dharmā. Ittham mantrayamāṇau tau kañcid vaijñānikam upagamya tam eva viṣayam pṛcchataḥ. Sa ca tau vartulam pātram darśayati. Tasmiṃś ca ghaṇṭikām vādayati. Sarve tac chabdam ākarṇayanti. Atha vaijñāniko váyuniḥsāraṇa-yantreṇa pātram prāyo nirmārutam karoti. Punar asau ghaṇṭikām vādayati. Na kaś cic cchabdam śṛṇoti. Parīkṣāvasāne śabdasya vāyusaṃbandham sphuṭam pratyeti devadattaḥ. saharṣaś ca sukratum vadati. Prāmādikam kaṇabhakṣādīañm vacanam śabdaguṇam ākāśam iti". Paramārthadarśanam, Motilal Banarasidass Pub. Delhi. 1994. p.7-8.

35. See Sense Perception in Science and Śāstra, op cit. pp.86-89.

36. Ibid. p.89.

......+......

चर्चा

डॉ. अच्युतानन्द दास

के.ई.देवनाथन् : In the case of "पर्वते वह्निः" there is a problem in Nyāya theory. Because what is the Sambandha between Parvata and Vahni which is not included in six Sambandha. Then you said that there is a ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति there after you said अधिकरणता is ...

डी.प्रह्लादाचार : तेषाम् अभिप्रायः एवं वर्तते. "पर्वते वह्निः" "पर्वतो वह्निमान्" इति प्रत्यक्षयोः वैलक्षण्यम् अस्ति. तत्र को विशेषः ? कथं वैलक्षण्यम्, तत्र सामग्र्यां को विशेषः, कुतो वा कार्यवैलक्षण्यं जातम् इति अन्यः प्रश्नः. अपरस्तु तैः उच्यते, अधिकरणता यदा प्रत्यक्षीक्रियते, अधिकरणताप्रत्यक्षन्तु ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्या भवति. तत्र तावद् सन्निकर्षो ज्ञानलक्षणा स्वीक्रियते स तु संयोगविषये न. पर्वत-वह्न्योः यः संयोगः तद्विषये न. अधिकरणताप्रत्यक्षं प्रति ...

बलिराम शुक्ल : अधिकरणतायाः ज्ञानं तस्मिन् प्रत्यक्षे कथं भवति इति तेषां प्रश्नः.

के.ई.देवानाथन् : मया तथैव स्वीकृतम्. "पर्वते वह्निः" इत्यस्मिन् ज्ञाने सम्बन्धः कः इति प्रथमतः प्रश्नः कृतः. "पर्वते वह्निः" "पर्वतो वह्निमान्" इत्यत्र सामग्रीवैलक्षण्यम् कथम् इति प्रश्नः. सामग्रीवैलक्षण्यं तावत् सम्बन्धवैलक्षण्यम् सन्निकर्षवैलक्ष-

ण्यम् इति वक्तव्यम्. इति प्रथमतः प्रश्नः कृतः. तदनन्तरं तत्र एवम् उक्तम् अस्ति, तत्र तावद् एकत्र आधेयतासम्बन्धो भवति इत्यादिकन्तु लिखितम् अस्ति. तत्र कः क्लेशः भवताम् इति तु मया स्पष्टं न ज्ञायते. उभयमपि प्रत्यक्षं भवति. एकत्र पर्वतः विशेषणं भवति, अपरत्र वह्निः विशेषणं भवति. इदञ्च विशिष्ट-वैशिष्ट्यज्ञानम्. अत्रतु अधिकरणतायाः प्रवेशः किमर्थम् आनीतः इति न ज्ञायते. आधेयतायाः प्रवेशस्तु अस्ति.

अच्युतानन्द दास : ''पर्वते वह्निः'' इत्यस्य प्रत्यक्षं भवति. तत्र पर्वतः-अधिकरणता-वह्निः इति त्रयः पदार्थाः सन्ति. एकः सम्बन्धः पदार्थो अन्ये ...

के.ई.देवानाथन् : नहि. पर्वतः, आधेयता वह्निः च.

डी. प्रह्लादाचार : तेषां आशयः एवं वक्तुं शक्यते. ''पर्वतो वह्निमान्'' इति एकं प्रत्यक्षम्. ''पर्वते वह्निः'' इत्यपि प्रत्यक्षम् अस्ति. अनयोः प्रत्यक्षयोः एतैः उक्तरीत्या वैलक्षण्यन्तु इदं भवति. एकं प्रत्यक्षं पर्वतविशेष्यकं वह्निप्रकारकम्. अन्यच्च प्रत्यक्षं वह्निविशेष्यक-पर्वतप्रकारकम्. एवञ्च प्रकार-विशेष्यभागे किञ्चिद् वैलक्षण्यम् अस्ति. तावदेव वैलक्षण्यम्. परन्तु ...

के.ई.देवनाथन् : ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिविषये भवद्भिः उक्तं ''स्मृतिः भवति'' इति. ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिः स्मृतिरेव भवति इति न निर्बन्धः.

प्रद्योतकुमार : प्रायशः तत् स्मृतिरेव.

डी.प्रह्लादाचार : सतु अन्यो विषयः.

के.ई.देवनाथन् : यत्रतु प्रथमतो विशेषणज्ञानं जातम्, इन्द्रियसन्निकर्षः च वर्तते तत्रतु विशिष्टज्ञानं यद् भवति तत्तु विशेषणज्ञानात्मकानुभवेन ज्ञानलक्षणाख्येन प्रत्यासत्त्यैव भवति.

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : तर्हि ''ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्'' इति कथं सेत्स्यति? स्मृतिस्तु ज्ञानमेव. तर्हि प्रमाणाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् एतेन भाव्यम्!

बलिराम शुक्ल : तेषाम् अयम् आशयो : यद् ज्ञानाकरणकं तत्र ज्ञानलक्षणाया: करणत्वम् अस्ति वा ?

प्रद्योतकुमार : तत्र व्यापारत्वम् अस्ति नतु करणत्वम्.

के.ई.देवनाथन् : करणन्तु इन्द्रियं सन्निकर्षो ... परन्तु सन्निकर्षस्तु... तत्र तु ज्ञानमेव सन्निकर्षो भवति. पुन:...

प्रद्योतकुमार : If I understood him correctly he has a couple of things to say. One, where do we stand in our understanding of the scientific explanation and the Śāstrik explanation of the same phenomena? Note that in science we are discussing a deferent type of perception and in Śāstra deferent type of perception that is not the question. The same given perception is understood or explained differently by the scientists and by our Śāstrakāras. And there comes a problem. Suppose there are two different sorts of explanations then we have to consider what is the relationship between them. Is it that one enriches the other? One cancels the other? What can be incorporated? We are speaking of the development of our Śāstras. And one test of the validity of Śāstra is that it should be able to incorporate, without contradiction, whatever the new findings are there in the sciences. In this connection he has refer to some conferences where scientists and philosophers really conversed. Here, first point to remember is this that only such discussion will become fruitful if we are addressing to the similar problem or trying to explain the

similar phenomena. He has given certain examples that are very common phenomenon. How do we perceive a particuler object? How deferently perceive object? Here he has brought some new scientific theories and aproaches. E.g. he has given Śabdāparokṣtva theory on the one hand and the brain-mind gape theory on other. Now, what happens, most of the things that are said by the scientists, we don't understand; and many things that we the philosopher say, they don't understand. Since I have been involved in so many such discussions, I have realized that we are not trained scientists and they, the scientists, are not trained philosophers. They go on speaking in their own way and we on our own. Since they are not trained philosophers, they are not being able to speak in language which we do understand. E.g. they use such expressions as Mind-Brain dichotomy. This is neither science nor philosophy. No scientist admits mind and brain separately. Mind in a European tradition invariably means the self. Only one reference to mind as a sense organ was there and their comment was : Mind as a sense organ is a misnomer. That is a scientific present theory. This is one point. What are you to do ? My suggestion is this. There are lots of scientific account of standard phenomena available. We should tray to understand them and reinterpret them in our own Śāstrik

language. But the things that are being said now a days is not the same thing. E.g. there is a standard physics of sound, there is a standard physics of light. We should go by that and note some computer scientist and neurologist saying that. The neurologists are not attending to the problem that we are attending here. E.g. we are attending to this problem, Śabdāparokṣatva-vāda. Meaning there by, we go by two types of experiences. One which is indirect, generated by the Śabda and one which is direct which is called perceptual. Now we are concern with the problem whether there is any such instance where we have reasons to believe that we have perceptual cognition. Though language plays the fundamental role. These type of question is not a scientific questions at all. Scientific question is a different kind of question. Namely how the sound is transmitted? And in respect of which he has brought a very beautiful theory which is to be pondered very carefully. So far we are thinking about sense organ as a receptors only but what he is suggesting with reference to some scientists that Indriyas are both receptor and transmitter at the same time. Now to say that is to understand that our understanding of the auditory sense organ is much grosser then that of scientists. If there is a theory that it is both the transmitter and a receptor then they must be having a deeper

and complex theory of the structure and function of what we call sense organ. Similarly on many occasions we have a complete different theory of several Indriya. Now for the scientists the Indriyas are most ... and the nerve cells. But we the Naiyāyikas know very well that these are only इन्द्रियस्थानं नतु इन्द्रियम्. इन्द्रियन्तु अतीन्द्रियम्, अप्रत्यक्षम्. So, unless we correlate these things it is not possible.

I would like to give one other suggestion to Achyutanand. While discussing all these things one thing you are not bringing in to. Two deferent models of Viśiṣta Jñāna. Earlier also we have referred only to Viśiṣta Jñāna. But there are various levels of Viśiṣta Jñāna. 1. Vaiśiṣṭyāvagāhi Jñāna 2. Viṣiṣta-vaiśiṣṭyāvagāhi Jñāna and so on. This is one thing. And another, two models, how we can have cognition of deferent things at the same time. One is you know "Khale kapota-nyāyaḥ" and the other is "विशेष्ये विशेषणं तत्रापि च विशेषणान्तरम्. So, if you have introduced these I think you can make some ...

अम्बिकादत्त शर्मा : While quoting Hugo Zuccarelli's view you have written that we do not here the sound that is outside but its reacted pattern inside. If it is so then what will be the explanation of Śabdavedhi-bāṇa. If it is so then Śabdavedhi-bāṇa will be targeted towards one's head!

अच्युतानन्द दास : The importance of my point that I didn't

discuss here was if we rethink on the Advaita Vedānta pattern, अन्तःकरणावच्छिन्न-वृत्तिचैतन्यम् एवं विषयचैतन्यम् इति अनयोः एकीकरणम् इति ते वदन्ति. They become one as they say. Perhaps modern scientific experiment goes to all most in a deferent way to the same thing i.e. the sound directly produced there. That is what we do not hear. We don't hear the sound which is being produced say one kilohertz or something. Something in an identical situation it recreates. And because of that only Śabda can capture the Śabda if I say very ...

गो. श्या. म. : That is why I again and again say Bhavati and Anu-bhavati. Just as Vadati and Anu-vadati. So, yad bahir bhavati tad antar anubhavati. Its a recreation but in a cognitive manner. Our mind recreates what is being happening outside as an external object.

प्रद्योतकुमार : The perception is always a reconstructed element.

अच्युतानन्द दास : Yes. That was my main point.

प्रद्योतकुमार : In perception what you all the time speak of was perception. We do not draw distinction between sensation and perception. But ... and every perception incorporates a reconstructional element.

अच्युतानन्द दास : That was the basic question from the beginning to the end and it was the reconstruction theory ....

वशिष्ठनारायण झा : In addition to the suggestions made by

Prof. Mukhopadhyay I have some further suggestions to be made. Now, when I say "this is a book" I have seen and I have said so. Vāgavyavhāra is preceded by perception. We should not come from Vāk to perception analysis. We should see that how the perception has been verbalized in language. All problems arise because of this. We are searching Adhikaraṇatā, where is Adhikaraṇatā? Had I not seen Adhikaraṇatā I would not have made this as Adhikaraṇa. So I had seen Adhikaraṇatā there and therefore I had made this as Adhikaraṇa. Now I have seen Adhikaraṇatā. Now what that Adhikaraṇatā consists of? I do not know. For that more and more information are necessary. I have seen this a book. But this book is blue. I have not said that the book is blue. So there are many information which consist of ... But once I have said "this is a book" I have identified there is bookness here. But what that bookness consists of requires list of information. And therefore if I say "this is a water", scientist will say "this is H_2O". Science is giving many more information, no doubt, they are to be incorporated in the structure. That is perfectly all right. And the next thing to be done there whether ... You see the systemes are not so loose. When you say "ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" each element has been defined. What is Jñāna? This Jñāna is not the reconstruction that

you think of is in the mind of Naiyāyika. So what we are doing is, we are taking a concept outside and trying to read that concept in the language that our Śāstra uses. It should be avoided. My only request is that whether you have to find fault that where there is a discrepancy within the system given the definition of a particular concept. So given the concept if there is a discrepancy that has to be pointed out. That can be improved upon. There is always chance. There the science will come to help us making more and more information to make more and more ...

......+......

postscript

A Response to the Debate on "Infrequently Asked Questions on Perception ..":

Achyutānanda Dash

In the very beginning, it will be worthwhile to summarize the points raised in the discussion by the scholars on my paper. They are as follows:

1) First of all the question was raised on the nature of relation between the 'mountain' (parvata) and 'fire' (vahni) in case of the perceptual cognitive instance of: (A) Parvato vahnimān vs (B) Parvate vahniḥ.

2) The next question comes on the mode of representation

of the same relation to the mind or in the cognitive structure of the perceptual cognition. The mode of presentation, I mean here is the sannikarṣa or what I call 'functional relation' in my paper. It may be noted here that the objective relation is saṃyoga in case of (A) and it is ādheyatā or adhikaraṇatā in case of (B).

3) There was no problem in perceiving the objective relation namely 'saṃyoga' (contact) as discussed in the paper, through the functional relation (sannikarṣa) viz. inherence in what is connected (saṃyukta-samavāya). And therefore, no question was raised on the mode of presentation of the functional relation in case of (A).

4) However the problem rose on the mode of representation of ādheyatā or adhikaraṇatā in the case of (B). There is no clear-cut explanation of this type situation in the tradition. No I do not want to say that the tradition had not thought over this type of cognitive situation, on the contrary it has every scope of solving every problem in its framework. It is left for us how to tackle it. My suggestion for the present problem was to take resort to jñānalakṣaṇā-pratyāsatti. And this was alarming to some of the participating scholars, possibly simply because this case was not directly taken up as a perceptual cognitive instance in the tradition. Though it appeared that Prof. Prahlladachar and Prof. Baliram Shukla wanted to give an explanation to the situation. But, they are overpowered by the others and finally the issued was diverted to other direction.

5) In this context the 'mind-brain-gap-theory' of the modern

science came up for discussion, and finally Prof. Pradyota Kumar Mukhopadhya remarks and I quote "The perception is always a reconstructed element" to which I agreed. Here, I would like to draw the attention of the scholars again to the reconstruction theory of the modern scientists as remarked by H. S. Subrahmanyam:

"We often begin with simple perception and then work backwards to reconstruct the full perception out of its elements. When we look we are not looking with our eyes, we are looking with our mind (past experience). Perception is not passive. It is an active construction. It is multidisciplinary - physical, physiological, psychological and metaphysical."[1]

H. S. Subrahmanyam very clearly states that we start with 'simple perception' and then go further to reconstructing 'full perception' through the mind (past experience).

6) Couple of other issues were also raised during the discussion and they are (i) the śabdāparokṣa - theory and (ii) the validity of the definition of pratyakṣa i.e. "jñānākaraṇakam jñānam" as given by Gaṅgeśa in his magnum opus - Tattvavintāmaṇi.

All these issues, if collectively taken for reassessment, then there can be seen an ekasūtratā at a point where the primacy of perception is challenged and possibly Indian tradition as a whole do not agree with. The Vaiyākaraṇas and the Vāllabhas as has been pointed out in my paper do not accept the primacy of perception, whereas the others including the

nāstikas (Buddhists, Jains and Cārvākas) accept its primacy. Intellectually speaking it hardly matters, which cognitive instance is primary one and which is the secondary one. However, as far as the epistemology is concerned - (i) the elements of a cognitive instance (sāmagrī), (ii) the objective relations between the elements, (iii) the causal factors i.e. the kāraṇas, (iv) the mode of representation or the functional relations (sannikarṣa), and finally (v) the cognitive structure - are the factors of perception, which cannot be ignored. Moreover, the issue throughout the tradition we find being hotly debated that: which perception is the 'real perception'? In other words, technically speaking, whether (i) the non-linguistic and non-conceptual perception i.e. nirvikalpaka pratyakṣa is the 'real perception' or (ii) the linguistic, conceptual and thus judgmental perception i.e. savikalpaka pratyakṣa is the 'real perception' or (iii) both are true and there is a hierarchy in between them? These are the three broad spectrums of the theory of perception in Indian tradition and to my mind the modern theory of perception can be accommodated in these three as well. Almost all the schools of Indian epistemology play their game in this triangular field with the help of the above five factors for establishing the distinct identity of their respective schools from the others.

However, for the sake of re-treatment of the traditional viewpoints, we need to look into them afresh from a different dimension. The traditional controversy is centered on the primacy / dependency / hierarchy of nirvikalpaka pratyakṣa vs savikalpaka-pratyakṣa. I do understand the significance of

the traditional approach for the assessment of the perceptual cognitive instance, but for the sake of its reassessment what I feel is, we need to start with **'simple perception'** to **'complex perception'.** When I say 'simple perception', I mean a simple perceptual cognitive instance arising out of minimum factors based on sense-object-contact (SOC) = indriya-artha-sannikarṣa. The scientists of course say that one has to start with 'simple perception' to reconstruct the 'full perception' and possibly they also mean to start with the minimum factors of SOC and then to go on to accommodate as many factors as required with a multidisciplinary approach - physical, physiological, psychological and metaphysical so on and so forth - as the situation may demand and that will end in a 'complex perceptual cognitive event' which is called a 'reconstructed element'.

In the tradition, whenever we look into the six perceptual functional relations (ṣaḍvidha-sannikarṣa)[2] we can say that these are the six instances of simple perceptions, since there is one-to-one SOC that give rise to 'a single-object-perceptual-cognitive-event'. For instance:

(i) When we have the perception of a substantial element like 'a jar' through our 'eyes', the perceptual instrument, with the help of the perceptual functional relation called saṃyoga (contact), it is an instance of 'simple perceptual event' where the factors involved are: (a) 'eye', the only instrument, (b) 'jar', the only object and (c) saṃyoga (contact), the only perceptual functional relation (sannikarṣa).

(ii) In the similar manner when we have the perception of

the colour etc. of a 'blue jar', the factors involved are: (a) the 'eye' i.e. the instrument, (b) the colour etc. ('blue' in present case) i.e. the object and (c) saṃyukta-samavāya (inherence in what is connected) i.e. the only functional relation and that gives rise to the 'simple perception of the color, blue in present case, that resides in a substantial element like the jar etc. Through this functional relation we can perceive the elements like guṇa, jāti and kriyā or karma famous categories in the Nyāya-Vaiśeṣika system. It may further be noted here that though the sannikarṣa (the functional relation) is a complex one, still technically speaking the perceptual event is a simple one.

(iii) In the same manner we can see the generic property of a particular color like 'blue-ness' in the 'blue-color' through the functional relation called 'saṃyukta-samaveta-samavāya' (inherence which is inherent in what is connected).

(iv) The śabda is perceived through the functional relation called 'samavāya' (inherence).

(v) The śabdatva-jāti is perceived through the functional relation namely samaveta-samavāya (inherence in what is inherent) in Nyāya-Vaiśeṣika system.

(vi) The absence (abhāva) of a jar etc. is perceived through the functional relation called viśeṣaṇatā or saṃyukta-viśeaṇatā (cognitive qualifier-ness in what is connected).

These six cases of perceptual cognitive instances, in my view, are the instances of 'simple perception', because each of these not only requires minimum factors of the cognitive events but also it follows straight SOC mechanism without

inviting other inputs like physiological, psychological and metaphysical etc. required for 'full perception'. In other words, the single object perception as narrated above yields a 'simple perceptual event' whereas multiplicity of factors those include the five factors stated above and the others namely the psychological, social, sociological, cultural, metaphysical and some time transcendental factors as per the demand of the situation together give rise to a **'complex perception'.** It may be noted here that loka-vyavahāra is the empirical result of perception and the so-called 'simple perception' is hardly useful for loka-vyavahāra. When I took up the instances of (A) Parvato vahnimān vs (B) Parvate vahniḥ for examining the perceptual cognitive mechanism and cognitive structures, the question came up for defining the mode of representation of the perceptual functional relation (sannikarṣa) for grasping / seeing ādheyatā or adhikaraṇatā. In fact what was in my mind was to address the 'complex perceptual instances', which I did not spell out openly. The tradition is almost mum on this issue. Multiple examples can be cited on the complex perceptual events and the questions will be only on the mode of representation of the cognitive functional relations, nothing else. What I mean is it not necessarily on grasping the entities concerned for perception, because, the tradition is very clear on that aspect. The problem arises not only on the mode of the representation of the 'cognitive functional relations' but also making the 'entities' and the 'relations' associated into a single integrated whole. The satisfactory way out will be available if and only if we take the modern

scientific theory of 'reconstruction' into account. Now the problem in the traditions will be - can we count for the justifiability of such perceptual events being well within in the framework of the tradition? To me, the reply is 'Yes', only if we take / understand / interpret the tradition in a broad prospective. I, therefore, had suggested to count for 'jñānalakṣaṇā-pratyāsatti' as the perceptual functional relation for seeing 'ādheyatā / adhikaraṇatā' for the 'complex perceptual situation' like (B). Well it is left for scholars to accept it or not; or try to suggest other mode of representation. Well someone may suggest a seventh sannikarṣa if he or she accepts 'ādheyatā' or 'adhikaraṇatā' as an independent padārtha over and above the famous seven padārthas accepted in Nyāya-Vaiśeṣika system. The question will remain on 'how to integrate' the entities and the relations in a sequence to make an 'integrated whole' of the perceptual cognitive instance? And here I feel we need to go for the 'reconstruction theory'.

Now let us think on the 'reconstruction theory' of perception and its justifiability in the traditional framework. Reconstruction of perception would mean 'SOC + recollection of past experience'. Recollection of past experience certainly means input from mental repository, which is linguistic as well as conceptual and judgmental. If this is accepted then the reconstruction theory of perception is nothing but another name for 'savikalpaka-pratyakṣa', that is acceptable to most of the traditional schools of Indian epistemology. The main problem in Indian tradition is : what to be counted for the

'real perception'? Whether it is the nirvikalpaka-pratyakṣa or the savikalpaka-pratyakṣa We have already pointed out that there will be only three possibilities and whole the tradition is entangled with the problems rising within those only. To my mind, it all started probably with the Nyāya-sūtra of Gotama when he defines pratyakṣa as: "indriyārtha-sannikarṣo-tpannam jñānam avyapadeśyam avybhicāri vyavasāyātmakam pratyakṣam" (NS. 1.1.4). Though there are a lot of controversies found in interpreting this sūtra, scholars are of the opinion that this sūtra defines both, nirvikalpaka as well as savikalpaka perception. The sūtra ending in avyapadeśyam defines the nirvikalpakam whereas along with the rest of the words in the sūtra defines the savikalpakam. If the sūtra is taken to be framed only with the terms as indriyārtha-sannikarṣotpannam jñānam avyapadeśyam, it would mean 'the cognitive instance which is non-linguistic and which is caused by SOC is called perception, and it will be 'real perception' or 'pure perception'. The 'reality' or 'purity' of perception was more emphasized in the Buddhist tradition taking only SOC into account[3]. For instance Diṅnāga defines pratyakṣa in terms of "sva-saṃvin-nirvikalpakam pratyakṣam **śuddha-vastujam**"[4]. Even in Mīmāṃsā tradition, the purity of perception is emphasized. Kumārila Bhaṭṭa says:

"asti hy ālocanājñānam prathamam nirvikalpakam /
Bālamūkādi-vijñāna-sadṛśam **śuddha-vastujam** //" (Kā. 112)

It may be noted here that Kumārila and Diṅnāga are using the same term **'śuddha-vastujam'** for defining pratyakṣam

(perceptual cognition), and does it not say in volume on the perceptual cognitive instance and its mechanism? What is **'śuddha-vastujam'**? Many in the tradition define the perception in the same tone. Without going into multiplying the citations, it will be just enough to say that the 'purity' (śuddhatā) of perception was emphasized on account of its 'true nature' i.e. SOC, that would distinguish it from other cognitive instances like inference, or analogous, or verbal testimony etc. So far so good, however, the question arises that: does it make any sense apart from upholding a technical point? Is it not the case that a cognitive instance has its culmination in loka-vyavahāra and thereby its validity is established? Well, without going into the validity aspect at this stage let us concentrate only on the 'purity' **(śuddhatā)** of perception. It seems that throughout the tradition starting from Sūtrakāra Gotama to the trend of Navya-Nyāya almost everyone is struggling to uphold its so-called 'purity' and distinct identity. If we take the purity of perception is established only on SOC (indriyārthasannikarṣotpannam jñānam) then essentially it will be an instance of 'indeterminate perceptual cognition' (nirvikalpakam jñānam) and it will be non-conceptual and non-linguistic. As and when the object of the indeterminate perceptual cognitive instance (i.e. the nirvikalpakam jñānam) is added with 'a name' and its 'generic property' then only it becomes the determinate perceptual cognitive instance (i.e. the savikalpakam jñānam), which becomes vyavahārāṅga. Up to this point everyone seems to be agreeing within the tradition. However, the Buddhists, who accept the indeterminate

perceptual cognition (i.e. the nirvikalpakam pratyakṣa) alone as the 'real perception', emphatically say that 'the name' (nāma) and 'the generic property' (jāti) etc. do not come under the purview of SOC alone, and the cognitive mechanism is extended beyond that. To them whatsoever falls beyond the purview of SOC, that is called kalpanā, essentially referring to the mental input, that cannot be 'pure perception' since it is not **'śuddha-vastujam'**. The Buddhists therefore, define the **'śuddha-vastu'** (pure entity) in terms of 'svalakṣaṇa' and they are indeed exclusive purist as far as the perception is concerned. The Naiyāyikas, on the other hand, accept jāti / sāmānya (the generic property) as part and parcel of the vyakti (individual entity). However, for them, jāti or sāmānya (the generic property) is a separate category of entity (padārtha) and it either can be perceived through the saṃyukta-samavāya (inherence in what is connected) sannikarṣa or it can be seen by sāmānya-lakṣaṇā-pratyāsatti[5] i.e. the cognition of general pattern acting as the cognitive functional relation. Then the question comes now: how an entity / element /individual (vyakti), for instance ghaṭa-vyakti (a jar) is seen? To decide the perceptual procedure we need to know 'what is a jar'? (A) Is it just a shape ākṛti (made up of some matter, say - earth, gold, silver, so on and so forth)? (B) Is it a shape along with its generic property 'jar-ness' (ghaṭatva)? (C) Does it come along with the relation (sambandha) as well? In Nyāya system there is no uniformity in defining 'a jar'. Some think it is only (a) the 'shape', the individual; some think it is (b) the individual along with

its generic property (ghaṭatva-viśīṣṭa-ghaṭaḥ), some even go to the extent of associating (c) the 'relation' along with the individual as well as its generic property. Depending upon the nature of the entity the perception would generally differ. However, if someone thinks of examining the Nyāya-Vaiśeṣika texts to find out what is the 'object' of nirvikalpaka-pratyakṣa, one would expect that he / she will find only '(a)' as an instance of it; but when '(b)' & '(c)' are also found as the 'objects' of nirvikalpaka-pratyakṣa, then certainly one will feel surprised. The question will haunt him / her that: what is the difference between the nirvikalpaka and savikalpaka perception? The only difference, it seems in the tradition, between nirvikalpaka and savikalpaka lies on the integrity (sambaddhatā) or disintegrity (viśakalatā) of the entities namely vyakti, jāti and saṃbandha through their appropriate relations[6]. We will come to this point latter on. But one should ponder on: why this has happened in the system? It is clear that this has been started during the period of Navya Nyāya. Our reverent teacher Pt. T. S. Shrinivas Shastri-gal says that this has been started during the time of Śaśadhara[7], the real father of Navya-Nyāya. The issue and the logic behind all that in the tradition is very vast and everything cannot be accommodated here. However, it can be said here that, even if all that is taken for granted, it will certainly be a wonderful instance of inclusivism and even though we tolerate it, the question will be - what will happen to the purity (śuddhatā) of perception? If someone argues that since a dravya (an entity) for instance 'ghaṭaḥ' (a jar) in the case

of perceptual cognitive instance, means the integrated whole of 'ghaṭatva-samavāya-ghaṭa' and all these together is a single entity (vastu), and therefore, the 'purity' is maintained as far as the śuddha-vastujatvam of SOC is concerned. In that case the problem will be: what is the cognitive functional relation (sannikarṣa) to the integrated whole of 'ghaṭatva-samavāya-ghaṭa'? Is it a single one or multiple one? Can it be samyoga alone or saṃyukta-samavāya alone or saṃyukta-viśeṣaṇatā alone? Else can we think of still having yet another complex functional relation taking all these three together? Or is there a different way out? OK, now for the sake of clarity, let us examine whether 'ghaṭatva' the jāti and samavāya, the sabandha can be incorporated into nirvikalpaka-pratyakṣa or not. What is a jāti or sāmānya The Nyāyakoṣaḥ gives a simple definition of sāmānya as: anugato dharmaḥ i.e. the property, which is found in continuity in a series of entities. How to understand anugatatva 'being in continuous'? It is good that the Naiyāyikas leave nothing undefined. Here, Gaṅgeśa, the founding father of Navya Nyāya, himself comes in our help, who defines anugatatva as "pūrva-vyakti-vṛttitve sati etad-vyakti-vṛttivam anugatatvam iti. tatra **pūrvānubhūta**-vyakter viśseṣaṇatvena tatra jñānasya anugatatva-pratyakṣe kāraṇatvāt"[8]. It simply means that the continuity in knowledge comes in a sequential form first to second, only if the first forms the part of past experience. Now the question is how sāmānya (ghaṭatva in present case) in that sense will become an object of 'instant perception', I mean nirvikarlapa-pratyakṣa? Because, jāti which is a 'property

in continuity' comes along with the past experience and that cannot be counted for 'instant perception' which is non-relational and non-conceptual. In similar manner, if we closely examine the sambandha for clear understanding, I doubt if that can be considered to be part of 'instant perception', for sambandha (relation) itself is a relative term and no one can conceive a 'relation' without imagining the correspondent 'relatives' (sambandhins)[9]. In that sense, it means without relating to the 'relatives' no relation can be conceived. And thus, how the 'relation' can appear in the nirvikalpaka-pratyakṣa? Therefore, it is simply inconceivable to include the sāmānya and samavāya in the frame of 'instant perception' i.e. the nirvikalpaka-pratyakṣa. Moreover, the greater problem will be of classification of Nyāya-Vaiśeṣika categories! The question will be: why to count sāmānya (jāti) and samavāya are separate / independent categories altogether, since they are incorporated into a single entity and are also seen by a single perceptual functional relation? Is it not a very serious challenge for the Nyāya-Vaiśeṣika system? It seems to me that they have taken this serious risk just for the sake of the justifiability of savikalpaka-pratyakṣa, which in turn is caused by nirvikalpaka-pratyakṣa[10], and that is vyavahārāṅga as well. It must at this stage be born in mind that we have been taking about the nirvikalpaka-pratyakṣa, the indeterminate perception so far, which is neither valid nor invalid[11], and which in our terminology is an instance of 'simple perception'.

The savikalpaka-pratyakṣa, i.e. the determinate perceptual cognitive instance, therefore, is taken to be valid on account

of its application in practical life. It no doubt is in a complex form. The complexity is caused not only by the integration of the disassociated entities like vyakti-jāti-sambandha seen in nirvikalpaka-pratyakṣa, but also it gets a name and other mental inputs if the situation demands so. The savikalpaka-pratyakṣa in other words is an 'integrated whole', it is thus called 'conceptual', 'linguistic' and 'judgmental'. This in our opinion is a 'complex form of perceptual cognitive event' or simply speaking **'complex perception'**. The 'complex perception' is known in the tradition as 'viśiṣṭajñānam' (qualified cognitive instance).

The viśiṣṭajñānam i.e. the qualified cognition arises variously and the tradition discusses them elaborately, which we need not go into the details here. The only point that may be underlined here is that - it requires the minimum occurrence of the 'qualifier', the 'qualificand' and the 'relation' in between them. The instances may be taken as stated above in '(A)' and / or '(B)'. We have already discussed in detail on how the perception of (B) Parvate vahniḥ is caused in the main paper, and I need not go elaborate it again here. Without going into more complexities involved in this case, let us think that there are only three 'entities' (a) parvata, (b) vahni and (x) adhikaraṇatā, where (a) and (b) are qualifier and qualificands respectively, the (x) is a relation. The question is whether we see all these simultaneously or sequentially, in an order? The Nyāya system would prefer the sequential order[12] and the knowledge of qualifier always form the part of 'past experience', or mental input (smṛti) by the time

one gains the knowledge of 'complex perception'. Then it (the complex perception or the savikalpaka-pratyakṣa) obviously becomes a pratyabhijñā type perceptual cognitive instance, because pratyabhijñā? is partly 'direct' and partly 'remembrance'[13]. The pratyabhijñā is a fit case of 'reconstruction theory' of perception. The Naiyāyikas cannot accept perceptual cognition to be 'pratyabhijñā' only at least not by the same name, because that will disturb the whole theoretical and conceptual framework of Nyāya-Vaiśeṣika system. Gaṅgeśa seems to be struggling to settle the problem of pratyabhijñā and somehow incorporating the 'mental input' (smṛti) into the system. At the same time the problem for Gaṅgeśa was to authenticate and re-establish "jñānākaraṇakam jñānam pratyakṣam" - as the most suitable definition of perception that he had proposed in his TC[14]. At this stage again without going into the details given in the Tattva-Cintāmaṇi of Gaṅgeśa, it will be convenient for me and acceptable to all the shastric scholars to refer to my reverent teacher Prof. Ramanuja Tatacharya, who is one of the tallest Naiyāyikas of our time, to see how he has summarized the issues under the sub-title - 'Pratyabhijñā-vimarśaḥ' of his work - Pratyakṣa-Tattvacintāmaṇi-Vimarśaḥ. Introducing the nature of pratyabhijñā, and citing the famous instance of 'surabhi candanam' he says that Gaṅgeśa accepts pratyabhijñā as an instance of qualified perception[15]. Prof. Tatacharya, thereafter, cites the views of Vacaspati Mishra and Udayanacharya in support of this view[16]. Then Prof. Tatacharya says and I quote "iyam eva smṛti jñānalakṣaṇapratyāsattitvena maṇikṛtā

vyavahriyate' - the smṛti comes into the picture of a 'complex perception' through jñānalakṣaṇa-pratyāsatti and he authenticates it to be the final opinion of Gaṅgeśa. Though I did not see this text at the time of writing my main paper for the seminar, this is what was my contention of introducing jñānalakṣaṇa-pratyāsatti and I hope this should convince the scholars.

Now the problem comes on justifying the definition of perception i.e. "jñānākaraṇakam jñānam" that is so dear to Gaṅgeśa. For that also Prof. Tatacharya has given a very logical and convincing interpretation, which indeed was intended by Gaṅgeśa himself. Let us look into that. After emphatically establishing the fact that pratyabhijñā was nothing but an instance of qualified perception[17], he says that the definition should be interpreted as '**jñāna-akaraṇakam** jñānam pratyaṣam' but not '**jñāna-akāraṇakam** jñānam pratyaṣam'. As far as the smṛti is concerned, it is no doubt is a **kāraṇa** (causal factor), but it cannot be the **kāraṇaa** (most effective means), because, smṛti cannot have any vyāpāra, immediately after which the perceptual cognitive instance would come into being[18]. Moreover, if the smṛti is taken to be kāraṇa then, it being referring to the 'past experience' the pratyabhijñā or the 'complex perception' in that matter would be an instance of parokṣa (other than perception) but not pratyakṣa. Therefore, citing the views of Udayana, to which Gaṅgeśa fully agrees[19], Prof. Tatacharya says that it is the indriya[20], which is the kāraṇa but not the smṛti (memory input) and thus there will be no problem of justifying the definition: '**jñāna-akaraṇa-**

kam jñānam pratyaṣam'. This clearly means that smṛti is one of the kāraṇa-sāmagrī-s (causal factors) of 'complex perceptual event' and a close examination of the whole situation would lead us to conclude that it is nothing but a 'reconstruction'. Without the memory input neither the pratyabhijñā nor the complex perceptual cognitive event would arise. As and when the 'memory input' and the 'direct perception' are assembled together, the perceptual cognitive event arises, which is applicable in practical life. The justification of the said definition is just technical one and that does not reject the 'reconstruction theory of perception'. The 'mind-brain-gap-theory' of the modern scientist can be re-interpreted as 'mind-brain-incorporation-theory' as such, and if it is considered in this situation there will be no problem in the shastric tradition at all. The modern science has developed many sophisticated instruments that no doubt help us in understanding the natural phenomena more clearly and distinctly. Taking help from the modern scientific developments, it will be desirable for us to reinvestigate the shastric stands on different theoretical aspects in one hand and to reinterpret the śāstras to see and judge the strength and power of the logic of the ancient Indian intellectuals on the other hand. That will make us feel proud of them, and to my mind we will not feel ashamed at any stage if we take the whole of Indian intellectualism as the outcome of a healthy living tradition, that is not meant for making different and independent schools like water-tight-compartments. Moreover, I feel, if one closely looks the theoretical developments those overlaps the whole

tradition breaking the barriers of the so-called schools, one will be happy to note that the findings of the ancient Indian intellectuals are very close if not exactly the same to the findings of the modern science. So why not open the doors of our mind?

The discussion on my paper has taken up another issue on śabdāparokṣa-vāda. To my mind this is also a serious matter of debate in the śāstras and I wish to write a separate paper on this issue alone. This issue to my mind has the potentiality to change the line of thinking on the whole of Indian epistemology, especially on the causality and the cognitive structure.

Notes and References:

[1] H. S. Subrahmanyam, 1986, "Physiology and Psychology of Perception', SENSE PERCEPTION IN SCIENCE AND ŚĀSTRA, Ed. By T. M. Srinivasan and B. G. Shreelakshmi, Pub. Sri Sharada Trust, Sringeri. p.70

[2] cf. "saṃyogena dravya-grahaḥ, saṃyukta-samavāyena rūpa-karmaṇor grahaṇam, saṃyuktasamavetasamavāyena rūpatvādeḥ, samavāyena śabdasya, samavetasamavāyena śabdābhāvasya, samavāya-ghaṭṭābhāvāder yogya-indriyasambaddhaviśeṣaṇatayā sannikarṣād eva graho na sannikarṣamātrāt" TC. Vol. I. P. 572-576.

[3] Cf. Vasubandhu' definition "tato'rthāt jātam vijñānam pratyakṣam" (Pramāṇasammuccaya 15). Diṅnāga also defines

pratyakṣa in terms of "pratyakṣam kalpanāpoḍham nāmajātya-dy-asaṃyutam" (PS. 3). Dharmakīrtti also speaks in the same tone "kalpanāpoḍham abhrāntam pratyakṣam" (Nyāya-Bindu 1.4).

[4] Pramāṇasammuccaya 3.

[5] "sāmānya-lakṣaṇam ity atra lakṣaṇa-śabdasya viṣayo 'rtha tena sāmānyaviṣayakam jñānam pratyāsattir ity arthao labhyate" NSM. on Kā. 64, p. 277)

[6] Prof. Ramanuja Tatacharya concluding the discussion on **nirvikalpaka-vāda** says: "atredam tattvam. viśeṣaṇa-jñānatvena sidhyad api nirvikalpakam na viśeṣaṇabhūta-ghaṭatvādi-mātram. api tu viśeṣyam ghatādikam (viśeṣaṇam ghatatvādikam) samavāya-rūpam saṃbandham ca viṣayīkaroti. tathā ca nirvikalpake ghaṭaḥ ghaṭatvam samavāyaś ceti tritayam viṣayaḥ. triṣv api indriya-sannikarṣasya sadbhāvena ghaṭatvamātram viṣaya ity atra niyāmakābhāvāt. param tu tritayam api viśakalitatayā bhāsate. atas tatra prakāra-viśeṣya-bhāvo nāsti. ata eva prakāratā-śūnyatvam viśeṣyatā-śūnyatvam saṃsargatā-śu-nyatvam ca brūvate navīnatamā naiyāyika." Pratyakṣa-Tattvacintāmaṇi-Vimarśaḥ, by Ramanuja Tatacharya, Rastriya Sanskrit Vidyapeetha, Tirupati, 1992, p. 330.

[7] See his paper on "Savikalpaka-Nirvikalpaka-vicāraḥ", Pub. In Unmīlan, (Vo. 14. pt. 1) ed. By Yashdev Shalya and Mukund Lath, Darshan Pratisthan, Jaipur, Jan. 2000. p. 64.

[8] TC. Vol. I. P. 569.

[9] Cf. (a) sambandhibhinnatve sati sambandhyāśritaḥ, (b) svabhi-nna-sambandhyāśritaḥ, svabhinna-pratiyogika-padārthaḥ, (c) sambandhatvam ca yatkiñcit-padārthānuyogikatva-viśeṣaḥ.

Nyāyakoṣa, p. 920.

[10] Cf. "kiñca nirvikalpakābhāve savikalpakam jñānam eva nodetum arhati" ibid. p. 60.

[11] Cf. "nirvikalpakam na pramāṇam nāpy apramāṇam ..."

[12] Because, the mind in Nyāya system has been taken to be 'atomic' in size. It can be connected to one indriya at a time. One should see the discussion the details in 'Mano'ṇutvavādaḥ' in TC.

[13] "Indriyasahakṛta-saṃskārajanya-jñānatvam pratyabhijñā" cf. Nyāyakoṣa, p. 543.

[14] "jñānākaraṇakam jñānam iti tu vayam" TC. Vol. I. p. 552.

[15] Cf. "tathā ca tattā'ṃśe alaukika idamtā'ṃśe laukikam ca ekam viśiṣṭa-pratyakṣam pratyabhjñā iti maṇikārā nirūpayanti" Pratyakṣa-Tattvacintāmaṇi-Vimarśaḥ, (PTV) by Ramanuja Tatacharya, Rastriya Sanskrit Vidyapeetha, Tirupati, 1992, p. 341.

[16] "Tātparyaṭīkāyām Pariśuddhau ca pratyabhijñā pratyakṣam ity eva nirūpitam" ibid. p. 341.

[17] "sarvathā maṇikārāḥ pratyabhijñāyāḥ pratyakṣatvam eva ātiṣṭhante" ibid. p. 343.

[18] Cf. "yad vyāpārād anantaram phalotpattis tat karaṇam" - "vyāpāravad asādhāraṇam kāraṇam kāraṇam".

[19] "ayam ca viṣayo yathā maṇau vartate tathā tātparyaṭīkāpariśuddhāvapi vartate" PTV. p. 344.

cf. "viśiṣṭa-pratyakṣe ca viśeṣaṇa-jñānam na kāraṇam vyāpārābhāvāt. viśiṣṭa-vaiśiṣṭya-pratyakṣe ca viśeṣaṇajñānam hetur na tu viśeṣaṇa-viśeṣaṇa-dhīr api, viśeṣaṇa-dhī-dvārā karaṇam

mānābhāvāt. pratyabhijñāyām tu tattā-smṛtiḥ**kāraṇam** na(?) tu saṃskāradvārā anubhavaḥ **kāraṇam**, tasyāḥ saṃskārajanyatve smṛtitvāpatteḥ. smṛtitve lāghavena saṃskāra-janyatvasya tantratvāt taddhetutvenaiva tatsiddheś ca'' TC. Vol I. p.552 - 555.

[20] Here Prof. Tatacharya cites a statement from Nyāya-Kusuma-ñjalī of Udayana "kāraṇ'ntara-nirapekṣeṇa saṃskārādhika-sannikarṣavatā indriyeṇa janitatvāt''. Ibid. p. 344.

प्रत्यक्षप्रमाणविषये विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः प्रस्थानरत्नाकरसरणिः च

डॉ. के. ई. देवनाथन्

विशिष्टाद्वैतिनः प्रत्यक्षमनुमानमागमः इति प्रमाणत्रयं स्वीकुर्वन्ति. तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणं किंरूपम्? तस्य कार्यभूता प्रत्यक्षप्रमा किंरूपा? इत्यादिकं सामान्यतो निरूप्य प्रस्थानरत्नाकरस्य विशिष्टाद्वैतिनां च सादृश्यं वैसादृश्यं च यथामति निरूपयितुं प्रयते.

प्रत्यक्षलक्षणम् :

ज्ञातकारणजज्ञानस्मृतित्वरहिता मतिः।
अपरोक्षेति निष्कर्षे नाव्याप्त्यादिप्रसञ्जनम्॥
(न्यायपरिशुद्धौ का.६९) इति.

वेदान्तदेशिकाः प्रत्यक्षप्रमां लक्षयामासुः. तेषाम् अयम् आशयः : साक्षात्कारित्वं जातिः. तद् यदि उपाधिरूपं स्वीक्रियते तदा ''ज्ञायमानत्वावच्छिन्नकरणतानिरूपकत्वशून्यत्वे सति स्मृतित्वशून्यत्वे सति ज्ञानत्वं'' प्रत्यक्षप्रमायाः लक्षणम्. स्मृतेः वारणाय ''स्मृतित्वशून्यत्वे सति'' इति. अनुमितिशाब्दबोधयोः वारणाय ''ज्ञायमानत्वावच्छिन्न...''इत्यादि दलम्. इन्द्रियस्यापि ज्ञायमानत्वं कदाचित् सम्भवतीति प्रत्यक्षे अव्याप्तिः स्यात्. अतो 'ज्ञायमानत्वावच्छिन्नं' करणतायां विशेषणम्.

''इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यज्ञानत्वं'' लक्षणम् इति उक्तौ ईश्वरप्रत्यक्षे अव्याप्तिः, ''वैशद्यापरपर्याय-लौकिक-विषयता-निरूपक-ज्ञानत्वस्य'' लक्षणत्वे च ''वृक्षे-वृक्षे च पश्यामि'' इत्याद्युक्तस्मृतिविशेषे अतिव्याप्तिः. एवञ्च उपर्युक्तं लक्षणं निर्दुष्टमेव.

प्रत्यक्षप्रभेदाः :

इदं प्रत्यक्षं नित्यम् अनित्यं च इति द्विविधम्. परमेश्वर-नित्यसूरि-प्रत्यक्षं नित्यम्. अस्मदादीनां प्रत्यक्षम् अनित्यम्. तच्च द्विविधं : योगिप्रत्यक्षम् अयोगिप्रत्यक्षं च. योगिप्रत्यक्षं प्रकृष्टादृष्टविशेषजन्यम्. सञ्जयार्जुनप्रभृतीनां मुक्तानां च प्रत्यक्षं योगिप्रत्यक्षमेव.

विषयेन्द्रियसम्बन्धो - द्रव्येषु संयोगः इन्द्रियाणां सम्बन्धः. द्रव्याश्रितरूपादिषु संयुक्ताश्रयणं सम्बन्धः. आश्रयणं च अपृथक्स्थितिरेव. नतु समवायः, तस्य अनंगीकारात्. उक्तं च तत्त्वरत्नाकरे

अत्र वृद्धा विदामासुः संयोगं सन्निकर्षणम्।
संयुक्ताश्रयणं चेति यथासम्भवम् ऊह्यताम्।। इति.

सिद्धान्ते मानसप्रत्यक्षं न स्वीक्रियते. आत्मनः तद्धर्माणां ज्ञानसुखादीनां ग्रहणार्थं हि नैयायिकादिभिः तत्स्वीकारः. आत्मनः स्वप्रकाशत्वात्, ज्ञानस्य तद्धर्मस्यापि स्वप्रकाशत्वात् सुखादीनां च अवस्थाविशेषविशिष्टज्ञानात्मकत्वाच्च. एवञ्च प्राथमिकं प्रत्यक्षं "अहं घटं जानामि" इत्याकारकमेव भवति इति सम्प्रदायः.

प्रत्यक्षं निर्विकल्पकं, सविकल्पकं चेति द्विविधम्. संस्कारसहकृतेन्द्रियजन्यं ज्ञानं सविकल्पकम्. यथा गोत्वादौ अनुवृत्तत्वावगाहि "अयमपि गौः" इत्यादिज्ञानम्. संस्कारनिरपेक्षेन्द्रियजन्यज्ञानं निर्विकल्पकम्. "अयं गौः" इति ज्ञानं निर्विकल्पकमेव. नहि सर्वथा निष्प्रकारकं ज्ञानं सिद्धान्ते स्वीक्रियते. निर्विकल्पकं नाम केनचित् धर्मविशेषेण वियुक्तस्य ग्रहणम् इति भाष्यम्. अल्पधने पुरुषे धनशून्यत्वपर-'दरिद्र'शब्दप्रयोगाद् अनुवृत्तत्वानवगाहिनि प्रत्यक्षे निर्विकल्पकव्यवहारः.

ज्ञानस्वप्रकाशत्ववादे "इमां गां जानामि" इति निर्विकल्पकाभिलापः.

"इमामपि गां जानामि" इति सविकल्पकाभिलापः इति मन्तव्यम्.

सर्वं ज्ञानं विशिष्टविषयकमेव इति सिद्धान्तः :

ननु "घटोऽस्ति" इति ज्ञाने सद्रूपं घटादिरूपभेदः च प्रतीयते. कथं घटादेः भेदरूपत्वम्? इति न शंक्यं, व्यतिरेकित्वात्. सर्वेषां व्यतिरेकिधर्माणां स्वभाववद्भेदरूपत्वस्य सर्वसम्प्रतिपन्नत्वात्. सद्रूप-भेदयोः न ऐक्यं सम्भवति, प्रतियोगिनिरपेक्षत्व-तत्सापेक्षत्वरूपविरुद्धधर्माध्यासेन भेदावश्यंभावात्. एवञ्च इदं प्रत्यक्षज्ञानम् उभयग्राहि वा अन्यतरग्राहि वा? उभयग्राहित्वपक्षे किं क्रमेण उभयग्राहि वा उत युगपत् तथा इति विकल्पः? क्रमेण उभयग्राहित्वं प्रत्यक्षज्ञानस्य न भवति, तथात्वे क्षणिकस्य प्रत्यक्षस्य विरम्यव्यापारस्वीकारप्रसंगः. भेदस्य सतश्च युगपद्ग्राह्यता न सम्भवति. भेदग्रहणात् पूर्वं प्रतियोग्याश्रयज्ञानयोः अपेक्षितत्वात्, सद्ग्रहणस्य च तदनपेक्षत्वात्. प्रत्यक्षम् अन्यतरग्राहि इति पक्षेऽपि निराश्रयभेदग्रहणासम्भवात् सन्मात्रविषयकत्वमेव तस्य परिशेषसिद्धम् इति प्रत्यक्षं निर्विशेषविषयकमेव इति चेत्, न, एतादृशविकल्पस्य भ्रान्तिरूपे भेदविकल्पेऽपि समत्वात्. नच भ्रान्तेः उभयग्राहित्वाभावेऽपि क्षतिविरहः, प्रत्यक्षेणैव स्वरूपस्य ग्रहणात् भ्रान्तेः भेदमात्रग्रहणेऽपि उपपत्तेः इति वाच्यम्. भ्रान्तिविकल्पस्य भेदमात्रविषयकत्वे प्रत्यक्षस्य स्वरूपमात्रविषयकतया स्वरूपभेदयोः वैशिष्ट्यग्रहणाभावेन उक्तविशिष्टव्यवहारानुपपत्ते युगपद्विशिष्टग्रहणमेव स्वीकर्तव्यम्. एवञ्च धर्मवद् योग्यत्वात् जात्यादिरूपभेदोऽपि प्रत्यक्षे युगपद् गृह्यतएव. अभेदो यथा स्वरूपतो ग्रहणे प्रतियोगिसाकांक्षो न भवति, तथा भेदोऽपि स्वग्रहणे प्रतियोगिनिरपेक्षएव. भेदव्यवहारस्तु प्रतियोगिज्ञानसापेक्षः इति स्थितिः.

भेदप्रत्यक्षे अन्योन्याश्रयशंकापरिहारौ :

ननु जात्यादिरेव भेदः इति पक्षे तद्ग्रहणे अन्योन्याश्रयदोषः प्रसजति. तथाहि —

१. धर्मधर्मिणोः अभेदग्रहदशायां धर्मधर्मिभावग्रहासम्भवात् धर्मधर्मिभावग्रहं प्रति भेदज्ञानम् अपेक्षितम्. नहि भेदरूपस्य धर्मस्य घटरूपस्य च

धर्मिणः अभेदग्रहे तयोः धर्मिधर्मभावो गृह्येत. धर्मधर्मिणोः भेदग्रहश्च धर्मधर्मिभावग्रहाधीनः इति अन्योन्याश्रयः.

२. एवं धर्मिप्रतियोगिनोः अभेदग्रहदशायां एकस्य भेदधर्मितया अपरस्य तत्प्रतियोगितया ज्ञानासम्भवात् तादृशज्ञाने भेदज्ञानम् अपेक्षितम्. भेदज्ञाने च धर्मिप्रतियोगिनोः धर्मित्वेन प्रतियोगित्वेन च ज्ञानम् अपेक्षितम् इति अन्योन्याश्रयः.

३. एवं घटादेः पटाद्यविलक्षणत्वज्ञाने सति घटादौ पटादिभेदधीः न जायतइति भेदज्ञानं प्रति वैलक्षण्यज्ञानम् अपेक्षितम्, तद्वैलक्षण्यं च तदवृत्तिधर्मवत्त्वम्, एतादृशवैलक्षण्यज्ञानार्थं भेदज्ञानम् अपेक्षितम् इति अन्योन्याश्रयइति भेदस्य जात्यादिरूपत्वं, प्रत्यक्षस्य तद्विषयकत्वं च न युक्तम् इति चेत्, न, प्रथममेव भेदविशिष्टवस्तुनो ग्रहणाद् एतादृशहेतुहेतुमद्भावस्य अस्वीकारात्. तथाहि — धर्मधर्मिणोः अभेदग्रहदशायां यद्यपि धर्मधर्मिभावेन प्रतीतिः न भवति, तथापि तत्पूर्वं न तयोः भेदज्ञानम् अपेक्षितम् किन्तु अभेदाग्रहएव. धर्मधर्मिभावेन प्रतीतिरेव हि भेदग्रहरूपेति तयोः कार्यकारणभावएव नास्ति. अतो न प्राथमिको अन्योन्याश्रयः. एवं धर्मिप्रतियोगिनोरपि तथात्वेन ज्ञानं प्रति न भेदज्ञानम् अपेक्षितम्, तथात्वेन ज्ञानस्यैव भेदधीत्वात्. तस्याच पूर्वोक्तरीत्या अभेदाग्रहमात्रसापेक्षत्वात्. तथाच न द्वितीयो अन्योन्याश्रयोऽपि. स्वरूपतो घटत्वादिरूपभेदग्रहणे पटादिविलक्षणत्वज्ञानानपेक्षणात्. पटाद्यविलक्षणत्वज्ञानाभावे सति स्वसामग्रीवशेन घटत्वादिरूपस्य पटादिभेदस्य ज्ञानसम्भवात्. एवञ्च प्रत्यक्षं सर्वमपि भेदविषयकम् इति स्वीकारे न कापि अनुपपत्तिः इति.

शाब्दापरोक्षास्वीकारः :

शब्दजन्यप्रत्यक्षं ''तत्वमस्या''दिवाक्यस्थले अद्वैतिभिः स्वीक्रियते. विशिष्टाद्वैतिनां सिद्धान्ते परोक्षज्ञानजननस्वभावतया सिद्धायाः शब्दघटितसामग्र्याः वाक्यार्थविषयकप्रत्यक्षहेतुत्वं नास्ति. ''दशमः त्वम् असि'' इति दृष्टान्ते त्वमर्थमात्रं प्रत्यक्षम्. ''दशमो अहम्'' इति ज्ञानं न केवलेन्द्रियेण जायते

किन्तु पुरुषवचनानुरोधेन. अस्मिन् विषये विशेषरूपेण विचारः शतदूषण्यादौ आचार्यैः कृतोऽस्ति. अत्र नातीव आवश्यकः स विचारइति न लिख्यते.

प्रस्थानरत्नाकरपक्षो विमर्शः च :

प्रस्थानरत्नाकरे " 'कामः संकल्पः' इति श्रुत्या सुखादयः करणसमवेताः घ्राणादीन्द्रियाग्राह्यगुणत्वात् स्पर्शशून्येन्द्रियग्राह्यगुणत्वाद् वा शब्दवद्" इति अनुमानेन च कार्यरूपस्य ज्ञानस्य अन्तःकरणधर्मत्वमेव स्वीकृतम्.

विशिष्टाद्वैतिनस्तु "जानात्येव अयं पुरुषः" "नहि विज्ञातुः विज्ञातेः विपरिलोपो विद्यते" इत्यादिश्रुत्या ज्ञानादीनां आत्मधर्मत्वमेव समाश्रयन्ति. अनुमानञ्च उक्तम् अप्रयोजकं, श्रोत्रस्य आहंकारिकस्य आकाशरूपत्वस्य अवैदिकत्वात्. दृष्टान्तोऽपि न युक्तः. ज्ञानस्य आत्मनिष्ठत्वाभावे चेतनत्वव्यवहारोऽपि ततो न घटेत.

मनसः इन्द्रियत्वम् अनिन्द्रियत्वं च इति उभयं यमे देवत्व-पितृत्वयोरिव संगतम् इत्यपि चिन्तनीयम्. देवत्वपितृत्वयोः स्वरूपतो लक्षणतश्च भावाभावयोरिव विरोधाभावात्.

घ्राणरसनश्रवणादीनां द्रव्याग्राहकत्वं यत् निषिद्धं तदपि चिन्तनीयमेव, व्याप्तिज्ञानविधुराणामपि तमसि दुग्धादेरपि रसनया ग्रहणं तस्याः द्रव्यग्राहकत्वम् अन्तरा न सम्भवति इति कथनं न सम्भवति, तथात्वे पूर्वाननुभूतदुग्धानामपि रसनया दुग्धरसास्वादे तमसि दुग्धानुभवापत्तेः. अतः तेषां दुग्धज्ञानम् अनुमतिरेव.

अभावस्य अनुपलब्धिवेद्यत्वाभावसाधनन्तु विशिष्टाद्वैतिनामपि अभिमत-मेव. "चक्षुषा अवगतः" इतिवत् "अनुपलब्ध्या अवगतः" इति प्रत्ययाभावात् इत्यादिप्रस्थानरत्नाकरग्रन्थो बहुयुक्तिगर्भितः विशिष्टाद्वैतिनाम् उपादेयएव.

विशिष्टाद्वैतिनो ज्ञानस्य द्रव्यस्य नेत्रादिद्वारा निर्गतस्य घटादिविषयसम्ब-

न्धात् संयोगात्मकात् तदाकारकतासम्पत्तिः इति आहुः. प्रस्थानरत्नाकरेतु बुद्धितत्त्वस्य अवस्थाविशेषो वृत्तिः, तस्याः बहिःनिर्गमाभावेऽपि मायागुणस्य रजसः चञ्चलत्वेन विक्षेपकत्वेन च, दर्पणे मुखस्येव, नेत्रगोलकेऽपि बाह्यविषयाकारसमर्पणे तदाकारत्वं सुघटम् इति उक्तम् . तत्तत्सिद्धान्ताभिमतप्रक्रियाभेदेन उभयमपि युज्यतएव इति प्रतीमः.

बुद्धेः अवस्थाविशेषएव वृत्तिः इतिपक्षे श्रीपुरुषोत्तमचरणैः शुक्त्यादौ तद्विरुद्धस्य रजताकारस्य अभावेन बुद्धौ मायया रजताकारस्य समर्पणासम्भवेन अन्यथाख्यातिपक्षस्य अनंगीकारात् च कथं भ्रमस्य उपपत्तिः इति पूर्वपक्षं विधाय सम्यक् स्वपक्षः समर्थितः. तथाहि : रजताद्याकारसंस्कारः पूर्वम् उत्पन्नः स्वरजसा बहिःक्षिप्यते. इन्द्रियसन्निकृष्टः शुक्त्याकारः तमसा आवृतो भवति चेद्, भ्रमस्य उपपत्तिः इति.

सर्वज्ञानम् अन्तःकरणधर्मः इति प्रस्थानरत्नाकरपक्षः. तर्हि कथं तस्य आत्मधर्मत्वप्रवादः इति पूर्वपक्षं कृत्वा एवं निरूपितं : जीवात्मनि अन्तःकरणाध्यासात् आत्मधर्मत्वप्रवादः इति. एतादृशविषयेषु न अतीव विवादो युज्यते, तत्तत्सिद्धान्तानुसारिप्रक्रियाभेदस्य अदूष्यत्वाद् इति शम्.

......+......

चर्चा

प्रत्यक्षप्रमाणविषये विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः प्रस्थानरत्नाकरसरणिः च

डॉ. के. ई. देवनाथन्

यज्ञेश्वर शास्त्री : भवद्भिः लिखितं ‘‘संस्कारसहकृतेन्द्रियजन्यं ज्ञानं

सविकल्पकम्'' इति. संस्कारन्तु ... सकलमपि सविकल्पकं प्रत्यक्षं स्मृति-संस्कारसहितं ...

के.ई.देवनाथन् : प्रत्यभिज्ञायां... संस्कारमात्रजन्यं...

यज्ञेश्वर शास्त्री : सकलमपि सविकल्पकं प्रत्यक्षं संस्कारसहकृतमेव ...

के.ई.देवनाथन् : स्मृतिः तावत् सा ... संस्कारमात्रजन्या धीः.

यज्ञेश्वर शास्त्री : प्रथमवारं प्रत्यक्षं कृतं तत् संस्कारसहकृतम् इति कथं वक्तुं शक्यते ?

के.ई.देवनाथन् : तर्हि सविकल्पकमेव नास्ति किल. तत्तु निर्विकल्पकमिति वदामः.

यज्ञेश्वर शास्त्री : प्रत्यक्षम् अनधिगतम् अबाधितमपि भवेत् ...

के.ई.देवनाथन् : भवतां प्रश्नो अवगतः... परन्तु निर्विकल्पकं यद् भवति, केनापि न उल्लिख्यते अतएव 'निर्विकल्पकम्' इति नाम. ''मम निर्विकल्पकं ज्ञानं जातम्'' इति केनापि न उच्यते ...

यज्ञेश्वर शास्त्री : मम अयं प्रश्नः : सकलमपि प्रत्यक्षं संस्कारसहकृतमेव भवति ...

के.ई.देवनाथन् : एवम् अस्माभिः न उच्यते. प्राथमिकं यद् ज्ञानं तद् घटत्वविशिष्टं घटविषयकं भवति. तस्य 'निर्विकल्पकम्' इति नाम. तस्मिन् घटत्वे अनुवृत्तत्वांशो न अवगतइति कृत्वा द्वितीयज्ञानस्य 'सविकल्पकम्' इति नाम. तावदेव मया उक्तम्. सर्वं ज्ञानं संस्कारसहकृतेन्द्रियप्रभवम् इति ...

यज्ञेश्वर शास्त्री : तत्र 'संस्कारासहकृत...' इति भवद्भिः न उक्तम्. प्रथमम् निर्विकल्पकं भवति अनन्तरं तत् संस्कारसहकृतं चेत् तत्र ...

के.ई.देवनाथन् : आचार्याः ! पश्यन्तु. संस्कारनिरपेक्षेन्द्रियजन्यज्ञानं निर्विकल्पकम्. ''अयं गौः'' इति ज्ञानं निर्विकल्पकम् इति उत्तरत्र

मया लिखितमेव वर्तते.

सिद्धेश्वर भट्ट : प्रथम पिण्डके ज्ञानमें संस्कार नहीं होगा. द्वितीय पिण्डके ग्रहणमें संस्कारका समावेश होता है.

के.ई.देवनाथन् : ...संस्कारका कारणत्व है. संस्कारका समावेश विषयरूपेण नहीं है, कारणत्व है.

सिद्धेश्वर भट्ट : प्रथम पिण्डके ग्रहणमें कारक तत्त्व क्या हैं और द्वितीय पिण्डके ग्रहणमें कारक तत्त्व क्या हैं? क्या भेद है?

के.ई.देवनाथन् : प्रथम इन्द्रिय सन्निकर्षसे ज्ञान उत्पन्न होता है वह तो "अयं गौः" इत्याकारक है.

सिद्धेश्वर भट्ट : "अयं गौः" इसमें संस्कार तो आ गया.

के.ई.देवनाथन् : संस्कार नहीं आता है. अयं पुरोवर्तिपदार्थमें गोत्वका ग्रहण... इसका विवरण करता हूं. आप ऐसा मान सकते हैं कि The first indeterminate knowldege emerges there individual along with the quality is comprihe-nded. So there the Samskāra has no role to play. There was no Samskāra at all. One more thing also Bhāṣyakāra has said "एकजातीयपिण्डेषु प्रथमपिण्डग्रहणं निर्विकल्पकम्". But afterwards Vedānta-deśika adds that it is Upalakṣṇa. Because, person who does not carry the Samsakāra even after persceiving cow. At the first instance he has seen one cow. If Samskāra is not there or active then the second perception of the same object or the Sajātiya object is also considered as Nirvikalpaka.

यज्ञेश्वर शास्त्री : आपने प्रत्यक्षका जो लक्षण दिया वह केवल निर्विकल्पकको ही *एप्लिकेबल* होता है? क्योंकि उसमें स्मृति ...

के.ई.देवनाथन् : उसमें स्मृतित्व नहीं है. हम ऐसा कहते हैं कि

''संस्कारनिरपेक्षेन्द्रियजन्यं ज्ञानं निर्विकल्पकम्'' और ''संस्कारसा-पेक्षेन्द्रियजन्यं ज्ञानं ...''

डी.प्रह्लादाचार्य : देवनाथाचार्याः! स्मरणस्य लक्षणं किम्? प्रत्यक्षस्य लक्षणं किम्? ...

के.ई.देवनाथन् : ''संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मरणम्''. जहां इन्द्रियोंका भी काम है उसको स्मरण कैसे कहेंगे?

अच्युतानन्द दास : अत्र पृच्छामि. यथा भवद्भिः उच्यते तत्र निर्विकल्पकं ज्ञानं नैकविधं भवितुम् अर्हति. चिन्त्यताम् तत्र ''अयं गौः'' इति एकं ज्ञानं वर्तते निर्विकल्पकम्. ''अयं वशिष्ठस्य गौः'' इति अन्यदपि निर्विकल्पकं ज्ञानं भवितुम् अर्हति. ''अयं वशिष्ठस्य कामप्रसुः गौः'' इत्यपि निर्विकल्पकं ज्ञानं भवितुम् अर्हति वा. ''अयं वशिष्ठस्य कामप्रसुः सुरभि गौः'' इत्यपि निर्विकल्पकं ज्ञानं भवितुम् अर्हति वा? तर्हि सविकल्पकं कुत्र स्थास्यति?

के.ई.देवनाथन् : समीचीनम्. ''अयमपि गौः'' अत्र 'अपि' शब्दः ...

अच्युतानन्द दास : 'अपि' नास्ति. अन्यस्य अन्यस्य ...

के.ई.देवनाथन् : भवतां प्रश्नस्तु युक्तः. समाधानं वच्मि. प्रश्नं स्पष्टयामि. मम पत्रे लिखितम् अस्ति ''अयमपि गौः'' इति तु सविकल्पकम् इति. परन्तु एवं प्रश्नो भवति ''अयं वशिष्ठस्य गौः'' तत्र किं भवति, वशिष्ठस्य गौः इति प्रथमतः अयं प्रश्नः क्रियते प्रत्यक्षं वा शाब्दबोधो वा? ''अयं वशिष्ठस्य गौः'' इति वशिष्ठस्य पार्श्वे वर्तमानायां गवि यदि ''अयं वशिष्ठस्य गौः'' इति प्रतीतिः भवति सा प्रतीतिः सविकल्पकम्. कथम्? इति चेत्, प्रथमतो गाम् अदृष्टवतः पुरुषस्य ''इयं वशिष्ठस्य गौः'' इति प्रतीतिः न भवति. तत्र 'अपि' शब्दोल्लेखस्तु उपलक्षणार्थः. गोः ग्रहणानन्तरं द्वितीयवारं तृतीयवारं संस्कारसापेक्षत्वं यदि भवति तदानीं सविकल्पकमेव.

अच्युतानन्द दास : अहं किं पृच्छामि, पञ्चजनाः इति चिन्त्यताम्. एकः

सामान्यबालो वर्तते. सः "अयं गौः" इति जानाति. तस्य प्रत्यक्षं निर्विकल्पकप्रत्यक्षं जातम्. अपरः कश्चन बालः ततोऽपि ज्येष्ठो वर्तते. सः आश्रममं प्रति आगच्छति, तत्र गां पश्यति. "अयं वशिष्ठस्य गौः" इति ज्ञानम्...

के.ई.देवनाथन् : तस्यतु सविकल्पकम्.

अच्युतानन्द दास : सो वशिष्ठस्य आश्रममात्रं जानाति. विशिष्ठस्य गां पश्यति चेत् ...

के.ई.देवनाथन् : तत्रतु महान् क्लेशः कोऽपि नास्ति. यः पूर्वं गां जानाति, पूर्वं वशिष्ठाश्रमे दृष्टवान्, इदानीं गोमात्रम् अत्र तिष्ठति तदानीम् "इयं वशिष्ठस्य गौः" इति वदति चेत् तस्यतु सविकल्पकमेव, संस्कारसाहित्यात्. यो गामेव न जानाति, वशिष्ठस्य आश्रमएव न गतवान्, वशिष्ठं जानाति सो वदति "वशिष्ठस्य गौः" इति वदति चेत् सः प्रष्टव्यः "अयं वशिष्ठस्य गौः इति भवता कथं ज्ञातम्?". केनचिद् उक्तं चेत् शाब्दबोधः. अन्यथातु ...

बी.के.दलाई : ममतु एवं भाति, भारतीयदर्शने निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य भिन्नानि लक्षणानि सन्ति. "अयं गौः" इति ज्ञानं प्रायशः सविकल्पकम् इति मन्यते. जैनदर्शने, इन्द्रियार्थसन्निकर्षो भवति तदा "इदं किञ्चित्" इति ज्ञानं भवति. इदं पुस्तकं वा गौ वा इत्यादिरूपं ज्ञानं न भवति. तस्मिन् काले तस्य ज्ञानस्य नाम तैः 'निर्विकल्पकम्' तैः न उच्यते. परन्तु 'अवग्रहः' इति उच्यते. अवग्रहस्य भागद्वयं १. व्यञ्जनावग्रहः २. अर्थावग्रहः इति. 'व्यञ्जनावग्रहो' नाम इदं किञ्चिद् इति ज्ञानम्. वस्तु किमपि भवतु; पुस्तकं भवतु, गृहं भवतु वा. अन्ततोगत्वा तस्य जिज्ञासा भवति "किम् इदम्?". तदा तस्य ज्ञानं भवति "इदं पुस्तकम्" "इयं गौः". तदा तस्य नाम 'अर्थावग्रहः' भवति. अर्थावग्रहः सविकल्पकम् उच्यते. अनन्तरकाले जैनन्याये प्रत्यक्षे अर्थावग्रहस्यैव भानम्. प्रत्यक्षे निर्विकल्पकस्य अन्तर्भावः

कदापि न भवति. अनन्तरम् सिद्धसेनदिवाकरः, अकलंकप्रभृतिः जैननैयायिकैः व्यञ्जनावग्रहो विस्मृतः. तेषां कृते आद्यप्रत्यक्षं सविकल्पकं, निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं नास्ति. तत्तु अर्थावग्रहएव भवति.

के.ई.देवनाथन् : समीचीनम्. जैनन्याये प्रक्रियाभेदेन ... जैनप्रक्रियातु समीचीना स्यात्, तद्रीत्या दृश्यमाने. तत्र अस्माकं प्रक्रिया एवं उपात्ता वर्तते ...

बी.के.दलाई : ममाभिप्रायः एवम्. अस्ति : यदा "इयं गौः" अथवा "अयं बालः" इति ज्ञानं भवति तस्य निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं न वक्तुं शक्यते.

के.ई.देवनाथन् : मया मध्यएव उक्तम् "अयं गौः" इति ज्ञानं निर्विकल्पकम् इति कथने कश्चित् क्लेशो भवत्येव. परन्तु यथा वैयाकरणैः निर्विकल्पकमेव न स्वीकृतं "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके ..." तद्वत् निर्विकल्पकमेव न स्वीक्रियतां. किमर्थं निर्विकल्पकं स्वीकृत्य एतादृशः परिष्कारः क्रियते इति समीचीनमेव. परन्तु निर्विकल्पकम् इति व्यवहारो अस्ति चेद् भाष्यकारैः एवं निरूपणं कृतम् अस्ति. सिद्धिकारैरपि व्यवहारकाले निर्विकल्पकं न स्वीकृतम् इति तु मया कस्मिंश्चित् पत्रे पठितम्. अतो निर्विकल्पकास्वीकारस्तु भवत्येव वेदान्तिनाम्. परन्तु ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : न भवतु. अखण्डाकारं ज्ञानं निर्विकल्पकमेव अन्ते ...

के.ई.देवनाथन् : शास्त्रिपादाः! 'व्यवहारे' मया उक्तम्. इति योजनं कृतम् अस्ति. निर्विकल्पकसमाधिः न स्वीक्रियते चेत् अद्वैतमेव नास्ति.

डी.प्रह्लादाचार्य : तत्र व्यावहारिको दृष्टान्तो दीयते "सोऽयं देवदत्तः" इत्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानम् ...

के.ई.देवनाथन् : आचार्याः! सिद्धिग्रन्थे सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिनिराकरणप्रकरणे व्यवहारकाले निर्विकल्पकं न स्वीक्रियते ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : "निर्विकल्पकस्य व्यवहारानर्हत्वाद्" इति.

के.ई.देवनाथन् : एवम्. समापयामि. एतैः पृष्टं, ''अयं गौः'' इति कथं निर्विकल्पकम् इति वक्तुं शक्यते? तत्र भाष्यकारैः निर्विकल्पकम् इति व्यवहारः समर्थितः.

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : भवन्तो न स्वीकुर्वते मानसप्रत्यक्षम्. तर्हि सुख-दुःखादीनां साक्षात्कारो विषयित्वेन विषयत्वेन वा ... यदि विषयित्वेन भवति तर्हि ''सुखम् अहम्'' ''दुःखम् अहम्'' इति अनुभूतिः जायेत, न जायते ''सुखी अहम्'' दुःखी अहम्'' इत्यनुभूतिः जायते. तर्हि कथम् उपपद्यते?

के.ई.देवनाथन् : अस्माकं सिद्धान्ते ज्ञानं द्रव्यम्. ज्ञानं नाम बुद्धितत्त्वम् इति सांख्यैः स्वीक्रियते तत्स्थानीयम् एकम् द्रव्यम्. तदेव अस्माभिः ज्ञानम् इति स्वीक्रियते. यदा बुद्धितत्त्वस्य परिणामः स्वीक्रियते तद्वत् अस्माकं सिद्धान्ते संकोचविकासौ स्वीक्रियेते. ...

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : श्रूयताम्. आत्मनः स्वप्रकाशत्वात् तद्धर्माणां सुख-दुःखादीनामपि स्वप्रकाशकत्वात्, कथं संगच्छते?

के.ई.देवनाथन् : ज्ञानस्य प्रसरविशेषो वर्तते. तत्रैव प्रसरविशेषः कदाचित् 'सुखम्'इति उच्यते. कदाचित् 'दुःखम्' इति उच्यते. अत्र ज्ञानस्यैव अवस्थाविशेषः 'सुखा'दिशब्दभाग्, नाम, ज्ञानमेव अवस्थाविशेषापन्नं मृदएव घटावस्थाविशेषापन्ना 'घट'शब्दव्यवहार्या यथा भवति तद्वत् ज्ञानमेव अवस्थाविशेषापन्नं सुखम्-दुःखम् इति भण्यते सिद्धान्ते. इदानीं भवद्भिः पृच्छ्यते ''अहं सुखम्''. ''अहं सुखम्'' इति न भवति. 'अहम्' इति अन्यद् ज्ञानम्. ज्ञानस्वरूपः आत्मा. तस्मिन् आत्मनि इदं द्रव्यस्वरूपम् इति मया उक्तम् किल ज्ञानम्, सुखत्वावस्थापन्नं ज्ञानम् तत्र अवतिष्ठते. अतः ''सुखी अहम्'' इत्येव प्रतीतिः भवति. 'अहं' नाम स्वप्रकाशः आत्मस्वरूपः, तस्मिन् सुखावस्थापन्नं ज्ञानं वर्तते इति कृत्वा ''अहं सुखी'' इति उच्यते.

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : यदि आत्मनो भिन्नं सुख-दुःखादिकं ...

प्रद्योतकुमार : ....

के.ई.देवनाथन् : अधिष्ठानं भवति यद् आत्मस्वरूपं तस्य अवस्थादिकं नास्ति. तत् निर्विकारं चेतनस्वरूपम्. तस्य अवस्थादिकं नास्ति. तत्र वर्तमानस्य ज्ञानस्य ... सांख्यमतसम्मतं बुद्धितत्त्वं स्वीक्रियतां. तदेव समीचीनं उदाहरणम् अस्य सिद्धान्तस्य भवति. परन्तु अयं भेदः, सांख्यमतसिद्धं बुद्धितत्त्वं बहिः प्रसृत्य घटाद्याकारेण परिणमते. अयञ्च परिणामो ज्ञानम् इति उच्यते तन्मते. अत्र सिद्धान्ते तावत् परिणामो न स्वीक्रियते. इन्द्रियज्ञानस्य आत्मनो धर्मस्य इन्द्रियद्वारा निर्गमनं भवति. निर्गत्य घटादिना वस्तुनः संयोगसम्बन्धो भवति. ज्ञानस्य विषयस्य च विषय-विषयीभावो नाम संयोगो अस्माकं सिद्धान्ते.

डी.प्रह्लादाचार्य : ज्ञानं द्रव्यञ्च.

एस्.वी.बोकिल : I would like to draw attention ... deep analysis of perception as presented in Indian philosophy and western philosophy. And this is of great importance. All most all Indian systems accept Manas as Indriya in addition to five sense-organs. Naturally one would like to ask question where is the need for accepting Manas as Indriya? In western tradition you will find that they have accepted five sense organs. But they have not felt the need of Manas to bring about what you call Indriya sannikarṣa. They have accepted Mind. You can not reject mind. Because after all perception needs observer and its subject ... and they use the expression mind in that sense. And if you see new scientific research, there is no

physiological basis for accepting mind as additional Indriya unless you identify it with brain. ... we perceive external world. Now we want to explain this. Western philosophers have taken the view that we should not multiply many metaphysical entities. We should manage with few entities. So if we can explain perception by not accepting ... I don't say that you don't accept mind.

के.ई.देवनाथन् : भवतां प्रश्नः एवम् अस्ति, किमर्थं मनः अंगीक्रियते. "एकादशं मनः च अत्र" इति मनसः श्रुतिसिद्धत्वम् अस्ति. तत्र "पञ्चवृत्तिः मनो...व्यपदिश्यते" इति सूत्रभाष्ये एवम् उक्तम् अस्ति. सुख-काम-संकल्पः इत्यादयः ये ज्ञानस्य विकाराः भवन्ति ते मनोवृत्तयः इति स्वीक्रियन्ते. अत्र 'मनोवृत्तयः' नाम मनसः परिणामः इति न अर्थः. मनसहकृतेन ज्ञानेन एते विकाराः प्रा...इति अर्थः. ज्ञानस्य सुखाद्यात्मना कामाद्यात्मना यो विकारः तस्मिन् विकारे जननीये मनसः सहकारित्वं स्वीक्रियते. तदर्थमेव इन्द्रियत्वं तस्य स्वीक्रियते. न केवल तत्र चक्षुषि अयं प्रश्नः कर्तुं शक्यते. यदि बुद्धितत्त्वमेव बहिः निर्गत्य घटेन संयुनक्ति तर्हि चक्षुषः किं कार्यम्? इति चेत्, ज्ञानस्य निर्गमने तेन साकम् चक्षुरेन्द्रियस्य मिश्रणं भवति. तदानीमेव चाक्षुषप्रत्यक्षम् इति उच्यते. तद्वत् धर्मभूतज्ञानस्य यः परिणामः भवति अवस्थाविशेषः सुखदुःखाद्यात्मना परिणामः भवति तत्र तावत् मनसः सम्बन्धो यदि भवति तदानीमेव तस्य ग्रहणं भवति इति अर्थः. तदभिप्रायेण मनसः इन्द्रियत्वं स्वीक्रियते. परन्तु 'मानसप्रत्यक्षम्' इति शब्दः तावत् वृद्धैः प्राचीनविशिष्टाद्वैतिभिः न स्वीक्रियते तावदेव. मनसस्तु कार्यमेव नास्ति इति नास्ति.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : मनका स्वीकार इसलिये है क्योंकि जो धर्मभूत

ज्ञान द्रव्यरूप है, उसका सुख-दुःखादिरूपेण अवस्थाविशेष उत्पन्न होती है उसमें मन सहायक बनता है. इसलिये मनकी आवश्यकता है. मनका अलग विषय नहीं है, आत्मप्रत्यक्ष है.

डी.प्रह्लादाचार्य : मयातु इदं सूचनीयं भवति, यथा शास्त्रिचरणैः उक्तं, भेदो यदा प्रत्यक्षीक्रियते तदानीम् अन्योन्याश्रयादिदोषाः भवन्ति इति. तत्तु घटादिपदार्थानां प्रत्यक्षकाले अनुपपत्तिं प्रदर्शयितुं न उक्तम् इति अहं चिन्तयामि. किन्तु अद्वैतसिद्धान्ते भेदः खण्ड्यते भेदो यदि कश्चन पदार्थः स्वीक्रियते तस्य ज्ञानं कथं भवति इति वक्तुमेव न शक्यते. श्रीहर्षेण ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : ''भिन्ने अभिन्ने भेदः किं भिन्ने उत अभिन्ने''

डी.प्रह्लादाचार्य : एवम्. तत्र भेदः सप्रतियोगिकः इत्येवं रीत्या ... एवञ्च भेदखण्डनम् अन्यत्. भेदाः न परमार्थभूताः इति अत्र 'भेदाः' न पदार्थाः इति किन्तु वस्तूनां ये भेदाः भवन्ति, द्वैतिभिः विशिष्टाद्वैतिभिः अन्यैश्च द्वैतिभिः अंगीक्रियन्ते ते भेदाः वस्तुतो न सन्ति इति साधनार्थम् अयं प्रयत्नो नतु पदार्थानां ग्रहणे काचन अनुपपत्तिः अस्ति वक्तुम् अयं प्रयत्नः.

के.ई.देवनाथन् : वदामि. विवरणादेव अस्माकं भाष्यकारैः सर्वम् अनूद्यते. भाष्ये '' 'घटो अस्ति' इत्यत्र अस्तित्वं तद्भेदः च व्यवह्रियते'' इत्यस्य सर्वस्यापि भाष्यस्य मूलं विवरणे दृश्यम्. 'महापूर्वपक्षः' इति ग्रन्थे वर्तमानाः सर्वेऽपि अंशाः विवरणानुसारेणैव अस्माभिः लिख्यन्ते. यतो अहन्तु विवरणम् अस्मिन् विषये न दृष्टवान् परन्तु अत्रतु निश्चितप्रकारेण वक्तुं शक्नोमि, अयं ग्रन्थो विवरणादेव उपात्तः.

डी.प्रह्लादाचार्य : परन्तु 'भेद'शब्दः विशेषपर्यायोऽपि बहुधा प्रयुज्यते.

यज्ञेश्वर शास्त्री : प्रत्यक्षसामान्यलक्षणम् उच्यताम् अनन्तरं सविकल्पक-निर्विकल्पकभेदः.

के.ई.देवनाथन् : 'साक्षात्कारित्वं' प्रत्यक्षसामान्यलक्षणम्. साक्षात्कारित्वञ्च जातिः. यदि जातिः न भवति तर्हि "ज्ञायमानकारणकत्वाभावे सति स्मृतिभिन्नत्वे सति ज्ञानत्वम्" इति प्रत्यक्ष...

डी. प्रह्लादाचार्य : विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ते बहवो अपूर्वाः विषयाः प्रतिपादिताः. यद्यपि निर्विकल्पक-सविकल्पकभेदेन प्रत्यक्षं तैः द्विविधम् अंगीक्रियते अथापि अन्यदर्शनरीत्या तन्निर्विकल्पकस्यापि सविकल्पकत्वमेव. निर्विकल्पकत्वं हि पारिभाषिकं तैः अंगीकृतं वर्तते. यद्यपि सविकल्पकं प्रत्यक्षं संस्कारजन्यं भवति, संस्कारमात्रजन्यन्तु न भवति. अयं विशेषः. संस्कारजन्यस्यापि सविकल्पकप्रत्यक्षस्य स्मरणवत् संस्कारमात्रजन्यत्वं नास्ति इति हेतोः स्मृतिभिन्नत्वं वक्तुं शक्यते इति तेषां सिद्धान्तः. तेषां मतेतु सुख-दुःखादीनामपि ज्ञानस्वरूपत्वम् अंगीक्रियते. यथा आत्मगुणाः सुख-दुःखादयः स्वीक्रियन्ते न्यायसिद्धान्ते तथा नास्ति. किन्तु सुखमपि ज्ञानं; दुःखमपि ज्ञानम्. मनसश्चापि इन्द्रियत्वम् अंगीकृत्य यथा इतरेषां चक्षुरादीनाम् इन्द्रियाणां ज्ञानजनने तेषां किमपि सामर्थ्यं भवति तादृशं सामर्थ्यन्तु न अंगीक्रियते. परन्तु सुखात्मकस्य दुःखात्मकस्य वा ज्ञानस्य जनने मनसः सहकारो वर्तते. अतएव मनसः इन्द्रियत्वं स्वीक्रियते. यद्यपि मनसः इतरेषाम् इन्द्रियाणां यथा ज्ञानजनकत्वं तथा नास्ति अथापि इन्द्रियत्वं श्रुतिबलात् प्रमाणबलात् स्वीक्रियते. तथापि सर्वथा ज्ञानजनकत्वं नास्ति इति न. ज्ञानजनने सहकारप्रदत्वेन तस्य कथञ्चित् इन्द्रियत्वम्. चक्षुरादीनामपि तथैव. तत्र वैलक्षण्यं नास्ति. तन्मते ज्ञानम् अन्तःकरणवत् यथा सांख्यानाम् अद्वैतिनां च अन्तःकरणं भवति, अन्तःकरणं बहिः निर्गत्य विषयं संस्पृश्य विषयाकारं लभते तथा एतन्मते अन्तःकरणस्य विषयेन सह संयोगो भवति. देहान्तर्गतं ज्ञानं द्रव्य ... ज्ञानस्य च संकोचः विकासः च भवति तन्मतरीत्या. ज्ञानस्य यदा विकासो भवति तदानीं...

के.ई.देवनाथन् : यदि इन्द्रियसंस्पृष्टं ... ज्ञानं बहिः गच्छति तेन इन्द्रियेण चाक्षुषं ज्ञानं जातम् इति व्यवहारः. एवमेव मनसोऽपि तथैव. ज्ञानस्य प्रसरकाले यदि मनसः सम्बन्धो भवति तदानीं सुख-दुःखादिकम् उच्यते.

सिद्धेश्वर भट्ट : मनः इन्द्रियद्वारेण गच्छति?

डी.प्रह्लादाचार्य : ज्ञानमेव गच्छति. मनो बहिर् न गच्छति. तज्ज्ञाने मनः संयुक्तं भवति. धर्मिभूतं ज्ञानं धर्मभूतं ज्ञानम् इति ज्ञानद्वयं स्वीकृतम् अस्ति. धर्मिभूतं ज्ञानं हि चैतन्यात्मकं भवति. अनया रीत्या बहवो अपूर्वाः विषयाः विशिष्टाद्वैतमतरीत्या विवृताः वर्तन्ते. मन्ये एतस्याः गोष्ठ्याः आयोजनस्य प्रधानतः उद्देश्य अयमेव यद् विभिन्नेषु दर्शनेषु यथा प्रत्यक्षस्य स्वरूपं प्रतिपादितं वर्तते तत्र के विशेषांशाः वर्तन्ते तेषाम् अवगमो यथा निर्दुष्टया रीत्या अस्माकं समेषां स्यात् तथैव प्रतिपादनं कर्तव्यं श्रोतव्यं च. ततश्च इदम् अधिवेशनं सफलम् इति मन्ये.

......+

संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गोस्वामी श्याम मनोहर

सुहृत्तमैः विद्वद्वर्यैः तत्र भवद्भिः श्रीदेवनाथन् महोदयैः विशिष्टाद्वैतवादसरण्या प्रत्यक्षप्रमाणस्वरूपं संक्षिप्तमपि अतीव सुष्ठुतया उपपादितम्. एतेन प्रत्यक्षविचारगोष्ठ्यां सर्वे सहभागिनो नूनं विदितवेदितव्याः सम्पादिताः. तस्माद् यद् तावत् सत्राध्यक्षमहाभागैः स्पृहणीयवैदुष्यैः श्रीप्रह्लादाचारिभिः उक्तं "**मन्ये एतस्याः गोष्ठ्याः आयोजनस्य प्रधानतः उद्देश्यो अयमेव यद् विभिन्नेषु दर्शनेषु यथा प्रत्यक्षस्य स्वरूपं प्रतिपादितं वर्तते तत्र के विशेषांशाः वर्तन्ते तेषाम् अवगमो यथा निर्दुष्टया रीत्या अस्माकं**

समेषां स्यात् तथैव प्रतिपादनं कर्तव्यं श्रोतव्यं च. ततश्च इदम् अधिवेशनं सफलम् इति मन्ये'' इति तत् सर्वथा अवितथमेव. तथापि विशिष्टाद्वैतमतमतश्रवणेन सञ्जातकुतुहलानां तत्र उपस्थितानां विदुषां बहुविधायाः जिज्ञासायाः समाधानएव विचारसत्रोपसंहारो जातः. अहमपि तत्तत्प्रश्नोत्तरयोः श्रवणाय समुत्सुकएव नाशकं किमपि प्रष्टुं, विशेषतो यत् श्रीदेवनाथन् महोदयैः वाल्लभमतविषये विधानं कृतं तद्विषयम् अधिकृत्य. इदानीं लब्धावसरो अहम् इह यत् मनसि किमपि तदानीं प्रतुष्टूषितं मुखतो प्राद्रवत् तत् मल्लेखिन्या बध्नामि :

तथाहि श्रीदेवनाथन् महोदयैः ''श्रोत्रस्य आहंकारिकस्य आकाशरूपत्वस्य अवैदिकत्वाद् दृष्टान्तोऽपि न युक्तः'' इति यद् उक्तं तत्र '' **'दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्' इति श्रुतेः दिक्श्रोत्रयोः ऐक्यम् इति अर्थः''** (श्रीरंगरामानुजीया बृहदारण्यप्रकाशिका : ४।१।५) इति श्रीरंगरामानुजैः आहंकारिकस्यैव श्रौत्रस्य दिग्भिः ऐक्यन्तु अंगीकृतमेव. तस्मात् समानन्यायेन आकाशरूपत्वेऽपि न हानिः काचित् कल्पनीया. किञ्च दिशः स्वरूपं किम्? इति जिज्ञासायां श्रुतिरेव किल आह **''श्रोत्रमेव आयतनम् आकाशः प्रतिष्ठा अनन्तः... का अनन्तता? दिशएव... यां कां च दिशं गच्छति नैव अस्य अन्तं गच्छति. अनन्ता दिशो, दिशो वै श्रोत्रम्''** (बृह.उप.४।१।५) इति आकाशस्य आनन्त्यमेव दिशः चेद्, दिक्प्रवेशः खलु आकाशप्रवेशएव. तस्माद् ''दिशो वै श्रोत्रम्'' इति उक्त्या ''आकाशो वै श्रोत्रम्'' इत्यपि अर्थलम्ममेव आयाति. ततः श्रोत्रस्य आकाशरूपतायां न बहुविवादः प्रवर्तनीयः. किञ्च अधोनिर्दिष्टश्रुतिभागवतवचनैरपि श्रौत्रस्य आकाशरूपत्वे न काचित् महती हानिः लक्ष्यते :

१.**''आकाशेन आह्वयति आकाशेन शृणोति''** (छान्दो.उप.७।-१२।१).

२.**''कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद् दिशः''** (ऐत.उप.१।४).

३.**''श्रोत्रमेव अस्याः एकम् अंगम् अदूह्ळं तस्य शब्दः परस्ताद् विहिता भूतमात्रा''** (कौषी.उप.३।५).

४.''प्राणस्य हि क्रियाशक्तिः बुद्धेः विज्ञानशक्तिता. तामसात् च विकुर्वाणाद् भगवद्वीर्यचोदितात् शब्दमात्रम् अभूत्, तस्माद् नभः, श्रोत्रन्तु शब्दगम्, अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य, द्रष्टुः लिंगत्वमेव च तन्मात्रत्वं नभसो लक्षणं कवयो विदुः'' (भाग.पुरा.३।२६।३१-३३).

एतेन शब्दानाम् आयतनं श्रोत्रमेव चेत् तदा किम् अन्तर्गड्डुना आकाशस्य प्रतिष्ठात्वप्रतिपादनेन? ततश्च सिद्धं श्रोत्रस्य आयतनत्वं नाम शब्दोपलब्धिस्थानत्वं, तथैव आकाशस्य प्रतिष्ठात्वं नाम ग्राह्यग्राहकभावापन्ने शब्दश्रोत्रे यत्र प्रतिष्ठतः इति. एवं हि उभयोरपि आकाशएव प्रतिष्ठितत्वेन यत् श्रोत्रेण शृणोति तद् आकाशेनैव शृणोति इति अभेदनिरूपणमपि संगतं भवेत्. तस्मात् आहंकारिकस्यैव श्रोत्रस्य आकाशरूपत्वमपि वैदिकमेवेति श्रीपुरुषोत्तमप्रदत्तो दृष्टान्तोऽपि न अयुक्तः.

यत् पुनः ''ज्ञानस्य आत्मनिष्ठत्वाभावे चेतनत्वव्यवहारोऽपि ततो न घटेत'' इति उक्तं तत्रापि एवं प्रतिभाति यत् **''श्रोत्रं शृण्वत् सर्वे प्राणाः अनुशृण्वन्ति''** (कौषी.उप.३।२) इति श्रुतौ प्रकरणानुरोधेन प्रज्ञाप्राणयोः अन्योन्याश्रिततया अभेदविवक्षया प्रज्ञायाएव अनुश्रोतृत्वं, तेन श्रोतृत्वन्तु श्रोत्रस्यापि सिध्यत्येव. न जातु कर्तुः करणापेक्षायां कर्तृतापलापो आपादयितुं उचितः. तस्माद् विज्ञातुः विज्ञानं बाह्याभ्यन्तरैः विज्ञानकरणैः सम्पद्यमानं न विज्ञातुः विज्ञानविपरिलोपाय मन्तव्यं किमुत तद्दार्ढ्यायैव. सिद्धं तेन विज्ञातुः आत्मविज्ञानस्यैव न कदाचिदपि विपरिलोपो नच एतावता रूपरसगन्धस्पर्शशब्द-तदाश्रयरूपभौतिकवस्तु-विज्ञानानामपि अविपरिलोपो मन्तुं युक्तो निद्रापस्मारादिभिः दैहिकहेतुभिः, शिरसि दण्डाद्याघातरूपैः च बाह्यहेतुभिरपि रूपादिविज्ञानविलोपानां दृष्टचरत्वादेव. प्राणानां हि क्रियाकरणरूपाणां क्रियाशक्तिमत्त्वे विज्ञानकरणरूपायाः बुद्धेरपि वा विज्ञानशक्तिमत्त्वे विज्ञानमूलस्य जीवात्मनोः विज्ञातृत्वहानेः शंका अयुक्तैव, भागवतवचनमूलकत्वादेव. यदपि मनसः इन्द्रियत्वानिन्द्रियत्वरूपोभयविधत्वे हि भावाभावरूपतया न देवत्वपितृत्वतुल्ये इति उक्तं तत्रापि **''अन्यत्रमना अभूवं न नादर्शं नाश्रौषम्''** (बृह.उप,१।५।३) इति श्रुत्या मनसः बाह्यसर्वेन्द्रियनियामकत्वेन अनिन्द्रियत्वं अन्तःकरणरूपतया

च इन्द्रियत्वमपि इति हेतुकम्. एवं हि "**इन्द्रियाणां मनः च अस्मि**", "**इन्द्रियेभ्यः परं मनः**" (भग.गीता.३।४२ ,१०।२२) इत्याद्युभयविधनिरूपणानुरोध्येव तथास्वीकरणम् इति प्रतिभाति.

यत् पुनः घ्राणरसनश्रवणादीनां द्रव्याग्राहकत्वोपपत्तितया पूर्वाननुभूतदुग्धानामपि रसनया दुग्धरसास्वादे तमसि दुग्धानुभूत्यापादनं तत्तु जायमानं सर्वं प्रथमं ज्ञानं निर्विकल्पकम् अथ द्वितीयादि तु सविकल्पकमेव इति वदतां वादिनां कृते सर्वस्यापि सविकल्पकप्रत्यक्षस्य अनुमित्यन्तर्भावाय किं न प्रभवेत्? सर्वाः हि धर्मप्रतीतयो धर्मिप्रतीतिहेतुकाः इति अदण्डवारितया व्याप्तिनिश्चयसंस्कारसहितया घटत्वप्रतीत्या स्फीतालोकेऽपि घटप्रत्यक्षस्य घटानुमितित्वप्रसक्तिः.

सर्वथा हि तत्र सौजन्य-सारल्य-सौहृद-वैदुष्याद्यनेकगुणोपेतैः श्रीदेवनाथन् महोदयैः प्रत्यक्षप्रमाणविचारगोष्ठ्यां वाल्लभवेदान्ताभिमतप्रत्यक्षप्रक्रियालोचनं यत् समुपस्थापितं तदर्थं ते भूयोभूयो धन्यवादार्हाः न तत्र शंकालेशोऽपि इति विरमति अयं संगोष्ठ्युत्तरलेखनस्य कर्ता.

द्वैतदर्शने प्रत्यक्षस्वरूपम्

प्रो. डी. प्रह्लादाचार

द्वैतदर्शनरीत्या प्रत्यक्षप्रमाणविषये वक्तुम् अहम् आदिष्टो अस्मि. इतरदर्शनेषु समानाः ये अंशाः तान् अंशान् विहाय द्वैतदर्शने ये विशेषांशाः भवन्ति तानेव प्रस्तोतुम् इच्छामि.

द्वैतदर्शने प्रमाणसामान्यलक्षणम् उच्यते : ''यथार्थं प्रमाणम्'' इति. एतस्मिन् मते प्रमाणं द्विविधं : १. केवलप्रमाणम् २. अनुप्रमाणं च इति.

'केवलप्रमाणं' नाम यथार्थं ज्ञानम्. ज्ञानं भवति केवलप्रमाणम् यदि ज्ञानं यथार्थं स्यात्. तथाच इन्द्रियजन्यं ज्ञानं वा भवतु, शब्दजन्यं ज्ञानं वा भवतु, अनुमानजन्यं वा ज्ञानं भवतु तत् सर्वं केवलप्रमाणं भवति. अपिच इन्द्रियम् अथवा अनुमानं, शब्दः एतान्यपि प्रमाणत्वेन अंगीक्रियन्ते. तथाच केवलप्रमाणम् अनुप्रमाणं च इति प्रमाणं द्विविधम्. यथार्थज्ञानं केवलप्रमाणं, यथार्थज्ञानसाधनम् अनुप्रमाणम्. यथार्थज्ञानसाधनञ्च त्रिविधं भवति : १. प्रत्यक्षम् २. अनुमानं ३. शब्दः च इति.

केवलप्रमाणस्य अनुप्रमाणस्य च अनुगतं लक्षणं भवति प्रमाणत्वम्. उभयमपि प्रमाणत्वेन स्वीक्रियते. अतएव ''यथार्थं प्रमाणम्'' इति प्रमाणसामान्यलक्षणम् उच्यते. यथार्थत्वं प्रमाणसामान्यलक्षणम्. 'यथार्थत्वं' नाम यथावस्थित-ज्ञेयविषयीकारित्वम्. वस्तु ...

वी. एन्. झा : ...
डी. प्रह्लादाचार : अनुप्रमाणेष्वपि.
वी. एन्. झा : ज्ञानमेव ? ...

डी. प्रह्लादाचार : नहि. ज्ञानं वा भवतु इन्द्रियादिकं ज्ञानसाधनं वा भवतु तद् उभयमपि यथार्थं, यथावस्थितज्ञेयविषयीकारि इति. अर्थो यथा अवतिष्ठते तथा विषयीकरोति चेत् यथावस्थितार्थविषयीकारित्वम् आयाति. इदञ्च ज्ञानस्यापि भवति, इन्द्रियादीनामपि ज्ञानसाधनानां भवति. परन्तु अत्र इदं वैलक्षण्यम् अस्ति, ज्ञानं साक्षाद्वस्तुविषयीकारि, ज्ञानसाधनानितु ज्ञानद्वारा वस्तुविषयीकारीणि भवन्ति. परन्तु, यथावस्थित-ज्ञेयविषयीकारित्वं, यथावस्थितार्थविषयीकारित्वम् उभयसाधारणं भवति, केवलप्रमाणस्य अनुप्रमाणस्य च साधारणं भवति इति अंगीक्रियते. तत्र अनुप्रमाणं त्रिविधम् इति उक्तम् : १. प्रत्यक्षम्, २. अनुमानं, ३. शब्दः च इति.

प्रत्यक्षस्य लक्षणम् उक्तं : "निर्दोषार्थेन्द्रिय-सन्निकर्षः प्रत्यक्षम्" इति. 'प्रत्यक्ष'शब्दः कदाचिद् ज्ञाने प्रयुज्यते, ज्ञानसाधनेऽपि कदाचित् प्रयुज्यते. यदा ज्ञानं प्रत्यक्षम् इति उच्यते तर्हि निर्दोषार्थेन्द्रिय-सन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् इति भवति. यदाच ज्ञानसाधनं प्रत्यक्षम् इति उच्यते तदा निर्दोषार्थेन्द्रिय-सन्निकर्षः प्रत्यक्षम् इति उच्यते.

'निर्दोषत्वम्' उभयोः विशेषणम्; इन्द्रियस्य अर्थस्य च. निर्दोषेन्द्रियस्य निर्दोषेण अर्थेन सह यः सन्निकर्षः स प्रत्यक्षम्. काचकामलादयः दोषाः इन्द्रियदोषाः भवन्ति. अतिदूरस्थत्वम् अतिसामीप्यं, सौक्ष्म्यं, व्यवधानम् इत्यादयः अर्थदोषाः भवन्ति. एवञ्च दोषरहितेन्द्रियेण दोषरहितस्य अर्थस्य यः सन्निकर्षः भवति सः प्रत्यक्षम् इति अंगीक्रियते.

मनसः इन्द्रियत्वम् :

तत्र केश्चित् पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि स्वीकृतानि. बाह्येन्द्रियाणि पञ्च अन्तरिन्द्रियम् एकं मनः इति षडिन्द्रियाणि इति केषाञ्चित् मते भवति.

अद्वैतसिद्धान्तेतु मनसः इन्द्रियत्वं न स्वीकृतम्. पञ्चैव ज्ञानेन्द्रियाणि

स्वीकृतानि वर्तन्ते. किन्तु द्वैतदर्शने न पञ्चैव इन्द्रियाणि नापि षडेव किन्तु सप्त इन्द्रियाणि भवन्ति इति उच्यते. अयम् अत्र विशेषः.

तत्र इन्द्रियं द्विविधं भवति : १. प्रमातृस्वरूपं २. प्राकृतञ्च इति. प्रमाता भवति चेतनः. तत्स्वरूपम् इन्द्रियम्. तदात्मकम् इन्द्रियं 'साक्षी' इति उच्यते. इतराणि षडिन्द्रियाणि सर्वाण्यपि प्राकृतानि भवन्ति. पञ्च बाह्येन्द्रियाणि, अन्तःकरणम् एकम् एवं षडपि इन्द्रियाणि प्रकृतिपरिणामभूतानि भवन्ति. प्रकृतेः परिणामो महत्-तत्त्वं, महतो अहंकारः, अहंकारस्य परिणामभूतानि एतानि इन्द्रियाणि भवन्ति इति उच्यते.

अत्र मनसः इन्द्रियत्वं ये न अंगीकुर्वन्ति तत्र विरोधः क्रियते. प्रस्थानरत्नाकरेऽपि अयम् अंशः चर्चितो वर्तते. मनसस्तु ''बाह्येन्द्रियाधिष्ठानेन सर्वबाह्येन्द्रियविषयविषयकेन्द्रियत्वम्''. बाह्येन्द्रियाणां ये विषयाः भवन्ति ते सर्वेऽपि मनसोऽपि विषयाः. परन्तु न साक्षात्, बाह्येन्द्रियाधिष्ठानेन — बाह्येन्द्रियद्वारा. एवञ्च बाह्येन्द्रियाधिष्ठानेन सर्वबाह्येन्द्रिय-विषय-विषयकेन्द्रियत्वं मनसः लक्षणम् अंगीक्रियते. तत्र ''सर्वबाह्येन्द्रिय-विषय-विषयकत्वम्'' इत्येव यदि लक्षणम् उच्यते तर्हि मनसः साक्षाद् बाह्याः पदार्थाः विषयाः न भवन्ति. अतः सर्वबाह्येन्द्रिय-विषय-विषयकत्वं मनसो नास्ति इति असम्भवशंका स्यात्. तत्परिहाराय इदम् उच्यते ''बाह्येन्द्रियाधिष्ठानेन'' इति. बाह्येन्द्रियद्वारा, बाह्येन्द्रियाणि अधिष्ठाय मनो बाह्यानपि अर्थान् विषयीकरोति.

तत्र आक्षेपः प्रधानतया क्रियते मनसः इन्द्रियत्वे तस्य असाधारणं फलं किमपि स्यात्. असाधारणं फलं मनोजन्यं किमपि नास्ति. विषयभेदोऽपि नास्ति. यतोहि मनसः ... इतरेषाम् इन्द्रियाणां ये विषयाः तएव मनसः विषयाः. इतरैः इन्द्रियैः यत् फलम् उत्पद्यते तदेव फलं भवति मनसः फलम्. एवञ्च असाधारणो विषयोऽपि नास्ति, असाधारणं फलमपि नास्ति तस्मात् मनसः इन्द्रियत्वं कथम्? इति प्रश्नः सम्भवति.

तत्र उच्यते, असाधारणविषयो नास्ति इति भवतु नाम. असाधारणन्तु फलम् अंगीक्रियते. मनसः स्वातन्त्र्येण स्मरणसाधनत्वम् अंगीक्रियते. बाह्येन्द्रियम् अद्वारीकृत्यापि मनः साक्षात् स्मरणस्य साधनं भवति. एवञ्च अस्मिन् दर्शने स्मरणं मानसप्रत्यक्षमेव. इन्द्रियजन्यज्ञानत्वं हि प्रत्यक्षस्य लक्षणम्. मनोजन्यं ज्ञानं भवति स्मरणम्. तस्मात् कारणात् स्मरणरूपं यत् फलं वर्तते तत् न कस्यापि इतरस्य इन्द्रियस्य. मनसएव तत् फलं भवति. एकम् असाधारणं फलं किमपि वर्तते तस्मात् मनः पृथगिन्द्रियम्.

प्रद्योतकुमार : तस्य प्रत्यक्षत्वं कथम्?

डी.प्रह्लादाचार : इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ...

प्रद्योतकुमार : इन्द्रियत्वं मनसः इदानीमपि न उपपादितम्! यदि तस्य फलभेदो अस्ति तदैव तस्य इन्द्रियत्वम्. इन्द्रियत्वम् अद्यापि उपपादितम्. अन्योन्याश्रयो भवति.

डी.प्रह्लादाचार : तत्रापि विचारं करोमि.

मनः प्रमाणमेव न भवति इति एकं मतम्. प्रमाणं कुतो न भवति? इति चेत्, प्रमायाः अनाश्रयत्वात्. पूर्वपक्षम् अनुवदन् अस्मि. मनोवृत्तयो याः उत्पद्यन्ते तासामपि ज्ञानत्वं स्वीकृतम् वेदान्तिनां मते. वृत्तयः चैतन्यरूपं च इति ज्ञानं द्विविधं भवति. वृत्त्यात्मकमपि ज्ञानम् अंगीक्रियते. ताश्च वृत्तयो मनसो विकारभूताः, परिणामभूताः. तस्मात् तासां वृत्तीनाम् आश्रयो मनो अंगीक्रियते. मनो यदा प्रमायाः आश्रयो भवति, प्रमाश्रयत्वात् मनः प्रमाणं न भवति. अयम् एकः पूर्वपक्षः. मनः प्रमाणमेव नास्ति. यथा प्रमाता नहि प्रमाणं भवति. नैयायिकानामपि मते ईश्वरः प्रमाणम् अंगीक्रियते. परन्तु अयं जीवो यः प्रमाता, प्रमायाः आश्रयः, सः प्रमाणं न अंगीक्रियते. तद्वदेव मनसोऽपि वृत्तिरूपप्रमाश्रयत्वात् प्रमाणत्वमेव नास्ति इति अयम् एकः पूर्वपक्षः.

अपिच चक्षुरादीनां प्रमाणानां विषये मनसः सहकारित्वम् अस्ति.

प्रमाणसहकारित्वात् च तस्य प्रमाणत्वं नास्ति यथा आलोकस्य. चक्षुषा यदा ज्ञानं जायते तदानीम् आलोकः सहकारिकारणं भवति. तथा मनोऽपि सर्वेन्द्रियाणाम्. यदि सहकारिकारणस्य प्रमाणत्वं स्वीक्रियते तर्हि आलोकोऽपि प्रमाणान्तरं स्यात्. तस्माद् यथा आलोकस्य प्रमाणत्वं नास्ति तथैव मनसोऽपि प्रमाणत्वं नास्ति. तथाच प्रमाणसहकारित्वात्, प्रमायाः आश्रयत्वात्, अपिच पृथग् विषयस्यापि अभावतो मनसः इन्द्रियत्वं कुतः? इत्येवम् आक्षेपाः भवन्ति.

अद्वैतमतेन मनसः इन्द्रियत्वं यद् निराकुर्वाणेन इदमपि चिन्त्यते यत् गीतावाक्ये "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः" इत्यत्र इन्द्रियेभ्यः प्रत्येकशः परो मनः संकीर्त्यते. यदि मनोऽपि इन्द्रियं स्यात् तर्हि "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः" इति कुतः? एवं मनसः इन्द्रियत्वं नास्ति इति अत्र इदमपि एकं प्रमाणम् उच्यते.

तत्र सर्वत्रापि इदं समाधानम् उच्यते : मनसः फलं स्मरणं वर्तते. स्मरणस्य मनोजन्यत्वम् अंगीक्रियते. मनः करणम्. यथा चाक्षुषप्रत्यक्षं प्रति चक्षुः करणं भवति, संयोग-सन्निकर्षो वा अन्यसन्निकर्षो वा तत्र व्यापारो भवति, फलञ्च चाक्षुषप्रत्यक्षं भवति. तद्वदेव मनो अत्र करणं, संस्कारः सन्निकर्षः, स्मरणञ्च मनोजन्यं ज्ञानं फलम्.

मनसः इन्द्रियत्वे किं प्रमाणम् इति प्रच्छ्यते. अन्यथा अन्योन्याश्रयः स्याद् इति. अत्र उच्यते : मनसः इन्द्रियत्वे श्रुतयः स्मृतयः च प्रमाणं भवन्ति. गीतायामेव "मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि" इति वाक्यम् अस्ति. तद्वदेव "इन्द्रियाणां मनश्च अस्मि" इति विभूतियोगे मनसः इन्द्रियाणां मध्ये अन्तर्भावः श्रूयते. यद्यपि "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः" इत्यत्र मनसः पृथक् कीर्तनं वर्तते. परन्तु, तेन मनसः इन्द्रियेभ्यः पृथक्त्वं वर्तते, इन्द्रियत्वं न अस्ति इति न वक्तुं शक्यम्. तत्र कुरु-पाण्डवन्यायेन तस्य कीर्तनम्. पाण्डवानामपि कौरवत्वम् अस्त्येव. अत्रापि "सन्तानबीजं कुरु-पाण्डवानाम्"

इत्यादौ बहुत्र कुरुभ्यः पृथक् पाण्डवानां संकीर्तनं श्रूयते. तथैव इन्द्रियस्य मनसः इन्द्रियेभ्यः पृथक् प्रस्तावो न अयुक्तः.

मनसः इन्द्रियेभ्यः पार्थक्यं वदताम् अयम् अभिप्रायः : ''वेदान् अध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्'' इति श्रूयते तत्र सजातीयगत-संख्या-पूरकत्वं सजातीयस्य इति नास्ति. वेदो अपौरुषेयो, महाभारतञ्च पौरुषेयं भवति. एवञ्च अनयोः वैजात्यम् अस्ति. अथापि ''महाभारतपञ्चमाः वेदाः'' इति उच्यन्ते. वेदविजातीयस्यापि महाभारतस्य पञ्चत्वसंख्यापूरकत्वं यथा अंगीक्रियते तथा ''मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि'' इति अत्र इन्द्रियविजातीयस्यापि मनसः इन्द्रियगत-षट्त्व-संख्यापूरकत्वम् अंगीकर्तुं शक्यते इति. अत्र इदं वक्तव्यं यत् सजातीयस्य सजातीयगत-संख्यापूरकत्वमिव, विजातीयस्य विजातीयगत-संख्यापूरकत्वमपि दृश्यते इति उभयं सत्यमेव. परन्तु मनसः इन्द्रियत्वे अनेकानि प्रमाणानि वर्तन्ते. यथा ''इन्द्रियाणां मनश्चास्मि'' इति गीतावाक्यम्. अत्र मनसः इन्द्रियत्वं स्पष्टं प्रतिपादितम् अस्ति. अपिच भागवते ''इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः'' अस्मिन् वाक्ये ''इन्द्रियाणि दश एकञ्च'' इति मनः इन्द्रियान्तर्गतम् अस्ति. अत्र उपचारो नास्ति. अन्यत्र भागवते नवमस्कन्धे ''यतिः ययातिः संयातिः आयतिः वियतिः कृतिः, षडिमे नहुषस्य आसन् इन्द्रियाणीव देहिनः'' (भाग.पुरा.९।१८।१) इति. नहुषस्य षट्पुत्राः आसन् यथा तथा षडिन्द्रियाणि देहिनो वर्तन्ते इति वर्ण्यते. षडिन्द्रियाणि इति तत्र मनसः इन्द्रियेषु अन्तर्भावं स्वीकृत्य कथितं वर्तते. एवं भागवते तत्र-तत्र गीतायां च मनसः इन्द्रियत्वप्रतिपादनं स्पष्टं वर्तते इति हेतोः ...

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : ...

डी.प्रह्लादाचार : तत्रतु समाधानम् उक्तम्. मनसः किञ्चिद् वैशिष्ट्यं वर्तते अतः मनसः पृथक् संकीर्तनम् इति. मनसो वैशिष्ट्यं किम्? इति चेत्, इन्द्रियसहकारित्वम्. सर्वेन्द्रियसहकारित्वं हि मनसो असाधारणो धर्मः. एवं मनसः इन्द्रियत्वे सिद्धे मनोजन्यं स्मरणात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्

इति स्वीकार्यम्.

अनेन नैयायिकैः—ज्ञानं द्विविधं : १. स्मृतिः २. अनुभवः च इति. अनुभवश्च चतुर्विधः : १. प्रत्यक्षम् २. अनुमितिः ३. उपमितिः ४. शाब्दः च इति यो विभागः क्रियते सो अपाक्रियते. स्मृतेरपि अनुभवएव अन्तर्भावो, मानसप्रत्यक्षम् इयं भवति इति हेतोः. तत्रच संस्कारस्य सन्निकर्षत्वं स्वीक्रियते.

अत्रापि कश्चन प्रश्नो भवति. संस्कारस्य अयं स्वभावो यत् पूर्वानुभूतं विषयम् उपस्थापयतीति. अननुभूतस्य विषयस्य उपस्थापकः संस्कारः कदापि न भवति. किन्तु, स्मरणे अनुभूताएव विषयाः विषयीक्रियन्ते उत अननुभूताअपि ? इति.

स्मरणं तावत् ''सो देवदत्तः तत्र आसीत्''. 'सः' इत्यनेन अतीत-देशकालसम्बन्धः. तस्मिन् पुरुषे इदानीं विषयीक्रियते. 'अतीतत्वं' नाम ध्वंसप्रतियोगित्वम्. पूर्वन्तु अतीतत्वं न अनुभूतम्. यदा देवदत्तविषयको अनुभवः पूर्वं जातः तस्मिन् काले अतीतत्वस्य अनुभवो नास्ति. इदानीं स्मरणेतु अतीतत्वस्य विषयीकरणं वर्तते. अतीतत्वं संस्कारेण कथम् उपस्थापयितुं शक्यते? अतीतत्वं तावत् अननुभूतं कथं वा स्मरणेन विषयीकर्तुं शक्यते? संस्कारस्य तत्र कथं सामर्थ्यम्? इति कश्चित् प्रश्नो भवति. परन्तु मनः करणं, संस्कारो व्यापारः इति यदा उच्यते तदानीं नास्ति दोषः. संस्कारस्य अननुभूत-विषयोपस्थापकत्वं तावत् प्रत्यभिज्ञायां दृश्यते. संस्कार-सन्निकर्षाभ्यां जायमानं ज्ञानं 'प्रत्यक्षम्' उच्यते. तत्र संस्कारोऽपि कारणम्. तत्र अतीतत्वांशो यः प्रत्यभिज्ञायां विषयीक्रियते सच अतीतत्वांशः संस्कारबलात् उपस्थाप्यते. ततश्च संस्कारस्य अननुभूत-विषयोपस्थापकत्वं सर्वेणापि प्रत्यभिज्ञाविषये अंगीकृतं वर्तते. एवं स्मरणस्थलेऽपि अननुभूतस्यापि अतीतत्वस्य विषयीकरणं संस्कारवशाद् भवति. संस्कारस्य तादृशं सामर्थ्यं सर्वैरपि अंगीकर्तव्यं भवति. इति हेतोः तत्र मनः करणं, संस्कारः व्यापारः, स्मृतिश्च फलम्. एवं स्मरणम् असाधारणं फलं भवति मनसः. तस्मात्,

मनसः इन्द्रियत्वं वर्तते इति हेतोः स्मरणं मानसप्रत्यक्षम्. तस्य प्रत्यक्षभिन्नत्वं कथमपि वक्तुं न शक्यते इति द्वैतदर्शने प्रतिपाद्यते.

एतस्मिन् दर्शने साक्षिरूपम् इन्द्रियं स्वीकृतं वर्तते. आत्मस्वरूपम् इन्द्रियं 'साक्षी' इति उच्यते. अत्रतु अयं विशेषः. 'साक्षी' इति शब्दः इन्द्रियेऽपि प्रयुज्यते, फलेऽपि प्रयुज्यते. अत्र आत्मा तावत् फलरूपोऽपि. साक्षिज्ञानस्वरूपम् अस्ति तथा इन्द्रियस्वरूपमपि, उभयमपि आत्मस्वरूपमेव. साक्षिरूपस्य ज्ञानस्य आत्मस्वरूपं विषयः, आत्मधर्माः सुख-दुःखादयः ये भवन्ति तेऽपि विषयाः, एवं आकाशः, कालः, मनः, मनोवृत्तयः, एते सर्वेऽपि साक्षिविषयाः एतस्मिन् दर्शने स्वीक्रियन्ते.

गोस्वामिचरणैः यदा विषयनिरूपणं कृतं तत्र मया श्रुतं यत् सुषुप्तिकाले चित्तं जाग्रतं भवति. अन्तःकरणस्य प्रभेदेषु अन्यतमद् भवति चित्तम्. चित्तस्य जाग्रत्त्वं स्वीक्रियते. चित्तेन तावद् आत्मनो अनुभवो वर्तते इति. किन्तु द्वैतदर्शने, अद्वैतदर्शने, विशिष्टाद्वैतदर्शने अपि मनः सर्वथा सुषुप्तौ उपरतं भवति. मनसो जाग्रत्त्वं सुषुप्तिकाले कथमपि नास्ति.

नैयायिकाः वदन्ति, सुषुप्तिकाले ज्ञानमेव नास्ति इति. तत्र दुःखाभावो वर्तते. दुःखाभावस्य अनुभवोऽपि नास्ति. कुतः ? किमपि करणं तत्र नास्ति. करणानि भवन्ति षट्, बाह्येन्द्रियाणि अन्तरिन्द्रियं च. सर्वाण्यपि करणानि सुषुप्तिकाले उपरतानि सन्ति. एवञ्च ज्ञानसाधनं किमपि नास्ति. तस्मात् सुषुप्तिकाले ज्ञानमेव नास्ति इति.

अद्वैतवेदान्तिनस्तु स्वापकाले आनन्दस्य अनुभवो वर्तते. अयञ्च आनन्दः आत्मस्वरूपभूत इति स्वीकुर्वन्ति. यतोहि ''एतावन्तं कालं सुखम् अहम् अस्वाप्सम्'' इत्येवम् औत्तरकालीनः परामर्शो भवति तस्मात् कारणात् सुखस्य अनुभवो अवश्यं स्वीकर्तव्यः सुषुप्तिकाले. सुखस्य अनुभवः केन वा करणेन भवति ? मनः तथा सर्वविधं करणं तदानीम् उपरतं वर्तते.

तदानीम् आत्मा वर्तते. आत्माच स्वप्रकाशः, आत्मस्वरूपं, साक्षिरूपं ज्ञानं आत्मस्वरूपभूतं सुखं विषयीकरोति. सुखानुभवः चैतन्यात्मकः वर्तते इति वेदान्तिनां मतम्.

प्रद्योतकुमार : सुषुप्तिकाले यत् सुखं प्रकाशितं भवति तत्सुखं ...

डी.प्रह्लादाचार : न वैषयिकं सुखम्.

प्रद्योतकुमार : न. आनन्दस्वरूपं नतु वृत्तिरूपम्?

डी.प्रह्लादाचार : नैव. सुखं द्विविधम्. १. मनःपरिणामभूतं सुखम् एकम्. एतदेव वृत्तिरूपं सुखम् उच्यते. २. आत्मस्वरूपभूतम् अपरम्. चैतन्यस्वरूपभूतं सुखन्तु सुषुप्तिकाले अनुभूयते. साक्षिरूपस्य ज्ञानस्य अथवा साक्षिरूपस्य इन्द्रियस्य अनेके विषयाः भवन्ति. कालः विषयः. "इदानीम् इदम् अस्ति, इदं नास्ति" इति वयं वदामः. 'इदानीम्' इति कालानुभवो वर्तते. अयञ्च कालानुभवो न अनुमानजन्यः. लिंगपरामर्शः इदानीं नास्ति, शब्दः च नास्ति, उपमानस्य कालविषये प्रसक्तिरेव नास्ति. तथाच प्रत्यक्षानुभवः कालस्य विषये वक्तव्यः. बाह्यानाम् इन्द्रियाणां अन्तःकरणस्य च तत्र प्रवेशो नास्ति. किन्तु साक्षिणः.

एवम् आकाशोऽपि साक्षिविषयः. अन्धकारे अस्माभिः हस्तप्रसारणं क्रियते. तदानीम् अस्माकम् अयं विश्वासः "अस्ति अत्र आकाशः" इति. आकाशो वर्ततइति सिद्धवत्कृत्य हस्तप्रसारणं कुर्मः. नहि अस्माभिः आकाशो अत्र वर्तते इति केनापि अनुमानेन ज्ञात्वा तदनन्तरं हस्तप्रसारः क्रियते. स्वयं हस्तप्रसारः क्रियते खलु. तस्मात् आकाशोऽपि साक्षिविषयः इति सर्वैः अंगीकर्तव्यं भवति.

मनोरूपम् इन्द्रियं साक्षिविषयः. इतरेषाम् इन्द्रियाणां साक्षिविषयत्वं न उच्यते. बाह्येन्द्रियाणां साक्षिविषयत्वं नास्ति. "मम मनः एवं वदति" इति वदामः. तत्र मदीयं मनः मया अनुभूयते, सुख-दुःखादिमनोवृत्तयः याः भवन्ति तासाम् अनुभवो मम भवत्येव. एवम् एतत् सर्वमपि साक्षिणा

गृह्यते. साक्षिरूपम् इन्द्रियं, साक्षिरूपं ज्ञानं च यदि न स्वीक्रियेते तर्हि आकाशस्य ज्ञानं न स्यात्. अन्तःकरणस्य मनसः आकाशविषये सामर्थ्याभावात्. आकाशो बाह्यः पदार्थः, मनस्तु अन्तरिन्द्रियम्. अन्तःकरणस्य बाह्यार्थे साक्षात् सम्बन्धः केनापि न अंगीकृतः. तथाच कालाकाशादीनाम् अनुभवः कथं भवति इति वक्तुं न शक्यते. एवं सुषुप्तिकाले सुखस्य अनुभवः कथं भवति इति वक्तुं न शक्यते इति हेतोः साक्षिरूपम् इन्द्रियम् अवश्यम् अंगीकार्यम्. अतः इन्द्रियं सप्तविधम् इति एतन्मते स्वीक्रियते.

प्रत्यक्षं तावत् निर्विकल्पकं सविकल्पकम् इति द्विविधं नास्ति. सर्वं ज्ञानं सविकल्पकमेव. शिशोः यज् ज्ञानं भवति तदपि ज्ञानं सविकल्पकमेव. भवन्तः सर्वे वदेयुः कथम् इदमिति. शिशोः यज् ज्ञानं भवति तत् निर्विकल्पकमेव स्याद् इति. परन्तु किमपि प्रमाणं तत्र वक्तव्यम्. शिशोः अनुभवो न मम अनुभवो भवति. भवद्भिः पृच्छ्येत : शिशोः सविकल्पकं ज्ञानम् अस्ति इत्यत्रापि किं प्रमाणम्? इति. परन्तु अस्माकम् अनुभवः परिशील्यतां नाम, अनन्तरं शिशोः अनुभवः परिशीलयितुं शक्येत.

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : ... किञ्चिद् इति ज्ञानं जायते ...
डी.प्रह्लादाचार : तर्हि किञ्चित्वप्रकारकं ज्ञानं भवति.
विन्ध्येश्वरीप्रसाद : ...विकल्प...
डी.प्रह्लादाचार : 'विकल्पो' नाम प्रकारः. ''इदं किञ्चिद्'' इत्यत्र किञ्चित्वेन रूपेण ज्ञातं वर्तते. सर्वथा निष्प्रकारकं वस्तुमात्रग्राहकम् ज्ञानं असम्भावितं भवति. अपिच इन्द्रियस्य वस्तुना यदा सन्निकर्षः भवति तदा नैके पदार्थाः भासन्ते इति अवश्यम् अभ्युपगन्तव्यम्. घटो अस्ति, घटे रूपं वर्तते, रूपघटयोः यः समवायः, समवायस्य ऐन्द्रियकत्वं ये अभ्युपगच्छन्ति तन्मते, एते त्रयोऽपि इन्द्रिययोग्याः सन्ति, इन्द्रियेण तेषां सन्निकर्षो भवति. सतिच एवं वस्तुत्रयविषयकं निर्विकल्पकं ज्ञानं जातम् इति वक्तव्यम्. वस्तुत्रयं कुतः? घटत्वं घटः, रूपत्वं रूपम्, समवायत्वं समवायः एवं न्यूनातिन्यूनतया षट्पदार्थविषयकं प्रत्यक्षं जायते इति अवश्यं

स्वीकर्तव्यं भवति.

नैयायिकाः वदेयुः : तेषां मध्ये परस्परं सम्बन्धस्तु न अस्माभिः अवगतः, पृथक्तया सर्वेऽपि पदार्थाः गृहीताः. तेषां परस्परसम्बन्धस्तु न गृहीतः इति. तत्र किं कारणम्? इति वक्तव्यम्. नैयायिकैः विशिष्टज्ञानं प्रति विशेषणज्ञानं कारणम् इति कार्यकारणभावं सिद्धवत्कृत्य ''रूपी घटः'' ''अयं घटः'' इत्यादिज्ञानं विशिष्टज्ञानं भवति. विशिष्टज्ञानस्य च विशेषणज्ञानजन्यत्वनियमात्, विशेषणज्ञानं पूर्वम् अंगीकर्तव्यम्. विशेषणज्ञानस्यापि सविकल्पकत्वे तस्यापि विशेषणज्ञानजन्यत्वम् इति अनवस्था स्यात्. अनवस्थापरिहारार्थं निर्विकल्पकज्ञानम् अंगीकरणीयं भवति. विशेषणज्ञानं च निर्विकल्पकम् इति उच्यते. परन्तु अस्मिन् नियमे किं प्रमाणम्? इति पृच्छ्यते. विशिष्टज्ञानं प्रति विशेषणज्ञानं कारणं कुतः? सर्वं ज्ञानं विशषेणज्ञानजन्यम् इति नैयायिकेनापि वक्तुं न शक्यते. स्मरणात्मकं ज्ञानं निर्विकल्पकज्ञानं किमपि जायते, तदनन्तरं सविकल्पकज्ञानं स्मरणात्मकं उत्पद्यते इति केनापि वक्तुं शक्यते किम्? स्मरणविषये नास्ति. ...

प्रद्योतकुमार : निर्विकल्पकस्मरणमपि सम्प्रदायविशेषे अंगीकृतम् अस्ति.

डी.प्रह्लादाचार : एवम्. गदाधरभट्टाचार्येणापि. तत्र स्मरणस्य तावत् सविकल्पकत्वमेव अंगीकृतम्. एवञ्च यज् ज्ञानं विशिष्टं ज्ञानं तत् सर्वं विशेषणज्ञानजन्यम् इति नियमः त्यक्तः.

प्रद्योतकुमार : अभावप्रत्यक्षे निर्विकल्पकजन्यत्वं नास्ति.

डी.प्रह्लादाचार : अभावज्ञानं प्रति प्रतियोगिज्ञानं कारणं भवति. तत्र प्रतियोगि विशेषणम् अस्ति. एवञ्च अभावज्ञानं विशिष्टज्ञानं सत् विशेषणज्ञानजन्यम्. अभावप्रत्यक्षविषये विशिष्टज्ञानस्य विशेषणज्ञानजन्यत्वं सिद्धम् अस्ति. यद् विशेषयोः कार्यकारणभावः तत्सामान्ययोः कार्यकारणभावः इति न्यायानुसारेण सर्वस्यापि ज्ञानस्य विशेषणज्ञानजन्यत्वम् स्वीकरणीयम् इति नैयायिकाः वदन्ति. परन्तु यदि यद्विशेषयोः कार्यकारणभावः तत्सामान्ययोः

कार्यकारणभाव: इति नियम: स्वीक्रियते तर्हि सर्वस्यापि ज्ञानस्य विशेष्यज्ञानजन्यत्वमपि स्वीकर्तव्यं भवति. यतोहि अनुमितिस्थले ''पर्वतो वह्निमान्'' इति अनुमिति: विशिष्टज्ञानम् अस्ति. इदञ्च विशिष्टज्ञानम् अनुमित्यात्मकं कदा भवति? पर्वतस्य विशेष्यस्य ज्ञानं पूर्वं वर्तते चेत्. पर्वतस्य ज्ञानं, विशेष्यस्य पक्षस्य ज्ञानं नास्ति चेत् अनुमिति: न उत्पद्यते. एवञ्च अनुमितिस्थले विशिष्टज्ञानं विशेष्यज्ञानजन्यं वर्तते. यदि विशेषयो: कार्यकारणभाव: इति न्याय: सर्वत्र अनुम्रियते चेत् तर्हि सर्वं ज्ञानं विशेष्यज्ञानजन्यमपि स्वीकरणीयं भवति. एवञ्च अनुमितिस्थले विशिष्टज्ञानस्य विशेष्यज्ञानजन्यत्वदर्शनेऽपि सर्वस्यापि ज्ञानस्य विशेष्यज्ञानजन्यत्वं यथा न स्वीक्रियते तथा अभावज्ञानस्थले अभावज्ञानं प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वेन अंगीकृतत्वेऽपि सर्वत्र विशेषणज्ञानस्य कारणत्वं न स्वीकर्तव्यम्. अपिच अस्ति तादृशं विशिष्टं ज्ञानं यद् विशेषणज्ञानजन्यं न भवति, यथा स्मरणात्मकम्, एवञ्च अनेकशो व्यभिचार: दृश्यते इति हेतो: अयं नियमएव अप्रामाणिक:. यं नियमम् आधारीकृत्य अनेकै: दार्शनिकै:, विशेषतो बौद्धै:, नैयायिकै: च निर्विकल्पकं ज्ञानं किमपि समर्थयितुं प्रयत्न: क्रियते.

चर्चा

द्वैतदर्शने प्रत्यक्षस्वरूपम्

प्रो. डी. प्रह्लादाचार

वी. एन्. झा : प्रमातृस्वरूपम् इन्द्रियत्वेन स्वीकृतम्. तर्हि कर्तृकरणयोः ऐक्यम्...

डी.प्रह्लादाचार : तत्तु सत्यम्. अत्र अयं प्रश्नः. प्रमाता चेतनः साक्षिरूपी इन्द्रियात्मकः इति उच्यते. तत्र भवद्भिः अयं प्रश्नः करणीयः. कर्तृ-करण-फलानां ... कर्तृकरणयोः अभेदः स्वीक्रियते इति. परन्तु अत्र अयं विशेषः. चेतनस्य, साक्षिणः इन्द्रियत्वं यदा उच्यते तदा सः स्वभिन्नं ज्ञानम् उत्पादयति इति न अर्थः. यथा चक्षुः स्वभिन्नं ज्ञानम् उत्पादयति तथा अत्र साक्षिरूपः चेतनः स्वभिन्नं ज्ञानम् न उत्पादयति किन्तु स्वात्मानमेव विषयसम्बद्धतया अभिव्यनक्ति इति हेतोः इन्द्रियत्वेन व्यवहारः क्रियते.

गो. श्या. म. : "उद्धरेद् आत्मना आत्मानम्" आत्मना आत्मानम् उद्धरेत्. कर्तृ-करणयोः ऐक्यम्.

प्रद्योतकुमार : अद्वैतवेदान्ते साक्षिज्ञानं स्वीकृतम्. The reason why they admit Sākṣi Pratyakṣa is this that they admit perception of pleasure etc. But at the same time they find Manas is not an Indriya. And therefore, to account for it they have to admit a separate type of Pratyakṣa. That is there position. The idea is this that here 'Pratyakṣa' is used in the same sense Vṛttijñāna. In the Vṛttijñāna what happens is this that Viṣayākar Vṛtti is necessary for any

pratyakṣa may be possible whether सुखविषयकः घटविषयकः, विषयाकारवृत्तिः is necessary. But since in the case of Sukha-Duḥkha etc. such Antaḥkaraṇa--Vṛtti is not possible, they admit Avidyā Vṛtti. अविद्यावृत्तिसहायेन यस्य विषयस्य प्रत्यक्षं तत् साक्षिप्रत्यक्षम्. तत्र साक्षिस्वरूपं नतु इन्द्रियं, तत्तु चैतन्यमेव! किञ्चिदुपाधि-विशिष्टतया तस्य साक्षित्वेन व्यवहारः. परन्तु अत्र सुखदुःखादीनां यज् ज्ञानं तत् प्रमातृरूपसाक्षिरूपेन्द्रियेण जन्यते. तस्य किं स्वरूपम्? वृत्तिरूपं ज्ञानं तत्?

डी.प्रह्लादाचार : अद्वैतसिद्धान्ते साक्षिरूपं ज्ञानम् अंगीक्रियते. भवद्भिः उक्तरीत्या अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितं चैतन्यं साक्षि इति अंगीक्रियते. सुख-दुःखादिकं न बाह्यम् अन्तरा भवति. मनःपरिणामभूता एव तस्मिन्नपि मते. परन्तु तत्र शुद्धस्य चेतनस्य विषयग्राहकत्वं न अंगीक्रियते. शुद्धः चेतनः स्वप्रकाशो अंगीक्रियते. स्वप्रकाशः इत्यस्यापि प्रमाणान्तरेण अवेद्यः इति, अद्वैतदर्शने इदं विवरणं दीयते. परन्तु शुद्धस्य चेतनस्य सुखादिग्राहकत्वं नास्ति. यदा वृत्तिसम्बन्धं प्राप्नोति तदानीमेव सः चेतनः विषयं ग्रहीतुं प्रभवति. अतएव अविद्यावृत्ति-प्रतिबिम्बितं चैतन्यं साक्षिरूपं स्वीकृत्य एतस्य साक्षिणो विषयाः भवन्ति सुख-दुःखादयः इति ते निरूपयन्ति.

प्रद्योतकुमार : तत्र साक्षिग्राहकं ...

डी.प्रह्लादाचार : साक्षि तावत् चेतनस्वरूपं ज्ञानम्.

प्रद्योतकुमार : विषयि, नतु इन्द्रिय...

डी.प्रह्लादाचार : इन्द्रियत्वं तैः न उक्तम्.

प्रद्योत कुमार : अनयोः मध्ये श्रेयस्करः पक्षः कः?

डी.प्रह्लादाचार : द्वैतमतेतु साक्षिरूपं ज्ञानं स्वीकृतम्. यथा अद्वैतमते साक्षिरूपं ज्ञानं चेतनस्वरूपं ज्ञानम् अस्ति तद्वदेव साक्षिरूपं चेतनात्मकं ज्ञानं स्वीकृतम् अस्ति. एतस्मिन् अंशे अनयोः

साम्यं भवति. अन्येषु बहुषु विषयेषु वैलक्षण्यम् भवति. अद्वैतसिद्धान्ते साक्षिरूपं ज्ञानम् अयथार्थमपि भवितुम् अर्हति. यतोहि शुक्तिरजतज्ञानं यदा भवति...

प्रद्योतकुमार : श्रुतयोऽपि न प्रमा!

डी.प्रह्लादाचार : शुक्तिरजतज्ञानं यदा जायते तच्च ज्ञानं साक्षिरूपं ज्ञानमेव. तत्र अविद्यापरिणामो वर्तते. शुक्तिरजतम् अविद्यापरिणामः. तद्विषयीकारित्वं स्वीक्रियते. एवञ्च शुक्तिरजतज्ञानं यद् भ्रान्तिरूपं ज्ञानं तत् साक्षिरूपं भवति.

द्वैतदर्शने साक्षिरूपं ज्ञानं नियमेन यथार्थम्. इदं ज्ञानम् अयथार्थं कदापि न अनुभूयते. अस्माकम् ''अहम् अस्मि न वा?'' इति संशयो वा ''अहं न अस्मि'' इति विपरीतनिश्चयो वा नास्ति. यदा ''मयि सुखं दुःखं वा नास्ति तदानीम् अहं सुखी अहं दुःखी'' इति अनुभवो नास्ति. यदा सुखम् अस्ति तदानीमेव ''अहं सुखी'' इति ज्ञानम्. यदा दुःखम् अस्ति तदानीमेव ''अहं दुःखी'' इति ज्ञानम्. एवं साक्षिणा यद्यद् गृह्यते तत् सर्वदा सत्यमेव भवति.

गो. श्या. म. : Synthetic a priori.

डी.प्रह्लादाचार : साक्षिरूपं ज्ञानं कदापि अयथार्थं न भवति. इदं किञ्चिद् वैलक्षण्यम्. भवतां प्रश्नस्तु भवति, साक्षिणः इन्द्रियत्वं कुतः? साक्षिरूपं ज्ञानं स्वीक्रियतां, यथा अद्वैतदर्शने, अत्र साक्षिणः इन्द्रियत्वं कुतः? इति. यद्यपि साक्षी एकएव. इन्द्रियभिन्नं साक्षिरूपं ज्ञानम् अत्र नास्ति. साक्षिचेतनस्तु वर्तते इदानीमपि. सच चेतनो विषयान् अभिव्यनक्ति. चेतनरूपं ज्ञानं नैव जायते. तच्च ज्ञानं नित्यं परन्तु विषयाभिव्यञ्जकत्वं तावत् विशेषतो भवति. पूर्वं विषयाभिव्यञ्जकत्वं यन् न आसीत् तद् इदानीं जातम्. तत्र किं करणम्? स्वयमेव.

प्रद्योतकुमार : आवरणभंगम्.

डी.प्रह्लादाचार : किमपि उच्यताम्. परन्तु विषयाभिव्यञ्जकत्वं यत् पूर्वं न आसीत् चेतनरूपस्य ज्ञानस्य ... ज्ञानन्तु आसीत्. परन्तु तत्र विषयाभिव्यञ्जकत्वम् इति कश्चन विशेषः कोऽपि जातः.

प्रद्योतकुमार : विषय... आवरकत्वं नास्ति.

डी.प्रह्लादाचार : तत्र किमपि अन्यत् करणं नास्ति, स्वयमेव विषयाभिव्यञ्जकमपि भवति इति हेतोः तस्यैव इन्द्रियत्वेनापि व्यवहारः क्रियते.

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इति दृष्ट्या इन्द्रियं नैव इन्द्रएव.

डी.प्रह्लादाचार : तद् अस्तु. तत्तु अन्यया रीत्यापि वक्तुं शक्यते. तत्र इन्द्रत्वं नाम महासामर्थ्यशालित्वं यत्किमपि तद् भवतु नाम. अत्र तावत् साक्षिरूपं यज् ज्ञानं वर्तते ... 'ज्ञानं' नाम विषयाभिव्यक्तिः ...

प्रद्योतकुमार : सुषुप्तिकाले यत् सुखं प्रकाशितं भवति तच्च चैतन्यस्वरूपमेव इति चेत् तस्य स्वप्रकाशत्वम्. तत्प्रकाशार्थं कथम् इन्द्रियं स्वीकार्यम् ?

डी.प्रह्लादाचार : जाग्रत्कालेऽपि सएव चेतनो अस्ति. स्वापकाले यत् सुखम् अनुभूयते तत् सुखं जाग्रत्काले न अनुभूयते. जाग्रत्काले अनुभूयमानं सुखं हि दुःखमिश्रितं भवति. तत्तु जडभूतं सुखम्. अन्तःकरणपरिणामभूतं वृत्तिरूपं सुखं तत्. चैतन्यात्मकं यत् सुखं ... दुःखामिश्रितं सुखं वर्तते ...

वी. एन्. झा : ... ज्ञानजन्यम्...

डी.प्रह्लादाचार : तद् अभिव्यक्तिमात्रम्. सर्वत्रापि अभिव्यक्तिरेव तत्र.

प्रद्योतकुमार : तत्तु स्वप्रकाशम् ?

डी.प्रह्लादाचार : स्वप्रकाशं नाम ... अभिव्यक्तिस्तु जाता. पूर्वम् अभिव्यक्तिः न असीत्, इदानीम् अभिव्यक्तिः अभूत्.

प्रद्योतकुमार : सुषुप्तिरेव तत्र सहकारिणी ?

डी.प्रह्लादाचार : सुषुप्तिः नाम अवस्थाविशेषः. तस्याम् अवस्थायाम् अभिव्यक्तिः जाता. तादृशाभिव्यक्तेः स्वयमेव तत्र का...

प्रद्योतकुमार : तदवस्थाविशेषे यत् सुखस्य प्रकाशो अस्ति तत्र इन्द्रियस्य किं कार्यम् ?

डी.प्रह्लादाचार : इन्द्रियं किमपि अन्यत् नास्ति.

अच्युतानन्द दास : तत्र एका शंका. यदि साक्षिरूपस्य चैतन्यस्य इन्द्रियत्वं स्वीकुर्वन्ति तर्हि सामान्यतः ''इन्द्रियम् अतीन्द्रियम्'' इति उच्यते. आत्मनस्तु साक्षात्कारो भवत्येव. तथा सति पुनः इन्द्रियस्य लक्षणं किञ्चित् अन्यया रीत्या वक्तव्यं भविष्यति किल ? साक्षिरूपं यद् आत्मचैतन्यं वर्तते ... साक्षिणः इन्द्रियत्वे स्वीकृते सति इन्द्रियम् अतीन्द्रियम् इति कथा कदाचित् अपास्ता भविष्यति. यतः साक्षिणः ...

डी.प्रह्लादाचार : इन्द्रियम् अतीन्द्रियं नाम बाह्येन्द्रियाणां वा मनसो वा अविषयः इति अर्थः. मनस्तु इन्द्रियम् एतस्मिन् अर्थे अतीन्द्रियम्. किन्तु मनः साक्षिविषयम् इति मया प्राग् ... नैयायिकमते भवतु नाम. तत्र नैयायिकान् प्रति ऐन्द्रियकत्वं मनसः साध... एतस्मिन् दर्शने ...

बलिराम शुक्ल : तेषाम् आशयः इदं भवति, तत्र इन्द्रियत्वं नाम किम् ? :

डी.प्रह्लादाचार : इन्द्रियत्वं प्रत्यक्षात्मकज्ञानकरणत्वम्.

बलिराम शुक्ल : तद् यत्र कुत्रापि वर्तते तत्र सर्वत्रापि इन्द्रियत्वम्.

डी.प्रह्लादाचार : एवम्.

बलिराम शुक्ल : तर्हि विषयस्यापि इन्द्रियत्वापत्तिः भविष्यति.

डी.प्रह्लादाचार : तत्तु वर्तते. तथापि सर्वेष्वपि मतेषु योऽपि अयं विषयः चर्चितः तत्र सन्निकर्षः तावत् प्रत्यक्षम् इति उच्यते. प्रत्यक्षम् अक्षस्य यथा अर्थसन्निकर्षो भवति, अर्थस्यापि अक्षसन्निकर्षो वर्तते. एवञ्चेत् 'प्रत्यक्षं' ज्ञानम् इति कुतः ? 'प्रत्यर्थं' ज्ञानम्

इति व्यवहारः स्यात्. ...इति तैः शास्त्रिभिः उक्तम्. तत्र अक्षस्य करणत्वात् करणस्य प्राधान्यं स्वीकृत्य खलु व्यपदेशः स्वीक्रियते.

प्रद्योतकुमार : भवतो अभिप्रायः एवम् आसीत् यद् विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानपूर्वकम् इति नियमे का युक्तिः ? नास्ति युक्तिः तत्र. कथम् ? यदा विशेषणज्ञानपूर्वकं विशिष्टज्ञानम्, अनुमिति शब्दोऽपि that rule will be applied. But in that case you have not done distinction between ... if I say in case of Anumiti, Śabda all these cognitions are necessarily, नियमतो विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही नतु विशिष्टज्ञानम्.

डी.प्रह्लादाचार : विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानं विशिष्टज्ञानमपि भवति. विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानं विशेषणतावच्छेदक-प्रकारकज्ञानजन्यं विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानजन्यम् इति एवम् उच्यते. शाब्दरूपं ज्ञानम् अनुमित्यात्मकं ज्ञानं विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं भवति. प्रत्यक्षमपि तथैव. यथा "घटो रूपी" इति प्रत्यक्षं जायते तदानीं रूपत्वविशिष्ट-रूपवैशिष्ट्यावगाही इदं ज्ञानं भवति. अयं घटः इति ज्ञानन्तु घटत्वविशिष्टज्ञानं यदि घटत्वस्य स्वरूपतो भानम् अंगीक्रियते. "दण्डी पुरुषः" इत्यादौ तावत् विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञानं ...

(अत्र सहसा विद्युत्प्रवाहोपरोधाद् ध्वनिमुद्रणभंगः)

Perceprion :
Sāṅkhya and Śuddhādvaitic Views

Dr. Sunanda Y. Shastri

In the field of epistemology, perception as means of valid knowledge has been unanimously accepted by the systems of thought as an important one. Sāṅkhya system has accepted three means of valid knowledge i.e. perception, inference and testimony.

दृष्टम् अनुमानम् आप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणम् इष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद् हि॥
(सांख्यकारिका ४)

Sāṅkhyas do not accept the other means of valid knowledge like comparison(उपमान), assumption (अर्थापत्ति), non-apprehension(अनुपलब्धि), (ऐतिह्य) tradition, intuition (प्रतिभा) etc. All these other valid means of knowledge can be reduced to either perception, inference or testimony. Anything that can be known must be demonstrably established in relation with one of these means of valid knowledge.

Sāṅkhya Sūtra "तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेः नाधिक्यसिद्धिः" (I.88) emphasizes that there should be only three Pramāṇas. While commenting on this Sūtra Vijñānabhikṣu (सांख्यप्रवचनभाष्य १।८८) explains that

for the accomplishment of all purposes perception, inference and testimony alone are enough. Accepting additional Pramāṇas is unnecessary. त्रिविधप्रमाणसिद्धौ च सर्वस्य अर्थस्य सिद्धेः न प्रमाणाधिक्यं सिध्यति, गौरवाद् इति अर्थः. In this regard Vijñānabhikṣu quotes Manu :

प्रत्यक्षम् अनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिम् अभीप्सता ॥

(XII.105)

"One who desires purity in the path of righteousness should resort to these three means of valid knowledge viz. perception, inference and scriptures".

Sāṅkhyakārikā places perceprtion in the first place in Kārikā 4 and on it Māthārācārya says: "यथा श्रोत्रादीनां शब्दादयः पञ्चेन्द्रियार्थाः पञ्चानां दृष्टं प्रमाणम्. प्रथमम् इदं मुख्यं सफलप्रमाणानाम्". Perception is caused by sense capacities. Perception is the principle instrument of knowledge and is hence stated first. Vācaspati states three reasons why perception has to be considered first of all the means of valid knowledge viz. 1. Perception occurs in time before the other means of valid knowledge such as inference etc. 2. the other means of valid knowledge dependent on perception and 3. every system of philosophy accords first place to perception. Sāṅkhyakārikā has given word 'दृष्टम्' for perception and Māṭharācārya has explained what 'दृष्टम्' means in the Kārikā. It says 'दृष्टम्' is synonym of 'प्रत्यक्ष'=perception. "दृष्टम् इति प्रत्यक्षपर्यायः. अक्षम्

इन्द्रियं प्रतीत्य यद् उत्पद्यते ज्ञानं तत् प्रत्यक्षं दृष्टम् उच्यते''. The knowledge which arises through sense object contact is called perception.

Definition of perception put forth by Sāṅkhyakārikā is ''प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्''. Perception is The reflective discerning (अध्यवसाय) that rises through sense-contact with the particular object of sensing. (सां.का.४). अध्यवसाय Could be understood as belief or discrimination. Mātharācārya explains the 'अध्यवसाय' as, the knowledge obtained through eye etc., five sense organs - object contact i.e. ''विषयं विषयं प्रति यो अध्यवसायो नेत्राणाम् इन्द्रियाणां पञ्चानां रूपादिषु पञ्चसु तत् प्रत्यक्षं प्रतिपत्तिरूपं दृष्टाख्यम्''. Vācaspati defines perception as ''reflective discerning'' as belief (निश्चय) as opposed to doubt or vacillation (संशय). Vijñānabhikṣu's definition is not far from the above definition. Commenting on Sāṅkhyasūtra, ''यत्सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्'' (सांख्यप्रवचनसूत्र I.89). Vijñānabhikṣu says, when connected with the object, the (बुद्धिवृत्ति) modifications of mind take the form of that object, that is perception. ''सम्बद्धं भवत् सम्बद्धवस्त्वाकारधारि भवति यद् विज्ञानं बुद्धिवृत्तिः तत् प्रत्यक्षं प्रमाणम् इति अर्थः'' (सांख्यप्रवचनसूत्रभाष्य I.89). This clearly signifies that for the accomplishment of perception unhindered sense object contact is necessary.

Process of perception according Sāṅkhyas is more or less understood from their definition of perception. Sāṅkhyakārikā does not clarify the process of perception. It simply says 'दृष्टम्' and defines, ''प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्'' from which one understands only that five sense organs perceive sense objects.

Vācaspatimiśra has elaborately described the process of perception, that is, "Perception is the reflective discerning (अध्यवसाय) that arises through the direct contact (सन्निकर्ष) between a sense-capacity (इन्द्रिय) and a real object to be known (प्रमेय)such as earth, pleasure etc". Such reflective discerning, which is on operation of intellect, is one important kind of awareness, and this kind of awareness arises when the intellect is in its Sattva modality has been subverted. When there is such contact between a sense capacity and an object with the resulting awareness taking place in intellect, the condition is also known as an operation (वृत्ति). Awareness, operation and intellect, it should be noted are manifestations of materiality, and thus are devoid of consciousness. Nevertheless, the intellect casts a kind of shadow of perhaps better, becomes a reflection (प्रतिबिम्ब) in the pure medium of consciousness so that it appears as if it were consciousness. By the same token the images that manifest themselves in consciousness appear to characterize the nature of consciousness. Finally, it should be noted that the description of perception as direct contact with specific object excludes doubt, misconception, inference and memory (Encyclopaedia of Indian Philosophies, vol.IV Sankhya,p.303). Sāṅkhyapravacanabhāṣya's definition leads us to understand the process more clearly, i.e. modification of mind/intellect take form of outer object.

The process by which a means of valid knowledge works in this— first intellect assumes the form is reflected as an

image in consciousness. Since consciousness can not be modified, his reflection can only be an image. "इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्निकर्षेण लिंगज्ञानादिना आदौ बुद्धेः अर्थाकारा वृत्तिः जायते" (सांख्य.प्र.भाष्य I.87).

The Yoga school calls the process of awareness as 'चित्तवृत्ति' instead of 'बुद्धिवृत्ति' or 'अन्तःकरणवृत्ति' Vyāsabhāṣha on Pātañjala Sūtra defines the process of perception as the modification of the mind being connected with an outside object through the channel of sense organs and making that object its own. Mainly comprehends the special nature of the object which has general and special characteristics is the source of correct knowledge called 'perception'. The result of perception is the knowledge of modification of the mind as belonging to the Puruṣa (self) which is identical with the modifications of mind. Puruṣa is conscious by reflection.

> "इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषयः सामान्यविशे-षात्मनो अर्थविशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्. फलम् अविशिष्टः पौरुषेयः चित्तवृत्तिबोधः. बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः इति"
>
> (पातं.सू.समा.पा.७.व्यासभा.)

Vijñānabhikṣu explains Vyāsabhāsya even more perfectly. He says: "The senses are themselves the channels i.e. the path through which the mind travels, combining with them and through their parts, the mind affected by the outside objects, becomes one with the objects, only with the help of the senses. The mind alone does not become one with

the object, just as, when the conch is seen yellow, it is the presence or absence of bile in the eyes, which is its cause. Therefore, in seeing colour and so on, the eyes etc. also is mentioned as 'cause' in the Śāstras and not the mind alone.

"इन्द्रियाण्येव नाडी-चित्तसञ्चरणमार्गाः, तैः संयुज्य तद्गोलकद्वारा बाह्यवस्तुषु उपरक्तस्य चित्तसेन्द्रियसाहित्येनैव अर्थाकारः परिणामो भवति न केवलस्य चित्तस्य, शंखपैत्त्याद्याकारतायां नयनादिगत-पित्ताद्यन्वय-व्यतिरेकाभ्याम्. अतो रूपादिवृत्तिषु चक्षुरादीनामपि कारणत्वं शास्त्रेषु उच्यते".

(Vijñānabhiksu's Vārtika on Vyāsabhāṣya, Samādhipāda-7).

This indicates only the outside object's knowledge or perception. It does not include perception of Ātman or Īśvara, since it combining with the senses does not give rise to it. In the perception of Ātman or Īśvara, there are no senses involved.

We gain perceptual knowledge through five sense organs of sound, touch, colour, taste and smell. Sometimes knowledge of perception is obstructed due to many reasons. Sāṅkhyakārikā enumerates eight such reasons viz.

1. being very far,
2. being very close,
3. disability of sense organs,
4. mind being inattentive,
5. object being too subtle,

6. object being hidden,

7. being overpowered by some other object and

8. being mixed with similar things

—sense object contact does not take place and prevent ordinary perception.

अतिदूरात् सामीप्याद् इन्द्रियघातात् मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानाद् अभिभवात् समानाभिहारात् च॥
(सांख्यकारिका ७)

Thus non-apprehension of existents is of eight kinds, whereas, non-existence (अभाव)is of four kinds viz. 1.prior non-existence (प्रागभाव) 2.posterior non-existence (प्रध्वंसाभाव) 3. absolute non-existence (अत्यन्ताभाव) and 4. mutual non-existence (अन्योन्याभाव) . This makes non-apprehension as of twelve kinds. Māṭharācārya says: "एवम् इयं द्वादशधा अनुपलब्धिः. सताम् अष्टधा हि असतां चतुर्धा" For ordinary persons, perceptions are limited to specific awareness related to the gross aspects of experience, by Yogis and other higher beings are also able to perceive 'non-specific' (अविशेष) matters, such as the subtle elements.

It is necessary to note that Vācaspetimiśra for the first time made clear distinction between indeterminate (निर्विकल्प) and determinate (सविकल्प)perception in Sāṅkhya epistemology. The sense organs can only sense (आलोचनमात्र) the object without any mental ordering and verbal characterization i.e. mind is not involved in this stage nor can it be described

by speech. This is inderminate (निर्विकल्प)perception. Then mind performs the task of ordering and verbalizing the impression of the senses i.e. mind is involved in this stage and makes perceptual knowledge determinate (सांख्यकौमुदी).

Regarding the theory of perception, Vijñānabhiksu's special contribution is two fold (सांख्यप्रवचनभाष्य - -II.32). 1. Vijñānabhikṣu disagrees with Vācaspati and states that sense organs are capable of both indeterminate (निर्विकल्प) and determinate (सविकल्प)perception. Mind only plays a role of focusing attention (संकल्प) and initiating mental constructions (विकल्प). Here, Vijñānabhikṣu relates the role and function of sense capacities in perception and 2. Sāṅkhyakārikā and Pātañjala Sāṅkhya refer respectively to 'बुद्धिवृत्ति' and 'चित्तवृत्ति' but do not explain their functions in the cognitive process. Vācaspati carried the discussion further by attributing mere awareness with mental elaborations (निर्विकल्प) to the sense capacities and mental claboration (सविकल्प) to mind. According to Vijānabhikṣu, perception is primarily a result of interaction or will and sense capacities. Mind as the result plays a very minor role.

"कश्चित्तु निर्विकल्पकं ज्ञानमेव आलोचनम् इन्द्रियजन्यं च भवति, सविकल्पकन्तु मनोमात्रजन्यम् इति श्लोकार्थम् आह, तत् न...योगभाष्ये व्यासदेवैः विशिष्टज्ञानस्यापि ऐन्द्रियकस्य व्यवस्थापितत्वात्, इन्द्रियैः विशिष्टज्ञाने बाधकाभावात् च. सएव सूत्रार्थमपि एवं व्याचष्टे बाह्येन्द्रियम् आरभ्य बुद्धिपर्यन्तस्य वृत्तिः उत्सर्गतः क्रमेण भवति कदाचित्तु व्याघ्रादिदर्शनकाले भयविशेषाद् विद्युल्लतेव सर्वकरणेषु एकदैव वृत्तिः

भवति इति अर्थः इति. तदप्यसत्, सूत्रे इन्द्रियवृत्तिनामेव क्रमिकाक्रमिकत्ववचनात् न बुद्ध्यहंकारवृत्त्योः प्रसंगोपि अस्ति".

(सांख्यप्रवचनभाष्य २।३२)

In Prasthānaratnākara, Puruṣottamacaraṇa has clearly accepted four means of valid knowledge viz. testimony/authority, perception (Pratyakṣam); tradition (Aitihya) and inference (Anumāan) "श्रुतिः प्रत्यक्षम् ऐतिह्यम् अनुमानं चतुष्टयम्" (प्रस्थानरत्नाकर २।२।९). First placeis given to Śabapramāṇa or testimony, since all other means of valid knowledge are dependent on Śruti (प्रस्थानरत्नाकर - II.II.12) "सर्वाण्येव प्रमाणानि सत्त्वमेव कथञ्चन, उपजीवन्ति तद् हेतौ कथितः पूर्वम् आगमः"), whereas, Sāṅkyas consider only three Pramāṇas (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द) and they place Perception first.

Puruṣottamaji defines perception as "इन्द्रियात्मकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्" (प्रस्थानरत्नाकर - p.127) perception is indentified with sense organs; that means sense organs are the instruments of direct perception. This knowledge of perception is gained through six instruments viz. five sense organs and the mind. "प्रत्यक्षे चक्षुरादिभेदेन षट् करणानि" (प्रस्थानरत्नाकर p.127).

Sāṅkhyas do not consider Perception as 'इन्द्रियात्मक', but according to them, Perception is reflective discerning (अध्यवसाय).

Perceptual knowledge is of six kinds viz.

1. visual (चाक्षुषप्रत्यक्ष)

2. Tactual (त्वाचप्रत्यक्ष)
3. Gustatory (रासनप्रत्यक्ष)
4. Auditory (श्रावणप्रत्यक्ष)
5. Olfactory (घ्राणप्रत्यक्ष) and
6. mental (मानसप्रत्यक्षः).

Manas is regarded as internal organ (अन्तःकरण) "तानि चक्षुः-त्वक्-घ्राण-रसन-श्रवण-मनो-भेदेन षट्" (प्रस्थानरत्नाकर p.127). These six faculties are considered atomic in size. They can not be perceived by sense organs, they are non-eternal yet long lasting and subject to transfermation. "एतेषां इन्द्रियाणां स्वरूपन्तु अणुतमम् अतीन्द्रियम्, अनित्यम्, चिरस्थायी विकारी च" (प्र.र.p.128). Eyes can perceive form, cloour and size when it is manifested. Similarly, sense qualities of touch, smell, taste and sound should be manifested for the sake of perception. (प्र.र.-p.128-129). Desires, affection, passions etc. are perceived by the mind. "मनसस्तु कामादयो वृत्तयएव मनोग्राह्याः" (प्र.र.p.130).

Perception of the self (Ātma) in its pure form can not be perceived by ordinary perception. "आत्मातु केवलः शास्त्रीयसाधनम् अन्तरेण न प्रत्यक्षः तथा तद्धर्माः च" (प्र.र.p.120).

Only through proper means prescribed by the scriptures, the perception of the self (Ātma) is possible. The self can be experienced through the notion 'I' by an individual, due to the identification of self with ego. "अहंबुद्धिस्तु पटावृतघटबुद्धिवद् अहंकारसंसर्गद्वारिका व्यवहारोपयोगित्वात् प्रमाभासरूपैव, अहन्तातादात्म्यभानेन भ्रमरूपत्वात्" (प्र.र.p.130). Perception of the God is possible

only through the grace of God. This kind of perception is the seed of devotion-Bhakti. (प्र.र.p.160-161).

Tamas (darkness) is considered as separate category which can be perceived. It is not mere negation of light. Tamas is considered as production of Māyā. Human beings can not see through darkness, but animals like cat and owl can see in the darkness, because darkness of Māyā can not cover their eyes.

> ''अन्धकारस्थघटादिषुतु नृचक्षुः प्रति मायया तमोजननात् तदेव विपयीक्रियते, नतु विषयः तदावृतत्वात्. एवञ्च विषयालोकसंयोगस्य सहकारितापि न कल्पनीया, अभास्वर-द्रव्य-चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति दूरत्व-व्यवधानाभावादि-विशिष्टस्य विषयतयैव निर्वाहात्, ''यथाहि भानोः उदयो नृचक्षुषां तमो निहन्यात् नतु तद् विधत्ते'' (भाग.पुरा.१०|२८|३४) इति वाक्ये भगवता सूर्योदयस्य नृचक्षुः-सम्बन्धि-तमोनिवारकत्वेनैव कथनेन आलोकसंयोगस्य विषयादिसंस्कारतायाः विरुद्धत्वात्. एवञ्च उलूकबिडालादीनाम् आलोकसंयोगाभावे वस्तुचाक्षुषमपि अनुकूलीभवति. तमस्तु पदार्थान्तरमेव न तेजोभावो ''अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तम्' (अमरकोश १|८|३) इत्यादिनामपाठात् ''ध्वान्ते गाढे अन्धतमसम्'' (तत्रैव १|८|३) इत्यादिभेदपाठात्, ''हृतरूपन्तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते, स्वतेजसा अपिबत् तीव्रम् आत्मप्रस्वापनं तमः'' (भाग.पुरा.१०|३|१४) इति वध्य-घातकविरोधवचनात् च''.
>
> (प्र.र.१३०-३१)

Similarly reflection (प्रतिबिम्ब) also is accepted as separate category and product of Māyā ''तथा प्रतिबिम्बस्यापि पदार्थान्तरत्वम्'' (प्र.र. - १३१).

Abhāva (non existence) is locus of negated object. Negation is itself regarded as the positive existence of the locus in which the negation appears with specific reference to the appearance or dissapearance of the negated object. Non-existence is connected with material cause. When, material cause is seen, appearance and dissapearance of the product of that cause is subject of perception (प्र.र. p.131-36).

According to Sāṅkhyas, the object beyond sense-perception (अतीन्द्रिय) are subject of inference and authority "अतीन्द्रियाणां प्रतीतिः अनुमानात्" (सांख्यकारिका-६) which is different than Vallabha view, which accepts perception of self through scriptures and not through Inference. In the earlier, Sāṅkhya school, perception of God is not accepted because existence of God can not be proved "ईश्वरसिद्धेः" (सांख्यसूत्र १।९२)..

Four kinds of Abhāva (non-existence) is accepted by Vallabhas as well as Sāṅkhyas. Neither Vallabhas, nor Sāṅkhyas accept non-apprehension (अनुपलब्धि) as an independent means of valid knowledge. After evaluating views of other schools of thought, in this regard, Puruṣottamacaraṇa has stated that it is not necessary to accept non-apprehension as an independent means of valid knowledge to perceive. Because, just as after perceiving particular object through the eyes, its knowledge is manifested. Similarly, we do not get knowledge of any object through non-apprehension "अनुपलब्धेः न अभावग्रहणं प्रति करणत्वं, चक्षुषा अवगतः, इतिवद् "अनुपलब्ध्या अवगतः" इति प्रत्ययाभावात्" (प्र.र.१४१).

Process of direct perception according to Puruṣottamacaraṇa as follows—

“तत्र अयं क्रमः - “दैवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मनः तत्तत्कार्यार्थं प्रेर्यते, तत् चइन्द्रियप्रेरणाय तत्तदिन्द्रियेण संसृज्यते. तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्ये विषयसंसृष्टैः इन्द्रियैः स्वावच्छिन्ने मनसि पूर्वं निर्विकल्पकं उत्पाद्यते. तदा इन्द्रियदेशे बुद्धेः वृत्तिः. ततो बुद्ध्यापि वृत्तिद्वारा तदनुग्रहे सविकल्पकं भवति”.

(प्र.र.p.147 - 148)

1. Mind becomes ready for particular action, inspired by inner controller (अन्तर्यामी);
2. then mind inspires concerned sense organs;
3. when sense organs are in agreement with their presiding deities, then only sense organs come in contact with objects;
4. then indeterminate knowledge is generated after objects are reflected in the sense organs;
5. then along with the mixing and friction of the three Guṇas in intellect, intellect may grace the sense organs, partially or totally;
6. then mental states accordingly, manifest and different kinds of determinate knowledge arise;
7. emotions like attachment, aversion or neutrality etc. become strong according to the different kinds of determinate knowledge;
8. from those emotions, inner and external activities, like will

efforts etc. emerge;

9. then the activity of accepting or rejecting or neutral attitude takes place and

10. in the end, gain and loss which is cause of happiness and sorrow or indifference manifest.

The division of indeterminate (निर्विकल्पक) and determinate (सविकल्पक) knowledge is explained by Puruṣottamacaraṇa in the above process itself. Indeterminate knowledge created by the sense-object contact achievers its visual etc. determinate state through mental states (वृत्ति).

Here, Puruṣottamacaraṇa presents the Sāṅkhyas as prior view and refutes it. According to Sāṅkhyas, the form of the objects seen outside, can be felt within after closing eyes. This form can not be of the outer object, because abandoning outer substratum, entering of that form within seems impossible. Therefore, that form has to be accepted as the form of some inner object within. Sāṅkhya school calls it 'Vṛtti' (mental state) as different egoistic principle.

> "तत्र नेत्रे निमीलने कृते बहिर्दृष्टपदार्थस्यैव कश्चिदाकारो नेत्रान्तर् भासते. स आकारो न बाह्यवस्तुनः, आश्रयम् अतिहाय तत्र तस्य अशक्यवचनत्वात्. अतः स आन्तरस्यैव कस्यचन भवितुम् अर्हतीति तदाश्रयत्वेन साङ्ख्यैः आहङ्कारिकं तत्त्वान्तरं वृत्ति नामकं कल्प्यते".
>
> (प्र.र.p.144)

Sāṅkhyas believe that the perceived object takes form

of internal state, but treat it as different principle or different property of Ātman. Puruṣottamacaraṇa disagrees with this stand and says that it is necessary to note that the form of the perceived object in the eyes is the matter of experience (अनुभवगोचर), therefore, it is proper to accept internal state. But should not be deemed as different principle or different inherent property of Ātman. Because, this is some particular state of intellect take form of outer object, answer to such a doubt is, when sense organs combined with the mind come in contact with outer objects, then form of the object is reflected in sense organs, jst as one's face is reflected in the mirror. Continuous mixing and friction of the Sattva, Rajas and Tamas cause disturbance and non-disturbance in the intellect; therefore, due to this disturbance mental state, sometimes is transformed, partially or totally taking the shape of reflections in the sense organs of outer objects and sometimes it may not take any shape also. It happens so because intellect helps cognitive organs and organs of actions, therefore, when intellect on position of helping the organs, determinate knowledge of error arises. Thus all the mental states are particular state of intellect only. After intellect is shaped in the form of object supplied by sense-object contact, then only direct perception takes place, otherwise, if intellect shaped in the form of different than the object, then it is believed to be an error. Similarly, due to the various kinds of mental states, all other subdivisions of knowledge should be understood as an outcome of different mental states. As per the statement of Bhāgavata, "mental states, viz., awakening, dreaming and

deep sleep emerge from Guṇas and individual soul is definitely different from them as a spectator'' proves that all kinds of knowledge is mental state only. When the enjoyment giving Karmas arise, that is waking state, when those Karmas become dormant, then it is dream or state of deep sleep. Instead of accepting such kind of theory, it is proper to accept that, the mixing and friction among three Guṇas, which are manifested for the sport of God, goes on according to will of God.

Thus, it is better to accept that, Guṇas are the nearest cause of different states of intellect. That is why, in the eighteenth chapter of Bhagvadgītā, it is said, that, ''body as substratum, Jiva as agent, instruments such as sight etc., external sense organs, four kinds of internal instruments, action of Prāṇa etc. vital airs called Cestā, time and God's will called destiny, or the inner controller (Antaryāmī) of all living beings'' described in the sixty first verse, in the same chapter, become instrumental in all our activities. (Prasthānaratnākara, Introduction,p.65-66).

In the light of the above discussion, few similarities and dissimilarities emerge between these two schools of thought. Sāṅkhyas accept three means of valid knowledge, whereas Vāllabha accept four. Both of them accept 'बुद्धिवृत्ति' i.e. mental states but process of analysis of perception differs from each other. Sāṅkhyas deem that the perceived object take the form of internal state, which is different egoistic principle.

Vāllabhas do not consider it as separate principle. Sāṅkhyas do not accept the presiding deities of sense organs, whereas Vāllabhas believe that the operation of sense organs is not possible without their grace. Sense organs are not involved in the perception of self. According to Sāṅkhyas and perception of God is not possible because existence of God can not be proved by any means of valid knowledge. According to Vāllabhas, perception of self is possible through means described by the scriptures and it can be experienced through the notion 'I', due to the identification of self with ego. Perception of the God also is possible through the Grace of God.

Bibliography :

1. Prasthānaratnākara - Gosvāmī Puruṣottama Granthmala series, 3rd ed. Goswami Shyam Manohar, Shri Vallabha Vidyapeeth - Shri Vitthalesh Prabhucharana Trust, Kolhapur, V.S. 2056.
2. Sāṅkhyasūtra with Vijñānabhikṣu's commentary, (Hindi) Dr. Ramshankar Bhattacharya, Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi, V.S. 2022.
3. साङ्ख्ययकारिका - ईश्वरकृष्ण with माठरवृत्ति, Chowkhamba Sanskrit series office, Benares, 1922.
4. साङ्ख्यतत्त्वमनोरमा - डो. दीनानाथ पाण्डेय, मनोरमा प्रकाशन, वाराणसी, 1991.
5. Yogavārttika of Vijñānabhikṣu Vol.I-Samadhipāda, Tr. T.S. Rukmani, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt.Ltd., New Delhi, 1981).
6. Encyclopedia of Indian philosophies-Vol.IV-Sāṅkhya, Larson and Bhattacharya, Motilal Banarasidass, Delhi, 1987.

7. Philosophy of Shri Vallabhacharya - Life and works of Shri Vallabhacharya - Dr. Sunanda Shastri (Paper).

......+......

चर्चा

Perceprion : Sāṅkhya and Śuddhādvaitic Views

डॉ. सुनन्दा शास्त्री

सिद्धेश्वर भट्ट : I have two queries. Why is it that the word 'Dṛṣta' is used by the Sānkhya thinkers instead of 'Pratyakṣa'? Is it just stylistic or there is some philosophical significance? Other query is both Sānkhya and Vāllabh thinkers follow the Vṛtti model and not the Sannikarṣ model of Nyāya. In Sannikarṣa model there is sense-object contact. Whereas in Vṛtti model the Antaḥkaraṇ goes out, meets the object i.e. attends the object. The initiative is from the Antaḥkaraṇa. Why is it that we resort to the language of Sannikarṣvāda even while describing the Sānkhya or the Vallabha view of Praktyakṣa? Because in Vedāntsār they use the word 'Tadākaritā' they don't use the word 'Sannikarṣa'. So they use different language.

I think, here also, that sort of clarity should be observed.

सुनन्दा शास्त्री : "Dṛṣṭam iti pratyakṣa-paryāyaḥ". So 'Dṛṣṭa' is what is seen. And what is sensed by the Indriya that is sent by the sense organ that is Pratayakṣam. So 'Dṛṣṭam' is used because it is directly pursued by the sense organ.

सिद्धेश्वर भट्ट : My hunch is that in Sānkhya you have a gestalt view of the object. Whereas in Nyāya-Vaiṣeṣika systems we have an associationistic view. And perhaps that might be responsible for the choice of a particular word to express perceptual cognition.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्रत्यक्षज्ञान पांचों इन्द्रियोंसे या मनके साथ छह इन्द्रियोंसे होता है. लेकिन जो ज्ञान आंखोंसे होता है उसे मुख्यतया हम प्रत्यक्ष कहते हैं. चक्षुषा दृष्टं तत्रैव अस्माकं प्रामुख्यम् आस्ति. कुतः? 'दृश्' धातुका अर्थ चक्षुर्जन्यज्ञान ऐसा एक मत है. लेकिन दूसरा मत ऐसा भी है कि सर्वेन्द्रियजन्य ज्ञान 'दृश्'का अर्थ हो सकता है. लेकिन चक्षुर्जन्यज्ञानके अर्थमें 'दृश्' धातुका प्रयोग बहुतर होता है. वेदमें आत है कि एक आदमी कहता है कि "देवदत्त यहां आया है. आपने सुना या देखा?". मैने केवल सुना है तो वह असत्य हो सकता है. देखा है तो सत्य है. चक्षुसे जो ज्ञात होता है उस ज्ञानमें दाढ्र्य बहुत होता है. इसीको लक्ष्यमें रख कर 'दृश्'का प्रयोग है. अन्य पांच इन्द्रियोंसे जो ज्ञान होता है वह गौण प्रत्यक्ष हैं. मुख्य प्रत्यक्ष तो चक्षुर्जन्य ही है. ऐसा मैं मानता हूं.

एस्. बोकिल् : You say "Sānkhya do not accept the other means of knowledge like Upamāna, Arthāpatti, Anupalbdhi, Aitihya, Pratibhā etc. All these other valid means of knowledge can be reduced to either perception, inference or testimony". And according to them these are the only three Pramāṇas accepted. My comments are on your sayings "Anything that can be known must be demonstrably established in relation with one of these means of valid knowledge". Now consider perception. I really do not know what it is to demonstrate something that I know through perception. If I know through perception, there is no question of demonstration at all. All that I can say is that I shall verify. But verification doesn't amount demonstration. Then consider inference. With respect to inference, yes I can think of demonstration of a certain proposition. I construct the truth and prove it, I demonstrate it. But in that process of demonstration, remember, I have depended on some other propositions which operate as premises. Now the question of the demonstration of that premises will arise. So that will cause certainly infinite regress. And therefore, inference can not be accepted as valid knowledge. Because that will involve further questions. Again, testimony, it is accepted on just Śraddha, belief. There is no question of demonstrating the testimony. Now, Sānkhya might have taken that position. But

thing, we should really find out the reasons what is there rationality behind these assertions that something which I know by perception can be demonstrated, something which I know through inference can be demonstrated and something which I know through the testimony can be demonstrated.

Thomistic Philosophy of Perception : Some Reflections

George Karuvelil, SJ

Since there is no specifically Christian philosophy of perception, and I am supposed to speak in terms of Christianity, what I shall do is to provide a brief sketch of the Thomistic philosophy of perception. After that I shall point out a few possible comparisons that struck me as I was reading through the material on Vallabha school's theory of perception. Finally in the third part of the paper I shall draw your attention towards some contemporary developments in the Western philosophy of perception.

1. A brief sketch of the Thomistic philosophy of perception :

Thomistic philosophy, like other pre-modern Western philosophies, is metaphysical in its approach. Although scepticism was not unknown to the ancient Greeks, the great metaphysicians of the time do not take scepticism as the starting point of their epistemology. Rather, they assume the possibility of knowledge, which Plato defined as "true belief with an account"[1] Although this sounds deceptively similar to the contemporary definition of knowledge as Justified True Belief, to give an account in the metaphysical scheme is rather different from providing justification. An account involves a description of the elements that go into the making of

knowledge and an explanation in terms of the described elements[2]. Since the possibility of knowledge is taken for granted, the question they raise is: What must the world and we be like if we are to know something ?[3] Their descriptions are meant to respond to this question.

As far as the Thomistic description of the world goes, he took it as a matter of common sense that we live in a readymade world: a world of apples and oranges, barking dogs and striped zebras, of fat men and little children. In giving a description of this world of multiplicity, he is heavily indebted to Aristotle. All these multiple entities are made up of matter and form. Form makes a thing to be what it is by 'informing' matter, which by itself has no form whatever. The Thomistic account of the human knower is the faculty psychology that is largely a legacy of Plato and Aristotle. Accordingly, human beings have three faculties: senses, intellect or understanding and the will. Of these the last is not a knowing power;[4] its job is to strive to attain what is known. As far as the senses are concerned, there are five external senses and four internal ones. The internal senses and their operations are as follows:

1. Central or general sense: synthesises the input from different external senses.
2. Imagination: retains the impression made on the external senses, after their objects have disappeared.
3. Memory: associates objects with the past.

4. Cogitative sense: called estimative sense' in non-humans, it collates all the sense impressions and arrives at a judgment.

Given this understanding of the knower and the world, knowledge is a matter of getting hold of the form of entities by means of the knowing faculties (senses and intellect). In other words, while all things are made up of matter and form, knowing beings differ from others in this that the latter "possess their own form only, while the knower is adapted from its origin to possess also the form of another thing"[5] Since matter is a limiting principle, the more immaterial a being, the more capable it is of knowing. Thus, humans can know more than animals; angels more than humans; and God, of course, is all knowing. Thus, each type of knower comes to possess knowledge according to the mode proper to its nature.

Human perception arises from being stimulated by sensible objects and the operation of the internal senses upon the input from the external senses. Thus, for example, in perceiving a barking dog the sensible qualities such as the size and shape of the animal and the sound it produces are received by the external senses. The central or the general sense synthesizes these inputs from the different externals senses (eyes, ears, nose etc) as coming from one entity. After imagination and memory have played their role, the cogitative or estimative sense finally arrives at a concrete judgement :"This barking dog is dangerous".

Thus far the perceiving process is not very different from that of other higher animals; they too have to sense their environments and adjust to it. What is special to the human knower is the ability to grasp the universal characteristics (rationes) of things. This ability is called intellect. There are three acts of the intellect: A. Intelligibility or understanding (intellectus) is the simple apprehension of some meaning that involves no judgement; B. Judgement is that which could be true or false; and C. Discursive reasoning or ratiocination: moving from one or more known judgments to a new one, as in syllogisms. One implication of this theory of perception is that humans cannot perceive anything that is immaterial, such as souls, angels or God (all of which he believed exists) These are known through reasoning from effects to cause: if it can be shown that certain of our experiences cannot be explained with reference to bodily causes, we can argue to the existence of non-bodily causes. For example, he argues that our intellectual and volitional activities cannot be caused by bodily causes and therefore we must have souls.

2. Some Possible Comparisons With The Vallabha School:

Comparison is a risky business, especially when it involves comparing two vastly different philosophical systems whose developments are completely independent of one another, as in the case the Tomistic and Vallabha schools. For the same reason, I do not want to make any straightforward comparisons; I shall only point out what struck me as some areas of possible comparisons and leave to scholars to decide

whether they really are comparable.

A first and obvious point of comparison is their overall concern. Both thinkers are great theologians and religious pursuit remains their primary purpose. But both see the need to engage the intellectual currents of their times. A second point of comparison seems to be their method. Both are metaphysical in their approach. As pointed out in the beginning, the metaphysical approach, unlike that of modern Western philosophy, begins with some descriptions of the world, the knower, and knowledge; then it strives to provide an account of these in a coherent manner. It is true that their descriptions are different: the Vallabha school is indebted to the descriptions provided by the Naiyayikas and the Samkhya school, whereas St. Thomas largely relies on the descriptions provided by Aristotle and to a lesser extent on some Arabian thinkers. But both rely on certain metaphysical descriptions to provide an account of their theories of perception.

A more substantive point of comparison concerns their approach to religious perception. Neither SriPurushottam nor St. Thomas thinks it possible to have religious perception. Although the Vallabha schools accepts yogic perception, it is clearly stated that perceiving God is possible only through Grace and not through the means of valid knowledge. Similarly for St. Thomas, any substantial knowledge of God is to be had from revelation and not through any ordinary or natural means. The main reason for is the faculty psychology

he has adopted from Plato and Aristotle, together with the devaluation of the senses that characterise Plato. Since senses are what we share with other animals and senses can give us knowledge only of sensible things, it follows that we cannot perceive God who is immaterial. The only natural avenue to knowing God is through reason and that too would take us only to the doorsteps of religious knowledge by showing that God exists without telling us what God is. Having been brought to the doorsteps by means of reasoning, revelation takes over. Therefore, unlike contemporary authors like William Alston who talks about 'perceiving God' or John Hick who talks of religious faith as an 'experiencing-as' there is no philosophy of religious experience to be found in Thomas Aquinas. This situation began to change in Western epistemology only in the post-Kantian period as a response to Kant's conclusion that we cannot have any knowledge of God because there is no possibility of any sensible intuition of God.

There is also some similarity and contrast regarding perception of the soul. In the Vallabha school there is the distinction between soul in its true form and the ego or theI. The former is not a matter of ordinary perception, whereas the latter is. Since such a distinction between soul and ego is not found in St. Thomas, there is no question of perceiving the soul either. The existence of the soul needs to be inferred as already mentioned.

Another possible comparison is between the identity-contact

of the Vallabha tradition and what is known as knowledge by connaturality in St. Thomas. Although such knowledge is not strictly a matter of perception, it is not inference, either. Here is what he says on the matter:

> Now rightness in judging can come about in two ways, through the perfect use of reason or through a certain natural kinship with the things one is judging about. Thus in matters of chastity, one who is versed in moral science will come to a right judgment through rational investigation, another who possesses the virtue of chastity still be right through a kind of instinctive affinity. So it is with divine things[6].

Although I have said this sounds similar to the identity contact in the Vallabha tradition, the difference between the two is also immediately clear: identity-contact is one of the five kinds of contact operative in ordinary perception. Perception of inner states like determination, doubt, pleasure etc., are said to result from identity contact. In St. Thomas, however, connaturality is not an ordinary means of knowledge. It is worth noting that Robert K. C. Forman, in a recent book, has suggested a theory of 'knowledge by identity' to deal with mystical experiences. The basic point of the suggestion is that "I know it because I am it or live it"[7]. This seems

very similar to what Thomas says of knowledge by connaturality.

3. Some Contemporary Developments:

If there is one thing that is common to the pre-modern or metaphysical approach in Western philosophy and the contemporary naturalistic approach to human knowledge, it is their anti-foundational convictions. The moderns thought that they could secure their philosophy on firm foundations by eschewing prior descriptions. This can be said of rationalists like Descrates as well as empiricists like Locke, with some variations. One of the contentions of naturalized epistemology is the impossibility doing epistemology without any prior descriptions. In other words, some prior description of the knower and the world cannot be avoided. In this respect, the procedure of Sri. Purushottam and St. Thomas are being vindicated by naturalized epistemology. This is something that Thomists could be happy about because one of the things that they boast of is Aquinas' empirical, or even naturalistic approach to human knowledge and yet being able to synthesise it with religious faith[8]. On the other hand, the sort of metaphysical descriptions adopted by St. Thomas may seem problematic today. In its place we might need more non-controversial phenomenological descriptions. Let me point out some of the descriptions of the Thomistic philosophy that could be problematic today.

Let us begin with the description of the human knower in terms of faculty psychology. Thomism, in its history, has

tended not merely to distinguish these different faculties, but also to separate them[9]. Taken in this manner, sensing is something that we humans share with animals and then the intellect, with its conceptualising and reasoning abilities, takes over. This is clearly a false picture of the human knower, as it has been shown beyond doubt that there is a close and inseparable link between percepts and concepts such that conceptual richness leads to perceptual richness. To put in terms of contemporary cognitive psychology, perception is complex process that involves both a 'concept-driven' or 'top-down' processing as well as a 'data-driven' or 'bottom-up' processing.

Even more than the involvement of concepts in perception, there is the phenomenon of selective attention that must find a place in any description of the human knower. Only a fraction of the myriad sights, sounds and smells with which we are constantly bombarded, gets entry into our consciousness[10]. Bernard Lonergan, a contemporary interpreter of Thomistic epistemology was fond of giving the example of the milkmaid who laughed at Thales for falling into the well, as he walked along with his eyes fixed on the stars. The point is that "the causal sequence set off by the proximate stimulus determines what can be perceived in any given conditions, but not necessarily what will be perceived"[11]. What will be perceived is also dependent on what we pay attention to. What it indicates is that there is a close collaboration not only between the senses and the intellect, but also with

will, once considered a non-cognitive faculty. While it seems unlikely that a thinker of the calibre of St. Thomas was not aware of this phenomenon of attention, I should confess that I am not aware an adequate treatment of it in Thomism. It is Heidegger and the pragmatists who force us to take note of this.

Also problematic is the Thomistic description of the world in terms of matter and form. Understanding knowledge in terms of the mind taking on the form of the object gave a good explanation of the phenomenon of the stability of perception. That is to say that when something is judged to be a mango we continue to judge so later on too; and this is well accounted for by saying that the object is composed of form and matter and that in the process of knowing the form is taken into the mind without matter. However, it becomes problematic when we consider that not only is there the phenomenon of stability but also the phenomenon of multi-stability or perceptual polymorphy. Wittgenstein's duck-rabbit case, where the same stimuli could be seen as a duck or as a rabbit, is a famous example. There are a good number of such cases that are well documented in cognitive psychology. Another well-known multi-stable figure is given here: it could be seen either as two faces facing each other or as a vase. What needs to be further noted is that multi-stability applies not merely to artificially drawn cases like these, but is a phenomenon of ordinary perception. Consider this example from J.L. Austin: "Suppose that I

look through a telescope and you ask me, what do you see?" I may answer (1) A bright speck; (2) A star; (3) Sirius; (4) The image in the fourteenth mirror of the telescope. All the four are perfectly legitimate and correct answers. In Thomistic language, there is more than one intelligibility, which in turn, leads to four different judgments, all of which are equally valid. The point is that there is no one form of the object that is taken into the mind in the process of perceiving. Meaning or the intelligibility that accompanies perception is a much more complex affair than was assumed in the metaphysical approach that begins with the assumption of a ready-made world of objects.

Let me conclude by outlining an alternative view of perception that I like to call a relational theory. Rather than begin with the assumption of a pre-fabricated world as in the metaphysical approach we begin by standing back and asking like Heidegger, how do these multiple entities that we take so much for granted come to be or alternately, come to have any meaning for us? The briefest answer to this question is provided by Hilary Putnam when he says, 'Objects' do not exist independently of our conceptual schemes. We cut up the world into objects when we introduce one or another possible scheme of description. [12]"I prefer to call it a relational theory of knowledge" since that is much less misleading than other terms like constructivism, cognitivism and the like. Human knowledge, upon this view, is like a family brought forth through a love relationship between two

persons. Putnam's idea of a joint making conveys this notion of knowledge being produced by a mutual relationship. Obviously, we do not begin with the assumption of any pre-existing fact world. And this starting point is very problematic for many. Besides the fact that it seems to go against our ingrained natural attitude, such a starting point invites the objection that if knowledge is the result of a relationship, the relata must first exist. So how can we not start with a fact world, a world of existing entities?

A proper understanding of this matter is very crucial if we are not to end up in the sort of contradictions Kant is said to make: On the one hand, there exists a mind independent thing-in-itself which is unknowable; on the other hand we know our experience to be caused by that thing-in-itself. In order to avoid such contradictions, we must recognize that just as there is no family prior to a certain relationship, there is no world (cosmos, ordered universe of meaningful entities) prior to the relationship between a knowing mind and its surroundings. Notice that there is no thing-in-itself' here. That is a totally misleading expression because it makes us think of objects like oranges and apples, animals and persons (i.e., a pre-fabricated world) as known to us to be existing, but none of these objects can be really known; all that can be known are their appearances. Such talk is obviously non-sense. The relational theory says, rather, that anything that may be considered an object are those which we can call by names such as 'apple' and 'orange' and

it is the product of a relationship; such objects have no existence prior to that. All that can be said about the relata that exists prior to the relationship is a knowing mind and its surroundings (the environing world, as the phenomenologists would say). Nothing can be said of the shapes and contours of this environing world except that it is there and that we are constantly interacting with it, like explorers in an unknown land. It is in the course of the explorations that the environing world becomes a fact world. And only about a fact world can we say that it is made up of different objects arranged in a certain way; it is such a fact world that is meaningful to us and not an amorphous surrounding world.

Once it is recognized that we cut up the world into objects according to our conceptual schemes, the next question that naturally arises is this: where do these schemes come from? It is here that evolutionary epistemology comes into the picture and answers the question in terms of our phylogenetic experience or the explorations done by our evolutionary ancestors[13]. The relationship between action and knowledge is reversed in this scheme of things. R.W. Newell succinctly puts this view when he says,

We may see them [human persons] as agents acting in the world and guided by their beliefs, motives, desires and needs; and thus seen, explain epistemological ideas by focussing on human activities and practices[14].

Human actions oriented to fulfilling our needs and desires come, then, at the very centre of our conceptual schemes and accordingly, of our knowledge. Not only does this sort of theory recognize the intimate relationship between the three faculties in the process of knowing, but also would make room for scientific and religious knowing, if it can be shown that they are oriented to fulfilling needs and desires are significantly different from what is involved in perceptual knowing. Such knowledge, especially religious knowledge, would be a matter of connaturality arising from one's practice of prayer and meditation. Thus, a relational theory can maintain both the naturalistic as well as the religious concerns of St. Thomas.

1. Plato, Theaetetus, 201c
2. See, Stephen Everson, ed. (1990) Epistemology: Companions to Ancient Thought 1, Cambridge: Cambridge University Press, 1990, p.4.
3. White, 'Plato' in Dancy & Sosa eds., A Companion to Epistemology Basil Blackwell, 1992, p.345.
4. Vernon J Bourke, The Pocket Aquinas: Selections from the Writings of St. Thomas. New York: Washington Square Press, 1960. p.4
5. Thomas Aquinas, Summa Theologiae, 1, 14,1e. Bourke, p.8
6. Thomas Aquinas, Summa Theologiae 2 .2, q.45, a.2
7. Robert K. C. Forman, Mysticism, Mind, Consciousness. Albany: State University of New York Press, 1999,

p.121
8. See, for example, Bourke, p.5
9. See, Joseph Flanagan, Quest for Self-Knowledge: An Essay in Lonergan's Philosophy. Toronto: University of Toronto Press, 1997, p.195-6
10. D.H. Dodd, R.M. White Jr., Cognition: Mental Structures and Processes. Boston: Allyn and Bacon, Inc., 1980 p.23
11. David Kelly, The Evidence of the Senses: A Realist Theory of Perception. Baton Rouge and London: Louisiana State University Press, 1986, p.148, emphasis added.
12. Hilary Putnam, Reason, Truth, and History. Cambridge: Cambridge University Press, 1981, p.52.
13. Franz Wuketits, ed. Concepts and Approaches in Evolutionary Epistemology: Towards an Evolutionary Theory of Knowledge. Dordrecht: D.Reidel Publishing Company, 1984, p.81.
14. R.W. Newell, Objectivity, Empiricism, and Truth. Routledge and Kegan Paul, 1986, p.7.

......+......

चर्चा

ज्योर्ज करुवेलिल् एस्.जे.

प्रद्योतकुमार : When you come to the modern period you notice that there is a tendency towards

naturalism. So modern epistemology is basically naturalistic. And this naturalistic epistemology you almost equate with non-foundationisitc epistemology. In current epistemology we draw a distinction between the epistemological theories that are foundationalist and coherentist. So as per your reading it must be that all modern naturalistic epistemology are coherentistic epistemologies...

The other thing, when you speak of Quine, he is a naturalistic no doubt, but his naturalize philosophy is not necessarily naturalistic philosophy. What he only mean to say is this that earlier conception of epistemology has got no basis what so ever. And with that conception your JPT thesis is very closely related. That JPT hypothesis, that conception of knowledge, which is also a modern conception of knowledge traced back to Plato by Gettier, he has revived in this time. Now his point is little deferent. So what Quine mean is this that it was in a modern period only that this conception of epistemology as primary philosophy arose. And his objection to that, that there can not be any primary philosophy so there can not

be any search for certainty. All that he can search for is genetic explanation or causal explanation. And that he says to be naturalized epistemology. So your understanding of naturalized epistemology is not doing justice to Quine at all. That is not his conception.

Now about your remark that what Kant says is nonsense. I think it is not. It makes perfect sense if you place him in context. He is not uttering any contradiction when he says that there are things in themselves and we do not know them. For knowing, has a very definite sense in Kant. He says that we cannot grasp them through the theoretical exercise of reason. So his conception that comes very much from the Neo-platonic tradition also that two distinct applications or use of 'reason' are there: theoretical and practical. So we can still know them, even God we can know, immortality you can know as presupposition. And that is a matter of practical reason.

One more thing I would say that, you have very well brought out the Thomistic conception of general sense organ. That is very useful in the sense that there was

a synthesiging factor in our perception. Otherwise all the deferent sense organs get deferent information. And there is very beautiful expression in our Śāstra इन्द्रियाणां परस्परसंवादाभावः. We admit, one sense organ, which is called Manaḥ is सर्वविषयकानुभूतिसाधक. Whereas others have विषयव्यवस्था, Manas have no विषयव्यवस्था. But this point of comparison is quite good. I think it can be carried on.

ज्योर्ज करुवेलिल् : I did not intend to reduce naturalized epistemology to non-fundationalism. All that I wanted was that it originates with Quine. But then there is lot of further developments.

प्रद्योतकुमार : But I don't think that there is no further development. I don't know anyone who is the follower of Quine in the mater of naturalize epistemology. I think it started with Quine, it ends with Quine.

ज्योर्ज करुवेलिल् : Number of defferent people are there. I could give you a list of them if you want.

प्रद्योतकुमार : Putnam is totally opposed to it. And this thing brings another thing. You say relational theory of perception. But that again is misleading. Relational theory of knowledge was long back proposed by Russell in his "problems of philosophy". But the point what Putnam say is, that all our observations are theory-laden. that is what is their point. So that doesn't make it as relational.

ज्योर्ज करुवेलिल् : Let me complete what I was saying first about the naturalized epistemology. There are lot of further developments after Quine is what I wanted to say. Among these developments, I just adopted one point, which I thought would fit in here with the continuity of metaphysical tradition. Continuity... in the need for descriptions prior to proposing a theory. And describing certain things which are non-controversial and proceeding further. And even in describing, metaphysical description can be problematic. But then there are certain common phenomena that can be described and then their explanation that give a best coherent account of those non-controversial phenomena. It is this methodology that was adopted. This necessity for description is another way of saying what you said Quine to be saying: that there can not be any first philosophy in the modern sense, a first first philosophy without any prior assumptions (descriptions).

As for Kant again is a complex thinker. Each and every one of these thinkers is coherent sensible in their own systems. And that way I can not scold of Kant ...

प्रद्योतकुमार : Then please don't use the word 'nonsense'.

ज्योर्ज करुवेलिल् : That is why I qualified earlier "He *seemingly* makes contradiction". I have used that word.

प्रद्योतकुमार : Then it can not be nonsense.

ज्योर्ज करुवेलिल् : Afterwards I said "understood in this sense it is nonsense". I have no said Kant to be saying nonsense. Not at all. I have great admiration for Kant. And I have profited a lot from him.

Now while interacting about a relational theory other then the word there is nothing common between Russell and the theory I proposed.

प्रद्योतकुमार : Another important question you raised was where from came this conceptual frame itself. So this question is un-permissible in their thinking.

ज्योर्ज करुवेलिल् : That's what I said, other then the word 'relation' there is nothing common to Russell. Russell already takes a ready made world for granted. That is being questioned here. Here 'relation' is taken from human relations especially from the book of Vincent Bruemmes who talks about love as a mutual relationship between two persons. So only that idea is being taken. There is a surrounding world with which we are in constant interection; in Heideggerian terminology, we are thrown into a situation with which we are totally unfamiliar. And in the process of meeting our practical needs we come to understand our surroundings in terms of something as something. He gives the example of hammering. ... So it is that sort of thing that I am referring to and not Russell.

सिद्धेश्वर भट्ट : It seems that you are using this expression 'relational theory of meaning' in a very specific

sense. But otherwise there can also be another version of the relational theory of knowledge wherein it can be granted that there are objects located in an ordered way and we may apprehend the objects and their relations and reconstruct them. That means there can be order at the objective level, there can also be order at the inter-subjective level. And at that level we may view them in this particular sort of order or that particular sort of order. But there is no incompatibility between the original order and the constituted order. If there were no order there already, I think, any construction of an order would be just simply a superimposition, simply an imagination. And it would be groundless. So, why should we not grant that there is an order there. We apprehend the order but we reconstruct it.

ज्योर्ज करुवेलिल् : There is precisely the point of relational theory. ... If you begin with a fact-world [and an objective order, then the problem would always be, "How can we be sure that we have captured that objective order ?". On the other hand, if there is no objective order, our perception would be pure superimposition, a fiction. Relational theory seeks to avoid both these extremes. It does not deny that there is mind-independent reality; but it derives that the categorical world (reality that can be described in categories) is mind independent.

The mind-dependence of the categorical or factual world, however, is a conclusion and not the starting point of relational theory. Its starting point is that we use categories for describing reality. From this non-controversial starting point it takes a step back and asks "How do we come to have these categories?". Relational theory is an answer to this question. It says that we humans are thrown into a situation (non-categorical, formless surrounding reality) and in the process of our interacting and relating to that surrounding, reality gains its form for us and our categorical world comes to be. This is basically the view of Heidegger. The point is that the surrounding reality must have certain features that enable the categories to develop in the way they do]. A psychologist like like J. J. Gibson etc. he would talk about the affordances of the things that are there. They have their affordances. So that it can not be an arbitrary construction. That's why though I used the word 'constructivism' earlier, I avoided that word precisely to do away with the impression that it is merely a human construction. The objects or the world or our surrounding has certain capabilities and not other capabilities. [The basic differecne between this view and our traditional coman sense view of a ready-made fact world is that in the traditional view there is just one fixed set of objects and

categories whereas the relational theory says that the objects and categories would be different if our manner of relating to the surrounding would is different]. Our surroundings could be approached in terms of Martin Buleer's 'I'-'it' which is basically a practical relation. It could also be approached in terms of I-thou, then the worlds become completely deferent. And that's precisely why I want to avoid the notion of a ready made world.

सिद्धेश्वर भट्ट : But this reconstruction may take place in deferent ways. E.g. it can be in such a way that my reconstruction and your reconstruction may tally. Or it could also be possible that my construction and your construction may be radically deferent. E.g. a normal man also can reconstruct and abnormal schizophrenic person also undertakes reconstruction. And we do say that ours is something which is commonly acceptable but a reconstruction of a schizophrenic's is not acceptable. And therefore we give treatment to that person. So, there can be diferent ways of reconstructing the relations among objects.

डी. प्रह्लादाचार : As per St. Thomas, who follows Aristotle and Plato, senses are of two kinds: Five external senses and four internal ones. The four internal ones are: 1. Central or general sense 2. Imagination 3. Memory 4. Cogitative sense. It seems that all kinds of cognitions can be produced by these five

plus these four only. That means, according to St. Thomas there is only one kind of cognition, namely perceptual cognition and there is nothing else, is it so?

ज्योर्ज करुविलेल् : This is an explanation of perception then as I said there is an intellect coming to the picture. And there is inference ... then, of course there is revelation.

डी. प्रह्लादाचार : The examples that you have given ...

सिद्धेश्वर भट्ट : I think they are comparable to the functioning of Ahankāra in terms of मन बुद्धि चित्त अहंकार but not exactly the same. Because in Mind there is Samśaya. But there, there is no role of doubt. But correspondence is there in the functioning of Antaḥkaraṇa.

गो. श्या. म. : "चक्षुषा आलोच्य वस्तूनि, विकल्प्य मनसा तथा, अहं मत्यापि अहंकाराद्, बुद्ध्यैव अध्यवसीयते" (द्रष्टव्य : संगोष्ठ्युत्तर-लेखनीक१).

......+......

संगोष्ठ्युत्तरलेखन

गो.श्या.म.

श्रीज्योर्ज करुवेलिल् एस्.जे.के सुवैदुष्यपूर्ण आलेखकी समालोचना या समर्थन के रूपमें नहीं, केवल इनके द्वारा छेड़े गये मुद्दोंको सुन कर जो विचार मेरे मस्तिष्कमें घुमड़ रहें हैं, उन्हें इस संगोष्ठ्युत्तरलेखनके रूपमें लेखबद्ध कर देना चाहता हुं.

प्रत्यक्षप्रमाणकी प्रक्रिया (The theory of perception) का अध्ययन अनेकधा सम्भव है : पदार्थमीमांसा (Metaphysics), प्रमाणमीमांसा (Epistemology) मनोमीमांसा (Psychology), प्रकाश-जैविकसंरचनाकी परस्पर प्रतिक्रियाका विज्ञान (Photodynamics), मस्तिष्कीयविद्युत्तरंगोंके अध्ययनका विज्ञान (Electroencephalogramics), अथवा चक्षुर्विज्ञान (Opthalmalogical science) यों ऐसे अनेक शास्त्रोंपर आधारित प्रत्यक्षप्रमाणकी प्रक्रिया हमारे अध्ययनका विषय बन सकती है.

इन विविध शास्त्रोंकी अन्वेषणाकी रीति और उसपर अवलम्बित निष्कर्षोंमें आन्तरिक प्रभेद ही नहीं प्रत्युत परस्पर विरोधाभास भी प्रकट हो ही सकते हैं.

[१] दृश्य वस्तु : वर्ण आकृति परिमाण गति स्थैर्य गुणधर्म धर्मी द्रव्य सम्बन्ध आदि.

[२] दर्शनोपकरण : अकृत्रिम मानवीय नयन, मानवेतर प्राणिओंके नयन अथवा दूर/सूक्ष्म व्यवहित/अव्यहित प्रकाशित/अप्रकाशित वस्तुओंके प्रदर्शक आधुनिक कृत्रिम उपकरण भी.

[३] द्रष्टा : मानवीय नेत्रसंस्थानसे सम्पन्न स्वस्थमना या अस्वस्थमना व्यक्ति. इसी तरह अनेकविध नेत्रसंस्थानोंसे सम्पन्न मानवेतर प्राणी भी.

[४] दर्शनानुभूति : मानवीय मस्तिष्कमें घटित होती अथवा स्वतश्चालित राडर आदि वैज्ञानिक उपकरणोंमें दर्ज होती.

इनका स्वरूप इस लघुतम सूचिके अवलोकनमात्रसे ही इतनी विविधता प्रकट करता है कि जिसकी कल्पना भी शक्य नहीं. इस सूचिमें कहीं और भी कुछ यदि जोड़ा जाये तब तो कुछ भी गणनार्ह ही नहीं रह जायेगा. किसी भी सूरतमें इन सभी शास्त्रोंका परस्पर संवाद और/अथवा विवाद बंद नहीं पड़ना चाहिये. और न किसी एक शास्त्रके आधारपर

दूसरे शास्त्रकी अध्ययनपद्धति या निष्कर्ष की अकारण ही अवहेलना की जानी चाहिये.

अतएव इस विषयमें प्राचीन आर्ष शास्त्रोंके निष्कर्ष भी वैचारिक दृष्टिसे ओझल नहीं होने देने चाहिये. जैसाकि इन विचारगोष्ठिओंमें अनेक बार हम प्रतिश्रुत हुवे हैं. वाल्लभ वेदान्त, अतएव, वेदादि शास्त्रोंकी व्याख्या होनेके रूपमें प्रवृत्त हुवा चिन्तन होनेपर भी इसी प्रयोजनवश ज्ञानकी जिस किसी विधाके साथ अपना संवाद विसंवाद या विवाद जो भी हो उसे समझनेको ही ऐसी विचारगोष्ठीका आयोजन करता रहा है. अतएव सन्त थोमस अक्वीनाके प्रत्यक्षप्रमाण सम्बन्धी ईसाई चिन्तनके महत्त्वको, वैज्ञानिक अध्ययनोपात्त निष्कर्षोंकी तुलनामें, हम कभी भी अब अप्रस्तुत मानना नहीं चाहते. अतएव श्रीज्योर्ज करुविलेल्का इस विचारगोष्ठीमें सहभागी हो कर विद्वत्तापूर्ण आलेख प्रस्तुत करना हमारेलिये निश्चय ही हार्दिक सन्तोष एवं उपलब्धि की बात है.

अस्तु, प्रत्यक्षप्रमाणकी गोचर दृश्य वस्तुका वास्तविक स्वरूप प्रत्यक्षानुभूतिमें बिम्ब-प्रतिबिम्बन्यायेन दृष्टिका विषय बनता है. वह प्रतीकालम्बन और तदनुकूल प्रतीकसंरचनाके न्यायसे प्रतीकैकाध्यवसायिनी बुद्धिका विषय भी बन सकता है. वह वस्तुतः तो दर्शनके सर्वथा अयोग्य वस्तुका परन्तु हमारे ज्ञानोपकरणकी संरचना या वासना के वश उभरते प्रत्ययोंके माध्यमसे प्रकट होती थोथी कल्पनाका विषय भी बन सकता है. अथवा सक्रियबुद्धि और निष्क्रियदृश्यवस्तु के इतरेतरोपरक्त स्वरूपका भी प्रत्यक्षमें साक्षात्कार हो सकता है. इनमेंसे किसी भी प्रक्रियाको ऐकान्तिकतया ही शक्य अथवा ऐकान्तिकतया अशक्य ही मान लेना मुझे उपपत्त्यर्ह नहीं लगता. क्योंकि प्रस्तुत चर्चाके उपसंहारमें मैंने हमारे यहां *प्रमेयरत्नार्णव* नामक ग्रन्थमें प्रस्तुत लक्ष्मीतन्त्रकी प्रत्यक्षप्रक्रियाका प्रतिपादन करनेवाली कारिका जो उद्धृत की, तदनुसार सर्वप्रथम चाक्षुष आलोचनकी प्रक्रिया ही इतनी जटिल लगती है कि उसी स्तरपर चक्षु और तद्गोचर पदार्थ प्रकाश-जैविकसंरचनाकी परस्पर प्रतिक्रियाका विज्ञान (Photodynamics),

मस्तिष्कीयविद्युत्तरंगोंके अध्ययनका विज्ञान (Electroencephalogramics), अथवा चक्षुर्विज्ञान (Opthalmalogical science) की अध्येतव्य सामग्रीके रूपमें इतरेतरोपरक्त होते माने जा सकते हैं.

द्वितीय मानसविकल्पना, तृतीय अहंकारानुगति, चतुर्थ बुद्धिकी विविध अज्ञान संशय भ्रान्ति निश्चय वृत्तिओंमेंसे किसी भी एकतम वृत्ति, यों इतने स्तरोंपर घटित होती प्रक्रियाओंको मनोमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा (Psychology & Epistemology), का अध्येतव्य विषय बनाया ही जा सकता है.

अन्तमें इन सभी ज्ञान-विज्ञानकी विधाओंका साकल्येन निरूपण करना चाहती पदार्थमीमांसा (Metaphysics), भी इनके निष्कर्षोंसे ऊपर उठ कर प्रत्यक्षानुभूतिके घटक पदार्थोंका प्रतिपादन करनेवाला पदार्थमीमांकीय स्वरूप भी विचारार्थ प्रसक्त हो सकता है.

प्रत्यक्षानुभूति न तो एकाकी आत्मचेतनामें और न केवल पांचभौतिक देह या बाह्याभ्यन्तर इन्द्रियों के संघातमें घटित होती कोई एकरसात्मक घटना है. वह तो इन सभीके संघातमें ही केवल नहीं प्रत्युत बहुविध बाह्यविषय और सजीव व्यक्ति की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियामें सम्पन्न होती घटना है. वह, अतएव, कदापि ऋजु-आकारमें परिभाषित हो ही नहीं पायेगी. यह बात इस तथ्यके अवधानसे और अधिक सम्पुष्ट होती है कि बाह्य किसी वस्तुका जब चक्षु आलोचन कर पाती है, तब उस आलोचनकी प्रक्रियाको स्थगित या निरस्त करके मन स्मर्यमाण विकल्पोंका अवगाहन नहीं करता. चाक्षुषालोचनके, प्रत्युत, सातत्यमें ही उस आलोचनको यथासम्भव विकल्पोंसे संयोजित करता जाता है. इसी तरह अहंकार भी उस सविकल्प चाक्षुषालोचनको ‘‘अहं पश्यामि’’ के पहलुसे जो मण्डित करता है तो वह भी सविकल्प चाक्षुषालोचनको स्थगित या निरस्त करके नहीं. उसके सातत्यमें ही उसे अहंकारानुस्यूत बनाता है. बादमें बुद्धिकी विविध वृत्ति—अज्ञान संशय भ्रम प्रत्यभिज्ञा निश्चय आदि—से ‘‘इमं

न ज्ञातुं शक्नोमि'' ''किम् इदं घटं वा अन्यत् किमपि!'' ''नायं घटः'' ''घटोऽयं पूर्वमपि दृष्टएव'' अथवा ''अयं घटमेव'' आकारवाली प्रत्यक्षानुभूति होती है तो वह भी ''मच्चक्षुगोचरम् इदम्'' के सातत्यमें ही उसे इन विविध वृत्तियोंमें से किसी एकतमसे बुद्धि संयोजित करती हुयी पायी जाती है. अतः स्वरूपदृष्ट्या और कारणकलापदृष्ट्या भी कोई भी प्रत्यक्षानुभूतिकी घटना निरंश ऋजुता लिये हुवे नहीं होती. वह तो शतपत्रवेधवत् दुर्लक्ष्य सांश जटिलता लिये हुवे ही होती है.

अतः अनुव्यवसायके स्तरपर अनुभूत होती निरवयव एकताके बारेमें वाल्लभ मतकी अवधारणाओंके अनुसार इस घटनाको संघातवश उत्पन्न नूतन आरम्भ अथवा संघातघटक अनेकत्वमें एकत्वकी भ्रान्ति माननेके बजाय संघातघटक अनेकत्वमें निहित शक्य या सम्भाव्य एकत्वका वास्तविक एकत्वेन प्रादुर्भाव मानना उचित लगता है.

क्योंकि लौकिक दृश्यवस्तुओंके ब्राह्मिक पहलुओंका ज्ञान जैसे हमें ब्रह्मशास्त्रोंद्वारा ही मिल सकता है, वैसे ही ब्रह्मके दृश्यवस्तुतया प्रकट होनेके कारण दृश्यवस्तुओंसे घीरे जैविक अधिष्ठानमें घटित होती जैविकी प्रतिक्रिया या मानसिक प्रतिक्रिया या बौद्धिक प्रतिक्रिया अथवा दृश्येतर अन्य भौतिक पदार्थोंके साथ घटित होती भौतिकी प्रतिक्रिया की गवेषणामें रत विभिन्न ज्ञानप्रणालियोंद्वारा भी उन्हें जाना ही जा सकता है. उदाहरणतया दृश्यवस्तुके वर्ण आकृति तुलनात्मकपरिमाण गति स्थिति तादात्म्य या संयोग आदि अनेक पहलुओंकी संगणकमें संख्याकीय एककोंमें न केवल व्याख्या प्रतिकृति या प्रतिरूप प्रत्युत प्रदर्शनीय प्रतिभास भी अब शक्य बन गया है. एतावता वास्तविक बाह्य जागतिक वस्तुओंको संगणकीय एककोंका केवल संघात नहीं माना जा सकता. यह तो वैसी कथा हो जायेगी कि अजैविक जयपुर-फुट पहन कर कोई चल या नाच पाता हो एतावता जैविक चरणोंको जैविक न मानना.

आज तो दृश्य प्रकाशतरंगकी तरह मानवचक्षुसे अगोचर एक्सरे इन्फ्रारेड्

अल्ट्रावायोलेट्र ही नहीं प्रत्युत श्रव्य और अतिश्रव्य तरंगोद्वारा भी किसी वर्ण/आकृति/परिमाण/गति/स्थितिशील वस्तुओंका साक्षात्कार .शक्य बन गया है.

हम मनुष्योंने अकारण ही यूनानी दर्शनके पिता सुकरातकी सी भोली श्रद्धाके वश अपने-आपको तार्किक पशुके रूपमें बिरदा कर अज्ञान संशय भ्रम इच्छारूप संकल्प या स्मर्यमाण विकल्पों की हमारी शक्तिओंको हीनदृष्टिसे देखनेकी मनोवृत्ति घड़ ली है. अन्यथा ओषधिहेतुक पीड़ाका अज्ञान, निद्राकालीन बाह्यविषयोंका अज्ञान, क्रियासमाधि या असम्प्रज्ञात ध्यानसमाधि की दशामें चित्तकी एकाग्रता के कारण होता अनपेक्षित वस्तुओंका अज्ञान तो अति श्लाघ्य ही होता है! इस दृष्टिसे निहारनेपर अज्ञान आदि भी हमारी चेतनामें प्रकटे अति श्रेष्ठ वरदान ही हैं! जीवनमें यदि हमारी बुद्धि यदि संशयकी सामर्थ्यसे सर्वथा वंचित बनायी जा सकती हो तो दार्शनिक या वैज्ञानिक विकासकी सारी सम्भावनायें ही निःशेष हो जायेंगी. प्राकृतिक आपदाकी पूर्वसूचना देते दृश्य-श्रव्य आदि चिह्नोंमें, भूकम्प या युद्धकी पूर्वसूचना देनेवाले सायरन् अथवा सिंह व्याघ्र आदिकी क्रूर ध्वनिओंमें, भीतिजननार्थ शब्दोंमें की जाती घोषणाओंमें वे जिन पदार्थों या घटनाओं के सूचक द्योतक या वाचक हों उनके साथ तादात्म्याध्यास प्रकट न हो पाता हो तो सजीव प्राणीका भूतलपर जीवित ही रह पाना असम्भव हो जायेगा! अतएव इन अज्ञान संशय भ्रम स्मृति आदि, दर्शन आदि शास्त्रोंमें निन्दित, बुद्धिवृत्तियां बुद्धिरहित मानवेतर प्राणिओंकी ही नहीं प्रत्युत मानवरूप प्राणीकी भी जीवनरक्षामें बहोत श्लाघ्य उपयोगी और अनिवार्य होती हैं.

अतएव देवीसूक्तमें भगवती देवीका **''या देवी सर्वभूतेषु चेतनारूपेण निद्रारूपेण बुद्धिरूपेण (तथा) भ्रान्तिरूपेण संस्थिता''** (देवीसूक्ते : ७,८,२६) ऐसा उल्लेख मिलता है. अतः इन्हीं बुद्धिवृत्तिओंको भगवान्की शक्ति या लीला की दृष्टिसे निहारनेपर ये वन्दनीय भी लगती हैं, केवल निन्दनीय ही नहीं. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका इस विषयमें नितान्त अनुसन्धेय एक

वचन यों है : "**सर्वरूपसमर्थत्वम् अतो ब्रह्मणि गीयते अन्यथा प्रतिभानं यद् उच्चनीचादिभेदतः तद् भानं तस्य कर्ता च हरिरेव तथाविधः. यत् किञ्चिद् दूषणन्तु अत्र दूष्यं चापि हरिः स्वयम्. विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वम् अत्रैव शोभते!**" (सुबो.२।९।३२).

अर्थात् ब्रह्म यदि एकमेव अद्वितीय पदार्थ हो तो उसे सर्वरूपोंको प्रकट या धारण करनेमें समर्थ मानना ही पड़ेगा. उस ब्रह्मकी अवधारणासे विपरीत जो भी कुछ पुण्य-पाप सुन्दर-असुन्दर शुभ-अशुभ सत्य-असत्य ऋत-अनृत ऊंचा या नीचा भान होता हो उसे ऐसे भानको और भानको प्रकट करनेवालेको भी ब्रह्म ही मानना चाहिये. यदि ऐसी अवधारणामें दूषण अथवा दूष्य स्फुरित होते हों तो उन्हें भी भगवान्के लिये विविध रूप मान लेने चाहिये. परस्पर विरोधाभासी सारे पक्ष इस परब्रह्म परमात्मा भगवान्के स्वरूपमें शोभास्पद अलंकाररूप ही होते हैं!

PERCEPTION: A Philosophical Impasse

Dr. S. V. Bokil

The problem of Perception is about our knowledge of the external world whose reality would not be slighted by us in any way. One cannot seriously maintain that there exists an external world of physical objects, living beings and human persons and also maintain at the same time a view that their knowledge however has no genesis in perception. One would not know what it is to have knowledge of external world except through recourse to perception. A strong robust common sense would certainly support such a contention. And we know a few philosophers who would also defend Perception or Pratyakṣa as a valid source of knowledge. We say that they advocate a thesis of realism. They would then claim either that we directly know through perception (or sense-experience) the existence of physical objects and the sorts of properties which those objects have or that such knowledge is had by us only indirectly, contents of our sense-experience being ideas, or impressions, or sense data or sensibilia, or representations. Thus we have either Direct Realism or Indirect Realism. What is common to both is that perception plays crucial role in acquiring true justified beliefs about the external world. Our beliefs concerning external world are not only caused by perception but they also stand justified before the tribunal of experience. Philosophers whether

in the East or in the West have some times even claimed the superiority of perception over other sources of knowledge such as Anumāna and/or Śruti. But there are also philosophers who have often said that our knowledge is not only somehow limited but also impossible because seeing, hearing and other forms of sensory perception are systematically defective or at least by nature incapable of disclosing to us anything with the characteristics we ordinarily suppose physical objects to have. Most of our philosophical anxieties are thus centered around perception and howsoever strongly we feel like defending robust common-sense and intuitionistic certainties of a few philosophers regarding perception, there are seemingly plausible philosophical arguments which make us skeptical about the claims made in behalf of perception. Consider e.g. Zeno's paradoxes, which were designed to discredit the evidence of senses in our belief of the reality of motion and plurality of being. They were brought in support of the Parmenidean thesis that 'being alone is; non-being is not'. These arguments of Zeno kept philosophical and mathematical brains till recently busy with the problematic of perception. Perception tells us that motion of things in the world is real, i.e. the change is real and the plurality is also real. But the paradoxical conclusions of Zeno's arguments discredits the evidence of perception which amounts to discrediting of perception itself. Consider further Plato's criticism of Perception in his Thaetetus. In defense of perception, while Protagoras was content in claiming that man is the measure of all things, Plato by continuing the logic of Protagoras' thesis reduces it to the

absurdity of contending that pig be the measure of all things. If perception and knowledge are identified, then any irrational brute that is capable of perception is equally the measure of all things. Further if perception is identified with knowledge as is contended by Protagoras, my own perception at any moment becomes infallible and then there is no possibility of any instruction, any scientific discussion nor any debate or refutation. Identity of perception and knowledge leads to contradiction a very subtle charge made by Plato against Protagoras. Further[1]. Plato claims that to identify perception with knowledge is to annihilate knowledge of future. Plato further blames Protagoras for his ignorance of an apriori element in knowledge. The most important point which Plato makes is that we see with the eyes and hear with the ears; but to conjoin these perceptions thus acquired by different sense-organs and to embrace them in the unity of self-consciousness neither of these is an affair of the senses. We cannot have visual sensation by ear nor auditory sensations through eyes but nevertheless if we compare them, and distinguish them, that function cannot be performed by senses themselves.

Zeno and Plato were rationalists and for them reason in man was dependable organ of knowledge that referred infallibly to trans-empirical reality. In denouncing perception, they had a philosophical axe to grind. But Now consider the indictment of perception and indeed of all knowledge as such through ten skeptical tropes i.e. points or arguments

given by Sextus Empirious a Greek physician who lived probably in the first half of the third century after Christ. (Refer to his Pyrrhonic Hypotheses in three books. The skeptical reservation of opinion or suspension of belief was based on:

1. Varieties of sensations and feelings which living beings in general have.
2. The bodily and mental diversities of men, by reason of which things appear different to different persons;
3. to the varying accounts of the senses themselves in regard to things, and to the uncertainty as to whether the organs of sense are competent or not;
4. to the dependence of our perceptions of things on out different bodily and mental states; as well as
5. on the various positions of things to us and to each other (distance, etc.);
6. to the fact that we know nothing directly, but all only through some extraneous medium (air, etc.);
7. to the varying impressions of the same thing by varying quantity, temperature, colour, motion, etc.;
8. to the dependence of our impressions on custom, the new and strange affecting us differently from the common;
9. to the relativity of all notions, predicates in general expressing only relations of thing to each other or to our perceptions of them;
10. to the diversity of the customs, manners, laws, religious conceptions, and dogmatical opinions of men.

These ten tropes summarise succinctly ancient skeptic's

philosophical perspective. It is clear that ancient skeptics disavow belief. Naturally their scope is less radical. They do not doubt the reality of external world nor do they doubt that other persons have the sorts of feelings or perceptions as they have. The modest scope of ancient skepticism both of reason and perception is, it is claimed, due to its practical concern. Skepticism in ancient times was considered to be a way of life. It was believed that "He who has adopted the skeptical mood of thought, lives ever in peace, without care and without desire in a pure apathy neither of good nor of evil".

I must now hasten to speak of the treatment of Perception in classical modern period which begins with Rene Descartes. I shall also later on briefly indicate 20th century perception of Perception especially after the major linguistic turn. I shall keep the notion of perception at the center and develop the remaining presentation.

1. Descartes was rationalist and also a realist. He argued knowledge must be true justified belief and that beliefs or ideas must be caused by external material objects that exist independent of me. Thus all knowledge is comprised of innate ideas and perception can never play any justificatory role in knowledge. Thus his skeptic (better known as Cartesian skeptic a man of straw), in executing his methodological affair, denounces perception as a valid source of knowledge. But Descartes also advocated Mind-body substantial dualism

and thereby created host of problems in relating mind and body. It certainly seems that mind and body must be related in some way if you have to account for the knowledge of the external world. But if they are substances in their own right, no relation whether at physical level or at metaphysical level can be logically satisfactory. I shall not rehearse Descartes' proof which is lengthy one draw your attention to the core point in Descartes argument viz., though god is final sanction for all our knowledge, God guarantees the external existence of only those characteristics of objects of which we have clear and distinct apprehension. Of these there is only one, that is that they have extension in width, breadth and depth (hence they have shape) and relatedly they have substance, location, motion, duration, and number. Knowledge of these is guaranteed by God through reason which is the essence of mind or soul. Ideas like colour, sound, taste, heat and the like are adventitious, hence variable and relative. Because they are confusedly apprehended as properties of objects and hence uncertified by God. These properties which we come to perceive through senses may or may not accurately represent external objects. What we can know and prove with the exactitude of a geometrical theorem is that material objects exist and have extension. This is what is known as Representative Realism and which states that there is a real object (sustance) represented by ideas and indirectly know the objects they represent.

2. This theory is also held by John Locke, father of

classical Empiricism. He does not however indict perception. On the contrary he advocates the thesis that there are no such things as innate ideas and that sense-experience is only and sole source of all our ideas that go to make knowledge. However he expounds this thesis within the metaphysical framework of Descartes, thereby inviting a very perceptive comment that he is more a Cartesian than a Baconian. He subscribes to Descartes' distinction between Primary and Secondary qualities a distinction acknowledged by the then world of science and holds that the material substance which exists independent of mind is represented by ideas that we have through our senses of the properties which objects have. We do not really know or perceive substances but refer our ideas, which we do perceive, to them as their causes. A substance is merely a something, I know not what its unknown cause of my sensations or ideas of sensation. He attributes primary properties to material substance - substance inheres these properties; they are shape, size, number, motion and rest. But there are qualities which we attribute to objects outside but which do not inhere in them they are secondary properties Locks maintains that colours, odours, sounds, tactual feels and tastes of a thing exist as qualities only in the mind. They primarily depend upon sense organs and the mind, which is for Locke, a mere tabula rasa having nothing to contribute of its own a priori. Thus we infer what the substance is from its effects on us.

3. If we consider both these presentations of the

representative theory of knowledge, one giving no place to perception and the other solely resting on perception, one can see that both the presentations are unsatisfactory Descartes partly but Locks fully appeal to principle of causality. Appeal to causation is of no avail, because how can we empirically verify a causal relationship between objects and ideas unless we know first that such a relationship holds, we cannot know that there are any such things as external objects? Representative realist needs to verify this relationship in order to infer the existence of an external world, but in order to verify this relation he must first know that there really is and external world. The consequence is that both Descartes and Locke founder upon a skepticism concerning external world of material objects. It is this skepticism that has led for the first time in modern philosophy to the rise of epistemic idealism which reduces the 'esse' of an object to 'percipi'. (Brunet and Berkeley). Direct realism may not be a satisfactory philosophical account of our knowledge of external world but it at least sides with common sense. Representative realism intensifies philosophical anxieties that center round the relationship of mind and world. It presupposes metaphysical dualism of mind and body but it also introduces the myth of ideas in between mind and the external world. It's a known story how this my exorcises the concept of matter in Berkeley's philosophy and through that halfway house lends to skepticism about the very very substantial notion of mind. It leads to full-blooded sensationalism in Hume and Condillac - a reductio ad absurdum of both reason and perception

as organs of human knowledge. It's the phenomenalistic reductionism which led to the rejection of metaphysics and to the introduction of mechanistic conception of man in La Mettrie. Descartes and his rationalistic supporters are non-naturalists; so are Locke and Bishop Berkeley. Hume introduced naturalism for the first time in Modern philosophy and identifying 'perception' with 'impressions' boldly handed Humean spectre in the hands of a skeptic.

4. Attempts were made to overcome the difficulties presented by the Representative theory of Perception by suggesting modifications here and there by developing theories like Neo-realism (R. B. Perry) and Critical Realism, (George Santayana. I shall not deal with them. (Those interested may refer to Vol.51, no. 2, April 1967 issue of Monist, which is devoted entirely to studies of neo-realism and critical realism.) Scholars are agreed on the general failure of these theories in handling squarely the issue of our knowledge of external world through Perception.

5. The 20th Century Phenomenalism or Sense-data Theory has much in common with Berkeley's epistemological idealism; it's a linguistic refinement of Berkeley's position without the theological metaphysics which he introduces. Both Berkeley and Hume had proposed reduction of material objects we perceive to the sensible qualities. The modern phenomenalist agrees with Berkeley that sense contents to not exist unperceived. "To be is to be perceived" is correct with

respect to immediate data of perception. Surely material things are constituted by sense data. He however departs from Berkeley in asserting that material things do exist independently. In order to remove prima facie incompatibility in asserting these contentions, phenomenalist moves from material mode of speech to a formal mode of speech and says that there is an important sense in which objects may be said to be constituted out of sense-data, which objects may be said to be constituted out of sense-data, which does not require saying that they are composed of them. If we properly understand the relationship between sense data and objects, then according to Ayer, objects can be regarded as logical constructions out of sense-data. To say this is to say that the physical object statements are those that can be translated into sense-data statements. Thus the phenomenalist shifts the whole problem of the external world to a linguistic level. Highly sophisticated and technically subtle accounts of the possibility of such translations were worked out by the defenders of such a theory but all of them failed for two important reasons:

1. No reduction of any physical object statement can be satisfactorily effect without introducing in the reductive analysis some new physical object statements or reference to physical objects.
2. As pointed by Waismann, the empirical concepts are open-textured concepts in such a way that there is always an element of uncertainty about their application. In his

own words:

> "The phenomenalistic translation would be possible only if the terms of a material object statement were completely definable. For only then could we describe completely all the possible evidences, which would make the statement true or false. As this condition is not fulfilled, the programme of phenomenalism falls flat, and in consequence the attempts at analyzing chairs and tables into patterns of sense-data which has become something of a national sport in England are doomed to fail".
>
> 'Varifiability' in Logic and Language, (ed) A. N. Flew (1955, p.121).

6. There are several new perspectives and new bearings in the philosophies of Ryle, Austin and Wittgenstein (Later) based on linguistic analysis and ordinary language use. But, more of that on some other occasion.

1. If everbody is right, then surely no one including Protegoras himself is right.

......+......

चर्चा

PERCEPTION : A Philosophical Impasse

डा.एस्. वी. बोकिल्

सिद्धेश्वर भट्ट : Why you have confined your analysis of the problems of perception to our knowledge of the external world. Because even in the western tradition there has been analysis of sense impressions, simple ideas, mental world also... also in judgement of perception, but why can we not take that from other... non-skeptical... So, to begin with... they have definite conception of knowledge as per your opening sentence. If they have definite conception of knowledge then why we bring in sort of Platonic ...

एस्. बोकिल : You just tell me who was the philosopher in the west up to Descartes & Lock; who have believed in perception, the philosophers who have believed in perception as a source of knowledge of external world. They have all the time remained skeptical. Perhaps you have Aristotle. But in Aristotle what has happened? He certainly depends upon perception for our knowledge of the external world ... Because he is not Platonic...

सिद्धेश्वर भट्ट : They have developed natural and social sciences and have ... drawn upon perception ...

एस्. बोकिल : But ultimately in Aristotle as well you will find that knowledge is ultimately my understanding of the form of the external objects. Now how do I get that form? Surely not through perception. So, Aristotle, though he criticised Plato, in the ultimate analysis he also becomes Platonic.

सिद्धेश्वर भट्ट : No. But he has e.g. developed inductive logic. How can there be a development of the logic without relying upon observation or perception? The best sort of picture we should not overlook, my suggestion is this.

एस्. बोकिल : His inductive logic is not merely a simple enumeration.

सिद्धेश्वर भट्ट : But observation is there.

एस्. बोकिल : Observation is there but what has happened to the problem of induction in the west, we still accept the opinion of Hume that inductive...

सिद्धेश्वर भट्ट : But induction.... is there, that can't be denied. Any way, this is one point...

एस्. बोकिल : That is the philosophical impasse that induction is there but we can't justify. Because philosopher's problem is...

सिद्धेश्वर भट्ट : We do have limited justification; otherwise there would not have been light of scientific knowledge. And all the scientific and technological inventions would not have taken place.

एस्. बोकिल : I think philosophers will not say that scientific knowledge which we have reached is the ultimate

truth. Every belief is revisible. There are philosophers like Putnam, Quain e.g. ...

सिद्धेश्वर भट्ट : Any way, my point was only this much that there is available an analysis of inner world as well.

एस्. बोकिल : This is a part of conception ...

सिद्धेश्वर भट्ट : And the second is even in a Greek thought we do have not only references to but say grounding in perceptual cognition so far as scientific knowledge is concerned. I have one more point, you have approvingly mentioned Plato's indictment of perception saying that it could be perception of a pig.

एस्. बोकिल : This is what Plato mentions.

सिद्धेश्वर भट्ट : Yes, but you are approvingly mentioning. Well my point is that by perception while we are analyzing it e.g. in our present context, we mean ratiocinated organized articulated sense experience. That is what we call in our tradition 'Pratyakṣa'. Otherwise we are not concerned with the Pratyakṣa of a crow or pig etc. we don't refer to that. So I think that ...

एस्. बोकिल : That is a reductio-ad-absurdum that Plato has ... My response to this would be that those who believe in perception should first consider if it is possible for us to have perception without language ? How do we acquire language.

सिद्धेश्वर भट्ट : This is debatable.

एस्. बोकिल : Why debatable? You show me a single perception, which you make and you do not put it in ...

सिद्धेश्वर भट्ट : Buddhist would say that every perception is nonverbal. ... Even Naiyāyika would say that Nirvakalpaka is nonverbal. In our tradition we have that position.

एस्. बोकिल : On the other hand modern philosophers are inclined to believe that there is no such thing as pure sensation. William James e.g. says that every perception is by some kind of hypothesis, which we have. There is no such thing as pure sensation. So there is no such thing like Nirvikalpak.

प्रद्योतकुमार : Prof. Bokil was trying to say that how the theories of perception developed in the west from times of Plato and ... up to modern time is partly... And in this regard, his presentation is perfectly all right excepting three or four minor omissions. The first one is that speaking of sense data theory, how can you afford to omit mentioning Russell and ... Second thing, while you speak of phenomenalism, and you are trying to say why phenomenalistic reduction is not possible, you have forgotten to mention John Stuart Mill, who says that perception of matter is the permanent possibilities of sensation. But the important point is that when you... that this conception has developed in the 20th century simultaneously with the

development of the modern science. And you are very correctly asserting that there are two completely different types of skepticisms : classical Greek skepticism and the modern skepticism. Greek skepticism, which you have not emphasized, which I think you should have emphasized, that it was basically skepticism about the knowledge itself. Modern skepticism is mainly three kinds : 1. skepticism of the external world 2. skepticism of the other mind and 3. skepticism of the knowledge of past. All of them ... But my perception is this that why was... I have noted it ... first developed that Baker could not justify his belief in perception. And there he says that he also introduced world. But actually the thing is otherwise. Because he introduced this version(?) that created this problem. But the most basic point is this that when you speak of phenomenalistic reduction, one aspect has been there that any ... phenomenalistic reduction... physical object... statement is bound to invoke subjective conditions And that means any... certain peace of knowledge would become only subjective conditional. And that is wrong... These are the few remarks.

But the important point is this. It is true the problem is about the external world and not of the knowledge about our own self. Simple reason is this. Though it is not denied that ideas are

always known, they are the immediate data for experience but it is not said that those ideas are object the object of the perception. Actually the object of perception is external world. And that perception itself consists of certain ideas and various... So that both of way it is suggested that they also have their... of perception that is a different thing. I don't think... about the... of perception. But how this problem of perception was generated and into what... it has made us to... But more or less basically this phenomenalistic reduction is a thing of past. Now a days are... See, again... of realism. There is physicality language is still found to be the better one because of its simplicity.

एस्. बोकिल : You have certainly made very important observation. My problem was this, after long experience I have decided that for seminars I should always write short papers so that we can get more time for discussion. If you refer to 20th century development, and if I take... we have perception of our own feeling just see what Wittgenstein says. They aren't there he says. They don't have any ontological reality at all.

सिद्धेश्वर भट्ट : Private language ...

एस्. बोकिल : Yes private language argument is there. But I think to bring in private language argument to... I should better use perception for the reasons for which we considered to be most important namely

perception of external world. And I think problem before the scientists is also exactly the same.

सिद्धेश्वर भट्ट : These days scientists are very much busy with the analysis of consciousness. Tremendous research is going on in the field of understanding of consciousness.

भाट्टमतरीत्या प्रत्यक्षविवरणम्

डॉ. कृष्णमूर्ति शास्त्री, चेन्नई

<u>उपोद्घातः</u> :

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च।
हूयते च पुनर् द्वाभ्यां स नो विष्णुः प्रसीदतु॥

"मानाधीना मेयासिद्धिः मानसिद्धिश्च लक्षणात्" इति सूक्तिः. प्रमाणं विना प्रमेयं खलु नैव स्थाप्येत. सर्वप्रमाणज्येष्ठभूतम् इदं सर्वसम्मतं यत् प्रत्यक्षं नाम. प्रमाणसंख्यायां तावत् विवदन्तो वादिनः एवम्—

चार्वाकाः तावद् एकं द्वितयमपि पुनर् बौद्ध-वैशेषिकौ द्वौ
भासर्वज्ञः च सांख्यः त्रितयम् उदयानाद्याः चतुष्कं वदन्ति।
प्राहुः प्राभाकराः पञ्चकम् अपिच वयं तेऽपि वेदान्तविज्ञाः
षट्कं पौराणिकास्तु अष्टकम् अभिदधिरे सम्भवैतिह्ययोगात्॥
(मानमेयोदयम्).

"व्यवहारे भट्टनयः" इति आभाणकम् अनुसृत्य वयमपि षट्प्रमाणवादिनः. इदानीं प्रमाणज्येष्ठस्य प्रत्यक्षस्य विमर्शं यथामति कुर्मः.

प्रमाणम् :

"प्रमाकरणं प्रमाणम्" इत्यत्र नास्त्येव विप्रतिपत्तिः वादिनाम्. प्रमाच एतन्मतरीत्या "अज्ञात-तत्त्वार्थ-ज्ञानत्वम्" इति मानमेयोदये स्पष्टम् उक्तम्

''प्रमाकरणमेव अत्र प्रमाणं तर्कपक्षवत्, प्रमाच अज्ञाततत्त्वार्थज्ञानमेव अत्र भिद्यते''.

'अज्ञात'पदेन अत्र ज्ञातविषययोः स्मृत्यनुवादयोः निरासः. तत्र तार्किकैः अनुवादानाम् अप्रामाण्यं न अनुमतम्. वयन्तु ब्रूमो, अनुवादो हि अर्थपरिच्छेदे व्यवहारे वा पूर्वज्ञानात् कञ्चिदपि विशेषं न आधत्ते. अतः फलविशेषाभावात्, फलार्थं च प्रमाणानां स्वीकारात् स्मृतिवद् अनुवादो अयं प्रामाण्यं न अर्हतीति तद्वारणं 'अज्ञात'पदेन आवश्यकम्.

शंका : एवं चेत् धारावाहिकेन ''घटोऽयं घटोऽयं'' इत्येवंरूपे द्वितीयादीनाम् अप्रमात्वं स्यात्?

समाधानं : ''अयम् अयम्'' इत्येवम् अत्र उत्तरोत्तरेषां कालांशानाम् अज्ञातानाम् अवगमात्, उत्तरे क्षणे घटादिसद्भावस्य च पूर्वज्ञानेन अनधिगतत्वात् प्रमात्वमेव.

शंका : कालविशेषस्य औपाधिकत्वात् केन उपाधिना अवच्छिन्नानां कालांशानां भानम्?

समाधानं : पूर्वपूर्वज्ञानजनितानां प्राकट्यानाम् उत्तरोत्तरज्ञानपर्यन्तम् अवस्थानात्, प्राकट्यावच्छिन्नानां कालांशानां तत्र-तत्र अवगमः. प्राकट्यविशेषाणां सूक्ष्मत्वात् तदवच्छिन्नकालविशेषानामपि सूक्ष्मत्वात् पुनरपि दूरवगमत्वं स्याद् इति न शंकनीयम्. प्राकट्यानां कालविशेषाणाञ्च सूक्ष्मत्वम् अथवा दुरवगमत्वं नास्ति. अन्यथा ''कमलदलशतं युगपद् भिन्नं सूच्या'' इति वत् ''सकृद् अवबुद्धो घटः'' इति यौगपद्याभिमानप्रसंगात्. इहतु 'अयम्'-'अयम्' इति पुनः-पुनः क्रमेणैव प्रतीतेः धारावाहिकस्वभावसिद्धत्वाद् यौगपद्याभिमानस्य विरोधः.

डी.प्रह्लादाचार : अयम् अशः कथं...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्राकट्यं प्रमाणस्य फलम्. फलं कालविशेषाः क्षणविशेषाः च. तेऽपि सूक्ष्माः. प्राकट्यावच्छिन्नानां कालविशेषाणाम्

उत्तरोत्तरक्षणे नूतनतया भानम् इति यदि उच्यते तत् कथं स्यात् इतितु न शंकनीयम्. तेऽपि यद्यपि सूक्ष्माः अथवा सूक्ष्मत्वमेव नास्ति इति उक्त्वा तेऽपि प्रत्यक्षविषयाएव भवन्ति. अतएव 'अयम्'-'अयम्' इत्येवं नूतनतया एकैकः क्षणः अस्मद्दृष्टिगोचरो भवति. नीरूपस्यापि कालस्य प्रत्यक्षत्वं वयम् अंगीकुर्मः. तत्रच एका युक्तिः उच्यते. यदि कालादीनां दुरवगमत्वं प्राकट्यस्य च तदानीम् ''अयं घटः सकृद् अवबुद्धः'' इति अनुव्यवसायः स्यात्. यथा ''कमलदलशतं युगपद् भिन्नं'' सूच्या शतपत्रभेदन्यायेन युगपद् भिन्नम् इति भ्रमो भवति. अत्रतु दुरवगमत्वं यदि स्यात् तथा अनुभवः स्यात्. अनुभवेतु पुनः-पुनः क्रमेणैव प्रतीतिः जायते इति कृत्वा यौगपद्याभिमानस्य न विरोधः.

प्रद्योतकुमार : प्राकट्यस्य भेदो अंगीक्रियते वा ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्राकट्यानां भेदस्तु अंगीक्रियते, कालविशेषात्.

के.ई.देवनाथन् : ज्ञानभेदः...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्राकट्येन अवच्छिन्नानां कालानां सूक्ष्माणामपि उपलब्धिः भवितुम् अर्हति. धारावाहिकस्थले द्वितीयादिप्रामाणानाम् एवं प्रमात्वं स्वीकार्यम्. अनधिगतत्वञ्च अंगीकृतम्. एकैकस्य शास्त्रकारस्य स्वकीयप्रक्रियायाम् आग्रहस्तु वर्ततएव. तदर्थं कापि कल्पना युक्तियुक्ताएव गृह्यते.

प्रमाणलक्षणे 'तत्त्व'पदं भ्रमसंशयादीनाम् अयथार्थज्ञानानां निरासाय प्रयुक्तम्. प्राभाकाराणां मतेतु अयथार्थज्ञानस्यैव अभावात् 'तत्त्व'पदम् अनर्थकम्. एवंहि तेषां मतम् ''इदं रजतम्'' इत्यत्र 'इदम्'इति अगृहीतविशेषं शुक्तिशकलं गृह्यते, 'रजतम्' इति च रजतमात्रं प्रमुष्टतत्ताकं स्मर्यते. तयोश्च भेदाग्रहात् ''इदं रजतम्'' इति व्यपदेशः पुरोवर्तिनि प्रवृत्तिः च. शुक्तिशकलस्य रजतत्त्वेन भानरूपो भ्रमस्तु नास्ति इति.

इदन्तु एवं निराकरणीयं : तत्तज्ज्ञानस्य स्वविषयएव प्रवृत्तिकरत्वनियमात्

रजतज्ञानस्यापि इदंविषयत्वाभावे पुरोवर्तिनि इदमि प्रवृत्तिः न स्यात्. किञ्च चेतनस्य प्रवृत्तिः सर्वापि ज्ञानपूर्विकैवेति भेदाज्ञानात् प्रवृत्तिः अनुपपन्ना. अपिच ''इदमेव रजतम्'' इति सामानाधिकरण्यं तयोः अभेदप्रतीतिं विना न सिद्ध्येत्. इति.

तस्मात् अन्यथाग्रहणरूप-भ्रमादिज्ञान-सद्भावात् तन्निरासार्थं 'तत्त्व'पदम्. तद् एवं अज्ञाततत्त्वावगमरूपायाः प्रमायाः करणत्वेन इन्द्रियसन्निकर्षादीनां प्रमाणत्वं सिद्धम्.

अत्रच 'प्रमा'शब्देन लक्षणया तत्कार्यभूतस्य प्राकट्यस्यापि प्रतिपादनात् प्राकट्यरूपप्रमाकरणत्वेन ज्ञानस्यापि प्रमाणत्वं भाट्टाः आहुः. एतावताच वयं फलप्रमाणवादिनः इति गीयामहे.

प्रत्यक्षम् :

इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं प्रमाणं प्रत्यक्षम्. इन्द्रियाणिच चक्षु-रसन-घ्राण-स्पर्शन-श्रोत्राणि मनः च इति षट्. पञ्चेन्द्रियाणि पञ्चभूतात्मकानि गीयन्ते एवम् —

चक्षुर् नाम कनीनिकान्तरगतं तेजो अथ जिह्वाग्रगस्,
तोयांशो रसनं, क्षितेरिव मनो घ्राणं च घोणोदरे।
सर्वांगप्रसृताः च मारुतलवाः त्वङ् नाम, कर्णोदर-
व्योमैव श्रवणं, मनस्तु विभु तद्देहे च कार्यावहम्॥

रूपज्ञानस्य केनचित् कारणेन भवितव्यं इति सामान्येन सिद्धौ दीपादितेजसएव रूपज्ञानहेतुत्वदर्शनात् चक्षुः तैजसं कल्प्यते. तथा रसज्ञानस्यापि करणकल्पनायां, शुष्कवस्तुषु रसव्यञ्जकत्वम् अपामेव दृष्टमिति रसनेन्द्रियम् आप्यं कल्प्यते. एवं चन्दनगत-पार्थिव-निम्बत्वगनुलेपनस्य गन्धाभिव्यञ्जकत्व-दर्शनात् गन्धाभिव्यञ्जकत्वेन कल्प्यमानं घ्राणं पार्थिवं भवति. तथा व्यजनपवनस्य

अंगसंगि-सलिलस्पर्शाभिव्यञ्जकत्वदर्शनात् स्पर्शोपलम्भकस्य त्वगेन्द्रियस्य वायवीयत्वं कल्प्यते. शब्दग्राहकतया कल्प्यस्य श्रोत्रस्यतु परिशेषाद् आकाशात्मकत्वम्. चक्षुरादीनां खलु अन्येन्द्रियारम्भकेण आरब्धत्वं न दृष्टमिति, तेजःप्रभृतीनां अन्येन्द्रियारम्भकत्वात् तेषां श्रोत्रत्वं न सम्भवति. भूतात्मकत्वमेव च बहिरिन्द्रियाणां दृष्टमिति अवशिष्टस्य आकाशस्य भूतस्यैव श्रोत्रत्वम् इत्येवं परिशेषो भवति.

तार्किकास्तु "शब्दस्य आकाशगुणत्वात् तद्ग्राहकस्य श्रोत्रस्य आकाशत्वम्" इति साधयन्ति; तद् अस्माभिः न अंगीक्रियते, शब्दस्य द्रव्यत्वात्.

मनस्तु सुखाद्यपरोक्षज्ञानसाधनेन्द्रियत्वेन कल्प्यते. तस्यच विभुत्वं साधयिष्यते. यद्यपि मनो विभुः तथापि तस्य शरीरावच्छिन्नस्यैव इन्द्रियत्वमिति तत्प्रदेशएव कार्याणि करोति. रूपादिज्ञानेष्वपि तत् चक्षुरादिपरतन्त्रं प्रवर्ततएव. अनुमानादिष्वपि तत् लिंगादिसहायं भवति इति स्थितिः.

चक्षुरादिषु इन्द्रियेषु नेत्रश्रोत्रयोः प्राप्यकारित्वे विवादो अस्तीति बहिरिन्द्रियत्वेन हेतुना त्वगादिवत् तयोरपि प्राप्यकारित्वं साधनीयम्. ततश्च नेत्रस्य पृथुतरपृथिवीधरादिदर्शनात् पृथ्वग्रत्वमपि तेजःस्वभावसिद्धम् आश्रयणीयम्. तथा उन्मीलनक्षणएव दूरतर-शनैश्चरादिदर्शनाद् व्याप्यावस्थितेन बाह्यतेजसा निर्गमनसमयएव एकीभावः कल्पनीयः. बाह्यतेजसः सकलव्यापित्वेन केरलेभ्योऽपि गंगादर्शनप्रसंगस्तु नापादनीयो, अदृष्टोपगृहीतेनैव आलोकभागेन एकीभावात्.

परन्तु तार्किकाः तदिदं दूरदर्शनं वेगातिशयात् साधयन्ति. अनन्तयोजनान्तरितेषु शनैश्चरादिषु झटिति दर्शनं वेगमात्राद् असम्भाव्यमिति तद् उपेक्षितम् अस्माभिः. एतानिच इन्द्रियाणि अनुद्भूतरूपस्पर्शत्वात् प्रत्यक्षेण न गृह्यन्ते.

सन्निकर्षः :

इन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षो द्विविधः [१]संयोगः [२]संयुक्ततादात्म्यं च इति.

१. तत्र पृथिव्यप्तेजसां चक्षुस्त्वगिन्द्रियाभ्यां संयोगाद् ग्रहणं, वायोः त्वक्संयोगाद्, आत्मनः मनःसंयोगात्. विभुनोरपि आत्ममनसोः अजन्यसंयोगांगीकारात् न विरोधः.

२. यदातु चक्षुरादिसंयुक्तेषु पूर्वोक्तेषु पृथिव्यादिषु तदात्मभूतानां जातिगुणकर्मणां ग्रहणं तदा संयुक्तातादात्म्यं सन्निकर्षः. तद् उक्तं ‘‘रूपादीनान्तु संयुक्त-द्रव्यतादात्म्यमेव नः, प्रतीतिकारणं तस्मात् न सम्बन्धान्तरस्पृहा’’ इति.

यदातु जाति-गुण-कर्मगतानां सत्ता-रूपत्व-कर्मत्वादीनां ग्रहणं तदा तेषामेव परम्परया तादात्म्यसम्भवात् संयुक्ततादात्म्यमेव सन्निकर्षः इति मन्यामहे. यद्वा यथा परे रूपत्वादिग्रहणाय समवेतसमवायम् आश्रयन्ते तथा अस्माकमपि संयुक्त-तादात्म्य-तादात्म्यं नाम तृतीयः सन्निकर्षो अस्तु; का हानिः! जाति-गुण-कर्मणाञ्च स्वाश्रयैः तादात्म्यमेव सम्बन्धः. तस्मात् द्वेधा त्रेधा वा सन्निकर्षः.

तार्किकास्तु तादात्म्यस्थाने समवायम् अभिषिञ्चन्तो अन्यथा सन्निकर्षम् आहुः : संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावः च इति षोढा सन्निकर्षः इति. इदन्तु न उपपद्यते :

तत्र आद्यं त्रिविधं तावत् नाममात्रेण भिद्यते।
समवायादयस्तु अन्ये सन्निकर्षाः निराश्रयाः॥

प्रथमाः त्रयः अस्माकमपि नामान्तरेण सम्मताः.

शब्दस्य हि श्रोत्रगुणत्वाभावात् समवाय-समवेत-समवायौ निरवकाशौ. अभावस्यच प्रत्यक्षत्वाभावात्, समवायस्य च शशशृंगायमाणत्वाद् विशेषण-विशेष्य-भावसन्निकर्षोऽपि हेयः. किञ्च चक्षुःसंयुक्तेन अर्थेन अभाव-समवाययोः विशेषण-विशेष्यभावः सन्निकर्षो न सम्भवति; "दण्डी पुरुषः" इत्यादौ सम्बन्धान्तरपूर्वकस्यैव विशेषण-विशेष्यभावस्य दर्शनाद् अभावसमवाययोः च अर्थेन सम्बन्धान्तराभावाद् इति.

प्राभाकरास्तु १. संयोगः २. संयुक्तसमवायः ३. समवायः च इति त्रेधा सन्निकर्षम् आहुः. तन्मते रूपत्वादीनाम् अभावात् संयुक्त-समवेत-समवायो न आश्रयणीयः. शब्दत्वस्य अभावात् समवेत-समवायोऽपि न आश्रीयते. अभावस्यैव अभावात्, समवायस्यच प्रत्यक्षत्वाभावात् विशेषण-विशेष्यभावोऽपि न आश्रयणीयः इति. तदपि मतं, रूपत्वादीनां साधनात् तार्किकैरेव निराकृतम्. तस्माद् उक्तप्रकारएव सन्निकर्षः.

प्रत्यक्षं द्विविधं : १. निर्विकल्पकं २. सविकल्पकं च. तत्र इन्द्रियसन्निकर्षानन्तरमेव द्रव्यादिस्वरूपमात्रावगाहि शब्दानुगमशून्यं यत् सम्मुग्धज्ञानं जायते, तत् विशिष्टकल्पनाभावात् निर्विकल्पकम् इति उच्यते.

यत्तु तदनन्तरं शब्दस्मरणसहकृतं जात्यादिविशिष्टवस्तुविषयं "रक्तः अयं" "घटः अयम्" इत्यादिव्यक्तविज्ञानं तत् सविकल्पकम्.

शाब्दिकास्तु निर्विकल्पकं नास्ति इति आहुः. उक्तंहि "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते" इति. तद् अयुक्तम्, पूर्वम् अर्थदर्शनाभावे शब्दस्मरणस्य हेत्वभावप्रसंगात्.

सौगतास्तु प्रत्यक्षं निर्विकल्पकमेव आश्रित्य सविकल्पकस्य प्रमाणत्वं प्रत्यक्षत्वं च न अस्ति इति आहुः.

तदपि अयुक्तम्, सविकल्पकस्य प्रत्यक्षतया लोकसिद्धस्य निषेधे

लोकविरोधात्. तद् उक्तम् "'चन्द्र'शब्दाभिधेयत्वं शशिनो यो निषेधति सएव सविकल्पस्य प्रत्यक्षत्वं निवारयेद्" इति. अपिच सविकल्पकानन्तरमेव अर्थक्रियादर्शनाद्, अर्थक्रियाकारित्वलक्षणं प्रमाणत्वं तस्य दुर्निवारम्.

शंका : सविकल्पकस्य 'प्रत्यक्ष'शब्दवाच्यत्वं कथम्? तस्य निर्विकल्पकेन व्यवधानेन, साक्षाद् अक्षजत्वाभावात्, परम्परया अक्षजत्वस्य प्रत्यक्षलक्षणत्वे, अनुमानादीनामपि प्रत्यक्षत्वप्रसंगात्.

समाधानं : निर्विकल्पकवत् सविकल्पकमपि साक्षाद् अक्षजमेव; यथा आहुः आचार्याः

ताश्च इन्द्रियानुसारेण जायन्ते पञ्च कल्पनाः।
यदितु आलोच्य सम्मील्य नेत्रे कश्चिद् विकल्पयेत्॥
प्रत्यक्षं नैव मन्यन्ते तल्लौकिकपरीक्षकाः।
इति.

किञ्च परम्परया अक्षजत्वेऽपि न अनुमानादिषु प्रत्यक्षत्वप्रसंगः, पंकजादिष्विव योगरूढिस्वीकारेण अनुमानादिषु 'प्रत्यक्ष'शब्दस्य अप्रवृत्तेः.

अत्र गुरुः आह : पंकजादिषु रूढिः नास्ति, अवयवशक्त्यैव पद्मे वृत्त्युपपत्तेः. कुमुदादिषु अप्रवृत्तिस्तु तेषु अप्रयोगादेव भविष्यति इति.

तद् अयुक्तम्. 'पंकज'शब्दस्य पद्मे वृत्तौ का सामग्री इति चिन्तायां ...णां कुमुदादिष्वपि सत्त्वेन व्यभिचाराद् रूढिरपि सामग्रीत्वेन कल्प्या. योगश्च प्रतीतो न हातुं शक्तइति उभयसिद्धिः. तस्माद् योगरूढिशक्त्या निर्विकल्पक-सविकल्पकयोरेव 'प्रत्यक्ष'शब्दवाच्यत्वं न अक्षापेक्षाणामपि अनुमानादीनाम् इति सिद्धम्.

सविकल्पः पञ्चविधो : [१]द्रव्य-[२]जाति-[३]गुण-[४]कर्म-[५]नामभिः.

यथा १. वेणुमान् अयम् २. गोपो अयम् ३. श्यामो अयम् ४. ... अयम् ५. गोविन्दो अयम् इति.

प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षमपि षष्ठो विकल्पः इति केचित्. तन्न, नामकल्पनायाम् अन्तर्भावात्. नाम्ना हि पूर्वम् अनुभूतरूपे स्मारिते तद्रूपविशिष्टतया अर्थस्य कल्पना नामकल्पना इति उच्यते. तेन ''गोविन्दो अयम्'' इत्यस्य अयम् अर्थः — ''यो असौ 'गोविन्द'शब्दवाच्यतया पूर्वं गृहीतः सएव अयम्'' इति. यदातु शब्दवाच्यत्वं अतन्त्रीकृत्य पूर्वापररूपयोः ऐक्यावगमएव तात्पर्यं तदा सएव अयम् इति प्रत्यभिज्ञा स्पष्टा भवति; साच प्रत्यभिज्ञा संस्कारसहितेन इन्द्रियेण एकज्ञानत्वेन जायते. तथाच 'सः' इति 'अयम्' इति' च द्वे भाने जन्येते; तत्र 'सः' इति भानजननशक्तिः संस्कारकृता, 'अयम्' इति भानजननशक्तिः इन्द्रियकृता इति विभावनीयम्.

इहच प्रत्यक्षज्ञानेषु विवक्षाभेदेन १. इन्द्रियस्य २. तत्सन्निकर्षस्य ३. ज्ञानस्य वा करणत्वं भवति. अतः सिद्धम् इन्द्रियसन्निकर्षजं प्रमाणं प्रत्यक्षम् इति.

गुरुस्तु आह : ''साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम्. तच्च मेय - मातृ - प्रमास्वरूपम् इति त्रिपुटं भवति'' इति. तद् आलोच्यते.

तत्र किम् इदं साक्षात्त्वं नाम? ननु साक्षाद्धीः स्वरूपधीः; अक्षाद्धि स्वेनैव रूपेण भानं; लिंगादिभ्यस्तु परसम्बन्धिरूपेणैव अग्न्यादीनां भानाद् असाक्षात्त्वम्, इति चेत्, न, एवं चेत् नामादिपरसम्बन्धिरूपेण भानात् सविकल्पकस्य असाक्षात्त्वं स्यात्. यदि तत्र परसम्बन्धिरूपभानेऽपि स्वरूपधीरपि अस्ति इति उच्येत, तर्हि अनुमानादिष्वपि तथात्वात् साक्षात्त्वम् आपद्येत. आत्मस्वात्मनोस्तु सर्वज्ञानेषु प्रत्यक्षत्वकथनं कर्मकर्तृभावादिविरोधात् निराकरिष्यामः.

बौद्धास्तु ''कल्पनापोढम् अभ्रान्तं प्रत्यक्षम्'' इति आहुः.

'कल्पनापोढ'पदेन सविकल्पानां निरासो 'अभ्रान्त'पदेन निर्विकल्पकेऽपि भ्रमत्वेन अभिमतानां केशोण्ड्रकादिज्ञानानां निरासः. तद् अयुक्तं, सविकल्पकस्य प्रत्यक्षत्वसाधनेन तत्र लक्षणस्य अव्याप्तत्वात्.

यत्पुनः योगिज्ञानम् ईश्वरज्ञानं च भूतभविष्यदादिविषयम् इन्द्रियसन्निकर्षाजन्यम् अपरोक्षम् अस्ति इति तत्संग्रहणाय "अपरोक्षप्रमाव्याप्तं प्रत्यक्षम्" इति लक्षयितव्यम् इति तार्किकैः उक्तम्. तदपि अयुक्तं, प्रत्यक्षस्य विद्यमानोपलम्भनियमात्, भूतादीनां प्रत्यक्षत्वस्य अनुपपत्तेः. तस्माद् अस्मदुक्तमेव प्रत्यक्षलक्षणं रमणीयम्. "इन्द्रियव्यतिरिक्तानि द्रव्याणि एषां च जातयः, प्रायश्च गुणकर्माणि प्रत्यक्षाणि इति वक्ष्यते".

जैमिनिसूत्र-तद्व्याख्यानुसारेण प्रत्यक्षविषये शास्त्रदीपिकायां श्लोकवार्तिके च महती चर्चा अतिविस्तृता कृता. तस्य अयं संग्रहः प्रदर्श्यते.

जैमिनिना महर्षिणा इदं सूत्रं प्रणीतम्.
क. सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्य इन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्,
ख. अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् (१।१।४)

अत्र प्रथमभागे प्रत्यक्षस्य (लक्षणम्)स्वरूपम् उच्यते. द्वितीयभागे तस्य धर्मं प्रति अप्रवृत्तिः कथ्यते इति शाबरव्यतिरिक्तानां वृत्तिकाराणाम् आशयः. शाबरभाष्येतु इदं सम्पूर्णसूत्रं प्रत्यक्षस्य अनिमित्तत्वकथनपरत्वेनैव व्याख्यातम्.

प्रथमभागस्य लक्षणकथनपरत्वमपि निर्दुष्टमेव इति बोधनाय शास्त्रदीपिकायां अतिव्याप्त्यादिदोषः परिह्रियते एवम् : इन्द्रियसम्प्रयोगजन्यत्वं भ्रमे अतिव्याप्तम् इतितु न वक्तव्यम्, अत्र 'सत्'पदः तदपि सम्प्रयोगविशेषणत्वेन उक्तत्वात्.

वस्तुतस्तु मीमांसायां शब्दप्रमाणाधिकारे प्रत्यक्षलक्षणकथनं निष्प्रयोजनम्.

लोकसिद्धप्रमाणव्यवहारिणो मीमांसकस्य लक्षणकरणं च अयुक्तमेव, अतः एतत्सूत्रं प्रत्यक्षस्य धर्मविषये अनिमित्तत्वकथनपरमेव. ''प्रत्यक्षं, धर्मे अनिमित्तं, विद्यमानमात्रोपलम्भनत्वात्'' इति अनुमाने विवक्षिते सति, हेत्वसिद्धिपरिहाराय, प्रत्यक्षं, विद्यमानमात्रग्राहकं, सत्सम्प्रयोगजत्वात्'' इति कल्प्यते. अत्र सूत्रे 'इन्द्रियाणाम्' इति कथनम् उपलक्षणम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य, इन्द्रियमनःसंयोगस्य, आत्ममनःसंयोगस्य च. आत्मा मनसा युज्यते, मनः इन्द्रियेण, इन्द्रियम् अर्थेन, ततः प्रत्यक्षम् इत्येवं संयोगत्रितयम् एकं प्रमाणम्. 'बुद्धिजन्म' इत्यनेन जायमाना बुद्धिः प्रमाणम् इति उक्त्वात् न भूता नापि भाविनी. अतएव बुद्धेः कारकान्तराद् वैलक्षण्यं, कारकान्तरं हि जन्मव्यतिरिक्तव्यापारान्तरेण प्रधानक्रियां निष्पादयति, बुद्धिस्तु जन्मनैव इति.

इन्द्रियं किम्? उच्यते. यत् सम्प्रयुक्ते अर्थे विशदावभासं विज्ञानं जनयति तद् इन्द्रियम्. तच्च द्विविधं बाह्यम् आभ्यन्तरं च इति. बाह्यं पञ्चविधं : घ्राण-रसन-चक्षुस्-त्वक्-श्रोत्रात्मकम्. आन्तरन्तु एकं मनः. तत्र आद्यानि चत्वारि पृथिव्यादिभूतचतुष्टयकार्याणि अक्षपाददर्शनवदेव अभ्युपगम्यन्ते. श्रोत्रन्तु आकाशात्मकं स्वीकृतम्. वयन्तु ''दिशः श्रोत्रम्'' इति श्रुतेः दिग्भागमेव कर्णशश्कुल्यवच्छिन्नं श्रोत्रं मन्महे. मनस्तु पृथिव्यादीनाम् अन्यतमात्मकं वा तेभ्यो अन्यद् वा सर्वथा पृथग् अस्ति. तच्च मनः आत्म-तद्गुणेष्वेव स्वतन्त्रं प्रवर्तते न बाह्येषु रूपादिष्विति 'आन्तरम्' इति उच्यते. रूपादिज्ञानेष्वपि तत् चक्षुरादिसहायं प्रवर्तते, अनुमानादिष्वपि लिंगादिसहायं; अन्यमनस्कस्य सम्प्रयुक्तेष्वपि रूपादिषु ज्ञानानुत्पत्तेः. अत्र अनुमानस्य भूतभविष्यतोरपि प्रवृत्तेः, अनुमानस्य च मनोजन्यत्वेन, इन्द्रियजन्यत्वं विद्यमानोपलम्भनस्य व्याप्यं न भवेदिति शंका न युक्ता, इन्द्रियसम्प्रयोगजन्यत्वस्यैव व्याप्यत्वेन उक्तत्वात्. नहि अतीतायाः भविष्यन्त्याः वा वृष्टेः अनुमानेन अनुमीयमानायाः मनसा संयोगो अस्ति.

इन्द्रियैः अर्थसन्निकर्षे सति प्रथमतः सम्मुग्धाकारं निर्विकल्पं प्रत्यक्षज्ञानं भवति, तदनन्तरमेव सविकल्पकं ज्ञानम् उत्पद्यते. निर्विकल्पकजन्यस्यापि

तस्य पारम्पर्येण इन्द्रियजन्यत्वम् अस्ति. तद् उक्तं "ततः परं पुनः वस्तुधर्मैः जात्यादिभिः यया बुद्ध्या अवसीयते सा हि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता".

शंका : इन्द्रियस्य निर्विकल्पकोत्पत्तावेव उपक्षीणव्यापारत्वात्, इन्द्रिय-सम्प्रयोगस्य च शब्दादिस्मरणेन व्यवहितत्वात् सविकल्पकस्य अप्रत्यक्षापत्तिः स्यात् ?

समाधानं : इन्द्रियव्यापारः सविकल्पकोत्पत्तिपर्यन्तम् अनुपरतो भवति, तेन जायमानं ज्ञानं (सविकल्पकं) इन्द्रियैः व्यपदिश्यते.

सविकल्पकम् एकमेव प्रत्यक्षं भवति इति केषाञ्चिद् मतं, तन् न उपपद्यते, लोके बाहुल्येन सविकल्पकएव 'प्रत्यक्ष'शब्दप्रयोगेऽपि "कल्पनापोढम् अभ्रान्तं प्रत्यक्षम्" इत्यनेन निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य लक्षितत्वात्, शिशवादीनां प्रथमतः इन्द्रियसन्निकर्षे सति सम्मुग्धाकारनिर्विकल्पकस्यैव जायमानत्वात् च. उक्तंहि शास्त्रदीपिकायां "लोके प्रतीमो हि वयम् अक्षसन्निपातानन्तरम् अविविक्तसामान्यविशेषविभागं सम्मुग्धवस्तुमात्रगोचरं आलोचनज्ञानं; तदभावेतु विकल्पएव न जायेत. यतो विकल्पयता पुरुषेण पूर्वानुभूतं जातिविशेषं सञ्ज्ञाविशेषं च अनुस्मृत्य, तेन पुरःस्थितं वस्तु विकल्पयितव्यम्. सविकल्पकं हि संकेतग्रहणकालभावि-शब्दादि-स्मरणपूर्वकं, अकस्मादेव तत्स्मरणं न आविरस्ति, निर्विकल्पकेन तत्संस्कारोद्बोधात् स्मरणोपपत्तिः.

निर्विकल्पकस्य व्यवहारानंगत्वात् तन् न प्रमाणम् इतितु न शंक्यं, तस्यापि व्यवहारोपयोगित्वदर्शनात्. दृश्यतेहि वह्निना दह्यमानस्य सहसा अपसरणं तद्विमर्शानपेक्षमेव झटिति जायमानम् उपलभ्यते. तिरश्चां बालानां च निर्विकल्पकेनैव सर्वो व्यवहारः, अगृहीतसम्बन्धानां तेषां शब्दसम्भिन्नार्थबो-धस्य असम्भवात्. उक्तंहि "अस्तिहि आलोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकं बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्, न विशेषो न सामान्यं तदानीम् अनुभूयते, तयोः आधारभूतातु व्यक्तिरेव अवगम्यते" इति.

आलोचनं ज्ञानम् इत्यनेन बोधकत्वं प्रामाण्यहेतुत्वेन उक्तम्. 'प्रथमम्' इत्यनेन अस्तित्वं निर्विकल्पकत्वं च युक्त्या साधितम्. ''न विशेषम्'' इत्यनेन शुद्धवस्तुजत्वं विवृतम्.

बौद्धास्तु स्वलक्षणमात्रगोचरं निर्विकल्पकम् इच्छन्ति; तदपि प्रतीतिविरुद्धम्. प्रतीयते हि सम्मुग्धाकारं वस्तु सहसैव यत् पश्चात् जातिद्रव्यगुणक्रियानामभिः पञ्चधा सविकल्पकेन विकल्प्यते ''गौः अयम्'' ''दण्डी अयम्'' ''शुक्लो अयम्'' ''गच्छति अयम्'' ''डित्थो अयम्'' इति.

तत्र निर्विकल्पकम् अनेकाकारं सम्मुग्धं गृह्णाति, सविकल्पकन्तु एकैकाकारं जात्यादिकं विविच्य विषयीकरोति.

श्लोकवार्तिके इदं प्रत्यक्षसूत्रं बहुविवृतम्. तत्र केचन विषयाः अ(धि!)क्रियन्ते. ''प्रत्यक्षं यज् जने सिद्धं तस्य एवंधर्मकत्वतः (सत्सम्प्रयोगजत्वतः), विद्यमानोपलम्भत्वं तेन धर्मे अनिमित्तता प्रत्यक्षत्वम् अदो हेतुः, शेषं हेतुप्रसिद्धये'' इत्यस्यां कारिकायां व्याख्यावसरे पार्थसारथिमिश्रैः त्रयः प्रयोगाः एवम् उक्ताः —

१. प्रत्यक्षम् अनिमित्तं, विद्यमानोपलम्भात्
२. प्रत्यक्षं विद्यमानोपलम्भं, सत्सम्प्रयोगजत्वात्
३. प्रत्यक्षं सत्सम्प्रयोगजं, प्रत्यक्षत्वात् इति.

अत्रच 'सत्'पदस्य वर्तमानार्थकत्वं विवक्ष्यते, तच्च 'सत्'पदं सम्प्रयोगसमानाधिकरणम्; अतो ''वर्तमानात् सम्प्रयोगात् यद् ज्ञानं जायते तत् सत्सम्प्रयोगजम्'' इति अर्थः. अतो अनुमाने न अतिव्याप्तिः. तत्र इन्द्रियसम्प्रयोगस्य लिंगज्ञानजननेन निवृत्तव्यापारत्वात्. अत्रच प्रयोगेषु योगिप्रत्यक्षं पक्षः, अस्मादादिप्रत्यक्षं दृष्टान्तः इति भाव्यम्.

सम्प्रयोगस्य द्विनिष्ठत्वेन, सूत्रे 'प्रत्यक्षम्' इति यो व्यपदेशः सो अनुपपन्नः, इन्द्रियार्थसम्बन्धनिमित्तत्वाद्, व्यपदेशस्य च उभयाश्रितत्वेन 'प्रत्यक्षम्' इति व्यपदेशोऽपि किं न स्यात् इति शंकायाम् इदम् उक्तम् ''योगस्य द्व्याश्रयत्वेऽपि भवति अन्यतराश्रयो व्यपदेशो अथवा अप्यक्षं तत्र असाधारणं भवेत्'' इति. अत्र व्याख्यायां पार्थसारथिमिश्रैः उक्तम् ''१. डित्थकपित्थयोः माता 'डित्थमाता' इति उच्यते यथा अथवा २. अर्थसम्बन्धः प्रमाणान्तरसाधारणः इति हेतोः प्रत्यर्थम् इति न व्यपदेशः, प्रत्यक्षम् इत्येव व्यपदेशः.

इन्द्रियाणां ग्राह्यग्राहकशक्तयः, ताभ्यः क्वचित् रूपादौ असंकरः, क्वचित् द्रव्यादौ संकरः च व्यवस्थितो भवति इति उच्यते ''तस्माज् ज्ञानानुसारेण व्यवस्थासंकरौ क्वचिद् ग्राह्यग्राहकशक्तिभ्यः कार्यद्वारेण कल्पितौ, तस्मात् पञ्चभिरपि अक्षैः बोधः सत्तागुणत्वयोः, द्रव्यमूर्ती (परिमाणम्) पुनः द्वाभ्यां रूपादौ एकशः स्थितिः''.

तस्मात् मीमांसारीत्या प्रत्यक्षं इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं ज्ञानम् इति वार्तिककारैः सुनिरूपितं मतान्तराणां खण्डनपूर्वकं सविस्तरम्. यथावकाशं यथामति संगृहीतम्. इति शम्.

......+......

चर्चा

भाट्टमतरीत्या प्रत्यक्षविवरणम्

डॉ. आर्. कृष्णमूर्ति शास्त्री

के.ई.देवनाथन् : अनुवादः सर्वोऽपि ... इति नास्ति. ''ग्रामो ग्रामो रमणीयः''

चर्चा

भाट्टमतरीत्या प्रत्यक्षविवरणम्

डॉ. आर्. कृष्णमूर्ति शास्त्री

के.ई.देवनाथन् : अनुवादः सर्वोऽपि ... इति नास्ति. ''ग्रामो ग्रामो रमणीयः'' ''पच-पच'' इति उक्तौ तत्र शैत्यं ज्ञायते इति भाष्यकारेण उक्तम्.

कश्चित् : अनुवादस्य कथम् अप्रामाण्यम् इति प्रश्नः खलु ?

के.ई.देवनाथन् : ''इदं रजतम्'' इति अत्र सामानाधिकरण्यम् अभेदप्रतीतिं साधयति. तथा मया ''चौरः स्थाणुः'' इतिवत् सामानाधिकरण्यम् अस्ति चेद् अभेदः इति न नियमः. अभेदः प्रतीयते परन्तु युक्तिसहकृतलाघवं यत्र भवति तत्र अभेदः त्यज्यते. कुतः इति उक्तौ, यत्र नष्टपटे ''सः अयं पटः'' इति अभेदप्रतीतौ सत्यामपि सो अभेदो बाध्यते नैयायिकैः. तद्वत् अत्रापि प्राभाकरमतेऽपि भवितुम् अर्हति.

अनन्तरं, संयुक्त-तादात्म्य-तादात्म्यम् इति उक्तम्. शब्दः ''संयुक्त-तदात्म-तादात्म्यम्'' इति स्याद् वा ?. अनन्तरं भवद्भिः उक्तं यत् प्राभाकरमते रूपत्वं न अंगीक्रियते. लोकावेदाधिकरणे भाट्टैरपि गुणगता जातिः न अंगीक्रियते इति भाट्टमतेऽपि अस्ति इति स्मर्यते. अनन्तरं, विषदावभासत्वम् इत्यत्र असाधारणाकारेण अवभासमानत्वम् इति व्याख्यानं युक्तं वा इति मम शंका.

''बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्'' तत्रतु शंकाद्वयम् अस्ति. ''न विशेषो न सामान्यं तदानीम् अनुभूयते, तयोः

आधारभूतातु व्यक्तिरेव अवगम्यते'' इत्यत्र न्यायरत्नाकरकारैः निष्प्रकारकं ज्ञानम् अत्र सम्मुग्धाकारं विवक्षितम् इति उक्तम्. परन्तु अत्र वार्तिके ''न विशेषो न सामान्यम्'' इत्यनेन व्यक्तिमात्रम् अवगम्यते इति भाति. अत्र न्यायरत्नाकरकारः समर्थनीयो न वा? अनन्तरं ''बालमूकादिविज्ञानम्'' अस्ति किल. बालमूकादीनां तिरश्चामपि हेयोपादेयविभागो वर्तते. बालानां सर्वेषु हेयोपादेयविभागो यद्यपि नास्ति. केषुचित् विशेषस्य... अस्माकमपि नास्ति बहुषु... परन्तु बालकानापि कुत्रचिद् अस्त्यैव. अतः तत् कथं दृष्टान्तीकृतम् वार्तिककारैः?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तत्र सामानाधिकरण्यं चतुर्धा भवितुम् अर्हति. अभेदे अध्यासे विशेषणविशेष्यभावे कार्यकारणभावे वा. (''राहो शिरः(!)''), ''इदं रजतम्'' इति भ्रमस्थले, ''नीलम् उत्पलम्'', ''मृद् घटः''... इत्यनेन अभेद...

के.ई.देवनाथन् : मम शंका तथा नास्ति. युक्तिसहकृतं लाघवम् अस्ति. प्राभाकरमते लाघवं बहु प्रदर्शितम् तैः.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्राभाकरमते लाघवं प्रदर्श्यते च अख्यातिमतखण्डने बह्व्यो युक्तयः सन्ति. अहम् इदानीम् एकं वदामि. दृष्टं पुरोवर्तिपदार्थं हस्तेन निर्दिश्य सत्यरजतार्थी पुरोवर्तिनि प्रवर्तते. यदि पुरोवर्तिपदार्थमेव रजतत्वेन न जानीयात् कथं तत्र प्रवर्तेत? तस्य प्रवृत्तिः अन्यत्र स्यात्. एवञ्च पुरोवर्तिपदार्थम् अंगुल्या निर्दिश्य ''इदं रजतम्'' इति वदति.

के.ई.देवनाथन् : असंसर्गाग्रहाद् ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : असंसर्गाग्रहाद् इति उक्तौ कुतो इष्टभेदस्य असंसर्गाद् यदि प्रवर्तते, अनिष्टभेदग्रहात् कुतो न निवर्तते? एवं सर्वम् आलोच्यैव अभेदो यथावत् प्रतिपादितः. युक्त्यन्तरम् अनालोच्य तथैव अंगीकरणीयः इति उत्सर्गं स्वीकृत्य ते वदन्ति इतितु तत्र समाधानम्.

'तादात्म्य' पदं वा 'तदात्म' पदं वा इत्यत्र तु पुस्तके

''संयुक्त-तादात्म्य-तादात्म्यम्'' इत्येव उक्तम् अस्ति. तदपेक्षया ''संयुक्त-तदात्म-तादात्म्यम्'' इति कथने... न इदं श्रुतिवाक्यम्. मुद्रणत्रुटिरपि स्यात्. यदि इदम् अनुपपन्नं... परन्तु गत्यन्तरं मया चिन्त्यते.

के.ई.देवनाथन् : श्रीमद्भिः समर्थयितुं शक्यते.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : पुस्तके तथा लिखितम् अस्ति. तत्र मम अनुपपत्तिः न स्फुरिता. तस्मात् तस्य दोषस्य यदि निराकरणं ... तदपि कर्तुं शक्यते.

डी. प्रह्लादाचार : संयुक्त-समवाय-समवाय that is not the relation.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अनन्तरं, रूपत्वजातिः अंगीक्रियते न अंगीक्रियते इति उक्तौ, सर्वेषां शास्त्रकाराणां पक्षद्वयम्. यत्र यद् भवति तत्र तद् अंगीक्रियते. तत्तु इदानीं विशेषतो न स्मर्यते तद् अधिकरणम्. कुत्रचित् रूपं न अंगीक्रियते इति उक्तौ न अंगीक्रियते. यथा वा गदाधरभट्टाचार्यैः व्यधिकरधर्मावच्छिन्नाभावो दशपुटेषु खण्ड्यते विंशतिपुटेषु समर्थ्यते. एवं तत्र तेषां बुद्धिकौशलं भवति. एवं रूपत्वं पृथग् अंगीकार्यम् इति मया उच्यते तदा उच्यते. तस्मिन् दिने मम एवं रुचिः अन्यस्मिन् दिने तत् खण्ड्यते तत्तु बुद्धिकौशलम्. भाट्टैरपि कदाचिद् एवं स्वीक्रियते.

के.ई.देवनाथन् : प्राभाकरैः... भाट्टैरपि लोकवेदाधिकरण... वाक्यम् अस्ति.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अतएव द्वेधा त्रेधा वा सन्निकर्षः इति किमर्थम् उक्तम् ? द्वेधैव तैः खलु स्थापनीयम्. इदन्तु यथा अस्माकं विवादः इदानीं प्रचलति तथैव. तदनन्तरं, निर्णीतत्वं नाम यदनन्तरं संशयो न उदेति इति मम भाति. स्फुटं भाति. अतएव प्रत्यक्षपरिकलितं चेत् नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम. इदानीं दृष्टं चेत्, यद्यपि वेदान्तिभिः अस्माभिः अद्वैतिभिरपि प्रत्यक्षस्य दौर्बल्यमेव उच्यते अथापि ''नहि आगमाः सहस्रमपि घटं पटयितुम् ईशते'' इति अंगीक्रियतएव. प्रत्यक्षानुभवस्य इदमपि

वैलक्षण्यम् अंगीकृतं यत् न खलु इक्षुक्षीरगुडरसा: मधुररसभेदा: अनुभूयमाना: शक्या सरस्वत्यापि आख्यातुम्. प्रत्यक्षेण अनुभूयमानो विषयो अन्येन प्रमाणेन न उपपादयितुं शक्यते. तादृशन्तु वर्तते वैशिष्ट्यचम्. तद्रीत्या विशदत्वं नाम...

के.ई.देवनाथन् : असाधारणधर्मवत्त्वम्...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अतएव अपरोक्षसाक्षात्कारपर्यन्तं सगुणेश्वरस्य वा निर्गुणब्रह्मणो वा ज्ञानं फलीभूतं स्वीक्रियते. इदानीन्तु बहव: संशया: सन्ति. ''भिद्यते हृदयग्रन्थि: छिद्यन्ते सर्वसंशया:'' अपरोक्षसाक्षात्कारपर्यन्तं गमनम्. वस्तुतो अद्वितीयं ब्रह्म एकमेव प्रत्यक्षप्रमा यत् साक्षात्परोक्षाद् ब्रह्म इति आरम्भे एव ...

के.ई.देवनाथन् : भवद्भि: कथञ्चिद् अत्र अद्वैतम् आनीयते.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : बालमूकादिरूपम् इति उक्तौ, तत्र का अनुपपत्ति: ? इदानीं बालस्यापि हेयोपादानं न निषिध्यते परन्तु प्रथमतो माम् अवेक्षयन् कश्चन शिशु: किमपि पश्यति हसति. परन्तु तत्र केवलं सम्मुग्धाकारज्ञानेनैव हासो भवति. हास: आकस्मिकएव इति उच्यते. मां दृष्ट्वा हसति त्वां दृष्ट्वा रोदति इत्यादिकन्तु तत्र नास्ति.

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : शास्त्रिवर्या: ! निर्विकल्पकज्ञाने ज्ञातता भवति न वा ?

के.ई.देवनाथन् : न भवति.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : निर्विकल्पकं ज्ञानं क्षणमात्रं तिष्ठति. निर्विकल्पकस्य पुन: अनुसन्धानं चेद् ज्ञातता. ज्ञातता नाम प्राकट्यविशेष: इति तै: अंगीक्रियते तथा वेदान्तिभि: अस्माभि: न उच्यते. अथापि...

के.ई.देवनाथन् : निर्विकल्पकस्य सप्रकारकत्वाभावात् ... सप्रकारकभूता ज्ञातता निर्विकल्पकेन जन्या न भवति.

डी. प्रह्लादाचार. : सविकल्पकज्ञानेन सप्रकारा ज्ञातता जायताम्, निर्विकल्पकज्ञानेन निष्प्रकारा ज्ञातता जायताम् ... ज्ञातता नास्ति इति कथम् उच्यते ? केवलं प्रतिज्ञामात्रेण इदं सर्वम्

उच्यते. न कश्चिद् अनुभव: तत्र.

के.ई.देवनाथन् : तथा नास्ति. ज्ञाततासामान्यं सप्रकारकमेव. ज्ञातता तावद् अनुभवेनैव ...

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : निर्विकल्पकज्ञाने फलमेव नास्ति. तर्हि कथं प्रत्यक्षत्वस्य सिद्धि: ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : निर्विकल्पकं निर्विकल्पकेनैव समाप्यते इति तु उक्तम्. तदनन्तरक्षणएव सविकल्पकं प्रायो जायते. तत्र फलं वर्तते प्राकट्यत: इति तु अत्र अंगीकृतम्. निर्विकल्पकन्तु सविकल्पकस्य स्वोपारोह: आरोहणपंक्तिरेव... वर्तते. अतएव यावत् ...

बलिराम शुक्ल : प्राकट्यं कुत्र ? निर्विकल्पके अस्ति वा सविकल्पके ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : सविकल्पके एव.

अम्बिकादत्त शर्मा : बौद्धपक्षको लेकर दो शंकाएं हैं एक शंका प्राप्यकारित्वको ले कर है और दूसरी प्रत्यक्षकी निर्विकल्पकताको ले कर है. श्रोत्र और चक्षुरिन्द्रिय का जब प्रभाकर मतमें प्राप्यकारित्व माना जाता है तब बौद्धपक्षसे शंका होती है. ''सान्तर्ग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानाधिकस्य च, बहि: नाक्षम् अधिष्ठानात् तच्चिकित्सादियोगत:'' ये चार युक्तियां हैं प्राप्यकारित्वके विरोधमें.

के.ई.देवनाथन् : यदि पार्श्वे अस्ति तदानीं ज्ञानन्तु अधिकं भवति.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : पार्श्वस्थितस्य दूरस्थितस्य च चक्षुषा ग्रहणम् अस्ति न वा ?

के.ई.देवनाथन् : ...विशदावभास:...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तन्नु देशप्रयुक्तो भवितुम् अर्हति. अनेन हेतुना न गच्छति इति तु कथम् आगच्छति ? अतएव गच्छति इति मया उच्यते. कुत:, यस्माद् अत्र गमनम् ... अत्र सन्निकृष्टत्वात् विशदतरं भासते, तत्र ...

के.ई.देवनाथन् : बहुभागसन्निकर्षाभावे अविशदग्रहणम्.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : विशदाविशदत्वन्तु दूरस्थत्व-समीपस्थत्व ...

डी. प्रह्लादाचार : रश्मिद्वारा खलु सन्निकर्षः ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : चक्षुरिन्द्रियं गच्छति इति उक्तौ तथा न. तैजसत्वात् तेषां व्यापकत्वम् अंगीक्रियते. बहिः गच्छति ...

डी. प्रह्लादाचार : रश्मयः क्षीणाः भवन्ति दूरस्थवस्तुविषये, समीपस्थविषयेतु गाढा भवन्ति.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अतएव दूरे शब्दो मया श्रुतः इति अनुव्यवसायः भाट्टानाम् अस्ति. इतरेषाम् अस्ति न वा. अनुव्यवसायविषयेतु निर्णयएव न स्यात्. ईश्वरस्य समीपे कर्पूरस्य ...

डी. प्रह्लादाचार : अन्यः प्रश्नः.

अम्बिकादत्त शर्मा : दूसरी शंका प्रत्यक्षकी निर्विकल्पकताको ले कर है. ज्ञानमें शब्दानुविद्धता किन कारणोंसे आती है? यदि ज्ञानके कारणोंमें ही कहीं शब्दानुविद्धताका स्रोत है तो जिस क्षणमें ज्ञान उत्पन्न होता है उसी क्षणमें उसे शब्दानुविद्ध हो जाना चाहिये.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : सर्वेषां कार्याणां क्रमिकत्वम् अवश्यम् अंगीकार्यम्. एकक्षणावच्छेदेन सर्वं भवितुं न अर्हति. सर्वस्यापि क्रमापेक्षातु वर्तते क्षणविलम्बो वा आवश्यकः. प्रथमतएव शब्दानुविद्धतया तादृशजात्यादिमत्त्वेन क्रियावत्त्वेन नैव भवति. अतएव माघे द्वितीये वा तृतीये वा श्लोके उक्तं "विभुः विभक्तावयवं पुमानिति क्रमाद् अमुं 'नारदः' इति अबोधि सः" इति क्रमिकत्वाद् वाचःप्रवृत्तेः वा सर्वस्याः क्रियायाः... शब्दानुविद्धत्वं कुतः तस्मिन् क्षणे न भाति? कुतः अस्मिन् क्षणे भाति?

के.ई. देवनाथन् : मम भाति यत् तेषां प्रश्नः एवम् अस्ति. प्रथमतो निर्विकल्पकं जायते अनन्तरन्तु सविकल्पकं शब्दानुवेधविशिष्टं जायते.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तत्र सामग्री का...

के.ई.देवनाथन् : ...अधिका सामग्री? निर्विकल्पकघटिता सामग्री. निर्विकल्पकं वस्तुविषयकज्ञानम्. वस्तुनि ज्ञाते तेन तावद्

शब्दसंस्कार: उद्बुद्धो भवति. तेन द्वितीयं यज् ज्ञानं भवति शब्दानुविद्धविषयकम् ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तदेव उक्तम्, सविकल्पकद्वारा उद्बोध:.

बलिराम शुक्ल : किं सविकल्पकज्ञानमात्रं शब्दानुविद्धं भवति ?

के.ई.देवनाथन् : तथा नास्ति.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : सविकल्पकज्ञानं शब्दानुविद्धमपि भवति.

अम्बिकादत्त शर्मा : शाब्दं नतु अर्थोत्पन्नं जायते, शाब्दं नतु इन्द्रियोत्पन्नं जायते तर्हि किं म्रोतेन ज्ञानं शब्दानुविद्धं भवति ?

प्रद्योतकुमार : निर्विकल्पकजन्य... तत्र सामग्री ज्ञानमेव.

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : सर्वोऽपि ज्ञानं किं शब्दानुविद्धं नास्ति ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : इति नियमो नास्ति.

सिद्धेश्वर भट्ट : 'सन्निकर्ष' और 'सम्प्रयोग' के बीच क्या अन्तर है ?

के.ई.देवनाथन् : दोनों एकार्थक हैं. प्राचीन न्यायभाष्यवार्तिकमें 'सम्प्रयोग' शब्द है. बादमें 'सन्निकर्ष'का प्रयोग किया गया है.

प्रद्योतकुमार : मीमांसकै: रूपत्वं न खण्डितं, रूपत्वजातित्वं खण्डितम्. ईश्वर: सृष्टा भवति न वा ?

बलिराम शुक्ल : भाट्टमते ईश्वर: स्वीकृतो वर्तते वा ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : स्वीकृत:.

बलिराम शुक्ल : कीदृश: ? सृष्टिकर्तृत्वेन ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : यदि समीचीन: सर्वोत्तम: मीमांसक: स: शब्दस्वरूपएव देवता ईश्वरो नास्ति इति वदति. परन्तु खण्डदेवपर्यन्तं ये वर्तन्ते ... मम जिह्वापि भीति:. ''वाणीः दूष्यति'' इत्यादिकन्तु अंगीकृतम् अस्ति. परन्तु ममतु एवं प्रतिभाति यत् तेषामपि ईश्वरनिराकरणे न तात्पर्यम्. ईश्वरो वर्तते इति कृत्वा कर्माणि परित्यज्य तस्य SOMETHING ... दत्वा किमपि कुर्याद् इति भीत्या तै: ईश्वरनिराकरणं कृतम् इति तेषां भाव:.

प्रद्योतकुमार : सर्वज्ञ ... प्रमालक्षणं ...

के.ई.देवनाथन् : नैयायिकमतएव सर्वज्ञः ईश्वरः स्वीकृतः. तत्र ''यथार्थानुभवो ...'' इति. तत्र अनधिगताबाधितार्थगन्तृत्वम् इति ईश्वरस्वीकारपक्षे नास्ति. अतएव वार्तिककारैः ''यथा व्योमशरीरोऽपि परमात्मा प्रदर्श्यते'' ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : ईश्वरस्य ज्ञानं सर्वं प्रत्यक्षरूपम्. मीमांसकानामपि प्रत्यक्षे अनधिगतत्वं न दोषाय. शब्दविषयएव अधिगतत्वं दोषः. इदानीम् अत्र Water Bottle दृष्ट्वा पुनरपि दृश्यते चेत् द्वितीयस्य ...

के.ई.देवनाथन् : धारावाहिकज्ञाने किमर्थम् ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अनधिगतांशो वर्तते. शब्दे तावत् तथा न भवति.

के.ई.देवनाथन् : ईश्वरो न स्वीक्रियते इति कथं ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : मया किम् उच्यते, ईश्वरस्य ज्ञानं परोक्षं वा प्रत्यक्षं वा ?

के.ई.देवनाथन् : प्रत्यक्षमेव भवति.

...

डी. प्रह्लादाचार : तेषाम् अभिप्रायः एवं भाति. ईश्वरस्यापि अनधिगतार्थग-न्तृत्वं नास्ति ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : क्षणविशेषविशिष्टत्वेन भवितुम् अर्हति ?

डी. प्रह्लादाचार : अनधिगतार्थगन्तृत्वमेव वर्तते...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : एवम्. कुतः ?

डी. प्रह्लादाचार : तावता दोषो नास्ति. अनधिगतार्थगन्तृत्वं नाम ईश्वरस्य अज्ञानम् अस्ति वा इति प्रष्टव्यं भवति. परन्तु ईश्वरो यद् अस्ति तद् जानाति. यन् न अस्ति न तज् जानाति. यन् न अस्ति न तज् जानाति चेत् तस्य अज्ञानित्वं वा भ्रान्तित्वं न सम्भवति. अस्मिन् क्षणे... असतो ज्ञानं नास्ति तस्य. सतो ज्ञानं वर्तते. एवञ्च यस्मिन् क्षणे घटो अस्ति तत्क्षणसम्बद्धतया घटस्य ज्ञानं तावत् अनधिगतार्थग...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : ... धारावाहिकस्थलन्तु भवितुम् अर्हति. ... जातित्वं

खण्डितं रूपत्वं न खण्डितम् इति. तदुपरि विवदतया मया ग्रन्थाः न स्मर्यते. परन्तु तेषां रूपत्वं नास्ति इति उक्तौ तद् अंगीकार्यमेव. गुरुमतएव तैः उक्तम्.

के.ई.देवनाथन् : कारणम् अस्ति. संस्थानन्तु न भवति तदेव कारणम्. आकृतिः जातिः.

प्रद्योतकुमार : धारावाहिकज्ञाने अन्योन्याश्रयदोषो भवति.

डी. प्रह्लादाचार : प्रश्नं विवृणोमि. ज्ञानभेदेन प्राकट्यभेदः. प्राकट्यभेदेन ज्ञानभेदः एवं रीत्या अन्योन्याश्रयः. तेषाम् अभिप्रायः एवं, उत्तरज्ञानेन पूर्वज्ञानजनित-प्राकट्यावच्छिन्नविषयः स्वीक्रियते. तस्माद् उत्तरज्ञानस्य अनधिगतार्थगन्तृत्वम् इति वदन्ति. एवञ्च पूर्वज्ञानेन हि प्राकट्यं विलक्षणं तेन जायते इति हेतोः उत्तरज्ञानात् पूर्वज्ञानं भिद्यते. तत्र ज्ञानानां भेदः कुतः ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : ज्ञानानां भेदो न साधनीयः, सिद्धः. क्षणे-क्षणे वृत्तिभेदः इति मतं स्वीकृत्य इदं प्रवर्तते. तत्र भेदस्य प्रमाणं न अपेक्षितम्. वृत्तिः वा भवतु अन्यो वा भवतु.

के.ई.देवनाथन् : तेषां प्रश्नः एवं स्यात्, ज्ञानस्य अनधिगतार्थगन्तृत्वं तदा सिद्ध्यति यदि क्षणादिः भिन्नाः उत्तरत्र ज्ञाने विषयो भवति. उत्तरत्र ज्ञाने क्षणादिः भिन्न-भिन्न पदार्थाः यदि विषयो भवति तदानीमेव द्वितीयादिज्ञानानाम् अनधिगतार्थगन्तृत्वं भवति. अनधिगतार्थगन्तृत्वसिद्ध्यर्थं ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : क्षणानां विलक्षणानां भिन्नत्वे प्रमाणं न अपेक्षितम्. एकैकः क्षणः स्वतो भिन्नएव वर्तते. खण्डकालाः सर्वेऽपि भिन्नभिन्नाः तत्तद्विशेषावच्छिन्नाः स्वतो भिन्नाः.

प्रद्योतकुमार : सामग्रीतो भिन्नाः...

के.ई.देवनाथन् : सामग्रीतो भिन्नाः. अनन्तरं कालस्य तावद् वेदान्तिभिः भाट्टैः च नीरूपस्यापि विषयत्वं स्वीक्रियते.

गो.श्या. म. : प्रत्यक्षमें धारावाहिकज्ञानमें उत्तरोत्तर अनधिगतका अधिगम होता रहता है. इसी तरह शब्दमें भी सम्भव है. जैसे

उद्दिष्ट पदसे अधिगतका लक्षणसे जब ज्ञान होता है तब वह ज्ञान अनधिगतका ही होता है. लक्षणघटकपदाधिगत अर्थका जब परीक्षासे अधिगम होता है तब वह ज्ञान लक्षणानधिगत अर्थका परीक्षामें अधिगम होता है. अतः शब्दमें भी यह सम्भव है. और इसी तरह सूत्राधिगतार्थका भाष्यमें ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : हो सकता है. आपके कहनेके बाद मुझको भी ... अनुमानमें भी हो सकता है. उपनयवाक्ये निगमनवाक्ये च ...

के.ई.देवनाथन् : तत्र मर्यादा वर्तते. शब्दे तावत् कालो न बोध्यते. शाब्दबोधे कालो न विषयः. प्रत्यक्षे तावत् अनुल्लिखितोऽपि कालो विषयः.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : आचार्याः शृण्वन्तु. भवद्भिः इदानीं प्रत्यक्षएव धारावाहिकम् इति न, शब्दादिष्वपि धारावाहिकम् अस्ति इति. शब्देन प्रथमतः ''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म'' इति स्वीक्रियताम् ...

डी. प्रह्लादाचार : अनधिगतार्थगन्तृत्वम् ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तदेव. धारावाहनं यदा भवति तदानीमेव खलु अयं प्रश्नः उत्तिष्ठति. यदि एकं ज्ञानं तदानीम् अनधिगतार्थकत्वं तदेव अनुस्यूततया भासते यदा तदा धारावाहः शब्दः प्रयुज्यते. एवञ्च यथा प्रत्यक्षे ''अयं घटः अयं घटः अयं घटः ...'' इति यदा भवति एवमेव शाब्दजन्ये बोधविषयेऽपि एकं वाक्यं तत्र च बहूनि विशेषणानि एकं विशेष्यम् इति स्वीक्रियताम्. प्रथमविशेषणविशिष्टतया ज्ञातम्, अनन्तरं द्वितीयविशेषणविशिष्टतया तदेव विशेष्यं ज्ञायते. एवमेव खलु भवताम् आशयः ? तत्रापि अधिगतस्यैव पुनः अधिगमः वर्तते.

के.ई.देवनाथन् : नहि. अनधिगतस्यापि अधिगमः वर्तते.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अधिगतं विशेष्यं पुनरपि विशेषणान्तरविशिष्टत्वेन

अधिगम्यते. एवञ्च धारावाहिकस्थले अनधिगतार्थनिर्वाहार्थं या प्रक्रिया सा अत्र ...

डी. प्रह्लादाचार : तथा प्रश्नो नास्ति. उद्देश्यवाचकपदेन केवलं वस्तुस्वरूपबोध्यते. लक्षणवाचकपदगुच्छेन अन्ये विषया: प्रतिपाद्यन्ते. परीक्षासम्बन्धिवाक्येन अपरे विषया: प्रतिपाद्यन्ते. एवं रीत्या अनधिगतार्थ ...

के.ई.देवनाथन् : तत्तु इष्टमेव.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तत्रतु प्रश्नएव न उत्तिष्ठति. कुत: ? उद्देश्यमें तो सामान्यरूपसे ज्ञात होता है. लक्षणमें कुछ विषदांशोंका नूतन अंशोंका भान हाता है. परीक्षामें उससे भी प्रकटतया ...

गो. श्या. म. : तदा प्रत्यक्षएव अनधिगतार्थज्ञापकता...

डी. प्रह्लादाचार : नास्ति. नास्ति.

गो. श्या. म. : तथा शब्दे नास्ति इति यद् उक्तं तत्र मया प्रच्छ्यते.

डी. प्रह्लादाचार : प्रमाणसामान्यलक्षणम् इदम्. अनधिगतार्थगन्तृप्रमाणम् इति तु न केवलं प्रत्यक्षप्रमाणस्य ...

अच्युतानन्द दास : यथा भवद्भि: उक्तं द्रव्य-जाति-गुण-क्रिया-नामभि: पञ्चधा विभक्तं वर्तते सविकल्पकज्ञानं तावता किं तत्र भाट्टमते पदार्थानां पञ्चधा विभागो भवति इति कल्पयितुं शक्यते वा ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : पदार्थानां संख्याविषये मया न उक्तम्. सविकल्पकं जायते अनन्तरं निर्विकल्पकम्. सविकल्पकज्ञानं पञ्चधा विभज्यते.

अच्युतानन्द दास : वैयाकरणा: यथा पदस्य पञ्चधा विभागं कुर्वन्ति तथा अत्र सविकल्पकस्य पञ्चधा विभागो दृश्यते. तत्र वैयाकरणा: द्रव्य-जाति-गुण-क्रिया-नाम इति पञ्चधा पदविभागं कुर्वन्ति तथैव अत्र सविकल्पकस्य पञ्चधा विभागो दृश्यते. यदि निपुणं परीक्षाम: तर्हि किं भवति, यथा न्याय-वैशेषिकसम्प्रदाये द्रव्य-गुण-क्रिया-सामान्य: इति चत्वार: पदार्था: अत्र आगता:

सन्ति. अत्र 'नाम'पदेन कदाचित् शब्दस्य द्रव्यत्वं स्वीकृत्य भाट्टैः ...

डी. प्रह्लादाचार : प्रत्यक्षं तावत् सविकल्पकम् एवं पञ्चविधं भवति तावता पदार्थानां पाञ्चविध्यं नास्ति. यतोहि प्रात्यक्षाग्राह्याः अभावादिपदार्थाः तन्मते वर्तन्ते. अभावोऽपि पदार्थः भाट्टमते स्वीकृतः ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : न स्वीकृतः.

अच्युतानन्द दास : तत्र प्रश्नो वर्तते. तर्हि सम्बन्धरूपपदार्थोऽपि वर्तते वा ? तस्य ग्रहणं कथं भवति ? तत्र समवायपदार्थस्य ...

कृष्णमूर्ति शास्त्री : समवायो न अंगीक्रियते संयोगो अंगीक्रियते.

डी. प्रह्लादाचार : सम्बन्धस्तु गुणे अन्तर्भवति, गुणविकल्पः.

अच्युतानन्द दास : गुणे अन्तर्भवति वा सम्बन्धः ?

डी. प्रह्लादाचार : एवं संयोगः.

अच्युतानन्द दास : संयोगो वर्तते. तादात्म्यं गुणे ...

डी. प्रह्लादाचार : तादात्म्यन्तु वस्तुस्वरूपमेव द्रव्यं भवति.

अच्युतानन्द दास : तादात्म्यस्य ज्ञानं कथं भवति ? प्रत्यक्षेण भवति वा अन्यथा ?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : प्रत्यक्षेणैव भवति. यः पदार्थो दृश्यते तदात्मतया तादात्म्यं...

अच्युतानन्द दास : यदि प्रत्यक्षेण तादात्म्यस्य ज्ञानं भवति तर्हि तादात्म्येन सह कः सन्निकर्षः. केनच इन्द्रियेण भवति इति प्रश्नः.

गो. श्या. म. : गुण-कर्म-सामान्यानां सर्वेषामपि धर्मे अन्तर्भावो भवितुम् अर्हति ...

बलिराम शुक्ल : किं नैयायिकानां मते समवायस्य ज्ञानं सर्वथा प्रत्यक्षं भवति वा ?

अच्युतानन्द दास : नहि. अनुमेयमपि भवति. अत्रतु भाट्टमते किं भवति इति जिज्ञासा वर्तते. तादात्म्यस्य ज्ञानं कथं भवति ?

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : वस्तुनो धर्मत्वेनैव भवति.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तादात्म्यं चक्षुषा गृह्यते. कुतो ? घटरूपत्वात्. तादात्म्यं द्रव्यरूपं स्वीक्रियते.

प्रद्योतकुमार : सन्निकर्षस्य सन्निकर्षम् अस्ति न वा ?

अच्युतानन्द दास : सएव प्रश्नः.

डी. प्रह्लादाचार : घटस्य प्रत्यक्षं घटगतरूपस्य प्रत्यक्षं च. घट-रूपयोः तादात्म्यं यदि अंगीक्रियते समवायानंगीकर्तृभिः तस्य प्रत्यक्षम् एवञ्च प्रत्यक्षत्रयम् अत्र वर्तते — घटप्रत्यक्षं, घटगतरूपप्रत्यक्षं, घट-रूपयोः दातात्म्यप्रत्यक्षं च इति. तत्र तादात्म्यप्रत्यक्षे कः सन्निकर्षः इति तेषां प्रश्नः. अयन्तु प्रश्नः समाधेयः.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : मयातु एवं चिन्त्यते, तादात्म्यं घटरूपम्. तदपि द्रव्ये अन्तर्भूतमिव. तस्माद् घटस्य प्रत्यक्षे यः सन्निकर्षः संयोगः तेनैव घटतादात्म्यमपि गृह्यते.

अच्युतानन्द दास : तर्हि स्वरूप-तादात्म्ययोः कः भेदः स्यात् इति प्रश्नः.

प्रद्योतकुमार : नास्ति भेदः.

अच्युतानन्द दास : स्वरूपसम्बन्धं भिन्नं स्वीकुर्वन्ति नैयायिकाः, तादात्म्यमपि भिन्नं स्वीकुर्वन्ति. ...

कोलाहलः

डी. प्रह्लादाचार : भवतां प्रश्नमेव विवृणोमि. तादात्म्यस्य घटस्वरूपत्वं स्वीकृत्य घटः तादात्म्यम् इति भिन्नं नास्ति. तस्मात् घटे यः सन्निकर्षः तादात्म्येऽपि सएव सन्निकर्षः इति तेषाम् उत्तरम्. परन्तु तदुपरि प्रश्नो भवति. यदि तादात्म्यं घटः च एकएव तर्हि रूपे घटएव सम्बन्धः स्यात्. तादात्म्यम् इति कश्चन सम्बन्धः कुतः उच्यते ? घटस्य रूपे तादात्म्यं सम्बन्धः. तादात्म्यञ्च घटएव. एवञ्च घटएव सम्बन्धः इति आगतम्. तर्हि तादात्म्यम् इति मध्ये कुतः आनीयते ? रूपे घटस्य सम्बन्धः घटएव इति उच्यताम्.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अहं प्रतिवन्द्या उत्तरं ददामि. स्वरूपसम्बन्धः स्वीक्रियते...

डी. प्रह्लादाचार : प्रतिबन्दी मास्तु भोः...

के.ई.देवनाथन् : प्रतिबन्द्या न उच्यते. तेन वाक्येन समाधानम् उच्यते. कथम् इति चेत्, स्वरूपसम्बन्धस्य लक्षणं मणिकारेण उक्तम् अस्ति "सम्बन्धान्तरं विना विशिष्टप्रत्ययनियामकत्वं स्वरूपसम्बन्धत्वम्". एवञ्च सम्बन्धान्तरं नाम स्वव्यतिरिक्तं सम्बन्धं विना इति अर्थः क्रियते. एवञ्च विशिष्टबुद्धिनियामकत्वेन तादात्म्यं स्वीक्रियते. अतो हेतोः तस्य भिन्नत्वन्तु न आवश्यकम्. भिन्नत्वाभावेऽपि सम्बन्धस्य घटापेक्ष्यतादात्म्यस्य वा स्वरूपस्य वा स्वापेक्ष्यभिन्नाभावेऽपि विशिष्टप्रत्यययोग्यजननत्वम् अस्ति.

डी. प्रह्लादाचार : घटस्यैव वर्तते?

के.ई.देवनाथन् : घटस्यैव वर्तते केनचिद् आकारेण तद्व्यक्तित्वेन आकारेण. घटस्य घटत्वेन रूपेण तत्र आश्रयत्वम् अस्ति. सम्बन्धत्वं तद्व्यक्तित्वेन अस्ति, स्वरूपत्वेन अस्ति.

डी. प्रह्लादाचार : एवमेव वक्तव्यं नतु तादात्म्यमिति सम्बन्धः इति वक्तव्यम्. घटस्य रूपे तद्व्यक्तित्वेन सम्बन्धत्वं घटत्वेन द्रव्यत्वम्.

के.ई.देवनाथन् : तद्व्यक्तित्वमेव तादात्म्यम्.

अच्युतानन्द दास : यदि नीलो घटः इति स्वीक्रियताम्. नीलघटपदार्थमध्ये तादात्म्यं वर्तते अभेदरूपम्.

बलिराम शुक्ल : 'तादात्म्यम्' इत्यस्य कः अर्थः? स्ववृत्त्यसाधारणधर्मः इति व्युत्पत्तिवादे प्रतिपादितम्.

प्रद्योतकुमार : "शुक्लः घटः" इत्यस्य को अर्थः? घट-शुक्लत्वयोः सम्बन्धः तादात्म्यरूप...

के.ई.देवनाथन् : ... सर्वेऽपि विषयाः शास्त्रदीपिकायां चर्चिताः. केवलं भेदो न, केवलं अभेदो न, भेदाभेदः. उभयोरपि तात्त्विकत्वम् इति मीमांसकसिद्धान्तः.

डी. प्रह्लादाचार : एवञ्च तादात्म्यं यदि भेदाभेदः तर्हि तद्व्यक्तित्वम् इति न वाच्यम्.

के.ई.देवनाथन् : तद्व्यक्तित्वरूपो अभेदेन रूपेण अत्र ग्राह्यत्वम् उक्तम्. भेदांशेन तावत् अग्राह्यत्वमपि भवति.

डी. प्रह्लादाचार : तद्व्यक्तितत्वं हि घटनिष्ठो असाधारणो धर्मः. सच रूपे घटस्य सम्बन्धः इति उच्यते चेद् घटे तद्व्यक्तितत्वम् आयाति. घटस्य यो असाधारणधर्मः सो रूपनिष्ठः इति वक्तव्यं भवति.

के.ई.देवनाथन् : स्वीक्रियते. परन्तु...

डी. प्रह्लादाचार : परन्तु रूपस्य तावद् गुणत्वम् नतु तद्व्यक्तितत्वरूपत्वम्.

के.ई.देवनाथन् : भेदाभेदो अत्र विस्तरणीयो वर्तते. भेदाभेदवादिभिः अवच्छेदकभेदः स्वीक्रियते एतैः मीमांसकैः. केनचिद् अवच्छेदेन तद्व्यक्तितत्वं रूपे स्वीक्रियते केनचिद् अवच्छेदेन तदभावोऽपि स्वीक्रियते. अन्यथा ...

डी. प्रह्लादाचार : गोस्वामिचरणानां प्रश्नोपरि किमपि वक्तुम् इच्छति भवान्?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : शाब्दबोधेऽपि धारावाहिकस्थलवद् ज्ञातज्ञानं वर्तते इति. तत्रतु उद्देश्ये यो विषयो अवगतः तस्य अनवगताः अंशाः लक्षणे ज्ञायन्ते, तत्रापि अनवगताः अंशविशेषाः परीक्षायां ज्ञायन्ते इति अनधिगतार्थत्वं सुस्पष्टं वर्तते. तत्र कालक्षणघटना न आवश्यकी. यत्रतु अधिकविषयप्रवेशो नास्ति "घटोऽयं घटोऽयं घटोऽयम्" इत्येव धारावाहिकस्थलं भवति तत्र कालविशेषः सूक्ष्मं प्रवेश्य तद्द्वारा अनधिगतार्थकत्वकल्पनं कर्तव्यम् इति श्रमो जायते. तत्रतु भवन्निर्दिष्टस्थले उद्देश्य-लक्षणे परीक्षा च इत्यादौ तु विशेषविशेषाः उद्देश्यापेक्षया केचन विशेषाः लक्षणे यथा वा तत्र उपनयवाक्यात् शब्दबोधानन्तरं पुनः निगमनवाक्यात् प्रथमतः "पर्वतो वह्निमान्" इत्यनेन को विशेषः? तदपेक्षया विशेषः ... अनुमानेऽपि एवं वक्तुं शक्यते इति मया तदर्थमेव उक्तम्.

प्रद्योतकुमार : सर्वथा कथञ्चिद् वैलक्षण्यं सम्भवति तदा अनुवाद-प्रमाण ... को

के.ई.देवनाथन् : शाब्दबोधे न भवति किल. प्रत्यक्षे तावत् कालविशेष...

गो. श्या. म. : शब्देन उद्दिष्टस्य लक्षणे अनुवादो भवति न वा? लक्षितस्य परीक्षायाम् अनुवादो भवति न वा?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अनुवादो ज्ञातस्य अज्ञातविषयबोधनप्रयोजनकः. ज्ञातम् अनूद्य अज्ञातं बोध्यते.

गो. श्या. म. : अनूदितस्यापि पुनः धर्मान्तरेण बोधने प्रामाण्यं भवत्येव तत्र मम अभिप्रायः.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अनूदितस्यापि प्रामाण्यं स्वतो अनूदितत्वेन रूपेण न. अनूदितम् उद्दिश्य तदनन्तरं कश्चन विशेषो यदि विवक्ष्यते तदानीमेव प्रामाण्यम्.

गो. श्या. म. : तस्मादेव अनूदितानूदितयोः तादात्म्यम् अंगीकार्यम् नात्यन्तिको भेदः तत्र भवितुम् अर्हति.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अतएव स्मृतिसाधारणन्तु प्रमात्वं न अनधिगतार्थज्ञापकत्वमेव तत्तु अबाधितार्थविषयकत्वमेव. इति पक्षान्तरमपि स्वीकृतम्. अनधिगतत्वे आग्रहो नास्ति. अधिगतोऽपि विषयः स्मृत्यादि प्रमारूपएव इति यदि स्वीक्रियते तदानीम् ''अबाधितार्थमात्रविषयकत्वं प्रमात्वम्'' इति लक्षणान्तरं स्वीकृतमेव.

बलिराम शुक्ल : प्रत्यभिज्ञाविषये तेषां मते का स्थितिः?

कृष्णमूर्ति शास्त्री : तत्र नामविशेषविशिष्टतया ज्ञायते इति उक्तं खलु.

बलिराम शुक्ल : तत्र अनधिगतत्वन्तु नास्ति.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : अतएव अन्ते पंक्तिरपि पठिता वर्तते ''पूर्वं यो दृष्टो मया 'गोविन्द'शब्दवाच्यः'' इत्येवं रीत्या...

बलिराम शुक्ल : तत्पदवाच्यत्वेन.

......+......

संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गो.श्या.म.

समादरणीयैः श्रीकृष्णमूर्तिशास्त्रिमहाभागैः भाट्टमीमांसाम् अधिकृत्य प्रस्तुतम्

आलेखपत्रम् इदं मध्ये-मध्ये प्राभाकारमीमांसामपि तुलनया विशदीकरोति. अतीव सरलया भाषया मीमांस्यस्य सर्वस्यापि विषयस्य अवितथाववबोधकेन लेखनेन सर्वेऽपि विचारगोष्ठीसहभागिनः शास्त्रिमहाभागानां भृशम् अधमर्णाः सञ्जाताः !

ममतु संगोष्ठ्युत्तरलेखनम् इदं यत् किमपि वाल्लभमतदृष्ट्या अस्मिन् विषये विवक्षितं तदावेदकमेव.

तत्र तावत् प्रस्थानभेदेन प्रमाणानां सामान्यस्वरूप-संख्या-प्रामाण्यस्वरूप-स्वतस्त्वपरतस्त्वविषयेषु बहवः प्रभेदाः उपलभ्यन्ते. तत्र प्रथमे तावत् सामान्यस्वरूपविषये प्रस्थानरत्नाकरकृद्भिः ''**तत्र 'प्रमाण'शब्दो भावव्युत्पन्नो रूढो वा अबाधितज्ञाने बाधयोग्यव्यतिरिक्ते च, करणव्युत्पन्नस्तु तादृशज्ञानकरणे**'' (प्रस्था.रत्ना.प्रमा.परि.उ-पकूले) इति व्युत्पादितत्वेन प्रमारूपस्य ज्ञानस्य द्वैविध्यं गमयति. तथाहि कीदृशं ज्ञानं बाधितं कीदृशं वा बाधयोग्यव्यतिरिक्तम् इति विचिकित्सायां न तावत् सर्वमपि ज्ञानं बाधितं बाधयोग्यं वा इति अभ्युपगन्तुं शक्यं, स्वतोव्याहतेः. नापि सर्वमपि ज्ञानम् अबाधितं बाधयोग्यव्यतिरिक्तं वा इत्यपि वक्तुं युक्तं, मरुमरीचिका-रज्जुसर्प-स्वप्नादिज्ञानानां बाधस्य अनुभवसाक्षिकत्वात्, तन्न्यायेन इतरेषामपि बाधयोग्याव्यतिरेकस्य कल्पयितुं शक्यत्वात् च. किञ्च बाधितं बाधयोग्यं वा ज्ञानं प्रमारूपेण ज्ञानेनैव बाधार्हं चेत् तस्य बाधकज्ञानस्यापि अबाधितत्वं बाधयोग्यव्यतिरिक्तत्वं वा कथं निर्धारणीयम्? बाधार्हज्ञानस्य कारणसामग्री-स्वरूप-सफलप्रवृत्तिजननसामर्थ्यादीनां विचारेण उत बाधकज्ञानस्य कारणसामग्री-स्वरूप-सफलप्रवृत्तिजननसामर्थ्यादीनां विचारेण आहोस्वित् तदेकतरावेदितस्य विषयस्वरूपप्र-कारस्य विचारेण?

तदिह श्रीमदाचार्यचरणानां वचनानि प्रथमतो अवश्यावगाह्यानि —

प्रमाणसामान्यस्य कारणसामग्री-स्वरूप-सफलप्रवृत्तिजननसामर्थ्यानां विषये :

''यथा इन्द्रियप्रेरकत्वं मनसः तथा इन्द्रियानुग्राहकत्वं बुद्धेः. बुद्ध्यैव अनुगृहीतानि इन्द्रियाणि पश्यन्ति कुर्वन्ति च. अतएव बुद्धितारतम्येन इन्द्रियज्ञान-क्रिययोः तारतम्यम्. एतत् कार्यानुसारिल-

क्षणम्. 'द्रव्यस्फुरणविज्ञानं' स्वरूपलक्षणम्. द्रव्यस्य घटादेः स्फुरणे सति शब्देन संस्कारेण आलोकेन वा यद् विशिष्टज्ञानम्; यस्मात् केवलं चक्षुषा ज्ञाने तारतम्यं न स्यात्... द्रव्यस्फुरणतारतम्याद् बुद्धिः नानाविधा. संस्कारतेजसोः तुल्यप्रकाशकत्वे विशेषास्फूर्तौ समः संशयो अल्पविशेषस्फूर्तौ उत्कटकोटिकः. 'विपर्यासः'= संस्कारप्राबल्यात् तेजः तदनुगुणमेव धर्मं (तत्र) प्रकाशयति... विपर्यासो भिन्नार्थप्रतिपादकः, क्रियाज्ञानयोः च भिन्नविषयत्वम्— तथाच इन्द्रियसम्प्रयोगजनकक्रियाविषयाद् भिन्नो यो अर्थः तदेकविषयकप्रतिरूपो यो वृत्तिविशेषः सः विपर्यासः—... निश्चयो यथार्थानुभवो, अर्थो हि ज्ञानस्य अर्धम् अंगम्. अतएव स्मृतिः न निश्चयात्मिका अर्थाभावात्. अनुमतिरपि सम्बन्धिव्यवधानेन अर्थजनितैव... शब्दोऽपि निश्चयएव, (धूमादिरूप)धर्म-(सम्बन्धरूप)सादृश्यातिरिक्त-संस्कारजनकत्वात्. शब्देन (परोक्षतया) द्रव्यस्फुरणात् चक्षुषो अपेक्षाभावात् प्रमाणान्तरम्. त्रीण्येव प्रमाणानि... तत् सिद्धार्थवाक्येतु प्रत्यक्षसहकारित्वाप्रत्यक्ष-हेतुत्वमेव. साध्यार्थेतु लौकिके वाक्यार्थे बुद्धिकल्पिते प्रमाणाभावेन अप्रमाण्येऽपि प्रमेयबलात् प्रमाणमेव — लौकिके 'घटम् आनय' वाक्यार्थः प्रयोज्यकर्तृकघटानयनादिक्रियारूपः प्रयोजकबुद्धिकल्पितइति वाक्यश्रवणसमये तस्य अर्थस्य अभावात् प्रमाणरूपज्ञानानुदयः किन्तु ज्ञानमात्रस्य उदयइति प्रमाणाभावेन ज्ञानजनकवाक्यस्य अप्रामाण्येऽपि प्रमेयबलात् प्रयोज्यकर्तृकानयनक्रियादिरूपप्रमेयस्य बलात् प्रमाणमेव. वाक्याद् जातं शाब्दं समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात् प्रमाणरूपमेव इति अर्थः. एतेन एतादृशस्थले परतःप्रामाण्यं स्फुटीकृतं ज्ञेयम्. ननु लोकेऽपि संसर्गरूपस्य वाक्यार्थस्य अपूर्वत्वात् प्रमाणबलादेव प्रामाण्यं कुतो न स्वीक्रियते? इति आकांक्षायाम् आहुः — लोके वाक्यार्थो न अपूर्वः वक्तृज्ञानविषयविष-यित्वात् तद्बोधनसमर्थपदसमूहस्यैव प्रयोगात् — तथाच उक्तविधस्य वाक्यस्य सम्भावितविषयकत्वात् तज्जन्यं ज्ञानं सम्भावनारूपमिति तस्य संशये निवेशः. 'अप्रमाण'पदन्तु 'प्रमाण'शब्दस्य नानार्थत्वाभिप्रायेण उक्तम्. 'प्रमाण'शब्दो अबाधितज्ञाने वर्तते बाधयोग्यव्यतिरिक्ते वा".

(सुबो.प्रका. ३।२६।२९-३०).

धर्मब्रह्मणोः ज्ञापकं श्रुत्यादिप्रमाणस्वरूपम् :

''अस्मिन् शास्त्रे परिभाषाम् उक्त्वा प्रमाणम् आह 'वेदाः' इति शब्दएव प्रमाणं, तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव तत् स्वतःसिद्धप्रमाणभावं — तथाच प्रत्यक्षादिषु भ्रान्तत्वस्यापि दर्शनात् तेषु नैकान्तिकं प्रामाण्यम्. अतः तानि विहाय आप्तवाक्यत्वाद् वेदादयएव आद्रियन्ते इति अर्थः. ननु वेदादीनां चेत् शब्दत्वेन प्रामाण्यं तर्हि लौकिकेऽपि तुल्यं प्रत्यक्षोपजीवकत्वात् प्रमाणान्तरतौल्यात् च. इत्यतः आहुः 'तत्रापि', नहि अस्माभिः शब्दत्वेन वेदानां प्रामाण्यम् उच्यते अपितु अलौकिकज्ञापकशब्दत्वेन, औत्पत्तिकसूत्रानुरोधात्. तथा सति यथा धर्मे समपरिकरे चोदनैव मानम् एवम् अत्र वेदादिरेव मानम् इत्यतो न तौल्यं नवा प्रत्यक्षोपजीवकत्वम्. नहि वेदोदितो धर्मो वा ब्रह्म वा अन्येन प्रमातुं शक्यते. तयोः तदेकवेद्यत्वस्यैव तन्मीमांसासिद्धत्वात्... परतःप्रामाण्यवादे प्रवृत्तिसामर्थ्यादेव ज्ञानप्रामाण्यग्रहः. तस्यापि सामर्थ्यज्ञानस्य च अन्यतः एवं सति अनवस्थानिवृत्त्यै क्वचिद् विश्रामे वाच्ये अन्ततो गत्वा योगशुद्धान्तःकरणस्यैव प्रमाणत्वं शुद्धस्य सत्त्वस्यैव वा प्रमाणानुग्राहकत्वं स्वीकृत्य तज्जन्यज्ञानस्य स्वतःप्रामाण्यं साधनीयम्''.

(त.दी.नि.प्र.आ. : १।७)

एतेन वाल्लभमते यथार्थानुभवः प्रमा (Theory of correspondence), अनधिगताबाधितार्थगमकं ज्ञानं प्रमा (Theory of coherence), फलाविसंवादिप्रवृत्तिजनकं ज्ञानं प्रमा (Theory of utility) इति पौर्वात्य-पाश्चात्यैः दार्शनिकैः पृथक्-पृथक्तया ये प्रामाण्यनिकषाः अंगीकृताः ते त्रयोऽपि निकषाः वाल्लभमते संकलीकृत्य अभ्युपगताः इति प्रतिभाति.

तत्र सामान्यतः लौकिकप्रमाणानां यथार्थानुभवत्वेन प्रामाण्ये अंगीकृतेऽपि लौकिकप्रमाणानधिगतार्थरूपयोः धर्मब्रह्मणोः वेदादिशास्त्राणां प्रमाजनकत्वरूपं प्रामाण्यन्तु अनधिगताबाधितार्थज्ञापकत्व(Theory of coherence)रूपमेव. एतेन

बाधयोग्यव्यतिरिक्तता द्योतिता. यथाच आहुः भगवत्पादाः श्रीशंकराचार्याअपि "**नच प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुध्यते, प्रमाणान्तराविषयमेव हि प्रमाणान्तरं ज्ञापयति**", "**अपिच क्वचिद् गौणः शब्दो दृष्टइति न एतावता शब्दप्रमाणके अर्थे गौणी कल्पना न्याय्या सर्वत्र अनाश्वासप्रसंगात्**" (बृह.उप.भा.२।१।२०, ब्र.-सू.भा.१।१।७) इति. तस्मात् प्रत्यक्षादिप्रमाणैः श्रुत्यभिहितार्थबाधकल्पनायान्तु श्रुतिवचनेषु गौणार्थकल्पनाप्रसक्तिः दुर्वारैव. सातु न सम्भवति लौकिकरूपाद्यभावाद्धि ब्रह्म न प्रत्यक्षगोचरं, प्रत्यक्षगोचरहेतुसाध्ययोः कयोश्चिद् व्याप्तिग्रहणाभावात् लिंगाभावात् च नानुमानादीनाम्, आगममात्रसमधिगम्यत्वस्य अभ्युपेतत्वात् च न श्रुत्यादिवचनव्यतिरेकेण धर्मब्रह्मणोः याथार्थ्यावगतिसम्भवनापि. तस्माद् धर्मब्रह्मणोः श्रुत्यादिशास्त्रवचनानां हि इतरप्रमाणानधिगताबाधितार्थज्ञापकत्वेन स्वतएव प्रामाण्यम् अवसीयते.

सति चैवं प्रमाणसामान्यानां प्रामाण्यन्तु यद् याथार्थ्यरूपं तत्तु अर्थानतिलंघित्वरूपम् इति अंगीकृतम्. तदेतद् अर्थानतिलंघित्वन्तु प्रत्यक्षादिप्रमाणानां न प्रमोत्पत्तिसाधारणकारणसामग्रीजन्यं स्वतःप्रामाण्यरूपं किमुत परतएव ग्राह्यम्. तद् उक्तं सुबोधिनीप्रकाशकारैः "**जन्यज्ञानस्य अर्थसापेक्षत्वाद् अर्थो ज्ञानस्य अर्द्धम् अंगम्**" (सुबो.प्रका.३।२६।३०) इति. एतेन अतिदूरादिग्राह्यार्थदोषाणां इन्द्रियघातमनोनवस्थानादिसाक्षादर्थग्राहकदोषाणां अज्ञानसंशयभ्रान्तिजनकबुद्धिगतताम-सराजसावस्थादोषाणां च सम्भवे ग्राह्यार्थोल्लंघिता जन्यानां ज्ञानानां न अस्वाभाविकी. तस्मात् तत्र याथार्थ्यमेव प्रामाण्याधायकम्. श्रुत्यादिवचनतो ज्ञायमानं जगतो ब्रह्मोपादानकत्वादिकन्तु सर्वभवनसमर्थस्य ब्रह्मणो अप्रतिघसंकल्पेन प्रादुर्भूतानां नाम-रूप-कर्मणां "**सत्त्वेव... इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयं तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय**" (छान्दो.उप.६।२।१) इति वचनात् सदात्मकत्वरूपं, तेन तेषां ब्रह्मात्मकत्वमपि ब्रह्मणो हि अद्वितीयैकत्वबोधनात्. तद् ब्रह्मातिरिक्तस्य अर्थस्य अभावादेव श्रुत्यादिवचनैः प्रतिपाद्यमानं सर्वस्य जडजीवात्मकस्य जगतो ब्रह्मात्मकत्वं विधेयांशे लौकिकप्रमाणैः पूर्वानवगतमपि सद् उद्देश्यांशेतु ततः पूर्वमपि अधिगतमेवेति एतादृज्ज्ञानं न अर्थजन्यं, यस्माद् अर्थजन्यत्वे श्रुत्यादिवचनप्रवृत्तेः प्रागपि जगतो ब्रह्मात्मकत्वं समवबुध्येत, अतो श्रुत्यादिशब्दजन्यमेव. श्रुत्यादिवचनैस्तु

उद्दिष्टस्य जडजीवात्मकस्य प्रपञ्चस्य पूर्वसिद्धस्यैव **"ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं स आत्मा तत् त्वम् असि"** (छान्दो.उप.६।७।७) इति वचने इदमा निर्दिष्टस्य जडजगतो ब्रह्मोपादानकत्वेन ब्रह्मात्मकता 'त्वं'पदोपलक्षितानां निखिलानां जीवात्मनां च ब्रह्मांशत्वेन ब्रह्मात्मकता उपदिष्टा. तस्माद् ब्रह्मात्मकत्वबोधनेन ब्रह्माज्ञानरूपावरणनिवारणमात्रांशएव प्रमाकरणानां चारितार्थ्यं केवलाद्वैतवादवद् वाल्लभमतेऽपि सुप्रतिपाद्यम्. तस्मादेव नाम-रूप-कर्मणां द्वैतावबोधकानि **"त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि नामानि... रूपाणि... कर्माणि विभर्ति तदेतत् त्रयं सद् एकम् आत्मा आत्मा उ एकः सन् एतत्त्रयम्"** (बृह.उप.१।६।३) इति श्रुत्यादिवचनानि न ज्ञातज्ञापकत्वेन स्वार्थे अप्रमाणरूपाणि नापि पूर्वासिद्धज्ञानजनकान्येव वा, निखिलस्य ब्रह्मात्मकस्य जडजीवप्रपञ्चस्य ब्रह्मत्वेन अनवबुद्धस्य ब्रह्मात्मकत्वबोधनपरत्वात्.

तस्माद् यत्र किञ्चित् प्रमेयं केनचिद् एकनैव प्रमाणेन बोध्यं न तदतिरिक्तप्रमाणगोचरं तत्र प्रमाणस्य अनधिगतार्थज्ञापकत्वमेव आस्थेयम्.

यत्र पुनः कश्चन पदार्थः नैकप्रमाणैः अवगम्यते तत्र प्रथमप्रवृत्तस्य प्रमाणस्य प्रामाण्ये याथार्थ्यमेव निकषं वेदितव्यं, यथाहि लौकिकेन्द्रियगोचराः बहवः पदार्थाः. तथाहि गन्ध-रस-रूपादीनां तन्मात्रारूपधर्माणां घ्राणरसनाचक्षुरादीन्द्रियमात्रग्राह्यत्वेऽपि तद्धर्मिरूपाणां पृथिव्यपतेजआदीनां हि अनेकेन्द्रियग्राह्यत्वम् उपलभ्यतएव. तत्र एकेन केनचिद् इन्द्रियेण अपरेन्द्रियविसंवादिज्ञानजनने न अनधिगतार्थज्ञापकत्वशपथेन तादृगनुभूतौ प्रामाण्यपरिग्रहः शक्यो, यथा मरुमरिचिकायां जलरूपदर्शनस्य जलपान-जलावगाहन-रूपफलजननासामर्थ्येन तद्विसंवादितया प्रामाण्यबाधः. यतोहि यद्देशकालावच्छेदेन प्रथमप्रवृत्तस्य जलरूपविषयकस्य ज्ञानस्य तद्देशकालावच्छेदेनैव जलपान-जलावगाहनाशक्यत्वेन विसंवादितया प्रामाण्यबाधावगमात्. तथाच एतादृशे विषये यस्य कस्यापि ज्ञानस्य बलवत्प्रमाणाविसंवादितयैव प्रामाण्येन भवितव्यं नतु मिथो विसंवादितया इति.

तत्र अन्येन प्रमाणेन विसंवादइव स्वतो विसंवादोऽपि प्रामाण्यनिरासकइति

एतेनैव हेतुना ब्रह्मणि सर्वेषां श्रुतिवचनानां समप्रामाणत्वेन तेषां मिथो विरोधपरिहारायैव महर्षेः बादरायणस्य ब्रह्मसूत्रेषु समन्वयाविरोधोपपादने भरः. तथाच प्रथमप्रमाणावगतस्यापि द्वितीयादिज्ञानैः सन्देहास्पदतायाः भ्रमास्पदतायाः शक्यत्वेन बहुतरप्रमाणसंवादाद् बलवत्तरप्रमाणाद् वा संवादितयैव प्रामाण्यम् अंगीकार्यम्. तस्मादेव प्रत्यक्षानुमित्योः धर्मब्रह्माभावसाधकत्वसम्भवेऽपि आगममात्रसमधिगम्ययोः तयोः धर्मब्रह्मणोः आगममात्रसमधिगम्ये स्वरूपे न प्रत्यक्षानुमित्यादिप्रयुक्तबाधयोग्यतासम्भावनापि, आगमेतरप्रमाणागम्यत्वादेव. न तस्माद् विसंवादितापि. तस्मादेव अबाधितत्वरूपप्रामाण्यवद् बाधकज्ञानत्वेन सम्भावितानां प्रमाणानां कारणसामग्री-स्वरूप-सफलप्रवृत्तिजननसामर्थ्योपरोधविचारेण बाधयोग्यव्यतिरिक्तत्वरूपं प्रामाण्यमपि अंगीकार्यमेव.

इदञ्च यथा धर्मब्रह्मणोः तथैव मधुगुडयोरपि प्रत्यक्षमात्रैकगम्ये माधुर्यभेदेऽपि अंगीकर्तव्यमेव. तथैव अनुमित्येकगम्ये सूर्यादिग्रहपिण्डानां परिमाणेऽपि बोद्धव्यम्. नहि शतशोऽपि जनानां प्रत्यक्षगृहीताल्पपरिमाणज्ञानेन विसंवादितायाः शपथेन अनुमानैकगम्यस्य सूर्यादिग्रहपिण्डानां बृहत्परिमाणस्य बाधः सम्भवति.

यथाच प्रमाणानाम् इदम् याथार्थ्यापरपर्यायम् अर्थानतिलंघित्वं, अनधिगताबाधितार्थापरपर्यायं च मिथो असंवादित्वं तथैव सफलप्रवृत्तिजननसामर्थ्यरूपं प्रामाण्यमपि अकामेन अंगीकार्यमेव. तत्र हेतुः उपरितनयोः आचार्यवचनयोः अधोरेखांकनेन सूचितएव.

अथ इदानीं प्रमाणसामान्यसंख्याविषये यथा प्रत्यक्षानुमितिशाब्दभेदैः **''त्रीण्येव प्रमाणानि''** इति उपलभ्यते तथा धर्मब्रह्मसम्बन्धिसकलमीमांस्यविषये **''प्रमाणम् आह 'वेदाः' इति शब्दएव प्रमाणं, तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव तत् स्वतःसिद्धप्रमाणभावम्''** इत्यपि आचार्यवचनं विराजतएव. एवंहि वचनद्वयी वरीवर्त्यते. तत्र प्रत्यक्षस्यापि लोके प्रामाण्यं बुद्धौ सत्त्वगुणोदयएव अभ्युपगतमिति सत्त्वसहिता बुद्धिः प्रमाणम् इत्यपि निश्चप्रचम्. तदेतद् व्यावहारिकमपि सत् न अपारमार्थिकम् इति वाल्लभवेदान्तरहस्यमपि न जातु विस्मरणीयम्.

एतनैव प्रामाण्यस्वरूपं तेषाञ्च स्वतस्त्वपरतस्त्वे च अर्धजरतीयन्यायो अभ्युपेयते इति प्रस्थानरत्नाकरे ''**साध्यार्थलौकिकवाक्यप्रयोगकाले भाविन्याः क्रियायाः** असत्त्वेन **जायमानस्य ज्ञानस्य** क्रियाकर्मादिसंसर्गाग्रहएव जननात्... **तस्य ज्ञानस्य प्रमाणलक्षणानाक्रान्तत्वेन** तादृशस्थले **ज्ञानग्राहकसामग्र्या यः प्रामाण्यग्रहः** सो **अयथार्थः... अतः** ईदृशस्थले **परतो अन्यत्र स्वतः** इति **अर्धजरतीमेव युक्ताम् उत्पश्यामः''** (प्र.र.प्रमा.कर.तरं.६) इति प्रतिपादितम् अत्र अनुसन्धेयम्. इति अलम् अतिपल्लवितेन.

पुनश्च सुगृहीतनामधेयैः श्रीकृष्णमूर्तिशास्त्रिमहाभागैः भाट्टमतरीत्या यत् प्रत्यक्षविवरणं कृतं तेन तेभ्यो भृशं स्वकार्तज्ञ्यज्ञापनपुरःसरं प्रस्तुतं मदीयं संगोष्ठ्युत्तरलेखनं समापयामि.

Dr. P. K. Mukhopadhyay, Kolkata

... How then Pratyakṣa may Pramāṇa? For, when I say that "I perceive a jar" is it that jar I perceive? For, perception is possible only through the contact of the sense organ with the object. But my senses are in the contact with the front portion of the jar, front portion of the tree. But there is other part of the tree with which my sense organ is not there in contact. For, there is Vyavadhāna. So therefore, my senses are never in contact with the object at all. My senses are in contact with the part of the object. So if I say, 'I perceive the branch' that might have make sense but not if I say 'I perceive the tree'. But the same problem can be raised with reference to branch also. For that also is the problem. So this problem is not that I am conducting it. This problem is there very much and this we ignore.

This problem was raised by Gauttama in his Nyāyasūtra as a Pūrva-pakṣa. He says "pratyakṣānumānam, asamagra-grahaṇāt". We can not perceive, we can not take the whole of it. But the answer he provided is beautiful. His first answer is "pratyakṣena yāvat tāvad upalabhyate". You are saying that you perceive the part of it, so perception is Pramāṇa.

If you can not perceive the whole, at least part you say you are perceiving. So perception is Prāmāṇa. How can you say that it is not Pramāṇa and it is Anumāna? This is the first question. And that is the route of the distinction between what you call phenomenalism and realism. In the west ... theory of perception. And our Indian parallel is what we call Punjavāda v/s Avayavīvāda.

In the Punjavāda theory, we can never know the object as a whole but only the sensible qualities like Rūpa, Rasa, Nīla-Pīta etc. You can never know the physical object. But then there are two possibilities. One, since, you perceive only the sensible qualities, you say that only sensible qualities are real and nothing else is there. This is call reductionism. They say that dravyasya antarbhāvḥ indriya-guṇādau. Sensible qualities are the things and nothing more is there. In the similar way, in the west also, scientists have divided into two groups. They says, science basically is an empirical theory of the observable universe. Now, since, its an empirical theory, it is based only on the evidence of perception. And just now we have seen that the perception is the evidence for the sensible qualities only. And they say that there is nothing over and above the sensible qualities. These are the phenomenalists. And now there is a great problem with the

scientists whether they go with phenomenalism or with realism.

One very familiar story that much of science I know I can tell you also. That Einstein was at one time of his life very much under the influence of Ernst Mach. And he was a Humian who was a Phenomenalist. Later on he was objecting to some form of Machianism, he was reminded that how you say, you yourself were a positivist few year back. And his reply was very beautiful. He says, even a good joke should not be repeated too many times. So he was a realist. And the problem is this that can we have any evidence for admitting over and above the sensible qualities of the physical object. And this bring me back to the second part of Gauttama's answer. In the first part he says, after all as the knower of as a means of knowledge of the sensible qualities there is Pratyakṣa. So you can not simply say that there is no Pratyakṣa, only Anumāna is there. But the second part is this, even if you say that knowledge of physical object then also he says that knowledge of physical object is also a perception. How that is possible? He says, when you think that we only perceive the front part of it and not the second part of it, you are taking that the thing is composed of certain parts only. But we are Avayavavādins. Avayavī is something distinct entity. Its a unity, its a distinct

entity and it is in every part of it. So therefore, unless we accept Avayava, we can not ... this issue that Pratyakṣ is not a Pramāṇa= Pratyakṣm anumānameva. A Pratyakṣa or we can say that a perception of a tree or a jar, they will become inference, we can not answer this charge unless we admit Avayava in addition to the Puñjas. So therefore, it becomes very necessary from the Nyāya point of view. You have very good answer to the question why there should be a perception and perception is as much a direct form of knowledge and not just interpretation. And how is it that with the help of the sense organs we can know not only the sensible qualities but also the physical objects as such. So therefore this particular approach is totally absent in the western tradition. So all that they could do by way of refuting phenomenalism and establishing realism is as Prof. Bokil was expounding the other time that we can not reduce a physical object statement in to the sense-data statement. But that in addition to this we can have a real argument by admitting Avayavī that is simply unknown to them. Here we can enter into discussion in the theory of perception with our western counterpart and particularly the scientists who depend on this perceptual knowledge of that.

Now I will try to touch upon ... most of the division

we find in Prasthānaratnākar is, so to say ... each other. So it creates lot of trouble. But if you accept only one principle of division and you go by that ... but there are too many principles are given and too many different ways of defining it and that creates problem sometimes. I give one example. It is said that one time of knowledge, not Jñāna as such, perhaps Anitya Jñāna. That division is like this. Saṁśya, Niścaya, Viparyāsa, Smṛti, Swapna like that. But the problem is this that how a cognition be other then both Niścaya and Saṁśya? For first, if we say that Niścaya-Aniścaya bhedena dvairaśrayameva ... Niścayāniścaya virodhe hi na prakaranta-sthitiḥ. So if something is not Niścaya then it must be Aniścaya. Then either he say Viparyaya is Aniścaya or say it is Niścaya. But none he said in this scheme. In this scheme it is neither Aniścaya nor Saṁśya, it is a third category. So his fivefold division we can not reduce immediately into the twofold divisions. So, division or classification by logical division, with which we are rather familiar of ...ing. E.g. first we distinguish Jñāna into Smṛti and Anubhava. Then Anubhava in to Sakṣāt and Parokṣa. And then each time we have Dvairaśraya. That is possible but here that is not possible. And therefore, this ... for two or distinction of Pramā-Apramā also. But that I will discuss currently.

How do you define Pramā and that is a very difficult problem also. I have some questions which I will raise and then discuss something. One is this, the principle of distinction is this that Sātvika-jñāna is Pramạ and Niścaya is also Pramā. But when Niścaya is said to be Pramā, it is said to be Sātvika-rājasa. So both the things have been said. That creates problem of classification.

My other question is this, suppose we say Sātvika-rājasa jñāna is Pramā. This Pramā is defined only in the context of Anitya Jñāna and once in the context of Nityajñāna. So should I understand the position of Śuddhādvaita in this sense that Nityajñāna is necessarily Pramā and that is only Sātvika. Whereas, Pramā Anityajñāna is Sātvik-rājas. So that can make somehow a ratiọnal division. But then again the point is this is it possible for any jñāna to be Sātvika only? If we believe that 'jñāna' to mean Vṛtti, whether a Buddhi or not Svarūpabhūta jñāna. The reason is this, Satva-Rajas-Tamas these three they may be there present in different proportion but it is not possible that there is no Rajas, no Tamas and only Ṣatva and so on. This is normally not possible. Abhibhava is possible. So if it is understood that Satva is Pradhāna that is understandable but only Sātvikajñāna is it possible? This is not intelligible to me. This is one problem.

Then, normally substance of Dravya is perceived only by two sense organs: Cakṣu and Tvag Indriya. But in this tradition it is believed that Dravya can be understood by all the sense organs. But that is not the great problem for me. The deeper problem is this how Ghrāṇendriya can perceive Dravya. Some examples have been given. Such as even in the darkness I can say 'I am smelling a rose' that is possible. But problem is this that has been said that Gandhavattvena gandhasya ghrāṇendriyeṇa grahaṇam, Sparśvatvena dravyasya grahaṇam sparśendriyeṇa etc. But come to this question of Gandhavattvena gandhasya ghrāṇendriyeṇa grahaṇam. In our example we can well understand it that how do we perceive the colour present in a Dravya. We say Saṁyukta-Samavāyena dravyavataḥ rūpam gṛahyate. Ko atra āśayaḥ. Indriya-saṁyogaḥ dravye asti. Tad dravye rūpam samavetam. Atra tu dravyena saha na sakṣāt saṁyogaḥ. Tat to gandhena saha. Gandhadvāreṇa dravyena saha yaḥ sambandhaḥ tasya kim svarūpam? Tādātmaym na sambhavati. To my mind first my sense organ is to be in relation to the Gandha. And since that Gandha is there in the Dravya then we can have that relationship. So it should be what relation? It can not be saṁyoga-tādātmya or Saṁyukta-tādātmya. But what it is this question is to be discussed here.

Some of the question I am raising. I have my own

answer to give to them. But basically I am raising some questions.

1. Whether Pratyakṣa can be regarded as an additional Pramāṇa or not ?

2. Whether we have any answer to the question that Pratyakṣ is Anumāna if we do not accept Avayavivāda ? If we accept Avayavivāda how it can be answered I have given. But every system does not accept Avayavivvāda.

3. Whether we can have any Jñāna which is only Sātvika, there is no mixture of Rajas or Tamas at all ?

4. How or what exact Sannikarṣa when we perceive Gandhavattvena dravyam through ghrāṇendriyeṇa ?Is it Tādātmya-tādātmyaor whatever it is.

……+……

चर्चा

प्रो. प्रद्योतकुमार मुखोपाध्याय

के.ई.देवनाथन् : You said that Naiyāyika accepts Avayava-avayavivāda and if it is not accepted then the Prāmaṇya of Pratyakṣa can not be established.

प्रद्योतकुमार : How can it be established? What other way is there?

के.ई.देवनाथन् : What I understand by that Bhāṣya, this problem comes if Avayava-avayavivāda is accepted. Question there is like Pratyakṣam apramāṇam, ekadeṣopalabdheḥ. That is the question. Because you Nayāyika accept Avayava-avayavivāda. Therefore, if one part is perceived you think that other part is not perceived. Then Pratyakṣa becomes Apramāṇa. That is the question. The answer is that apart from the perceived part the Avayavī also is there. In that case if a part is perceived, the whole is perceived. This kind of problem does not emerges in those systems who don't accept Avayava-avayavivāda.

वी.एन्.झा : When you say "I see the tree" actually you are seeing only the part of a tree. But your claim is "I see the tree'. Do you say that "I see a part of the tree'? No. Then how do you explain the perception?

के.ई.देवनाथन् : The Bhātta Mīmāṁsakas accepts Bhedābheda. So, if a part is perceived then whole also is perceived.

वी.एन्.झा : So the problem is unless we accept Avayavī how to explain the perception of whole?

के.ई.देवनाथन् : My understanding is that this problem may occur more in Nyāya system. Because, they have accepted Bheda between Avayava and avayavī.

वी.एन्.झा : It can occur with anybody. Because, anybody can ask ...

के.ई.देवनाथन् : It can but Naiyāyikas have to answer this question forcefully. One more thing. You asked that Niścaya, Saṁśya etc. are the kinds of ...

प्रद्योतकुमार : There are five kinds. They can not be reduced to dichotomy.

के.ई.देवनाथन् : According to Naiyāyika it doesn't necessarily mean Niścaya as Samśyabhinnaḥ. Because Niścaya may consist of both Saṁśya in one part and ...

बलिराम शुक्ल : No. No. One single knowledge is Saṁśya or Niścaya? There may be partly doubt. But it is not accepted as a single knowledge.

के.ई.देवनाथन् : It is accepted. General belief of Naiyāyika is Saṁśya is Saṁśya and Niścaya is Niścaya. But in Prāmāṇyavāda Bhattācārya accepts. Both can be ... "Saṁśayatva-niścayatve avyāpyavṛtti-jātiviśeṣau" "संशयत्व-निश्चयत्वे अव्याप्यवृत्तिजातिविशेषौ".

प्रद्योतकुमार : He is saying that actually Naiyāyika can not claim the credit of offering the solution. Actually they are the cause of the problem. But why don't

you notice that it is you ... If the Pūrvapakṣ was that "Vṛkṣabuhiddhiḥ anumiti, avayava-grahaṇāt" then your question would have been all right. But where it is not said "Avayava-grahaṇāt; ekadeś-grahaṇāt". Why they used "ekadeś-grahaṇāt"? And ekadeś-grahaṇa will be equally applicable in the case of Puñja-vāda also. So form the whole Puñja of which only ekadeśa you are taking. So, the same question will in the Puñja-vāda also.

के.ई.देवनाथन् : No. In Puñjavāda it is not the problem. Because, if ten Paramāṇū are perceived then the perception will be like "I have perceived this much". Therefore, no Avayavī...

प्रद्योतकुमार : Then you can not say that "Ghatam paṣyāmi".

कृष्णमूर्ति शास्त्री : ज्ञानं सत्त्वगुणजन्यं कथं राजसम् इति प्रश्ने... जो ज्ञान भगवद्विषयक होता है वह सात्त्विक कहलाता है. जो विषयविषयक होता है वह तामसिक है. विषय और भगवान् को मिलाकर हम जो ज्ञान पा रहे हैं वह राजसिक है. इस तरहका लक्षण तो हो सकता है. अनन्तरम् एकः प्रश्नः अन्ते कृतः किम् एकं ज्ञानं तादृशम् अस्ति यत्र सत्त्व-रजसोः अंशोऽपि नास्ति, शुद्धसात्त्विकम् अस्ति वा? इति. तत् न अस्ति इति उत्तरं गीतायां दत्तम् "न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः, सत्त्वं प्रकृतिजैर्युक्तं य एभिः स्यात् त्रिभिर् गुणैः". 'सत्त्वं' नाम न द्रव्यम्. यः

कोऽपि पदार्थः. अंशतः रजस्तमोगुणसंस्पर्शं विना ... एकएव वर्तते शुद्धः. इतरत्र तावत् कश्चन संसर्गः द्वयोः भवेदेव.

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : श्रीमद्भागवते "वदन्ति तत् तत्त्वविदः तत्त्वं यज् ज्ञानम् अव्ययम्" अत्र 'ज्ञानम्' इति पदेन तत्र भगवानेव गृहीतः.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : भागवतएव न "सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म" इत्यत्रापि भगवानेव गृहीतः.

प्रद्योतकुमार : अतो 'ज्ञान'शब्दस्य मया ... 'ज्ञान'शब्देन वृत्तिः उच्यते. तद् वृत्तिः केवलं सात्त्विकरूपं सम्भवति न वा? तत्र रजस्तमसः स्पर्शसम्भवः.

कृष्णमूर्ति शास्त्री : मुख्यं ज्ञानं चैतन्यरूपम्. चैतन्याभिव्यञ्जकवृत्तौ ज्ञानत्वम् उपचर्यते. अयन्तु सर्वैरपि अंगीकार्यमेव.

डी.प्रह्लादाचार : नैयायिकैः न अंगीक्रियते.

गो. श्या. म. : *डाइकोटोमीके प्रिन्सिपल्* के अनुसार किसी भी *टर्म्* को जब *नेगेटिव्* बनाया जाता है तो वह *इन्फाइनाईट्* *टर्म्* बन जाती है. इस स्थितिमें जब संशय और असंशय कहेंगे तो उसमें सब ज्ञान आ जायेंगे. निश्चय - अनिश्चय, विपर्यास - अविपर्यास और इसी तरह स्मृति - अस्मृति कहनेसे सारे ज्ञान आ जायेंगे. तो आपकी जो समस्या है कि *डाइकोटोमी प्रिन्सिपल्* के अनुसार किसी भी *टर्म्* को जब *नेगेटिव्* किया जाता है तब वह *इन्फाइनाईट्* *टर्म्* बन जाती है. यह इस प्रसंगमें ध्यानमें रखना चाहिये. यहां *डाइकोटोमी* नहीं की गई है. उसका एक कारण यह है कि जितने भी वृत्त्यात्मक ज्ञान हैं वे, मैंने पेपरमें

इसीलिये यह बात स्पष्ट कही है, वे शुद्ध चैतन्यरूप नहीं हैं. भागवतमें कहा गया है "आसीज् ज्ञानम् अथो हि अर्थ एकमेव अविकल्पितम्". ज्ञान स्वयं ज्ञान और ज्ञेय के रूपमें विभक्त हुवा है. बादमें महत्तत्त्व उत्पन्न हुवा, तदनन्तर अहंकार उत्पन्न हुवा इस तरह सारी सांख्यकी प्रक्रियाको ब्राह्मिकी प्रक्रियाके समन्वित किया गया है. अतः प्रकृति गुणत्रयकी साम्यावस्था होती है और विकृति गुणत्रयकी विषमावस्था. विषमावस्थाका मतलब ही यह है कि कोई एक चीज प्रबल है तो दो चीज निर्बल हैं. और उसीके अनुपातसे सारा विकास हुवा है. लिहाजा ज्ञानोत्पत्ति जहां भी लौकिक प्रक्रियानुरोधी है वहां बुद्धिवृत्त्यात्मक ज्ञान माना गया है. क्योंकि प्रकृतिसे चित्त पैदा हुवा है वह भी त्रिगुणवैषम्यरूप है. और उस चित्तसे जो अहंकार पैदा हुवा है वह भी त्रिगुणवैषम्यरूप है. उससे जो मन पैदा हुवा है वह भी त्रिगुणवैषम्यरूप है. उस अहंकारसे जो बुद्धि पैदा हुयी है वह भी त्रिगुणवैषम्यरूप है. अब जब सभी कुछ त्रिगुणवैषम्यरूप है तब बुद्धि समय-समयपर अपनी उन विषमावस्थाओंको प्रकट करती रहती है. इसलिये सत्त्वमें रजस्, सत्त्वमें तमस्, सत्त्वमें सत्त्व हम ऐसा *स्किमेटिक् इन्टर्प्रिटेशन्* करते हैं. उसके तहत बुद्धिकी वृत्तिसे होनेवाला जो ज्ञान सत्त्वरूप होता है वह एक *जनरल्* बात है. और उसकी *सब्-वेराईटीज़्के* रूपमें सात्त्विक-सात्त्विक, सात्त्विक-राजस, सात्त्विक-तामस इत्यादि आते हैं. इसलिये वहां यह मीमांसा की गयी है. वस्तुतः यह बात

प्रस्थानरत्नाकरकारकी अपनी नहीं है. यह सारा प्रतिपादन महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने किया है. उन्होंने तो केवल उसका संकलनमात्र किया है. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी एक *पॉलिसी* है कि यह सारा जगत् जो प्रकृतिसे प्रादुर्भूत हुवा है यानि जो भी प्राकृत प्रोडक्ट है वह सारा सत्त्वआदिकी नवविध *वेराईटीज़्* में *एक्स्प्लेईन्* हुवा है. और महाप्रभु प्रायः *पेंडुलम्की* तरह हर सगुणकी निर्गुण *सिच्युएशन्* दिखलाते रहते हैं. ज्ञानकी निर्गुण स्थिति और ज्ञानकी सगुण स्थिति. भावकी निर्गुण स्थिति भावकी सगुण स्थिति. कर्मकी सगुण स्थिति कर्मकी निर्गुण स्थिति. इस तरहकी उनकी *मोडस् ऑपरेन्डी* है. इसके अनुसार उन्होंने कहा है कि ''संशयो अथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च, स्वाप इति उच्यते बुद्धेः लक्षणं वृत्तितः पृथक्'' इन बुद्धिवृत्तियोंमें गुणवैषम्यकी कैसी *वेराईटीज़्* और *सब्-वेराईटीज़्* प्रकट हो रही हैं. यह मूल बात है.

प्रद्योतकुमार : That is not my problem. All this is well understood and there is no problem at all. For everything that comes from Pṛkṛti must be Triguṇātmaka.

वी. एन्. झा : शुद्धचैतन्यविषयक वृत्तिज्ञान सम्भव है?

गो. श्या. म. : सम्भव है. प्रकृतिमेंसे सबसे पहला परिणाम महत्का हुवा है. महत् समष्टिभूत चित्त है और व्यष्टिभूत चित्त हम सबमें है. उस चित्तमें सुषुप्तिसाक्षिक, जिसे ''गाढं मूढो अहम् आसम्, न किञ्चिद् अवेदिषम्'' या ''सुखम्

अहम् अस्वाप्सं, न किञ्चिद् अवेदिषम्'' ऐसे, केवलाद्वैती कहते हैं. इसमें आत्मसाक्षात्कार चित्तसे होता माना गया है. वह सुषुप्तिसाक्षिक चैतन्यका अन्तःकरणजन्य ज्ञान चित्तमें उत्पन्न होता है. वह बुद्धिसे नहीं होता है. क्योंकि उस समय बुद्धि निद्रावृत्ति अपनाये हुवे होती है. अहंकार और मन भी सो जाते हैं केवल चित्त जाग्रत रहता है. पर जब अहंकार और मन जाग्रत होते हैं और बुद्धि तामसी वृत्तिके साथ तब धीरे-धीरे स्वप्न आने लगते हैं. और जब इन चारोंके अन्तर्गत बुद्धि निद्रावृत्तिका त्याग कर देती है तब हम पूर्णतया जग जाते हैं. यह जाग्रत अवस्था है.

वी. एन्. झा : ...अंशी उसका विषय कैसे हो सकता है? ...शुद्धचैतन्यवाला...

गो. श्या. म. : शुद्ध चैतन्य एक तो पारमात्मिक अंशी रूपमें है. वह तो हमें अनुभूत होता नहीं है. पर अंशरूपसे जो हमारे अंदर मौजूद है वह भी शुद्धचैतन्य है, उस शुद्धचैतन्यको अर्थात् जीवात्मचैतन्यको चित्तद्वारा विषय बनाया जा सकता है. ''स्वमपीतो भवति'' ''स्वं हि तदा अपीतो भवति''.

एक बात मैं और कहना चाहूंगा कि आपने अवयवीका जो प्रश्न उठाया उसके बारेमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका दृष्टिकोण पुनः अर्धजरती है. बहुत सारी बातोंमें हमारे यहां अर्धजरतीवाला दृष्टिकोण अपनाया गया है. क्योंकि मूल तादात्म्यमें ही कुछ अर्धजरती है, भेदाभेदके बीचमें.

तो जहां-जहां भी हमारे सामने कोई अतिवादी बात आती है तो हम उसका समाधान अर्धजरतीसे करते हैं.

अवयव-अवयवीकी बातके बारेमें महाप्रभुका एक वचन है "उपचितैः अवयवैः संहतो गुप्तो अवयवी प्रकटो भवति". देखो! अर्धजरती है : अवयविवाद और पुञ्जवाद में. यह सत्कार्य और सत्कारणवाद को छोड़ कर नहीं. संघातवाद और द्रव्यवाद की अर्धजरती महाप्रभु कर रहे हैं. और इस न्यायसे यदि आप देखेंगे तो हमारे यहांके द्रव्यका भी विलक्षण स्वरूप है. हम द्रव्यको ऐसे नहीं मानते हैं कि द्रव्य शुद्ध अवयवी है और "उत्पन्नं द्रव्यं क्षणम् अगुणम् अक्रियं च तिष्ठति" और बादमें गुण उत्पन्न होता है. उसके बारेमें भी हमारा यह दृष्टिकोण है कि तन्मात्रायें संहत होकर घनीभूत होकर द्रव्य बन जाती हैं. तो किसी तन्मात्राका आपने प्रत्यक्ष किया है वही तो घनीभूत हो कर द्रव्य हो रही है. अर्थात् शब्दतन्मात्रा घनीभूत हो कर आकाश है. रूपतन्मात्रा घनीभूत हो कर तेज तत्त्व है. और गन्धतन्मात्रा घनीभूत हो कर पृथ्वितत्त्व है. इस तरहसे घनीभावका भी हमारे यहां सिद्धान्त है जो कि संघातवादकी अर्धजरती है. और फिर उस द्रव्यको हम बौद्धोंकी तरह शून्य नहीं मानते. हम कहते हैं कि वह वहां छिपा हुवा था सो वहां प्रकट हो गया. "द्रव्यं कर्म च कालः च स्वभावो जीवएव च वासुदेवात् परो ब्रह्मन् नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः". तो द्रव्यात्मक

वासुदेव वहां प्रकट हो जाता है. यह हमारी अर्धजरती है. इसपर ध्यान देना चाहिये. तन्मात्राओंवाले गुणधर्मोंके संघातसे गुप्त अवययी प्रकट होता है. सद्वादको हम इस तरहसे *बेलेंस्*करते हैं. इसपर ध्यान देंगे तो "एकदेशदर्शनात् अप्रमाणं"की समस्याका हमारा समाधान जाना जा सकेगा. क्योंकि गुप्त अवयवी प्रकट होता है तो कुछ संहत अवयव ऐसे हैं कि जो अवयवीको प्रकट कर देते हैं. *मोडर्न् साइंसे* *विज़ुअल् पर्सेप्शन्*के बारेमें इस बारेमें कई प्रयोग किये हैं. और उन्होंने हमारे *ब्रेईन्*की इसे *इनेट् केपेसिटि* मानी है. और उसको वे लोग बहुत अच्छी तरहसे *डेमोन्स्ट्रेटिव् एक्स्पेरिमेन्ट्*में सिद्ध करते हैं. कुछ समय पहले गांधीजीका एक *स्केच्* प्रसिद्ध हुवा था. उसमें गांधीजीका बाल बिनाका कपाल और गोलकाचवाला चश्मा मात्र बनाया गया था. पर वहां गांधीजी प्रकट हो जाते हैं. *साईंस्* कहता है कि *सजेस्टिव्नेस्* का एक ऐसा *पोईन्ट्* आता है कि जिसके सहारे *माईन्ड्* गुप्त अवयवीकी प्रकट अनुभूति कर लेता है.

डी. प्रह्लादाचार : I think that whatever you have told so far it was about the origination of the Avayavī. Whether the Avayavī is produced by the Avayavas i.e. Asat-kārya-vāda or whether the Avayavī that is there in the Avayas they are revealed by the avayavas? In that connection whatever you have said in Śuddhādvaita-vāda that Gupta avayavī is prakatīkṛtaḥ like that. But the point that is Avayavī has all ready come in to existence and now while you are seeing the object only a part of it is perceived and the whole is not at all perceived

because the whole is not connected with the sense organ, only a part of it is being contacted by the sense organs. Even then we say that we have the perception of the whole. How can it be possible? This question, I think, whether the Avayavī is deferent from the Avayavas or whether it is identical with Avayavas can be explained. While Avayavī is considered as deferent from Avayavas but it is existing there with the relation of inherence. Then Avayavī is there in that part also? Whatever part is being seen in that part Avayavī is there. Therefore it is seen, directly eyes come into contact with the Avayavī. It is not the case that the Avayavī is not there. It is not possible to have contact with the sense organ. While you say that Avayavī and Avayavas are identical then the question doesn't arise. While Avayavas are come in to contact with the sense organ and Avayavī also come into contact with the sense organs. I think ...

गो. श्या. म. : That's what I meant to say! Because of Tādātmya between Avayavas and Avayavī. And ultimately it is the way you look at it. E.g. when we are thinking that "tantvārabdhaḥ pataḥ" then Pata is Samaveta in Tantū. But suppose if we take Pata as a whole then all the Tantūs are Samaveta in Pata also. So, Samavetatā can be two way. That means Anyonya-tādātmya. What you call Anyonya-samavetatā, we mean Avayavī and Avaya-

vas, Bheda-sahiṣṇu-abheda. So, Tantūs are also in Pata "Pate tantavaḥ". After Pata is produced and somebody says that "I have removed one Tanatu from the Pata" then he is saying Pata as an Adhikaraṇa and Tantu as Ādheya. That sort of reversibility is there. This is not the case if you are looking at it from the causal point of view. This is the very case when you look it from the Avayava-Avayavī Bhāva. Then Tantus, which are Avayavas, are in Avayavī which is Pata. But let me clarify, if we accept Arambha-vāda, then this will be the opposite case. But in the case of Pariṇāmavāda, all the parts are there in its whole.

बलिराम शुक्ल : पात्राधारे घृतं नतु पात्रं घृताधारम्.

गो. श्या. म. : That's what I said! And even Laukika pratyakṣa also advocates this. Laukika pratyakṣa will say Branches are in the tree whereas it is only Naiyāyika who will say that no, branches are not in the tree, it is tree which is in the branches.

डी. प्रह्लादाचार : When pariṇāma-Vāda is accepted then there is identity between Avayavī and Avayavas. Therefore, there is no Ādhāra-Ādheya-Bhāva. Ādhāra-Ādheya--Bhāva is possible only when there is deference between two.

गो. श्या. म. : Tadātmyasambandhātmako ādhāra-Ādheya-Bhā-va. It is not Bedātmaka Ādhāra-Ādheya-Bhāva. Tādātmyasambandhātmaka ādhāra-Ādheya-Bhāva is possible.

के.ई.देवनाथन् : Tādātmy is accepted as Bhedābheda then Ādhāra-Ādheya-Bhāva is very possible. If it is Naiyayika's Tādātmya then it is not possible.

प्रद्योतकुमार : एक प्रश्न अभी भी अचर्चित रहता है गन्धवत्त्वेन द्रव्यस्य यदा ग्रहणं भवति घ्राणेन्द्रियेन ...

गो. श्या. म. : मैने वहीं कहा कि गन्धका घनीभाव ही द्रव्य है.

बलिराम शुक्ल : गन्धतादात्म्यं तैः स्वीक्रियते.

प्रद्योतकुमार : तादात्म्य-तादात्म्य सम्बन्ध होगा ?

बलिराम शुक्ल : स्वरूपवदेव. 'तादात्म्यम्' इति नाम तस्य.

गो. श्या. म. : मुखोपाध्यायजी! एक बात सुनिये. जैसे खण्डनखण्डखाद्यमें कहा है कि "एकं ब्रह्मास्त्रम् आदाय नान्यं गणयतः क्वचिद् आस्ते न धीरवीरस्य भंगः संगरकेलिषु" आप हमको कुछ भी पूछेंगे हम 'तादात्म्य' कह देंगे. "एकं तादात्म्यम् आदाय नान्यं गणयतः क्वचित्".

एस्.वी.बोकिल् : Prf. Mukhopadhyay's presentation has raised few philosophical difficulties in my mind. The first one is that you started with the point that according to Indian theory of knowledge Jñāna is something which is indefined. Now my difficulty is this, if it is indefinable, can we decide with respect to any Pramāṇa, whether it is Pramāṇa or not. Unless we have some definition of knowledge, some criterial analysis of knowledge, we can not decide ... Pramāṇa may be Pratyakṣa, Anumāna and so on. Because of we speak of Pramaṇa only with the conception of the Pramā. This is one. Then those who take Pratyakṣa as very basic and Pramāṇa and you were implied to say that Pratyakṣa is the most basic

then in that case how can we conceive it as Pramāṇa unless you have also the notion of what kind of knowledge it measures? That is one thing. Secondly, assume for the moment that Pratyakṣa is considered to be a very important Pramāṇa, now in old days, probably I think people did not pay attention to the dicipliens like Mathametics, science etc. Now I have great difficulty in just finding out how Pratyakṣa can be said pramaṇa in respect of Methamatical Knowledge. And even with respect to the knowledge that we acquire in the field of natural science. Pratyakṣa is necessary there but can not be a sufficient condition of science. Then I think you also took the view namely that your knowledge is something like Sātvika. Now because we consider human nature to be as constituted of three Guṇas. Now can mathematical knowledge be considered as Sātvika? In the west there were philosophers who inclined to believe that God's knowledge is Mathematical. And perhaps some of the Indian philosophers also could also accept taking in to account the nature of God, God can not contain any element of Rajas and Tamas. It must be fully Sātvika. In that case what would be the nature of divine knowledge? According to our conception, I mean the kind of Sātvika knowledge that we consider to be possible, it can be considered mathematical knowledge. Because mathematical

knowledge is ... by universality, objectivity, necessity perhaps that which can not be falsified. And last but not least that is even if Pratyakṣa where to be take note of the language we sued to express. Because even if knowledge is Pratyakṣa it takes the form of proposition. It does required language. Now how do we equate this knowledge of language. That means we have already acquired the knowledge and then we use Pratyakṣa. Or we must somehow see that as we were practicing Pratyakṣa all the time language is somehow growing up along with the Pratyakṣa.

······+······

संगोष्ठ्युत्तरलेखन

गो.श्या.म.

श्रीमान् डा. एस् वी बोकिल द्वारा उठाये गये मुद्दोंपर या तो समयाभाववश चर्चा हो नहीं पायी अथवा तब हुयी होगी परन्तु बिजली और टेपरिकार्डर् की कोई समस्याके कारण भलीभांति रिकॉर्ड् हो नहीं पायी, क्या हुवा वह अब याद नहीं आता.

श्रीप्रद्योतकुमार मुखोपाध्यायजी जैसे आधुनिक वैज्ञानिक दर्शन तथा भारतीय नैयायायिक दर्शन पर समान प्रभुत्व रखनेवाले वयोवृद्ध विद्वान्का इस प्रत्यक्षगोष्ठीमें संमिलित होनेके आमन्त्रणको स्वीकारना तथा सहभागी होना वस्तुतः हमारे लिये अतीव आनन्द और अभिमान का विषय है. प्रथम परिचयमें ही अतिथिभावके सौजन्यवश श्रीमुखोपाध्यायजीने मेरे समक्ष प्रश्न उपस्थापित किया

कि हमारी उनसे क्या अपेक्षा हैं—क्या उनसे प्रस्थानरत्नाकरके विधानोंके समर्थनकी हमें अपेक्षा है या जो भी उन्हें प्र.र.में आलोच्य लगे उसकी आलोचना हम सुन पायेंगे. मैंने तबभी उन्हें यही कहा कि जो कुछ उन्हें उचित लगे उसे विचारगोष्ठीमें वे बिना किसी संकोचके कहें यही हमें अधिक अच्छा लगेगा. और हम वस्तुतः उनका आभार मानते हैं कि आतिथेयको प्रसन्न रखनेको निरर्थक प्र.र.के विधानोंके पक्ष लेनेका संकोच श्रीमुखोपाध्यायजीने बरता नहीं. क्योंकि प्र.र.के विधानोंकी प्रशंसा ही सुननी होती तो हम भक्तजनोंकी भजनगोष्ठी आयोजित करते नकि विद्वद्गोष्ठी!

द्रव्यप्रत्यक्षमें उसके अंशविशेषके प्रत्यक्षवशात् पूर्ण अंशीके प्रत्यक्षका अनुव्यवसाय ज्ञानमीमांसाशास्त्रकी एक रुचिकर समस्या रही है. न्यायशास्त्र पृथ्वी-जल-तेज आदि द्रव्योंके साथ हमारी इन्द्रियोंके संयोग होनेके बाद उनमें समवेत गन्ध-रस-रूप आदि गुणोंका प्रत्यक्ष परम्परा सम्बन्धके द्वारा व्याख्यायित करना चाहता है "**इन्द्रियतत्संयोगतदाश्रयसमवायानामेव परम्परासम्बन्धत्वात्**" (तत्त्वचि.प्रत्य.खं.संनि.वा.). इन्द्रियार्थसंयोग द्रव्यके अवयवविशेषके साथ घटित होनेपर भी, अवयवावयविभाव या अंशांशिभाव इतरेतरसापेक्ष होनेके कारण ही, अवयवीके प्रत्यक्षका प्रमाण माना जाना चाहिये. यह युक्ति तो उचित ही है. इसका लाभ परन्तु केवल आरम्भवादी नैयायिक ही ले सकते हैं अन्य परिणामवादी नहीं यह धारणा गलेमें उतरती नहीं है. क्योंकि आरम्भवादके अनुसार तो समवायी कारणरूप अवयव और वहां समवेत कार्यरूप अवयवी द्रव्य के बीच भेद ही माना गया है. जबकि शुद्धाद्वैतवादमें तो तादात्म्यवाद, भेदाभेदरूप नहीं परन्तु भेदाभेदातीत चतुर्थकोटिरूप उभयसहिष्णुवाद, प्राणोपम अवधारणा होनेके कारण न केवल अवयवावयवीके बीच प्रत्युत उपादान-उपादेय अवयव-अवयवी गुण-गुणी क्रिया-क्रियावान्, कुल मिला कर प्रत्येक धर्मधर्मिके उदाहरणमें तादात्म्य स्वीकारता होनेके कारण ऐसी शंका अनवसरपराहत लगती है. आधुनिक मनोविज्ञानमें इस विषयमें रोचक प्रयोग यों वर्णित हुवा है कि एक रुपयेके गोल सिक्केको कनीनिकासे थोड़ा नीचे रख कर निहारनेपर वस्तुतः दृष्टिगोचर होती आकृति वर्तुल न

दीख कर लम्बगोल या मीनवस्ति (elliptic/vesicapiscis) आकारमें दिखलायी देने लगती है. इसे केमेराद्वारा चित्र खींच कर भी सिद्ध किया जा सकता है परन्तु बुद्धिमें उसका प्रत्यभिज्ञान पूर्ण वर्तुलके रूपमें ही होता है! इसे चाक्षुषप्रत्यक्षके साथ पूर्वदृष्ट वर्तुलताके विकल्पका अभ्रमात्मक मानस विकल्पसंयोजन मानना ही पड़ता है. और बुद्धिद्वारा इसका प्रत्यभिज्ञानात्मक चाक्षुष-अध्यवसाय भी होता ही है. अतः चाक्षुष बाह्यसंवेदन तथा बौद्ध वृत्त्यात्मक आन्तर अध्यवसाय के तारतम्यका यह प्रमाण बन जाता है. इसी तरह रेलकी दो पटरियां कुछ दूरीपर निर्भ्रान्त जुड़ी हुयी दीखनेपर भी बुद्धिमें जुड़ी होनेकी भ्रमणा पैदा नहीं कर पाती. इसी तरह चक्षुर्गोचर होते द्रव्यके अवयव या अंश के दृष्टिगोचर होनेपर भी बुद्धिमें अवयवी द्रव्यके प्रत्यक्षका अध्यवसाय बुद्धिवृत्तिकी ही करामात है इसे न स्वीकार कर नैयायिक संयुक्तसमवायरूप संनिकर्षकी नियामकता मानना चाहते हैं. परन्तु वह द्वितीय प्रत्यक्षमें बुद्धिवृत्तिद्वारा योजित न माननेपर भ्रान्तिकी कथा ही अनुपपन्न हो जायेगी. अतः अवयव और अवयवी के बीच आत्यन्तिक भेद स्वीकारनेवालोंको तो अगतिकतया बौद्धिक भ्रमणाके रूपमें ही स्वीकारना पड़ेगा! अवयव-अवयवी या धर्म-धर्मी के बीच, किन्तु, तादात्म्यकी स्वीकृतिके वश, दृष्टिसे गोचर न होनेवाले भी पदार्थका बुद्धिसे गोचर होता वास्तविक आकार इस जटिल प्रक्रियाको भ्रान्ति मान लेनेके संकटसे तादात्म्यवादीको बचा लेता है.

इसके अलावा आरम्भवादी नैयायिकोंको अभिमत प्रत्यक्षप्रक्रियामें धर्मिभूत द्रव्यके प्राधान्य या प्राथम्य के वश गुणप्रत्यक्षकी कल्पना की गयी है **''द्रव्यप्रत्यक्षम् इन्द्रियसंयोगजन्यं द्रव्यसमवेतप्रत्यक्षम् इन्द्रियसंयुक्तसमवायजन्यम्''** (न्या.मु.५९). साथ ही साथ बाह्येन्द्रियजन्य सामान्य प्रत्यक्षको अकिञ्चित्कारणक या आत्मवृत्तिशब्दभिन्नविशेषगुणवत्तासे प्रयुक्त मान लिया गया होनेपर भी चाक्षुषप्रत्यक्षमें पुनः रूपको ही कारण माना गया है(दृष्ट. : न्या.मु.५६). फिरभी कारणप्रत्यक्ष संयुक्तसमवायरूप सम्बन्धवश द्रव्यप्रत्यक्षद्वारक माना गया है. जबकि होना चाहिये था कारणप्रत्यक्षद्वारक द्रव्यप्रत्यक्ष! अतः परिणामवादी शुद्धाद्वैतवादमें गुणधर्मोंके प्राधान्य या प्राथम्य के वश गुणी या धर्मी के

प्रत्यक्षगोचर होनेकी ऋजुप्रक्रिया स्वीकारी गयी है.

प्रत्यक्षबोधके जननकी प्रक्रियामें प्राप्यकारिता या अप्राप्यकारिता के प्रश्नोंमें उलझे मतभेदको थोड़े समयके लिये भुला कर द्रव्यप्रत्यक्षको गुणद्वारक न माननेपर जिस इन्द्रियसे जो गुण गृहीत होता है उस गुणसे रहित द्रव्यके भी उस इन्द्रियसे प्रत्यक्षकी आपत्ति होगी! अब यदि किसी विशेष गुणवाले द्रव्यके प्रत्यक्षावभासनमें उसके ग्राहकविशेष इन्द्रियसे ग्राह्य गुणके समवायी होनेके कार्यकारणभावकी क्लिष्टकल्पना "अन्ते विधवाविवाहः चेद् आदावेव कुतो नहि!" न्यायेन गुणधर्मप्रत्यक्षमूलक गुणी या धर्मी के प्रत्यक्षावभासनका प्रमाण होनी चाहिये थी. वह न्यायमतमें मानी नहीं गयी है.

इसके अलावा ईश्वरको घ्राणज रासन चाक्षुष स्पार्शन श्रौत्र प्रत्यक्ष होता है कि नहीं? यदि नहीं तो असर्वज्ञतापत्ति. यदि होता है तो इन्द्रियवत्ताकी आपत्तिके वश अनित्यसंयोगजन्य अनित्यज्ञानापत्ति होगी. अतः प्रस्तुत विभाग न्यायमतमें ईश्वरप्रत्यक्षकी समुचित व्याख्या कर नहीं पाता. अतएव न्यायमुक्तावलीकार भी ईश्वरप्रत्यक्षको प्रस्तुत विभाजनमें अप्रसक्त मान कर जन्यप्रत्यक्षका ही विभाजन अपना कर्तव्य मान कर प्रवृत्त हुवे हैं.

श्रीमुखोपाध्यायजीने एक और मुद्दा यह उठाया कि न्यायमतमें युक्तियुक्ततया ज्ञान दो तरहका होता है स्मृति और अनुभव, वह अनुभव पुनः दो प्रकारका होता है यथार्थ और अयथार्थ, यथार्थ अनुभव भी पुनः दो प्रकारका होता है निर्विकल्पक और सविकल्पक.

मुझे, किन्तु, इस बारेमें ऐसा लगता है कि इस तरहके द्वैराश्यविभाजन *डाइकोटोमी* की प्रक्रियामें बुद्धिगम्यता तो अधिक होती है पर उससे अधिक कुछ भी नहीं. क्योंकि तब तो *द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय और अभाव*" के रूपमें पदार्थका सप्तधा विभाजन नव्यन्यायमें भी दोषावह मानना पड़ेगा; और, सभीको तर्कामृतकार श्रीजगदीशकी तरह भावाभावात्मक

दो ही पदार्थ प्रतिपादित करनेको बाधित होना पड़ेगा.

रही बात बाह्य जगत्के वस्तुतः ऐसी दो राशियोंमें विभक्त होनेके तथ्यकी तो वर्णोंका भी श्वेत-अश्वेतकी दो राशियोंमे विभाजन करनेके बजाय शुक्ल नील पीत रक्त हरित् कपिश कर्बुर आदि अनेकधा प्रतिपादन ही नव्यन्यायमें मिलता है. कारणविभाजनके अन्तर्गत भी समवायी असमवायी के बावजूद, 'इदं-तृतीयं'न्यायेन, निमित्तकारण स्वीकारा ही गया है. स्पर्शग्राह्य गुणोंमें भी शीत अशीत या उष्ण और अनुष्ण के बजाय शीत अनुष्ण अनुष्णाशीत स्वीकारे गये हैं. और तो और प्रत्यक्षके अलौकिक संनिकर्षमें सामान्यलक्षणा ज्ञानलक्षणा और योगज यों तीन माने गये हैं. तादात्म्यसम्बन्ध और स्वरूपसम्बन्ध दोनों ही सम्बन्धी द्रव्यकी अभेदात्मकता लिये होनेपर भी दोनों भिन्न प्रकारके सम्बन्ध माने गये हैं. स्वयं जीवात्माको होते प्रत्यक्षको इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्य माननेके बावजूद, इन्द्रियरहित परमेश्वरके ज्ञानको षड्विध लौकिक संनिकर्ष और त्रिविध अलौकिक संनिकर्षोंमे न मान कर वहां भी, 'इदं तृतीयं'न्यायेन, विषयका विषय होना और ईश्वरके नित्यज्ञानका विषयी होना मान गया है. पुनश्च उस ऐसे सम्बन्धका न तो स्वरूप और न तादात्म्य में ही अन्तर्भाव माना गया है. अतः यह जितना अतर्कित या अतार्किक हो सकता है उससे अधिक दोषावह मुझे बुद्धिकी पांच वृत्तियोंका अंगीकार लगता नहीं है.

डा. श्री एस् वी बोकिल द्वारा छेड़े गये मुद्दोंके बारेमें श्रीमुखोपाध्यायजीकी प्रतिक्रिया रिकॉर्ड नहीं हो पायी. फिरभी अथवा वाल्लभ वेदान्तकी दृष्टिकोणके अनुसार जो कहा जा सकता है वह यों है :

सारा गणितशास्त्र हम प्राणियोंकी बुद्धिमें प्रकटे वस्तुविषयक बुद्धिसापेक्ष "*यह एक और वह एक—यों ये दो*" ऐसे वास्तविक पर सापेक्ष प्रत्ययोंपर अवलम्बित होता है. अतः मौलिक एकत्व तथा लीलार्थ प्रकट अनेकत्व के बीच बुद्धि अपनी सात्त्विकादि अवस्थाओंके वश इन्हें आपेक्षिक विकल्पानुभूतिका

गोचर बनाती है. बादमें निज कल्पनाओंके अनुसार घड़े वस्तु-अतीत प्रत्ययोंकी धारणा घड़ कर तर्कणाके अकाट्य नियमोंके बन्धनमें वह फंस जाती है. बिलकुल उसी तरह जैसे शतरंजके मोहरोंकी चालके नियम स्वयं हमारे घड़े होते हैं और फिर उन नियमोंके अनुसार खेलने जानेपर स्वयं नियम घड़नेवाले हम जयपराजयके द्वन्द्वमें ग्रस्त हो जाते हैं. विट्टगंस्टाईन यही बात कहता था. वही बात यहां भी सोची जा सकती है, केवल कुछ थोड़े अन्तरके साथ. वह वस्तुको अज्ञेय-अवाच्य कह देना चाहता था. वाल्लभ वेदान्त, जबकि, इसे सृष्टिकर्ताद्वारा प्रादुर्भूत बाह्य विषय और प्राणियोंकी बुद्धि के बीच इस सीमा के भीतर ज्ञेय भी और वाच्य भी वास्तविक क्रिया-प्रतिक्रिया को भगवल्लीलाके रूपमें देखना चाहेगा.

बाह्य विषयका तथा उसके बाह्याभ्यन्तर ग्राहक सचेतन करणोंका यह इतरेतरसापेक्ष स्वभाव सृष्टिकी संरचनामें रही एक सम्भाव्यता है जो वास्तविकताके रूपमें उभरती लीला है. गणितशास्त्रीय नियमके अन्य किसी भी बाह्यविषय या देश-काल-कर्म-स्वभाव-द्रव्यके नियमोंके ज्ञानकी तरह, यथार्थ होनेपर, सात्त्विक माननेमें कोई आपत्ति हो नहीं सकती. भगवान्के ज्ञानको तो, त्रिगुणातीत होनेके अर्थमें, हम निर्गुण ही मानते हैं सात्त्विक नहीं. प्राणियोंके भीतर प्रकट तामस एवं राजस गुणोंके उद्रेककी तुलनामें सात्त्विक गुणका उद्रेक अपने यथायथ तरतमभाववश तरतम अनुभूति प्रकट करता है. इन्हें गुणातीत ज्ञानकी ओर अधिकाधिक बढ़ती अनुभूति मानी जा सकती है पर गुणातीत नहीं. अतएव भगवद्गीतामें किसी एक कार्यरूप पदार्थमें अपर अनेक कार्यरूप पदार्थोंकी अनुभूतिको तामस गुणका उद्रेक माना गया होनेपर भी सभी कार्यभूत पदार्थोंमें एक सच्चिदानन्द ब्रह्मकी परोक्ष या अपरोक्ष अनुभूतिको 'सात्त्विक ज्ञान' कहा गया है **''यत्तु कृत्स्नवद् एकस्मिन् कार्ये सक्तम् अहैतुकम् अतत्त्वार्थवद् अल्पं च तत् तामसम् उदाहृतं, सर्वभूतेषु येन एकं भावम् अव्ययम् ईक्षते अविभक्तं विभक्तेषु तज् ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्''** (भग.गीता.१८।२२, २०). जबकि परमात्माके स्वरूप या गुणधर्मों के बारेमें यह सुस्पष्टतया कहा गया है **''अनादित्वाद् निर्गुणत्वात् परमात्मा अयम्**

अव्ययः'' (भग.गीता.१३।३१). अस्तु.

इन विद्वान् विचारकोंके प्रति हार्दिक कृतज्ञताके साथ इस संगोष्ठ्युत्तरलेको यहां उपसंहृत करना उचित होगा.

प्रत्यक्षप्रमाणम्

न्यायशुद्धाद्वैतवेदान्तमतयोः तौलनिकं विवेचनम्

डॉ. बलिराम शुक्ल, पुणे

''प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'' इति सूत्रेण भगवता गौत्तमेन चत्वारि प्रमाणानि स्वीकृतानि सन्ति. तत्र ''इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम् अव्यपयदेश्यम् अव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'' इति सूत्रेण प्रत्यक्षलक्षणं प्रत्यपादि. इन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षाद् यद् अव्यपदेश्यम् अव्यभिचारि व्यवसायात्मकं ज्ञानं जायते तस्यैव 'प्रत्यक्षप्रमा' इति आख्या भवति. तत्र 'अव्यपदेश्य'पदेन अशाब्दज्ञानम् इति वात्स्यायनः; अर्थात् निर्विकल्पकज्ञानम् इति.

अत्र प्रश्नो अयं जागर्ति, 'अव्यपदेश्य'पदेन कथं निर्विकल्पकलाभः? अत्र आह दिनकरीकारो, '' 'व्यपदेशः'=पदवाच्यत्वं तदविषयकम् इति. अर्थाद् विशिष्टज्ञाने तत्पदवाच्यत्वम् उपनीतं भासते इति प्राचीनमतानुसारित्वात्-''. अतएव 'कणादं'='कणाद'नामानम् इत्यादिकं तत्र-तत्र उक्तं संगच्छते.

अस्य इदं तात्पर्यं यद् विशिष्टज्ञानस्य न ''अयं घटः'' इति आकारो अपितु ''अयं 'घट'पदवाच्यः'' इति. पदवाच्यत्वम् अत्र ज्ञानलक्षणया भासते इति.

अत्र केचन वदन्ति : 'व्यपदेशः' शब्दप्रयोगः. सच शब्दप्रयोगो विशिष्टज्ञानानन्तरमेव भवति. केवल विशेषणज्ञानाद् विशेष्यज्ञानाद् वा ''अयं घटः'' इति शब्दप्रयोगो न भवति. अतो निर्विकल्पकज्ञानानन्तरं शब्दप्रयोगाभावात् शब्दप्रयोगानर्हत्वरूपस्य निर्विकल्पकत्वस्य लाभो भवति. 'अव्यभिचारि'इति पदं सूत्रे भ्रमे अतिव्याप्तिवारणाय इति.

मनोरूपेन्द्रियजन्यत्वम् अनुमित्यादिष्वपि सत्त्वाद् अतिव्याप्तिः, ज्ञानमात्रं प्रति मनसः कारणत्वात्. अतः ''इन्द्रियत्वावच्छिन्न-कारणता-निरूपित-कार्यताशालि-ज्ञानत्वम्'' इति प्रत्यक्षलक्षणं पर्यवसितं भवति. ज्ञानमात्रं प्रति मनसः कारणत्वं मनस्त्वेन अस्ति, नतु इन्द्रियत्वेन. एवञ्च इन्द्रियत्वावच्छिन्न-कारणता-निरूपित-कार्यताशीलत्वस्य अनुमितौ अभावात् न अतिव्याप्तिः.

सूत्रकारोक्तम् इदं लक्षणं जन्यप्रत्यक्षस्यैव. 'ज्ञानाकरणकज्ञानम्' इति ईश्वरप्रत्यक्षसाधारणं प्रत्यक्षलक्षणम्.

न्यायमते प्रत्यक्षोत्पत्तिप्रकारः इत्थं वर्णितः : आत्मा मनसा संयुज्यते, मनः इन्द्रियेण, इन्द्रियम् अर्थेन, ततः प्रत्यक्षात्मकज्ञानं जायेत. अत्र इयं व्युत्पत्तिः ''अक्षं-अक्षं प्रतीत्य उत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्''. अतएव ज्ञानाकरणकत्वाव्यभिचारि-जातिशून्यज्ञानत्वम् इति जीवेश्वरोभयसाधारणं प्रत्यलक्षणं पर्यवस्यते. ईश्वरप्रत्यक्षस्य नित्यत्वेन न किञ्चिदपि कारणम्. जीवप्रत्यक्षस्यतु इन्द्रियमेव करणम्. अतः उभयोरपि जीवेश्वरप्रत्यक्षयोः ज्ञानाकरणकत्वम् अस्त्येव.

''साक्षात्कारत्वव्यञ्जक-विषयताविशेषवज्ज्ञानम्'' इति गदाधरः (गं.स.म.). ज्ञाने साक्षात्कारत्वं तावत् 'साक्षात्करोमि' इति प्रतीतिसाक्षिको जातिविशेषः. इदमपि ईश्वरप्रत्यक्षसाधारणं लक्षणम्. अतएव नव्यनैयायिकैः ईश्वरप्रत्यक्षसाधारणलक्षणं स्वीकृत्य प्रत्यक्षस्थाने 'अपरोक्ष'शब्दप्रयोगः कृतः. अतएव ईश्वरविषयकानुमाने गंगेशेन ''क्षित्यादिकं स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यं, कार्यत्वात्'' इति अनुमानप्रयोगो दर्शितः.

प्रभाकरमते ''साक्षात्कारिज्ञानं प्रत्यक्षम्'' इति प्रत्यक्षलक्षणं प्रतिपादितम् अस्ति. तथापि तेषां मते साक्षात्त्वं न जातिः, नियतव्यञ्जकाभावात्.

अद्वैतवादिनां मते ''अन्तःकरणावृत्यवच्छिन्नचैतन्येन विषयस्फुरणं

प्रत्यक्षम्''. यथाच उक्तं पञ्चदश्याम् ''**बुद्धि-तत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटं तत्र अज्ञानं धिया नश्येद् आभासेन घटः स्फुरेत्**''.

न्यायमते लौकिकप्रत्यक्षं द्विविधं परिकीर्तितं : १. सविकल्पकं २. निर्विकल्पकञ्च. यथाच उक्तम् ''**अपरोक्षप्रमाव्याप्तं प्रत्यक्षं द्विविधं मतं सविकल्पकम् इति एकम् अपरं निर्विकल्पकम्**''.

तत्र १. नामजात्यादियोजनारहितम्. २. वैशिष्ट्यचानवगाहिज्ञानम् ३. निष्प्रकारकं प्रत्यक्षम् ४. विशेषणविशेष्यसम्बन्धानवगाहिज्ञानम् इत्यादीनि बहूनि लक्षणानि न्यायग्रन्थेषु प्रतिपादितानि सन्ति.

तच्च ज्ञानं, वस्तुस्वरूपमात्रावगाहि 'यत्किञ्चिद्' इत्याकारकं भवति इति केचन वदन्ति. घटस्य निर्विकल्पकज्ञानं घटघटत्वे इत्याकारकं भवति. तच्चज्ञानम् अतीन्द्रियं भवति इति भाषापरिच्छेदकारेण उक्तं ''**ज्ञानं यन् 'निर्विकल्पा'ख्यं तद् अतीन्द्रियम् उच्यते**'' इत्यादिना.

मायावादिनां मते ज्ञातृज्ञेयादिविभागशून्यं ब्रह्मैकात्मविषयम् अखण्डाकारकं विशेष्य-विशेषण-सम्बन्धरहितं ज्ञानं निर्विकल्पकज्ञानम् (व्या.को.पृ.४३७).

निर्विकल्पकज्ञानस्य अतीन्द्रियत्वात् प्रत्यक्षेण तस्य सिद्धिः न भवति इति नैयायिकाः वदन्ति. अतो निर्विकल्पकसत्त्वे किं प्रमाणम्? निर्विकल्पकसत्त्वे अनुमानं प्रमाणम् इति नैचायिका:. तद् यथा ''विशिष्टज्ञानं जन्यविशेषणज्ञानपूर्वकं, जन्यविशिष्टज्ञानत्वात्, 'दण्डीपुरुषः' इति विशिष्टज्ञानवत्''.

यदि निर्विकल्पकज्ञानं न स्वीक्रियेत तदा सुप्तोत्थितस्य ''अयं घट:'' इति ज्ञानं न स्यात्, कारणीभूतस्य विशेषणज्ञानस्य अभावात्. विशिष्टज्ञानं प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात् पूर्वविशेषणज्ञानाभावे कथं

विशिष्टज्ञानम्? अतो विशिष्टज्ञानात् पूर्वं विशिष्टज्ञानजनकं विशेषणस्य निर्विकल्पकज्ञानं स्वीकरणीयम्. चक्षुःसंयोगानन्तरं घटस्य घटघटत्वयोः वैशिष्ट्यानवगाह्येव 'घटघटत्वे' इति ज्ञानं जायते, तदेव निर्विकल्पकम्. तस्य सविकल्पकत्वे तत्रापि सविकल्पकान्तरं विशेषणज्ञानं कारणं स्वीकर्तव्यम्. तथाच अनवस्थाप्रसंगः. अतः पूर्वविशेषणज्ञानं वैशिष्ट्यानवगाह्येव स्वीकार्यम्. तदेव च निर्विकल्पकम्.

अत्र पुनः प्रश्नो अयं जागर्ति, विशिष्टज्ञानं प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वस्वीकारे का युक्तिः? चक्षुःसंयोगानन्तरं द्वितीयक्षणएव ''अयं घटः'' इति प्रत्यक्षस्वीकारे क्षत्यभावात्. नहि तृतीयक्षणएव तादृशं प्रत्यक्षं भवति इति वक्तुं शक्यम्, क्षणविलम्बस्य शपथनिर्णेयत्वात्. ''रक्तो दण्डः'' इति निर्णयं विना ''रक्तदण्डवान्'' इति विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि प्रत्यक्षे विशेषणतावच्छेदकप्रकारकनिश्चयस्य कारणत्वम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिध्यति परन्तु निर्विकल्पकज्ञानस्य अतीन्द्रियत्वात् निर्विकल्पक-सविकल्पकयोः कार्यकारणभावः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां न सिध्यति. अतो विशेषणज्ञानं विशिष्टबुद्धिं प्रति कारणम् इति कार्यकारणभावः कथं सिध्येत्.

अत्र आह दिनकरीकारः : ''कदाचिद् 'घटः' इत्याकारकं; कदाचित् च 'जातिमान्' इत्याकारकं जातित्वेन घटप्रकारकं ज्ञानं जायते इति अनुभवसाक्षिकम्. तन्निर्वाहाय घटत्वांशे अन्याप्रकारक-घटत्वप्रकारकबुद्धौ तादृशघटत्वज्ञानत्वेन जातित्वप्रकारक-घटविशिष्टबुद्धौ च तादृशं घटत्वज्ञानत्वेन हेतुत्वम् आवश्यकत्वाद् इति भावः.

अस्य अयं भाव : ''अयं घटः'' इति ज्ञानं द्विविधाकारकं भवति. कदाचित् स्वरूपतो घटत्वप्रकारकं, कदाचित् जातित्वेन घटत्वावगाहिजातिमान् इति आकारकम्. जातित्वेन घटत्वप्रकारकमिति प्रामाणिकानाम् अनुभवः. अतः तादृशानुभवनिर्वाहाय स्वरूपतो घटत्वप्रकारकबुद्धिं प्रति स्वरूपतो घटत्वज्ञानं कारणम् इति स्वीकरणीयम्. एवं घटत्वांशे जातित्वप्रकारकजातिमान् इति

अनुभवं प्रति जातित्वप्रकारकघटत्वज्ञानं कारणं स्वीकर्तव्यम्. अन्यथा स्वरूपतो घटत्वज्ञानात् जातिमान् इति प्रत्ययः स्यात्.

नच 'घट:' इति प्रत्यक्षकाले जातिमान् इति प्रत्यक्षापत्तिः इति वाच्यं, विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानरूपकारणविरहाद् इति चेत्, न, जातिमान् इति घटत्वप्रकारकबोधोत्पतिदशायां 'घट:' इत्याकारकप्रत्यक्षापत्तेः.

ननु जातिमान् इत्याकारकस्य ज्ञानस्य विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्वात् तत्र जातित्वरूपविशेषणतावच्छेदकप्रकारकनिश्चयस्यैव कारणत्वम् अस्तु, किमर्थं विशेषणज्ञानत्वेन हेतुत्वम् ? इति चेत् , न, विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरम् इति रीत्या जायमानस्य जातिमान् इत्याकारकस्य ज्ञानस्य विशिष्टवैशिष्ट्यानवगाहित्वात्.

नच प्रकारांशे जातौ जातित्वस्य प्रकारत्वात् तदपि ज्ञानं विशिष्टवैशिष्ट्यावगाह्येव, विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरम् इति रीत्या जायमानस्यापि ज्ञानस्य विशेषणावच्छिन्नप्रतियोगिक-तत्संसर्गावगाहित्वात् विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्वम् अक्षुण्णमेव इति वाच्यम्.

विशेषणावच्छिन्नप्रकारताशालित्वमेव विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्वम्. विशेष्ये विशेषणम् इति रीत्या जायमाने ज्ञानेतु प्रकारप्रकारेण अवच्छेदकताख्या विलक्षणविषयता. अतः तस्य न विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्वापत्तिः इति केचित्.

किञ्च, विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरम् इति रीत्या जायमानं जातिमान् इत्याकारकज्ञानं प्रति न जातित्वप्रकारकघटत्वज्ञानरूप-विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानं कारणं, यतोहि विशकलित-जातित्व-घटत्व-ज्ञानादपि तादृशं ज्ञानं जायते. अतो विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिबुद्धिं प्रति एवं विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्य कारणत्वं स्वीकर्तव्यम्.

केचित्तु विशिष्टबुद्धिं प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वस्वीकारे

ज्ञानलक्षणायाः हेतुत्वान्तरं न कल्प्यते, विशेषणज्ञानकारणतयाएव तन्निर्वाहात्.

अन्येतु विशेषणज्ञानस्य अहेतुत्वे ज्ञानलक्षणायाः लौकिकान्यघटादिविषयताशालिप्रत्यक्षत्वमेव कार्यतावच्छेदकं वाच्यम्. विशेषणज्ञानस्य हेतुतास्वीकारेतु लौकिकान्यत्वम् अनिवेश्य घटादिविषयताशालिमानसत्वस्यैव जन्यतावच्छेदकत्वं स्वीक्रियते इति लाघवम्.

अपरेतु विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानस्य अहेतुत्वे अप्रसिद्धसाध्यकपरामर्शात् पृथिव्याम् इतरभेदः इत्याकारकसाध्यविशेष्यकानुमित्युत्पादकाले इतरभेदप्रकारकानुमित्यापत्तिः. पृथिव्याम् इतरभेदः पृथिवीतरभेदवती इत्याकारकं द्विविधविषयताशाल्यनुमितेः अनुभवविरुद्धतः इष्टापत्तेः अयुक्त्वादिति विशेषणज्ञानस्य विशिष्टबुद्धिं प्रति हेतुत्वम् आवश्यकम् इति. उक्तञ्च **''अस्ति हि आलोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकं बालमूकादिविज्ञानं सदृशं शुद्धवस्तुजम्''** (श्लोकवा.११२) इति.

अत्र केचित् : यत्तु पठ्यते ''अस्ति हि आलोचनम्'' इत्यादि, तदपि न समीचीनं, निदर्शनं च विशिष्टविषयकमेव बालमूकपश्वादीनां जातिगुणादिविशिष्टवस्तुग्रहणाभावे तन्नियतप्रवृत्यादिभंगप्रसंगाद् इति.

तत् न युक्तं, वस्तुस्वरूपमात्रस्य निर्विकल्पकेन ग्रहणं पूर्वं भवति इति अस्वीकारे तद्वाचकशब्दस्य स्मृत्यभावात् सविकल्पकस्यापि सिद्ध्यभावप्रसंगः. अतः सविकल्पकसिद्ध्यर्थमेव एतत्स्वीकरणीयम्.

किञ्च सजातीयव्यक्त्यन्तरानुवृत्तेः विजातीयेभ्यो व्यावृत्तेः च ग्रहणानन्तरमेव सामान्यविषयकं ज्ञानं जायते. तदनन्तरमेव विशिष्टविषयकं ज्ञानं भवति इति स्वीकरणीयम्. एवञ्च पूर्वपिण्डान्तरानुसन्धानाभावेन अनुवृत्तिव्यावृत्योः च ग्रहणासम्भवात् सामान्यविशिष्टविषयकं ज्ञानं नैव भवितुम् अर्हति, वस्तुस्वरूपग्रहणन्तु भवत्येव, तस्य पिण्डान्तरानुसन्धानानपेक्षिततत्वात्.

किञ्च सर्वं ज्ञानं विशिष्टविषयकमेव इति मते घटज्ञाने घटत्वस्य

प्रत्यक्षं स्वीक्रियते न वा? स्वीक्रियते चेत् तत्रापि घटत्वत्वस्य प्रत्यक्षं स्वीक्रियते न वा? अत्र तत्प्रतीतिस्वीकारे अनवस्था अस्वीकारे घटत्वस्य निर्विकल्पकाभ्युपगमः इति.

अत्र वाल्लभीयानां मते ज्ञानं सात्विकादिभेदेन त्रिविधं भवति. तत्र सात्त्विकज्ञानं प्रमारूपमेव, राजसज्ञानं सविकल्पकमेव इत्यादिना प्रस्थानरत्नाकरकारेण सविकल्पक-निर्विकल्पकभेदेन तस्य द्वैविध्यं प्रतिपादितम्. तामसज्ञानन्तु तेषां मते प्रमाणमेव नास्ति. सविकल्पकज्ञानात् पूर्वम् इन्द्रियजन्यज्ञानं यत् सात्त्विकम् उत्पद्यते तत् निर्विकल्पकम्. तज्ज्ञानं सन्मात्रावगाहि एकविधमेव. सात्त्विकजागृतवृत्तिजन्यं सत्त्वानुग्रहे सति इन्द्रियैः प्रथमं तद् ज्ञानं जन्यते इति उक्तं प्रस्थानरत्नाकरकारेण.

नैयायिकमताद् अत्र अस्ति कश्चन विशेषः. प्रस्थानरत्नाकरकारेण ''निर्विकल्पकज्ञानं न सविकल्पकज्ञानस्य कारणम्'' इति तस्य कारणत्वे प्रमाणाभावाद् इति यद् उक्तं तत् न समीचीनम्. यतोहि सविकल्पकज्ञानं प्रति तस्य कारणत्वास्वीकारे कथं तत् सिद्धिः? विशिष्टबुद्धिं प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वादेव विशेषणज्ञानत्वेन तत्सिद्धेः निर्विकल्पकज्ञानस्य कारणत्वे प्रमाणम् नुमानमेव. तद्यथा ''विशिष्टज्ञानं जन्यविशेषणज्ञानपूर्वकं जन्यविशिष्टज्ञानत्वाद् 'दण्डी पुरुषः' इति विशिष्टज्ञानवद्'' इति अनुमानेन निर्विकल्पकरूपस्य विशेषणज्ञानस्य विशिष्टसविकल्पकज्ञानं प्रति कारणत्वसिद्धौ प्रस्थानरत्नाकरकाराणाम् इदं कथनम् ''एतस्य सविकल्पकात् पूर्वभावेऽपि न कारणत्वं, प्रमाणाभावाद्'' इति न शोभते.

''इन्द्रियात्मकं प्रमाण प्रत्यक्षम्'' इत्यादिना प्रस्थानरत्नाकरकारेण इन्द्रियस्यैव प्रत्यक्षप्रमाकरणत्वम् उररीकृतम्. परन्तु नैयायिकानां मते प्रत्यक्षप्रमायाः करणं त्रिविधं; क्वचित् इन्द्रियं, क्वचिद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, क्वचित् ज्ञानं च. तत्र निर्विकल्पकप्रत्यक्षएव इन्द्रियस्य करणत्वं भवितुम् अर्हति. तथाहि यदा इन्द्रियार्थसन्निकर्षेण प्रथमतो निर्विकल्पकज्ञानम् उत्पद्यते तस्य ज्ञानस्य

इन्द्रियमेव करणं भवति, तल्लक्षणं तत्र संघटते परन्तु यत्र निर्विकल्पकज्ञानाव्यवहितोत्तरक्षणे यद् सविकल्पकज्ञानं जायते तत्र इन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम्. तत्र इन्द्रियार्थसन्निकर्षएव प्रत्यक्षप्रमाणः. तत्र निर्विकल्पकज्ञानं व्यापारः. सविकल्पकज्ञानं फलम्. यत्र सविकल्पकज्ञानानन्तरं हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः भवन्ति तत्र सविकल्पकज्ञानं व्यापारो निर्विकल्पकज्ञानं करणम्. हानादिबुद्धयः फलम्.

''इन्द्रियाणि चक्षुस्त्वक्-घ्राण-रसन-श्रवण-मनोभेदेन षड्'' इति यद् उक्तं तत्र नास्ति अस्माकं विप्रतिपत्तिः. मनसः इन्द्रियत्वसाधने यत् प्रतिपादितं तदपि ग्राह्यमेव.

चक्षुरादिइन्द्रियाणां स्वरूपन्तु अणुतमम् अतीन्द्रियम् अनित्यं चिरस्थायि विकारि च इति यद् उक्तम्, तत्र 'अणुतमम्' इत्यस्य परमाणुरूपम् इति अर्थे अनित्येन सह विरोधः स्यात्. अतो 'अणुतमम्' इत्यस्य सूक्ष्मतममेव अर्थः प्रतिभाति.

तत्र द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूतरूपत्वेन योग्यता इति रीत्या प्रस्थानरत्नाकरकारेण द्रव्यस्य चाक्षुषप्रत्यक्षं प्रति उद्भूतरूपं कारणम् इति उक्तम्. प्राचीनानां नैयायिकानां मतेऽपि बहिरिन्द्रियजन्य-द्रव्यप्रत्यक्षमात्रे रूपं कारणम् इति उक्तम्.

तत्र द्रव्यचाक्षुषप्रत्यक्षेतु अनेकद्रव्यवत्वं महत्त्वं वा उद्भूतरूपम् आलोकसंयोगः च कारणम् इति स्वीकृतम्. अत्र परमाणु-द्व्णुकयोः चाक्षुषप्रत्यक्षवारणाय महत्त्वमपि कारणं महत्त्वं षड्विधहेतुः इत्यादिना षड्विधप्रत्यक्षं प्रति महत्त्वस्य कारणत्वं नैयायिकैः स्वीकृतम् अस्ति. तद्विषये अस्ति प्रस्थानरत्नाकरकारस्य विप्रतिपत्तिः. यथाच उक्तं ''**तत्र द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति उद्भूतरूपत्वेन योग्यता. अतः परमाणुपिशाचादीनाम् उद्भूतरूपाभावेनैव चक्षुषा अग्रहो नतु महत्त्वसामानाधिकरण्यमपि तत्र**

निवेशनीयम् , अप्रयोजकत्वात् परमाणुषु उद्भूतरूपसत्वे युक्त्यभावाद् इति''.

तत् न अस्मभ्यं रोचते. पिशाचादीनाम् उद्भूतरूपाभावान् न चाक्षुषप्रत्यक्षम् इति अत्र नास्ति अस्माकं विप्रतिपत्तिः. परन्तु परमाणोः अप्रत्यक्षत्वे महत्त्वाभावएव प्रयोजकत्वेन निर्धारणीयो, लाघवात्. बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षं प्रति उद्भूतरूपस्य कारणत्वात् त्रुटेः स्पार्शनप्रत्यक्षापत्तिः वारणाय प्रकृष्टमहत्त्वस्य कारणत्वम् अवश्यमेव स्वीकरणीयम्. त्रसरैणौ उद्भूतरूपसत्वेऽपि तस्य स्पार्शनप्रत्यक्षं न भवति. अतः उद्भूतरूपसत्वेऽपि आवश्यकप्रकृष्टमहत्त्वाभावादेव न त्रुटेः स्पार्शनप्रत्यक्षम्. अनया रीत्या महत्त्वस्य कारणत्वं सिद्धमेव. एवञ्च, महत्त्वाभावादेव न परमाणोः प्रत्यक्षम् इति स्वीकरणीयम्.

यदि चाक्षुषप्रत्यक्षे उद्भूतरूपं कारणम्. स्पार्शनप्रत्यक्षे उद्भूतस्पर्शः कारणम् इत्यादि अनेककार्यकारणभावकल्पनापेक्षया बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे उद्भूतरूपं कारणम् इति षड्विधप्रत्यक्षे महत्त्वं कारणम् इति स्वीकारे लाघवम्.

परमाणुषु उद्भूतरूपसत्त्वे युक्त्यभावद् इति यद् उक्तं तदपि न रुचिकरम्. सत्यं, परमाणुषु उद्भूतरूपस्य न प्रत्यक्षेण सिद्धिः. परन्तु अनुमानेन उद्भूतरूपसिद्धौ न किमपि बाधकम्. अवयविरूपं प्रति अवयवरूपस्य असमवायिकारणत्वात् द्व्यणुकरूपं प्रति परमाणुरूपम् असमवायिकारणम्. तथैव त्रसरेणुरूपं प्रति द्व्यणुकरूपम् असमवायिकारणं भवति. द्व्यणुकस्य अप्रत्यक्षत्वाद् अनुद्भूतरूपवत्त्वम्. अनुद्भूतरूपजन्यं त्रसरेणुरूपमपि अनुद्भूतं भवति. अनुद्भूतत्वे च तस्य अप्रत्यक्षं स्यात्. प्रतिबन्धकाभावे रूपस्य स्वसजातीयरूपजनकत्वनियमात्.

अतो अत्र इयम् अनुमानं भवितुम् अर्हति ''द्व्यणुकरूपम् उद्भूतं, त्रसरेणुगतोद्भूतरूपान्यसमवायिकारणकत्वाभावे सति त्रसरेणुगतरूपासमवायिकारणत्वात्, कपालरूपवद्'' इति अनुमानेन द्व्यणुकरूपस्य उद्भूतत्वं सिद्ध्यति.

एवमेव द्व्यणुकावयवरूपमपि उद्भूतम्, उद्भूतरूपासमवायिकारणरूपजनकत्वात्, कपालिकारूपवद्'' इति अनुमानाभ्यां परमाणुष्वपि उद्भूतरूपं सिद्ध्यति. अतः उद्भूतरूपसत्त्वेऽपि अप्रत्यक्षत्वावारणाय महत्त्वं षड्विधे प्रत्यक्षे कारणं स्वीकर्तव्यमेव.

नैयायिकैकदेशिनां मते रूपादीनाम् इन्द्रियग्रहणायोग्यत्वरूपम् अनुद्भूतत्वं नास्ति. अतः परमाणौ उद्भूतरूपाभावात् न प्रत्यक्षम् इति न वक्तुं शक्यम्. यथाच उक्तं रघुनाथशिरोमणिना ''**रूपादीनाञ्च न इन्द्रियग्रहणायोग्यत्वं, वाय्वादौ रूपं न अस्ति इति सर्वलोकप्रत्ययात्. अन्यथा अतीन्द्रियप्रतियोगिकत्वेन पिशाचात्यन्ताभावस्यैव तत्सामान्याभावस्यापि अप्रत्यक्षत्वापत्तिः**'' (रघु. पदार्थतत्त्वनिरूपणम्).

एवमेव घ्राणयोग्याः—उद्भूतगन्धः तद्वान् तज्जातिः तत्समवायः च. एवं रसनायोग्याः—उद्भूतो रसः तज्जातिः तत्समवायः च. श्रोत्रयोग्याः—उद्भूतशब्दः तद्वान् तज्जातिः च इति यद् प्रस्थानरत्नाकरकारेण उक्तं तत् न समञ्जसम्. घ्राण-रसन-श्रवणानां द्रव्यग्राहकत्वमेव नास्ति. नोचेत् सुरभिगन्धानन्तरं कस्यापि अयं गन्धः चम्पकस्य केतकीपुष्पस्य वा इति सन्देहएव न स्यात्. सन्देहस्य अनुभवसिद्धस्य अपलपितुम् अशक्यत्वात्. अतो द्रव्यग्रहणे घ्राणादीनां सामर्थ्यमेव न इति न्यायमतमेव समीचीनं प्रतिभाति.

श्रवणेन भेर्यादिः अनुभवस्य व्याप्तिज्ञानविधुराणामपि दर्शनाद् इति यद् गोस्वामिपादैः प्रतिपादितं तदपि न रोचते. शब्दश्रवणानन्तरं सामान्यजनस्य अयं सन्देहो जागर्ति यद् ''अयं तबलावाद्यस्य वा मृदंगस्य वा शब्दः'' ''वीणायाः सितारस्य वा'' इति. यस्य विशिष्टवाद्यस्य विशिष्टध्वन्यात्मकशब्देन अव्यभिचारसहकृतव्याप्तिज्ञानम् अस्ति तस्यैव तस्य वाद्यस्य बोधो भवति न अन्यस्य. व्याप्तिलक्षणं यत्समानाधिकरणेत्यादिना अस्माभिः प्रतिपाद्यते तस्य लक्षणस्य ज्ञानं माभूत्, परन्तु व्याप्तिज्ञानं भवत्येव. भूयोदर्शनादिना

व्याप्तिज्ञानं प्राणिमात्रस्यैव भवति. अतएव उक्तं ''गावः पश्यति गन्धेन'' इति अत्रः तृतीयार्थो ज्ञापकत्वमेव. अतो गन्धहेतुज्ञानद्वारा तदाश्रयस्य अनुमानमेव भवति इति मामकीनः पन्थाः.

अतएव उक्तं, ''तत्र इन्द्रियात्मकं प्रत्यक्षं द्वेधा १. द्रव्यग्राहकं २. द्रव्याग्राहकं च. आद्यं चक्षुस्त्वङ्-मनांसि; द्वितीयं घ्राणं, रसनं, श्रवणम् इति'' (न्या.सि.मञ्जरी).

एवमेव ''आकाशस्तु प्रमेयबलादेव चाक्षुषः'' इति यद् उक्तं तदपि न समीचीनं, शब्दसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्धस्य आकाशस्य उद्भूतरूपाभावात् न चाक्षुषप्रत्यक्षं द्रव्यग्रहणे श्रोत्रस्य असामर्थ्यात् न तस्य श्रावणप्रत्यक्षम्. अतो अनुमानेनैव तत्सिद्धिः इति प्रशस्तपादभाष्यादिग्रन्थेषु विस्तरेण अनुमानम् इदं प्रतिपादितम् अस्ति. विस्तरभयात् न अत्र उच्यते.

''आत्मा तद्धर्माः च न लौकिकप्रत्यक्षविषयाः'' इति यत् गोस्मामिचरणैः प्रतिपादितम् तत्र नैयायिकानामपि अस्ति सम्मतिः. परन्तु वैशेषिकाणां मते आत्मा तावद् अनुमानस्यैव विषयः इति. परन्तु शुद्धाद्वैतिनां मतेतु शास्त्रीयसाधनसहकारेण जीवात्मनः सद्भावे प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्. ''अहं सुखी'' इत्यादिमानसप्रतीतिविषयो जीवात्मा इत्यपि केषाञ्चिद् मतम् अस्ति.

शुद्धाद्वैतिनां सिद्धान्तेतु ''यन्न स्पृशन्ति न विदुः मनोबुद्धीन्द्रियासवः'' इति भागवतवाक्याद्; एवं अणुत्वात् परमाणुवद् इत्यादि अनुमानात् तस्य लौकिकप्रत्यक्षाविषयत्वं प्रतिपादितं तत् चिन्त्यम्.

प्रत्यक्षं लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधम् अंगीकृतं नैयायिकवत् शुद्धाद्वैतिभिः परन्तु तत्र अस्ति मतवैचित्र्यम्. नैयायिकानां मते सामान्यलक्षण-ज्ञानलक्षण-योगजभेदेन त्रिविधम् अलौकिकप्रत्यक्षम्. परन्तु प्रस्थानरत्नाकरमतेन सामान्यलक्षण-योगज-मायाभेदेन त्रिविधम्. तत्र सामान्यलक्षण-योगजयोः विषये नास्ति महती विप्रतिपतिः. परन्तु ज्ञानलक्षणप्रत्यक्षविषये

अस्ति विप्रतिपत्तिः. प्रस्थानरत्नाकरकारेण न स्वीकृतो ज्ञानलक्षणरूपः सन्निकर्षः.

स्वविषयविषयकप्रत्यक्षजनको ज्ञानविशेषो ज्ञानलक्षणः सन्निकर्षः. ''सुरभि चन्दनम्'' इति प्रत्यक्षे सौरभत्वस्य भानं ज्ञानलक्षणया भवति. अत्र ज्ञाने सौरभस्य भानं सुरभित्वस्य स्मरणेन भवति. अयञ्च सन्निकर्षः पूर्वानुभूतस्य सौरभस्य स्मरणरूपः. सच सुरभिचन्दनम् इति अलौकिकं प्रत्यक्षं जनयति. ज्ञानलक्षणसन्निकर्षेण तद्विषयीभूत-तत्तत्पदार्थानां प्रत्यक्षं मनसा जायते. ज्ञानलक्षणसन्निकर्षास्वीकारे कविकाव्यमूलभूततत्तत्पदार्थसंसर्गज्ञानं कथं भवितुम् अर्हति ?

किञ्च ज्ञानलक्षणसन्निकर्षास्वीकारे यत्र सौरभत्वस्य जात्युपस्थित्यनन्तरं सुरभिगन्धः इतिवत् सुरभिचन्दनम् इत्याकारकं सौरभत्वप्रकारकं चन्दनविशेष्यकं भ्रमात्मकं चाक्षुषप्रत्यक्षं जायते तत्र सौरभत्वजातेः भानं न स्यात्. सौरभत्वेन सह लौकिकसन्निकर्षाभावात्.

सामान्यलक्षणया सौरभत्वस्य भानं भवति इति न वक्तुं शक्यं, सामान्यलक्षणायाः तद्धर्मप्रकारक-तदाश्रय-प्रत्यक्षं प्रत्येव हेतुतया सौरभत्वप्रत्यासत्तेः कार्यतावच्छेदकतयाएव सौरभत्वजातेः भानात्. न तत्र ''सुरभिगन्धः'' इति प्रत्यक्षम्. ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति स्थलेतु तादृशं स्मरणं च यद्विषयकं तद्विषयकसाक्षात्कारजनकं भवति. ''सुरभि चन्दनम्'' इति प्रत्यक्षे सौरभस्य सौरभत्वस्य च भानं ज्ञानरूपसन्निकर्षेणैव भवति. अयमेव ज्ञानलक्षण-सामान्यलक्षणयोः भेदः. अयञ्च यद्विषयकं ज्ञानं जननीयं तस्यैव सन्निकर्षः. सामान्यलक्षणन्तु आश्रयविषयकप्रत्यक्षजननीये सन्निकर्षः सामान्यस्य ज्ञानरूपः. ज्ञानलक्षणसन्निकर्षेण पूर्वज्ञातवस्तुनो अलौकिकं प्रत्यक्षं जन्यते. ''सुरभि चन्दनम् इति अत्र चन्दनस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वेऽपि सौरभस्य तदग्राह्यत्वात् पूर्वज्ञातस्य सौरभस्य अलौकिकं ज्ञानं भवति. ''सुरभि चन्दम्'' इति अत्र सौरभांशे अलौकित्वं चन्दनांशे लौकिकत्वमेव तत्र पूर्वगृहीतसुरभित्वस्य ज्ञानं ''सुरभि चन्दनम्'' इति चाक्षुषप्रत्यक्षं जनयति.

यत्र खलु सौरभज्ञानेन चाक्षुषसामाग्र्या च ''सुरभि चन्दनम्'' इति

सौरभांशे अलौकिकं, चन्दनांशे लौकिकं चाक्षुषप्रत्यक्षं जायते तत्र सौरभभानार्थं सौरभस्मरणमेव सन्निकर्षत्वेन स्वीकार्यं, सौरभांशे चक्षुःसन्निकर्षाभावात्. तत्र ''सुरभिचन्दनम्'' इति स्मरणमेव भवति इति न वक्तुं शक्यं, ''सुरभिचन्दनं पश्यामि'' इति प्रतीतिविरोधात्.

अतएव नैयायिकाः अन्यथाख्यातिस्थलेऽपि सर्पत्वादिज्ञानं ज्ञानलक्षणया-एव भवति इति स्वीकुर्वन्ति, सर्पत्वादौ चक्षुःसन्निकर्षाभावात्.

किञ्च तृतीयातु अविद्यमानानां पदार्थानां बुद्धौ उपस्थापने अतएव नैयायिकानां ज्ञाने प्रत्यासत्तिभ्रमः इति रीत्या मायायाः अलौकिकप्रत्यासत्तित्वं प्रतिपादितम् अस्ति तदपि न समीचीनम्, तादृश्याः मायायाः प्रमाणाभावात्. मायायाः यत्स्वरूपं शुद्धाद्वैतिभिः स्वीकृतं तद् नैयायिकैः न स्वीकृतम्. मायाविषये भागवतीयं यत् प्रमाणम् उपस्थापितं प्रस्थानरत्नाकरकारेण **''ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायाम्''** इति अत्र 'माया'शब्दं मानसभ्रमद्योतकः. यस्तु ''शब्दज्ञानानुपाति-वस्तुशून्यो विकल्पः'' इति सूत्रेण योगशास्त्रे प्रतिपादितः. ''ऋते अर्थम्'' इत्यस्य तात्पर्यम् अस्ति अर्थस्य अभावे यद् अर्थस्य प्रतीतिः जायते तादृशमेव ज्ञानं मायाकरणकम् इति, यथा शशविषाणस्य ज्ञानम्. तत्र विषाणाभाववति शशे विषाणस्य ज्ञानत्वेन भ्रमएव तच्च ज्ञानं न प्रत्यक्षप्रमान्तर्गतम् इति. ''आत्मनो मायाम्'' इति आत्मनो भ्रमः इति तात्पर्यम्.

लौकिकसन्निकर्षाणां संख्याविषयेऽपि अस्ति द्वयोः विप्रतिपतिः. वाल्लभैः समवायस्थाने तादात्म्यसन्निकर्षः कल्पितः. तत्र समवाय-तादात्म्ययोः भेदः समवायसिद्धिप्रसंगे बहुत्र न्यायग्रन्थेषु चर्चितो वर्तते तत्र सुधिभिः अन्वेष्टव्यः सः विषयः.

अभावस्य पदार्थान्तरत्वमपि वाल्लभैः न स्वीकृतम्. तत्र प्रागभावादिसिद्धिविषये विभिन्नेषु न्यायग्रन्थेषु चर्चितम् अस्ति. आविर्भाव-तिरोभाव-विषयेऽपि पूर्वेषु चर्चासत्रेषु महती चर्चा जाता.

इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वविमर्शः कर्तव्यो अस्ति. आधुनिकविज्ञानस्यापि अत्र भिन्नमतम् अस्ति, तदपि पर्यालोचनीयम् अस्ति. परन्तु विस्तरभयात् त्यज्यते.

सर्वेषाम् इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वं हि न्यायमतसिद्धमेव. तत्र घ्राणरसनत्वगिन्द्रियाणाम् अर्थाः इन्द्रियपर्यन्तम् उपसर्पन्ति इति अनुभवबलात् सर्वैः स्वीक्रियतएव. चक्षुः-श्रोत्रेतु विषयदेशं गत्वा स्वस्वविषयान् गृह्णाति.

बहिरिन्द्रियद्रव्यप्रत्यक्षे महत्त्वोद्भूतयोः सहकारिनिमित्तत्वम् इति पूर्वप्रतिपादितमेव. आभ्यां सह आलोकसंयोगस्यापि चाक्षुषप्रत्यक्षं प्रति हेतुत्वं नैयायिकैः स्वीकृतम्.

प्रस्थानरत्नाकरकारेण आलोकस्य कारणत्वं नैव स्वीकृतम्. यथाच उक्तम् अन्धकारस्य घटादिषुतु नृचक्षुः प्रति मायया तमो जननात् तदेव विषयीक्रियते नतु विषयः, तदावृतत्वात्. एवञ्च विषयालोकसंयोगस्य सहकारिता न कल्पनीया, अभास्वरद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति दूरत्वव्यवधानाभावविशिष्टस्य विषयतयैव निर्वाहाद् इति.

अभास्वारद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति दूरत्वव्यवधानभावविशिष्टस्य विषयस्य कारणत्वं स्वीकारे अथवा विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासे कार्यकारणभावद्वयं स्वीकरणीयं तदपेक्षया लाघवात् चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति आलोकसंयोगः कारणम् इति एकैव कार्यकारणभावः स्वीकार्यः.

ननु चाक्षुषप्रत्यक्षं प्रति आलोकसंयोगस्य कारणत्वे उलूकबिडालादीनाम् आलोकसंयोगाभावे अन्धकारे प्रत्यक्षं तस्यापि इति चेत्, न, आलोकसंयोगाभावस्य चाक्षुषप्रतिबन्धकत्वम् उपगम्य बिडालचक्षुःसंयोगस्य स्वातन्त्र्येण उत्तेजकत्वाभ्युपगमे तादृशः उपपत्यभावात्.

अन्येऽपि केचन विषयाः पर्यालोचनीयाः सन्ति परन्तु विस्तरभयाद् अत्रैव विरम्यते.

चर्चा

प्रत्यक्षप्रमाणम्
न्याय - शुद्धाद्वैतवेदान्तमतयो: तौलनिकं विवेचनम्

डॉ. बलिराम शुक्ल

प्रद्योतकुमार : परमाणु ... रूपसत्त्वे यत् कारणम् उपस्थापितं भवद्भिः तत्र विप्रतिपत्तिः अस्ति. त्रसरेणुरूपं प्रति द्व्यणुकरूपस्य असमवायिकारणत्वात् द्व्यणुकसामान्यतो अवयवगतरूपं अवयवीगतरूपं प्रति कारणं भवति. परन्तु तत्र द्व्यणुकगतरूपस्य त्रसरेणुगतरूपं प्रति असमवायिकारणत्वे द्व्यणुकस्य त्रसरेणुं प्रति समवायीकारणत्वम् अपेक्षितम्. तद् अस्ति. परन्तु ''पारिमाण्डल्य-भिन्नानां कारणत्वम् उदाहृतम्'' तत्र का संगतिः ?

बलिराम शुक्ल : तत्र एको नियमो अस्ति. परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्ट-परिमाणजनकत्वनियमात्. न अयं नियमो अत्र रूपविषये कुत्रापि वर्तते. पारिमाण्डल्यविषयएव वर्तते तादृशो नियमः. तादृशो नियमो रूपविषये न कुत्रापि मया दृष्टः. तत्र प्रतिबन्धकत्वम् अस्ति इति कृत्वा तत्र संख्यायाः कारणत्वम् अस्माभिः स्वीक्रियते. अत्र किमपि प्रतिबन्धकं नास्ति. अतएव मया तद् विशेषणम् अनुमाने प्रदत्तम् अस्ति.

प्रद्योतकुमार : द्व्यणुकस्य त्रसरेणुं प्रति समवायीकारणत्वम् असमवायीकारणत्वं च ?

बलिराम शुक्ल : नहि. असमवायिकारणस्य लक्षणं समवायिकारणसमवेतत्वम्. तत्र भवद्भिः एकं तथ्यं सर्वदा अवगन्तव्यम्. तत्र असमवायिकारणं यद् उच्यते तत् द्व्यणुकं ... द्रव्यं वर्तते. द्रव्यं तावत् असमवायिकारणं न कुतोऽपि भवति. अतो

द्व्यणुकस्य असमवायिकारणत्वं वक्तुं न शक्यम्.

प्रद्योतकुमार : समवायि...

बलिराम शुक्ल : समवायिकारणत्वन्तु अस्ति. द्व्यणुकस्य समवायिकारणत्वम् अस्माभिः स्वीक्रियतएव.

प्रद्योतकुमार : तदपि न सम्भवति.

बलिराम शुक्ल : कुतः ?

प्रद्योतकुमार : एतस्य समवायिकारणत्वं स्वीक्रियते तदा पारिमाण्डल्यस्य कारण ...

बलिराम शुक्ल : न. ... परिमाणस्य विषये, नतु त्रसरेणुविषये. तत्र एवं वक्तुं शक्यम् अस्ति यद् अनुद्भूतात् परमाणुरूपात् उद्भूतस्य ... अथवा अनुद्भूताद् द्व्यणुकरूपाद् उद्भूतस्य त्रसरेणुरूपस्य कुतः न उत्पत्तिः ? तत्र मया समर्थ्यते एतेषां मतम्. तत्र स्वसजातीयत्वं कुत्रापि यदि स्वीकृतं चेत् चित्ररूपस्य सिद्धिः न भविष्यति. अतो विजातीयरूपादपि विजातीयरूपस्य उत्पत्तिः भवितुम् अर्हति. अतः समर्थनमपि कर्तुं शक्यम् अस्ति.

प्रद्योतकुमार : विशेषणज्ञानस्य विशिष्टज्ञानं प्रति कारणत्वे कारणतावच्छेदकं किं ? ज्ञानत्वरूपेण कारणत्वं किंवा प्रत्यक्षत्वेन ?

बलिराम शुक्ल : तत्र विशेषणज्ञानत्वेनैव कारणता स्वीक्रियते. प्रत्यक्षत्वेन कारणता न भवितुम् अर्हति.

......+......

संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गो.श्या.म.

नव्यन्यायवैदुष्यावतारमूर्तिभिः श्रीमद्भिः बलिराम-शुक्लमहाभागैः प्रत्यक्षप्रमाण-चर्चागोष्ठ्यां वाल्लभनव्यन्यायमतयोः यत् तौलनिकं स्वरूपम् उपपादितं

तद्गुणाविष्करणाय किमपि लेखनं "दीपप्रभया दिवाकरावलोकन"न्यायम् अनुसरति. यत् पुनः प्रस्थानरत्नाकरकारोत्तरकाले एतयोः मतयोः विचारविनिमयदौर्भिक्ष्यमिव किमपि आसीत् तत्र एभिः महाभागैः अस्यां गोष्ठ्यां नूनं स्वकीयया तौलनिकविवेचनसुवृष्ट्या सर्वथा तद् निवारितम्. तेन वाल्लभवेदान्ताध्ययनशीलाः वयं सर्वे भृशम् अधमर्णाः सञ्जाताः. सच एषः परस्परविचारविनिमयप्रवाहो हि एतावतैव अवरुद्धो मा भूदिति ये केचन सन्देहाः मम हृदयाभ्यन्तः प्ररोहन्ति तान् संगोष्ठ्युत्तरलेखने अस्मिन् बहिः भावयामि, ननु अविज्ञायैव एतद् यद् मदीयाः संशयशकुल्यः केनापि नैयायिकपाठीनेन न्यायमतीये ग्रन्थराश्युदन्वति निगलितपूर्वाः सन्ति न वा इति!

तथाहि प्रस्थानरत्नाकरकृद्भिः "**राजसं ज्ञानं सविकल्पकमेव. ततः पूर्वञ्च इन्द्रियेषु सात्त्विकम् उत्पद्यते निर्विकल्पकम्... एतस्य सविकल्पकात् पूर्वभावेऽपि न तत्कारणत्वं प्रमाणाभावाद्**" इति यद् उक्तं तत् "सविकल्पकज्ञानाकारणत्वे निर्विकल्पकज्ञानासिद्धेः असमीचीनं विधानम्" इति शुक्लमहोदयाः वदन्ति. तत्र ममतु प्रतिविवक्षितं निर्विकल्पकज्ञानसिद्धिः तावद् भगवद्गीतोक्तज्ञानत्रैविध्यमूलैव वाल्लभमते नानुमानिकी इति. न्यायमतेतु विशिष्टबुद्धिं प्रति विशेषणज्ञानस्य हेतुतया या निर्विकल्पकज्ञानसिद्धिः तत्र तु अयं सन्देहो भवत्येव : विशिष्टज्ञानहेतुत्वेन सिसाधयिषितं यद् तदव्यवहितपूर्वं विशेषणज्ञानं तत् किं विशेषणत्वप्रकारकविशेषणविषयकम् उत विशेषणत्वाप्रकारकविशेषणविषयकम्? आद्ये तादृशस्य विशेषणज्ञानस्य निर्विकल्पकताभंगप्रसंगो विशेषणत्वप्रकारकज्ञानस्य विशेषणविशिष्टविशेष्यविषयकज्ञानं विना जननासम्भवेन अन्योन्याश्रयदोषः च. अथ विशेषणत्वाप्रकारकविशेषणविषयकज्ञानस्य कारणत्वाभ्युपगमेतु अनेनैव वा "खले कपोत"न्यायेनापि वा विशेषणविशिष्टज्ञानस्यापि उत्पत्तिः भवत्विति विशेषणविषयकज्ञानकारणकत्वन्तु तस्य मुधैव. नहि धावतो मृगस्य चाक्षुषोपलम्भे अकर्तृकधावनक्रियाज्ञानपूर्वकमेव तद्विशिष्टस्य धावनक्रियाकर्तुः मृगस्य प्रत्यक्षं भवति इति मन्तुं युक्तम्.

यत् पुनः नैयायिकानां मते प्रत्यक्षप्रमायाः करणं त्रिविधं : तत्र निर्विकल्पकप्रत्यक्षज्ञानस्य करणम् इन्द्रियम्, निर्विकल्पकज्ञानाव्यवहितोत्तरक्षणे

जायमानस्य सविकल्पज्ञानस्य करणम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, सविकल्पकज्ञानोत्तरक्षणे जायमानस्य हानोपादानविषयकस्य ज्ञानस्य करणं निर्विकल्पकज्ञानं, तद्व्यापारः च सविकल्पकं ज्ञानम्, इति. अत्र इन्द्रियार्थसन्निकर्षः संयोगरूपः चेत् तस्य गुणत्वाभ्युपगमेन संयोगस्य पुनः द्विनिष्ठत्वेन स सन्निकर्षो अर्थस्य व्यापारो वा इन्द्रियस्य? इत्यत्र विनिगमनाविरहाद् इन्द्रियस्येव तद्गोचरस्य अर्थस्यापि कुतो न करणत्वम्? अथ एततक्लेशपरिहाराय क्रियावद्द्रव्यस्य इन्द्रियस्य करणत्वे अंगीक्रियमाणे इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य व्यापारत्वानुपपत्तिः. यस्माद् विषयसन्निकर्षजनकेन स्वीयतदाभिमुख्यकरणानुकूलान्तरक्रियावत्त्वेनैव इन्द्रियस्य करणतायाः औचित्यात्.

तथैव जीवात्मगुणरूपयोः निर्विकल्पक-सविकल्पक-ज्ञानयोः हानोपादानज्ञान-करणत्व-व्यापारत्वे अभ्युपगते. तत्र नामजात्यादिविस्मरणेतु सविकल्पज्ञानोत्पत्तिः न शक्येति मध्ये स्मृत्युत्पत्त्यंगीकारेतु इन्द्रियार्थसंयोग[१] क्षणोत्तरवर्ति[२] क्षणे जायमानं यत् निर्विकल्पकं ज्ञानं तत् तृतीयेस्मिन् स्वस्थिति[३] क्षणे संस्कारम् उद्बोधयेत्. ततः तेन संस्कारेण चतुर्थे निर्विकल्पकज्ञानध्वंस[४] क्षणे स्मृतिः उत्पद्येत. साच स्मृतिः स्वस्थितिकालरूपपञ्चम[५] क्षणे सविकल्पकज्ञानं जनयितुं प्रभवेत् किन्तु तत्क्षणन्तु द्वितीय[२] क्षणे जायमानस्य निर्विकल्पकज्ञानस्य ध्वंस[५] क्षणरूपमिति न निर्विकल्पज्ञानस्य सविकल्पकज्ञानजनकत्वं सम्भवति कुतस्तरं च तदुत्तर[६] क्षणवर्तिसविकल्पकज्ञानरूपव्यापारेण सप्तम[७] क्षणवर्तिनो हानोपादानज्ञानस्य जनकत्वसम्भावनापि!

यत् पुनः प्रस्थानरत्नाकरकृद्भिः ''**अन्येतु घ्राणरसनश्रवणानां द्रव्यग्राहकत्वं न इच्छन्ति, तत् न अस्माकं रोचते, तमसि रसनया दुग्धादेः, घ्राणेन चम्पकादेः, श्रवणेन भेर्यादेः, अनुभवस्य व्याप्तिज्ञानविधुराणामपि दर्शनाद्, अनुव्यवसायविरोधेन स्मृतिरूपत्वस्य तत्र वक्तुम् अशक्यत्वात् च**'' इति यद् उक्तं तत् शुक्लमहाभागाः निराचिकीर्षन्ति : सुरभिगन्धोपलम्भानन्तरं कस्य अयं गन्धः — चम्पकस्य केतकीपुष्पस्य वा — इति सन्देहएव न स्याद् इति हेतोः. अत्र ममतु एवं प्रतिभाति — चक्षुषा द्रव्यग्रहणेऽपि यथा मन्दालोके ''स्थाणुः वा पुरुषो वा?'' इति सन्देहो भवत्येव तथा स्फीतालोकेऽपि ''देवदत्तो यज्ञदत्तो वा?'' इति सन्देहोऽपि सकलानुभूतिसाक्षिकएव, ततोहि द्रव्याग्रहणं तावद् न सन्देहे तन्त्रम्.

पूर्वम् अदृष्टचम्पकस्य पुरुषस्य इदम्प्रथमतया चम्पकदर्शने गन्धग्रहणात् च पूर्वं "कीदृशो अस्य गन्धः स्यात् किं पारिजातस्येव उत केतकस्येव ?" इति जिघ्रासोपलम्भो ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तेः अकिञ्चित्करतां गमयति. सकृत् तदाघ्राणोत्तरन्तु दर्शनमात्रेण विशिष्टसौरभवत्त्वप्रत्यभिज्ञानन्तु स्मृत्युपनीतप्रत्यक्षात्मकमपि कुतो न भवितुं शक्यम् ?

तथैव "षड्जादिध्वनिश्रवणानन्तरं सामान्यजनस्य 'वीणायाः षट्तन्त्र्याः वा ध्वनिः अयम् ?' इति संशयोपलब्धेः न ध्वन्युत्पादकद्रव्यप्रत्यक्षम्" इति यद् मतं तदपि न बुद्धौ आरोहति. तत्र संगीतकवाद्येषु आनद्ध-घन-तत-सुषिरजातिभिन्नेषु अवान्तरजातीयकयोः वीणा-षट्तन्त्र्यादिरूपयोः समानक्वणनजननोपलम्भाद् अवान्तरभेदेषु कतमयोः वाद्ययोः जातं क्वणनम् इदं सन्देहसम्भवेऽपि नहि वीणाक्वणिते दुन्दभिघोषभ्रान्तिः कस्यचन शक्यशंका. तस्मात् तादृक्सन्देहे नादसाजात्यमेव हेतुः नतु नादोत्पादकवाद्यग्रहणाग्रहणाभ्याम् कश्चिद् विशेषः. तद् उक्तं संगीतरत्नाकरे "**सा देशकाकुः या रागे भवेद् देशस्वभावतः, शरीरं 'क्षेत्रम्' इत्युक्तं प्रतिक्षेत्रं निसर्गतः, रागे नानाविधा काकुः क्षेत्रकाकुः इति स्मृता. वीणावंशादियन्त्रोत्था यन्त्रकाकुः सतां मता**" (संगी.रत्ना.३।२३-२५) इति षड्जादिस्वरतानरागेषु देशक्षेत्रयन्त्राणां काकवो याः श्रूयन्ते न ताः स्वजनकद्रव्यश्रवणरहिताः सम्भवन्ति. नच काकवएव श्रूयन्ते नतु देशः क्षेत्रं यन्त्रम् अपि इति वाच्यं, तद् एतद् नैयायिकैस्तु नैव वक्तव्यं, "देशादिविशिष्टकाकुज्ञानं विशेषणज्ञानपूर्वकं विशिष्टज्ञानत्वाद् 'दण्डी पुरुषः' इति ज्ञानवद्" इति समानयोगक्षेमाद्, तच्च निमीलितनेत्रस्य जात्यन्धस्य वा काकुग्रहणं यथा श्रवणेन्द्रियेण तथा तदीयदेशादेः ग्रहणन्तु ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्यैव भवतु का हानिः ? वस्तुतस्तु एतादृक्क्लिष्टकल्पनापेक्षया रसनाघ्राणश्रवणेन्द्रियैः द्रव्यग्रहणांगीकारे न कोऽपि क्लेशः. नच महाराष्ट्रदेशे कर्णाटकदेशीयगायकस्य गानश्रवणे श्रूयमाणायां देशकाक्वां कर्णाटकदेशस्य श्रावणप्रत्यक्षकल्पना क्लिष्टा न चेत् सर्वेऽपि दूरश्रवणसमर्थाः सञ्जाताः इति वाच्यं, यस्माद् 'देशकाकुः' इत्यस्य तत्तद्देशस्थगायककण्ठेन श्रूयमाणा या काकुः सैव इति अर्थो नतु भूमिखण्डरूपेण देशेन स्वरादिगानं श्राव्यते इति कल्पनायां कारणं किञ्चित्.

अथ श्रीबलिराममहाभागाः, 'यत्समानाधिकरण...'इत्यादि- व्याप्तिलक्षणज्ञान-

रहिताः पश्वादयोऽपि भूयोदर्शनादिहेतुना व्याप्यीभूतेन गन्धेन तद्व्यापकीभूतखाद्याखाद्य-द्रव्यानुमितिं विधाय अदन्ति, यथाच उच्यते "गावः पश्यन्ति गन्धेन" इति प्रतिपादयन्ति. तत्र शब्दाभिलप्यज्ञानरहितानां पश्वादीनां व्याप्तिज्ञानं निर्विकल्पकं सविकल्पकं वा आस्थेयम्? तत्र नाद्यं, समानयोगक्षेमाद् मनुष्येष्वपि व्याप्तिज्ञानस्य निर्विकल्पकत्वं दुर्वारं स्यात्. अथ द्वितीयं सविकल्पकज्ञानं चेत् तच्च शब्दाभिलापसमर्थेषु मनुष्येषु निर्विकल्पकज्ञानोत्तरं नामजात्यादियोजनेन जायमानमपि ज्ञानं, पश्वादिषुतु नामयोजनायाः अशक्यत्वेन जात्यादियोजनं शक्यतएव. तेन तेष्वपि कथञ्चिद् उभयविधं ज्ञानं सम्भवत्येवेति न किमपि वैषम्यम् इति चेद्, जितं तदा "**लक्षणाधीना तावद् लक्ष्यव्यवस्थितिः लक्षणानि च अनुपपन्नानि ज्ञाताधिकरणलक्षणनिरूपणद्वारेण चक्रकाद्यापत्तेः**", "'**अविशिष्टाद् विशिष्टस्य वैशिष्ट्ये यदि धीः विशेत् तद्बुद्धिधाराविश्रान्तिः स्याद्** वा **मूलाविशिष्टता**'**इति विशिष्टनिरासेन सर्वाणि लक्षणानि निरस्तानि इति मन्तव्यम्**" इति विकत्थमानेन खाण्डनिकेन. नहि एवंकल्पनया नैयायिकानां मते कश्चन लाभो भविता. तथैव निबिडान्धकारे न केवलं तक्रदुग्धयोः किमुत गोमहिषीदुग्धयोरपि स्वादपार्थक्येन कण्ठे तक्रदुग्धयोः पार्थक्यं गोमहिषीदुग्धयोरपि तारतम्यं च साक्षाद्रासनप्रत्यक्षगोचरतयैव उपलभ्यते. अतोहि एभिः इन्द्रियैः द्रव्योपलब्धौ न किञ्चिद् बाधकं पश्यामः.

किञ्च शब्दसमवायिकारणतावच्छेदकतयैव आकाशं सिसाधयिषुणां नैयायिकानां कृते आकाशस्य प्रमाणबलेन चक्षुरग्राह्यत्वेऽपि प्रमेयबलेन तद्ग्राह्यत्वं यद्यपि अनभिमतमेव. तथापि जातिबधिराणां मनुष्याणां, श्रवणेन्द्रियरहितानां नैकप्राणिनां च, अवकाशरूपाकाशदर्शनसामर्थ्योपलब्धेः तद् अवश्यांगीकर्तव्यमेव इति भाति. प्रत्यक्षेण खलु आकाशोपलब्धेः अनंगीकारेतु तत्र कन्दुकाद्युत्क्षेपण-हस्तप्रसारण-गमनादेरपि विरोधप्रसंगः, तादृशानां कृते शब्दसमवायिकारणतावच्छेदकतया आकाशसिद्धेः भृशम् अप्रसक्तत्वेन तथा चेष्टायाअपि अभावप्रसक्तेः च. वस्तुतस्तु अश्रुतशब्दानां जात्यन्धबधिराणामपि पदन्यासात् पूर्वं यष्टिकान्यासेन क्वचित् तच्चालनेन वापि अग्रे स्वचलनानुकूलाकाशोपलब्धेः लोके दृश्यमाणतया शब्दसमवायिकारणताव-च्छेदकतयातु आकाशो अन्यथासिद्धएव.

प्रस्थानरत्नाकरकारकृद्भिः सामान्ययोगजमायालक्षणकाः प्रत्यासत्तयः प्रतिपादि-

ताः. तत्र शुक्लमहाभागास्तु स्वविषयविषयकप्रत्यक्षजनको ज्ञानविशेषत्वेन ज्ञानलक्षणसन्निकर्षं प्रत्यापादयन्ति, "सुरभि चन्दनम्" इति प्रत्यक्षे सौरभत्वस्य भानं ज्ञानलक्षणया भवति इति हेतुना. तत्र इदानीम् अकृत्रिमेभ्यः पुष्पेभ्यो निःशेषजलांशनिःसारणेन तद्वर्णाकृत्योः कृत्रिमा अम्लास्नुता सम्पाद्यते इति तथाभावितेषु गन्धरहितेषु चम्पकपारिजातपद्मादिपुष्पेष्वपि ज्ञानलक्षणया प्रत्यासत्त्या जायमाना या गन्धानुभूतिः तस्याः भ्रान्तित्वसाधकं किं भवेत्? पुष्पाणि खलु ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्या गृहीतानि अकृत्रिमाण्येव सुरभिराहित्यन्तु पुनः तत्र कृत्रिममेवेति व्यभिचारदर्शनात्. ननु उक्तं नैयायिकानां मते रज्जुसर्पादिभ्रमे सर्पत्वादिभिः चक्षुःसन्निकर्षाभावाद् सर्पत्वादिज्ञानमपि ज्ञानलक्षणयैव भवतीति किम् अत्र पर्यनुयोगार्हम्? भ्रमभातविषयाणां ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्या प्रत्यक्षज्ञानविषयतांगीकारे बाधकज्ञाननिर्वचनानुपपत्तेः पर्यनुयोगार्हत्वम् इति वदामः.

तथाहि [क] लौकिकसन्निकर्षेण चक्षुर्ग्राह्यस्य रज्ज्वादेः सर्पादिस्मरणरूपसहकारिकारणसचिवो यो ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तिरूपः सर्पादिभिः सन्निकर्षः तद्भास्यं च यत् पुरोवस्थितापुरोवस्थितयोः तादात्म्यं किं तस्य निषेधो "नायं सर्पो रज्जुरियम्" इत्येतादृशेन बाधज्ञानेन भवति? तत्रापि [क-१] सर्पादिप्रतियोगिकपुरोवस्थितेदमास्पदानुयोगिकं तादात्म्यम् उत [क-२] इदमास्पदप्रतियोगिकसर्पाद्यनुयोगिकतादात्म्यम् इत्यपि विवेचनीयम्. आहोस्विद् [ख] चक्षुषो लौकिकसन्निकर्षेण गृहीतं यद् इदमास्पदम् तद् उद्दिश्य ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्यागृहीतस्य सर्पत्वादेः समवायनिषेधो वा बाधज्ञानेन भवति? अथवा [ग] अन्यत्रावस्थितं ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्या गृहीतं सर्पादिकम् उद्दिश्य तत्र लौकिकसन्निकर्षेण गृहीतायाः पुरोवस्थितवस्तुगतायाः इन्दतायाः निषेधो बाधज्ञानेन भवति?

तत्र न [क-१] आद्याद्यः, अलौकिकसन्निकर्षेण चक्षुषा उपलब्धस्य तादात्म्यप्रतियोगिनः सर्पादेः स्वदेशकालस्थत्ववैधुर्येण भाने मानाभावेन अथ तद्भाने च पुरोवस्थितयोः देशकालयोः भानप्रसक्तेः अभावादेव न प्रतिषेधसम्भानापि. अन्यथा स्वदेशकालस्थत्ववैधुर्येण सर्पादेः भानांगीकारे प्रत्यक्षत्वानुपपत्त्या भ्रान्तिगोचरेन्दतायाअपि अप्रसक्तेः स्मृतिरूपबोधापत्तिरेव भवित्रीति न तच्चाक्षुषता.

न [क-२] आद्यद्वितीयः, लौकिकेन अलौकिकेन वा सन्निकर्षेण चक्षुःसन्निकृष्टे वस्तुनि इदंकारास्पदतानिषेधस्य स्वतोव्याघाताद् "इदमस्तु संन्निकृष्टे" इति नियमेन तत्र पुरोवस्थितेन्दतानिषेधस्यापि अनुपपन्नत्वात्.

न [ख] द्वितीयः, समवायरूपपदार्थान्तरांगीकर्तृभ्यो नैयायिकव्यतिरिक्तस्य कस्यचन सामान्यजनस्य रज्जुसर्पादिभ्रमे 'इदमास्पदे वस्तुनि समवायसम्बन्धेन सर्पत्वादिधर्मभानस्य अप्रसक्तत्वेन बाधज्ञाने तन्निषेधस्यापि सुतराम् अनुपपन्नत्वादेव.

न [ग] तृतीयः, आद्यद्वितीयकल्पीयया [क-२] अनुपपत्त्यैव दत्तोत्तरत्वात्.

अपिच प्रस्थानरत्नाकरकारैः मायिकसन्निकर्षप्रमापकं यद् "**ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायाम्**" (भाग.पुरा.२।९।३५) इति भागवतवचनम् उदाहृतं, तत्र 'माया'शब्दो "शब्दज्ञानानुपातिवस्तुशून्यो विकल्पः" इत्येवंरूपस्य मानसभ्रमस्य द्योतकः इति शुक्लमहाभागाः अभिप्रयन्ति. वस्तुतस्तु अनालोचितपूर्वापरसन्दर्भे अस्मिन् वचने एतादृशी अभिप्रायभ्रान्तिः न न स्वाभाविकी. वचनस्य पूर्वापरसन्दर्भालोचनेतु —

ब्रह्मा उवाच

"यथा आत्ममायायोगेन नानाशक्त्युपबृंहितं विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन् बिभ्रद् आत्मानम् आत्मना क्रीडसि अमोघसंकल्पः ऊर्णनाभिः यथा ऊर्णुते तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि..."

श्रीभगवान् उवाच

"...अहमेव आसमेव अग्रे, न अन्यत् सदसत् परं, पश्चाद् अहं यद् एतत् च, यो अवशिष्येत सो अस्मि अहम्. ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायां यथा आभासो यथा तमः."

(भाग,पुरा.२।९।२६-३३)

इति एतेन पूर्वापरसन्दर्भपर्यालोचनेन इह 'माया'शब्दस्य मानसभ्रमवाचकत्वं

नैव सम्भवति, निजात्मना नानाशक्त्युपबृंहितस्य निजात्मानः सृष्ट्युत्पत्तिस्थित्युपसंहृति-कारिणीमायाविषयकजिज्ञासायां हि तदभिज्ञापकं वचनम् इदम्. तस्मात् सृष्ट्युत्पत्तिस्थित्युपसंहृतिरूपकालत्रयेऽपि भगवद्व्यतिरिक्तस्य पदार्थस्य अभावादेव भगवद्रूपम् अर्थं ऋते, अभगवद्रूपतया प्रतिभासमानम् इति यावत्, यद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावादिकं किमपि प्रतीयेत तद् नानाशक्त्युपबृंहिते सर्वावभासके भगवद्रूपदर्पणे आभासवत् प्रतीयमानं ज्ञेयम्. अथ द्रव्यगुणकर्मसामान्यसम-वायाभावादिपदार्थेषु यद् भगवदुपादानकतया भगवन्नामरूपकर्मात्मकता न प्रतीयते तत् परमतेजोरूपभगवदनुभवाभावे प्रतीयमानं तमोवदेव ज्ञेयम्. तस्माद् आत्मनो नाम भगवतो नानाशक्तिरूपाः स्वस्य सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया, स्वांशानां च व्यामोहिका रूपा माया, इत्यस्यैव अर्थस्य स्वारसिकतया लाभः. तदेतद् उपबृंहितं श्रीमदुदयनाचार्यैरपि **''इति एषा सहकारिशक्तिः असमा माया दुरुन्नीतितो, मूलत्वात् प्रकृतिः, प्रबोधभयतो 'अविद्या' इति यस्य उदिता''** (न्या.कु.१।२०)इत्यत्र. नापि इह उदाहरणत्वेन निर्दिष्टे आभासतमसी न्यायमतेऽपि मानसभ्रमतया अभ्युपगते.

सर्वम् एतद् हृद्यन्तःस्थसंशयाविष्करणं न्यायवाल्लभवेदान्तयोः मिथो विचारविनिमयप्रवाहः सततं समभिवर्धतु इति संगोष्ठ्युत्तरलेखने मम अभिलषितप्रयोजन-कम्. तदनुकूलपूर्वपक्षोपस्थापनेन तत्र भवद्भिः श्रीबलिरामशुक्लमहाभागैः नूनं बहूपकृतम् अस्मासु इति पुनःपुनः निजकार्तज्ञ्यं द्योतयन् विरमामि विस्तरात्.

Jain Theory of Perception

Dr. B. K. Dalai

Jainas like other system of Indian philosophy have accepted perception as the first and most Prāmāṇa. It is a fact that all systems of Indian philosophy including Carvākas have accepted this and have discussed in their respective texts. Our concern, in the present paper, however is to present an analysis of the treatment of Perception in Jaina philosophy. The discussion has to be attempted at two different levels: The treatment at the early period on the basis of Āgamik literature and the treatment based on more advanced texts of logical period beginning from Siddhasena Divākara and Akalaṅka etc.

In Jainism the knowledge is classified into two main heads: Pratyakṣa and Parokṣa. Pratyakṣa of Āgamic period is treated as Mukhya Pratyakṣa or Pāramārthika Pratyakṣa and the sensory Pratyakṣa and the sensory Pratyakṣa which were treated as Partyskṣa in the Āgamic period are taken as Vyāvahārika pratyakṣa.

To start with, we will discuss first the treatment of Pratyakṣa from Āgamic period and then go to see what happened in later period. It is the self-only by which one can perceive

an object in its true nature and with all qualities. Therefore, they define Perception as knowledge derived by the self. They call it Pratyakṣa or direct knowledge as it is produced in the self and by the self. They point out that knowledge caused by the sense organ is not direct (Parokṣa).

According to the Jaina doctrine knowledge is of five kinds:

1. Mati
2. Śruta
3. Avadhī
4. Manahparyāya
5. Kevala

There is false knowledge of Mati, Śruti, Avaḍhī and the total number of knowledge recognized in Jainism is eight (8). In Tatvārtha Sūtra of Umāsvāti, Mati-Śruti have been described as Parokṣa Pramāṇa and Avadhī etc. are Pratyakṣa. The distinction between Pratykṣa and Parokṣa is that in case of the former, the soul gets a clear knowledge of an object without depending upon any other knowledge, while in the latter, the cognition is not clear by itself, but has to depend upon some other kind of knowledge.

In most of the texts of Jaina Logic, knowledge is stated to be of two kinds: Pratyakṣa and Parokṣa. It is significant to note that except in Jaina Nyāya, nowhere do we find

that knowledge derived from the senses being called Parokṣa.

It is Akalaṅkadeva, who, for the first time attempted to reconcile this in the following way. He divided Pramāṇa into two : namely, Pratyakṣa and Parokṣa. But instead of dividing Patyakṣa into 'Sakala' and 'Vikala' as is done in early period, he laid down hitherto two unknown divisions namely, Sāṁvyāvahārika and Mukhya Pratyakṣa[2].

He further lay down that Mati-jñāna derived through senses and mind is not Parokṣa but Pratyakṣa[3].

As Mati was recognized as Sāmvyāvahārika Pratyakṣa, its correlated Smṛti, Saṁjñā, Cintā and Abhinibodha as mentioned by Umāsvāti also come under the same head. A further distinction was made that he divided Sāṁvyāvahāriks Pratykṣa into two : Indriya-Pratyakṣa and no-Indriya-Prtyakṣa-/ Anindriya Pratyakṣa[4].

Under Indriya Pratyakṣa was included Mati where as Smṛti, Cintā, Saṁjñā and Abhinibodha were included under Anīndriya Pratykṣa as mind is prevailed in those four. Indriya Pratyakṣa or Sāṁvyāvahārika or Mati is divided into four categories or kinds. Sometimes they are called as fourfold of steps of Sāṁvyāvahārika Pratyakṣa. They are : Avagraha, Īhā, Avāya and Dhāraṇā. Nandi-Sūtra (N. S.-27), clearly states : Suyanissiyam Cauviham Pannattam, Tam jaha-uggaho, Īhā, Avāya, Dhāraṇā. Ācārya Guṇabhadra, too, refers to these

four as Maichaukkam in his Vis. Bha. (G.169). Umāsvāti (in Ts. and Bh.), and others too enumerate these as four verities of perception, although four stages in progression of this knowledge. But whether varieties of stages, their nonenumeration in 'Thana' is a problem and its commentator Abhayadeva tries to overcome this by adding thereon "ईहादयोऽपि श्रुतिनिश्रितएव, न तुष्टः, द्विष्ठानुरोधात्". I.e. Īhā, Avāya and Ahāraṇā too are implied to be included under Śrutanistrita; yet they are not enumerated here due to adherence to the principle of dichotomy throughout this section.

Let us now see the nature of the four: we get the following picture from Thana. 'Arthāvagraha' means: what is obtained or what is sought; and the very first apprehension of its form etc. in its generality without reference to its particulars, is called "परिणामं प्रतिपद्यते. अर्थस्य द्रव्यपर्यायात्मनो अर्थकृत्यक्षमस्य गृहणं संयोगार्थनिर्णयो न पुनः अविकल्पकं दर्शनमात्रम् अवग्रहः". Thus Hemacandra categorically denies the nature of the indeterminate cognition in Avagraha.

The reason for this, although not given immediately, can be gathered from his refutation of the Hindu and Buddhist logistic concept about sense perception. He clearly states there in: 'We find day to day behavior (Vyavahāra) being carried out on the basis of determinate cognition. Hence it is better to accord the status of a valid means of knowledge to that itself; why then should it be granted to the earlier indeterminate cognition too, which must operate though the

determinate state alone.

It is clear from this that while viewing sense perception and its stages Hemachandra was more concerned about their validity i. e. epistemic value based on the test of empirical utility. This alone can explain the concurrence of not only the above two, but also even of Vidyānandi and Vādidevasūri etc.

On the Āgamic interpretation of Avagraha also on bringing sense-perception into the category of direct knowledge (Pratyakṣa) by adding to it the qualification 'empirical' (Sāmvyāvahārika) and Pāramārthiks or Mushya (transcendental or main) cognition regarded as Pratyakṣa by Jainas from time immemorial.

Such attempts point to their desire to synthesize Ágamic Jaina tenets with the logic and epistemology of Hindus and Buddhists as much as possible, so as to be able to clearly explain and to defend these, as and when sought to be refuted by these outsiders but such attempts did often land them into difficulties and the case of Avagraha in one such, to be sure.

For, the Āgamas and Āgamic thinkers had viewed sense-perception first from the metaphysical and then from the logico-psychic view point, as a process consisting of four progressive stages from vague awareness of the stimulus and

the object (Avagraha), through curiosity and speculation about its details characteristics of Īhā to Avāya. Elimination of other possibilities by resorting to criteria for distinguishing it from other objects and the final perceptual judgment and last but not the least, Dhāraṇā (retention) of that judgment for record and for future reference, in the four residual mental impressions. Arthāvagraha. Hence, it is the mere object awareness. Vyañjanāvagraha is even earlier than that, 'mere contact awareness'.

Almost the same explanation (and lack of the definition of the term Avagraha) is enumerated by in NS.27, Vis. Bh. G. 193, TS.I.15,17-18 etc. This is probably hinted at by the Tīkā through introduction of the phrase:at a moment immediately after Vyañjanāāvagraha'.

His other classifications, namely that Arthāvagraha is a momentary awareness, still bereft of a clear idea of distinctive features (Svarūpakalpana) of an association of which concepts such as a name (Nāmādikalpanā etc.), are repeated by Vis.Bh. 251-2 (Sanmātta aniddesam svarupa namai-kalpana-rahijam etc.), which adds an argument that association with a name and such other concepts as in the example "This is a sound" requires discursive thought and determination which cannot be developed in a single moment/instant. That Arthāvagraha endures and are possible only in Īhā, and in the third state of sense-perception.

However, quite contrary to this view of traditionalists

including Umāsvāti, the Digambara, Ācārya Pūjyapāda, Devanandi, very categorically state that it is vyañjanāvagraha that is distinct and vague, Arthāvagraha differs from it in being distinct and determinate. And Pujyapāda is not without company in partying with the Jaina Āgamic view in this regard. The same stand is taken by most of the Jaina logicians who came after him, whether they belong to 'Digambaras' or 'Śvetāmbaras' tradition. Thus Akalaṅka in Laghīyastraya I.5 (अक्षार्थयोगे सत्तालोकार्थकारविकल्पधीः अवग्रहः.) and his auto commentary thereon explains: upon contact between a sense organ and its objective datum, there occurs intuitive apprehension of the bare existence thereof: (सन्मात्रदर्शनम्) which can be defined (merely) as the potential capacity to comprehend. The sense Datum (अर्थग्रहणयोग्यतालक्षण) and which undergoes transformation (परिणामं प्रतिपाद्यता) into a cognition immediately afterwards (Tadantarabhūtam), characterized by well organized determination of its own object (स्वविषयव्यवस्थापलक्षणम्) with reference to distinctive features is called Avagraha. Similar is the definition of Ācārya Hemachandra "अक्षार्थयोगे दर्शनान्तरम् अर्थग्रहः" (Pramā.Mi.1.1.26) and then the explanation in his auto commentary: "दर्शनम् अनुल्लिखितविषयस्य वस्तुनः प्रतिपत्तिः. दर्शनमेव उत्तरम्".

While granting sanction to this four-fold traditional divisions of sense perception, however, the Jaina logicians could not lose sight of the rigorous epistemic criteria to be applied for shifting valid cognition from one's Āgama based epistemology, Therefore, what all they could do was to interpret

Avagraha etc., in such terms as would render it a valid cognition, hence their explanation of it as determinate knowledge of sense-data.

However, this stand raised the following question; Avagraha, even according to Jaina logicians is admittedly the first stage of empirical perception, to be followed by three more stages, and desire or expectations to know details of specific characteristics of the sense datum of Avagraha (तद्विशेषकक्षणम्) is unanimously accepted as nature and scope of the second stage, namely, Īhā. As, such determinate cognition about an object to exclude all other opinions should occur after Īhā, in the third stage called Avāya. If all this is to occur in the first stage itself, then what will be the significance of sequential perceptual stages? Surely, Jaina logicians had realized this problem and they even have tried and solved it in their own way. Thus commenting on Pramāṇa Mīmāṁsā I.I.27. Hemachandra explains in regard to the object cognized determinably as "This is a sound". In the period before the advent of the stage, there arises in the perceiver's mind a doubt of this nature: It is a sound emanating 'from a conch or one from a horn? This doubt is immediately followed by a desire or urge to verify which of the two alternatives is correct. Hence, his wish to grasp further specific details about the datum; and for that, he strives to deliberate on the points of aspects in which distinctive features as of the said Datum agree or disagree, with each of the alternatives foreseen as being probably present there. This striving, he

tells us, is called Īhā.

And accordingly, the third stage viz., Avāya as defined by him as the determination of the specific characteristic regarding the object of Īhā as illustrated by the proposition: 'the sound must be of the conch and not of the horn'.

Now, this explanation of the first three stages of sense perception, although differing from the traditional one, dose not seems unreasonable either. And that lead us into dilemma: namely, which of these two standpoints should be accepted as the more correct one?

The answer or the solution to it can only be relative or qualified one, depending on our angle of looking at sense-perception: If we be interested in it from the logical and epistemic stand, then we shall automatically favor the explanation given by the Jaina logicians and care little about indeterminate cognition of an object, since that has no bearing upon practical activity which can prove it valid or invalid. Nevertheless, while doing so, we cannot, and should not lose sight of the fact that, this is merely the explanation given by a group of Jaina scholars, where as another equally well known and venerated group consisting of great names like Umasvāti, Siddhasena gani, Jinabhadra gani, etc. had promulgated a different explanation of this stages, especially a diametrically opposite one as regards the first stage called Avagraha.

We cannot dismiss these opposite trends as strictly earlier vs. later developments in terms of chronology. For, although rigorous logistic analysis was a development that began in Jainism relatively later than the Āgamas especially for the purpose of standing of with confidence in later system debates and defending the tenets of Jainism against rigorous dialectical attacks from the outsiders, yet not all great thinkers of later dates tended to give up the Āgamic line of thought altogether and switch over to pure logistic interpretations there of.

Moreover, one may argue here saying: even the logicians had not rejected the old canons altogether. While differing from them on the point of general classification of knowledge types, they did not discard it totally in favor of the Buddhist or Brāhmaṇic view of these either. Rather, they try to synthesize the two standpoints in the best possible manner. Similarly, as regard to particular type of cognition called empirical sense perception too, they were probably attempting a similar synthesis. At the back of their mind, they had the determinate vis-a-vis indeterminate division of perception made by the Nyāya-Vaiśeṣika thinkers, of which the first, because of its very nature of indistinct and vague, could not qualify as valid knowledge as epistemic point of view. All the same, they were anxious to demonstrate that Jaina agamas were dealing only with the valid stages of sense perception, which were epistemologically quite relevant.

That alone can explain why the Vyāñjanāvagraha,

Arthāvagraha dichotomy was quietly overlooked or side tracked by them and even the name of Vyāñjanāvagraha, replaced by Darśan (Mātra). Then, taking Avagraha to imply merely Arthāvagraha, they interpreted it as 'determinate cognition' and the later three stages of sense perception to suit that one.

With this it has been made clear the real reason for the difference of opinion among Jain Ācāryas on the interpretation of Avagraha and other ensuing stages of sense perception.

As to the question how opposite views about Avagraha could be legitimately derived from one and the same Āgamic text, the clue lies in the nature and definition of the second stage Īhā. Following Umāsvāti and other Āgamic thinkers, this could signify the desire to know more details about the vague intermediate cognition in the form of "this is something"; and that seems quite legitimate, judging from introspection of our own psychological experience, although this happens more when the perceiver is a young child or even if an adult, who is still perceiving a hitherto unperceived object for the first time in life.

All the same, it is not improbable that even a 'determinate cognition' in the shape of "this is a sound", may be followed up by a desire to know more details about that object. In actual fact, this keeps happening in the minds of intelligents

even most of the time.

Now, the cognition, namely, this is a sound' is Avagrahalapāya for Jaina Āgamic thinkers; but when followed by a further Īhā for knowing more details about the object concerned and a more detailed Avāya too, that first Avāya must at least theoretically be termed an Avagraha at that later moment, following the sequence of four stages given by the Āgamas themselves.

This observation brings home an important fact viz., 'that indeterminate' and determinate are relative terms. A cognition appearing determinate in relation to an earlier one, which was somewhat vague or general in nature, may itself appear later on probably in the very moments of its production to perceive rather generic characteristics of an object, which we now desire to know in more detail.

We can say that Āgamic thinkers were in their own way insisting that (Artha) Avagraha had to be 'indeterminate cognition' in a relative sense; for, only then could there be any justification for an Īhā arising in regard to it.

The problem is that none of them thought in this direction or at least expressed in this way while dealing with the definition of Avagraha or its relation with the ensuing state in TS. I. 15 and commentaries thereon or in Vis. Bh.121-269.

On the contrary, Vis. Bh. 252 insists on the determinate

nature thereof, clearly stating, that the cognition of an object as 'sound' would not be Arthāvagraha but Avāya, because the former lasts for only one instant (Samaya), a time span not enough for comprehending an object determinately, to the exclusion of every other object. Moreover, if "this is a sound" is regarded as insufficient information, hence vague enough to be called Avagraha and followed of by Īhā etc., then even further detailed cognition will gratify for the nomenclature Avagraha.

Now, all these types can be easily possible for the Avāya stage, as that is of a determinate nature for all Jainas; (indeterminacy therein can be explained away as being relatively so), but they obviously contradict this concept of Avagraha. So, to overcome this difficulty, Guṇabhadra in Vis. BH. 282-3 says: This first Arthagraha which lasts for just an instant and comprises only the generalities in an indeterminate way, is the Avagraha per se, in absolute terms (Naiścayika). But after that and after Īhā and hence be called Avagraha metaphorically, since in relation to further details (Esyaviśeṣa) the particulars cognized by it appears to be rather general.

We may not be unjustified in extending their restricted idea of absolute VS. metaphorical Avagraha to the general empirical sphere as well, which includes epistemology.

Thus, we can now with confidence and with Āgamic thinkers themselves, hold that Avagraha is always 'indetermina-

te-cognition' provided we remember that this 'indeterminacy' is real and absolute only in case of the very first sensation of an unknown object. In all other events, it is metaphorical or transferred indeterminacy, due to determinate cognition of an earlier moment appearing as 'relatively indeterminate' when a desire to learn more about the object arises.

And this view even convinces us of the legitimacy of Jaina logicians' interpretation of Avagraha as 'determinate cognition' from the epistemic standpoint. One only wishes they had cared to admit that this was true of the Avagraha in relation to an Īhā for further details, and that, in absolute terms, an Avagraha had to be an 'indeterminate cognition'.

Akalaṅka in his Nyāya-viniscaya defines perception thus: "perception is the knowledge, which is self revealing and which reveals the object as substance and as mode, as universal and as particular and which is determinate or conceptual and which is essentially clear". The commentator Vādirāja in his Nyāyaviniṣcaya Vivaraṇa explains this definition. He explains all these qualifications one by one and we present here his explanations of Akalaṅka's definition of Pratyakṣa.

Pratyakṣa is the knowledge which is self-revealing. If knowledge were not self-revealing it could not reveal its object. Therefore, Akalaṅka uses the adjective 'self-revealing' (Ātmavedanaṁ) for perception.

The next adjective is that 'which' reveals the object

(Artha). Perception like all knowledge reveals its object. But the object of perception is Dravya-Pratyakṣa i.e. perception reveals its object with the aspects of substance and mode.

To explain: The object gold is revealed in perception. Perception not only reveals the object as substance (Dravya) 'gold' but also it apprehends the gold with its modes (Paryāya); for, the gold may have the form of a ring or of a chain. According to Jainas, every object is the combination of substance and modes; substance is the permanent entity while modes are changing. Again, the object of perception possesses the universal and particular properties (Sāmānya viśeṣa). According to the Jainas, every object is सामान्यविशेषात्मक i.e. every object has the universal and particular properties. For example, cow-ness is the universal property and 'black' or 'white' is particular property of a cow. Similarity amongst the objects is due to their universal properties and their differences are due to particular properties. Thus, every object is Dravya Paryāyātmaka and Sāmānya-viśeṣātmaka; and perception is the knowledge, which apprehends such an object.

Again, Akalaṅka holds that perception is Sākāra-jñāna. He gives these adjectives in the sense of perceptual knowledge. Perception is Sākāra or conceptual in the sense that it has the power to manifest the object through concepts; it is not merely the pure sensation of unique individuals.

Thus, perception manifests the object with all its qualities.

When Akalaṅka defines knowledge as Sākāra, he means it 'Savikalpaka' or conceptual perception that perception is clear (viśada) knowledge.

The word 'Añjasā' may be explained, either as quality of being Viśada or as quality of being Sākāra. The commentator Vādirāja explains it in both ways. In the first case, it would mean that clarity is its essential quality. That is perception is a clear knowledge by its own nature (Añjasā) or, knowledge is 'Añjasa' i.e. Sākāratva is the essential quality of knowledge.

As stated earlier, Akalaṅka defines perception as knowledge which reveals itself and the object as substance and mode; the knowledge is essentially Sākāra or conceptual and is also essentially clear or direct knowledge. It is significant to note that all the qualifications recorded by Akalaṅka are applicable to knowledge in general and not Pratyakṣa alone. All knowledge whether perceptual (Pratykṣa) or non-perceptual is self revealing, object revealing and conceptual. But the adjectives Viśada and Añjasas are used only for the Pratyakṣa. All knowledge is not clear essentially; only perception is clear, for it is not based on other knowledge; whereas other knowledge like inference and verbal knowledge are dependent on some other knowledge. Here, the definition of perception as "ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" may be compared with Akalaṅka's definition of Pratykṣa as clear knowledge. Both define perception as a knowledge, which is not brought about by the instrumentality of any other knowledge.

Akalaṅka after defining Pratyakṣa has classified Pratyakṣa into two. Namely: Mukhya and Sāmvyāvahārika[5]. In this context he has refuted the definition of perception given by the Buddhists, the Naiyāyikas, the Sāṅkhyas and others. He classifies Sāmvyāvahārika in to two namely, Indriya and Anindriya[6]. Then he goes on explaining the types or stages of Sāmvyāvahārika pratykṣa. In two Kārikās he has defined the four stages of Sāmvyāvahārika Pratyakṣa namely: 1. Avagraha 2. Īhā 3. avāya and 4. Dhāraṇā[7]. He defines Avagraha as the first cognition after the contact of Indriya with object. In this context he talks of nature of reality as to be द्रव्यपर्यायात्मकम्. Explaining 'Avagraha' he comments: "तदनन्तरम् उत्तरं सन्मात्रदर्शनं ... अवग्रहः". Thus it is clear that according to Akalaṅka there is the knowledge of mere being (सन्मात्रदर्शनम्)[8]. This is followed by a desire to know more about that mere being[9]. When the object is known, preceded by Īhā, is Avāya. Akalaṅka does not explain more about either Avagraha or Īhā. Unlike elsewhere, he even dose not try to reconcile or make a reference to the two types of Avagraha which we have already discussed.

As to question namely, whether Avagraha is distinct and different from Īhā he writes: "कथञ्चित् प्रभेदेऽपि परिणामविशेषाद् भेदः"[10]. Thus it appears that though the object remains same due to the distinction at the level of cognition, Avagraha has to be accepted as distinct from Īhā.

After Īhā Akalaṅka defines Dhāraṇā : "धारणा स्मृतिहेतुः

... स्मृतिहेतु: धारणा संस्कार: इति यावत्''. Thus Dhāraṇā, i.e. retention is the cause of remembrance in future and this stage of Dhāraṇa, which is the last stage in the process of Sāmvyavahārika Pratyakṣa, the knowledge acquired at the stage of Avāya is permanently retained, which is remembered at the future time. Now, the question is whether Īhā and Dhāraṇā should be accepted as different knowledge. Practically as we can say there is no further addition in the context of the knowledge after Avāya. Īhā is a mere desire to know more about the object cognized in Avagraha. Thus one may doubt the validity of treating. ''ईहा धारणायापि ज्ञानात्मकम् उन्नेयं, तदुपयोगविशेषात्''. Hence, it may be concluded that all the four beginning from Avagraha should be treated as Pramāṇa.

Mukhya pratyakṣa / Pāramārthika Pratyakṣa:

Now we present an analysis of Mukhya Pratyakṣa (मुख्यप्रत्यक्ष)as discussed by Jainas. It may be recorded that Mukhya Pratyakṣa is called and treated as Pratyakṣa in Āgama literature and is different conceptually from the Pratyakṣa as defined by other systems of Indian Philosophy.

The meaning of Mukhya Pratyakṣa:

The word 'Mukhya'-'Pradhāna' i.e. superior in comparison to rest of the knowledge. It is already stated that in Āgamic literature, there is nothing called Mukhya or Gauṇa pratyakṣa. It is only Pratyakṣa and is defined as the direct knowledge in the sense that it arises in the self without the instrumentality of sense organs and mind. It arises when the obstruction

of the karmas is destroyed. Since word Mukhya means superior, therefore Mukhya Pratykṣa is defined as superior knowledge. The Jainas believes that Mukhya Pratyakṣa is of three types 1. Avadhī 2. Manaḥparyāya and 3. Kevala. These are the direct knowledge by the self itself and are not based on the instrumentality of the sense organs and mind.

The Kevala or omniscience occurs when there is complete destruction of the veil and when it is not complete, the two varieties, the Avadhī and the Manaḥparyāya, appear.

Definition of Mukhya Pratyakṣa :

The Mukhya Pratyakṣa is defined in different ways by different Jaina philosophers, although essentially they do not vary much.

Pratyakṣa is the knowledge which arises immediately in the self with out the help of sense organs. 'Akṣa' means the self, and the knowledge derived from the self directly is called Pratyakṣa. Parokṣa is the knowledge, which is not direct to the self but is derived with the help of sense organs.

Parokṣa is of two types: 1. Mati and 2. Śruti. All the system of Indian philosophy accept as Pratyakṣa as sensuous knowledge derived from the sense organs. Vādideva defines it thus: "the Paramārthiaka Pratyakṣa arises in the self without any intermediation". Māṇikyanandi and Hemachandra also define

it as a perfect knowledge arising in the self without the instrumentality of the sense organs. Now, we explain Manikyanandi's definition of the Mukhya Pratyakṣa.

Māṇikyanandi defines Mukhya Pratyakṣa thus: "Mukhya is that clear, non-sensuous and infinite knowledge of which all veils are removed by special conditions"[11].

The question may be asked as to what is the specialty of such infinite knowledge. The commentator Prabhācandra replies that it arises when all the veils of Karmas are removed completely under special conditions (Sāmagrīviśeṣa) Right faith (Samyakdarśana) is the internal condition while space, time etc. are the external conditions when all these conditions are favourable, the karmas are removed completely and there arises the Mukhya Pratyakṣa. Prabachanda explains Mukhya Pratyakṣa with the help of an inference: "wherever there is true and clear knowledge, there is the destruction of all veils, just as in the case of perception of trees etc. which were being enclosed by clouds or mist"[12]. Mukhya Pratyakṣa is clear and right knowledge. It is non-sensuous (Atīndriya) i.e. does not depend on mind and the sense organs, so it is perfect and infinite; Whatever is not non-sensuous does not posses the adjective 'is' independent of the mind and the senses' Just as our ordinary sensuous knowledge, which is caused by the sense organs and the mind. Thus the Mukhya is that Pratyakṣa which is non-sensuous infinite; whatever is not of this kind, is not Mukhya, just as our sensuous

knowledge.

Akalaṅka defines Mukhya Prapyakṣa as a knowledge derived by the soul directly without the assistance of any sense organs. "मुख्यम् अतीन्द्रियज्ञानम्"[13]. He has not elaborated on Mukhya Pratyakṣa in the Laghīyastraya. However, in both his texts namely Nyāya Viniścaya and Pramāṇa saṁgraha he has elaborated on Mukhya pratyakṣa[14].

Commenting on this Vivaraṇaakāra in his NVV explains: the definition in all the cases of Pratyakṣa namely Mukhya and Sāṁvyāvahārika are same - "स्पष्टं प्रत्यक्षम्"[13]. Then what is the difference of Atīndriya Pratyakṣa one has the knowledge of all the Dravyas and Paryāyas without a sequence. Thus, this knowledge according to Akalaṅka is due to the absence of Kalmaśs in the form of Āvaraṇa (covering).

Kinds Of Mukhya Pratyakṣa:

The Jainas hold that there are three types of Mukhya Pratyakṣa:

1. Avadhijñāna अवधिज्ञान
2. Manaḥparyāyajñāna मनःपर्यायज्ञान and
3. Kevaljñāna केवलज्ञान.

The former two are called as Deśapratyakṣa and the last one called Sarva Prattyakṣa. 2 (or Vikala-pratyakṣa). Although all the three types of Mukhya pratyakṣa are

non-sensuous and they all arise in the self directly, yet the Deśapratyakṣa are partial knowledge. The Sarva Pratyakṣa is the knowledge of all, it is perfect and infinite knowledge. Thus, the Kevalajñāna is the knowledge of all, it is omniscience. The three types of Mukhyapratyakṣa may now be explained one by one.

Avadhi Jñāna:

According to the Jaina Āgamas, Mati-Śruti, are sensuous knowledge and Avadhi, Manaḥparyāya and Kevala are non-sensuous knowledge and are called Mukhya Pratyakṣa in the logical literature. Jainas hold that the self possesses infinite knowledge as its essential quality but due to the obstruction of the Karmas this infinite knowledge is not manifested. When these obstructions are destroyed, the knowledge arises. There are five types of obstructions corresponding to the five types of knowledge. Each type of knowledge is obscured by its own obstruction or Jñāvaraṇa. As for example Matijñāna is obscured by Matijñānāvaraṇa and it arises by destruction and subsidence (Kṣayopaśama) of its Karmic veil (Matijñānāvaraṇa). The Avadhijñāna is non-sensuous knowledge. It arises in the self without the help of the sense organ and mind. 'Avadhi' means limitation, though Avadhijñāna is non-sensuous yet it is limited, because due to Avadhi one can perceive the objects, which possess form or shape (Rūpin). All the objects, which have form, are manifested in Avadhi but all their modes cannot be manifested in this knowledge, although the objects are of

the past, future or is distant. It can apprehend very fine objects, such as the atoms and the Karmic matters etc. All these objects are known by the self directly.

Avadhijñā is divided into many types. All types of Avadhijññna cannot apprehend all objects of all space and all time. This faculty differs in different beings on account of the development of their spiritual discipline. The highest type of Avadhijñāna is able to apprehend the material objects of all times and all space. The lower type of Avadhijñāna extend to a very small fraction of space and time.

The question may arise as to who possesses this knowledge. With respect to its possessor, the Avadhijñāna is of two types: Bhāvapratyakṣa and Guṇapratyakṣa. The former is that which arises in a person due to his birth; for example, the beings of heaven and hell acquire this kind of Avadhijñāna which is their birthright. The Guṇapratyakṣa is that which has to be acquired as a result of special merit. Everybody can acquire it when his Avadhijñāna is destroyed by meditation and discipline. Although both types of Avadhijñāna arise by destruction and subsidence of its Karmic veils, yet for the Bhāvapratyakṣa-avadhijñāna the Nimitta Kārṃṇa is the birth of the beings who possess it. Just as the birds acquire the capacity of flying in the sky from their very birth. This Avadhijñāna is not the highest type of Avadhijñāna; it is limited Avadhijñāna.

Manaḥparyāya jñāna:

Mind, according to the Jainas is a material substance. Its modes are its different changing states. As our states of thoughts change, the modes also change correspondingly. These changing modes of the mind are called Manaḥparyāya. And the knowledge which knows the modes of thinking of the mind of other persons is called Manaḥ. A person possessing Manaḥparyāyajñāna मन:पर्यायज्ञानdirectly knows the other's mental states without the help of sense organs and mind. Such knowledge arises by the destruction and subsidence of मन:पर्यायज्ञानावरण. According to Jainas, mind is a material substance. Its modes are its different changing status. ("परकीयमनोगतार्थज्ञानं मन:पर्याय:" TS iv 1.9-4).

There are different views on the nature of Manaḥparyāya. According to Jinabhadra in Manaḥparyāyajñāna one perceives the state of mind substance directly, but then external object of thought of another mind are known only by inference. Because, the external object of thought may be material or non-material, object cannot be approached by Manaḥparyāya, because the Amrutas are known directly only in the state of Kevala Jñāna.

According to Akalaṅka Manaḥ-Paryāya-Jñānaalso apprehends directly the objects of others thought. The object of such knowledge cannot be an inference, it is perceptual knowledge. Akalaṅka holds that the external objects also are directly apprehended by Manaḥ Paryāya, as they are associated

with mind. However, mind is not the cause of Manaḥparyāya. Akalaṅka argues that mind is only the Apekṣā in this knowledge and not the cause. For example, when one sees the moon in the sky, one cannot see the moon without perceiving the sky. The sky is only the Apekṣā and not the cause in the knowledge of the moon. It is of two types: Ṛjumati and Vipulamati. They are different in respect of purity and duration. Ṛjumati is less pure and Vipulamati purer, clear and more enduring. It lasts up to the rise of omniscience. Man can possess both type of Manḥparyāya. According to Hemachandra, the external object of other mind are not apprehend directly in Manaḥ Paryāyajñāna; they are known only by inference.

Further, मन:पर्यायज्ञान should not be understood, as knowledge desired from mind; it is not any type of mental perception. But it is a non-sensuous knowledge arising within the self directly, without the help of the sense organs or mind. Mind is not the cause of this knowledge, but it is the knowledge of the mental state of others, which is derived from the self itself. Thus it is not empirical knowledge.

Kevalajñāna:

Kevalajñāna is the perfect and infinite knowledge. We may call it omniscience. As mentioned before, when the obstructions of all the Karmas are destroyed, the self attains Kevala or omniscience.

In this knowledge one apprehends simultaneously and

all their qualities simultaneously without the help of sense organs and mind. It is perfect and eternal knowledge. According to the Jainas, there would be possessor of omniscience should have his birth as a human being within the specified time. Omniscience arises from the destruction of all the karmas. A question frequently discussed is whether the four imperfect knowledge (Mati, Śruti, Avadhi and Manaḥparyāya) are present or not, in the state of omniscience. Some hold that in the state of Kevala-Jñāna the other four knowledge-exist, but they are overpowered by the light of the sun. Umāsvāti points out that this view is not true, because the Kevala arises due to the total destruction of all Karmic matters, while the other four knowledge arises by the destruction and subsidence (Kṣayopaśama) of their own Jñānāvaraṇas or the Karmic matters. When there is total destruction of Karmic matters the other knowledge also could not arise. There would be only the state of omniscience[16].

Yashovijaya holds in this conception that there are five types of knowledge as well as five types of Āvaraṇas. In other words, a particular Jñāna has its own Āvaraṇa as an obstruction to its manifestation. And when its Āvaraṇa is destroyed; that knowledge is manifested. When the Āvaraṇa of the perfect knowledge (केवलज्ञानावरण) is destroyed then arises perfect knowledge of the Kevala. The main question is: when the ACvaraṇa of the Kvalajñāna is destroyed and one possesses perfect or infinite knowledge, then does he also possesses the other partial knowledge or not? The partial knowledge

arises due to the destruction of their own different ACvaraṇas. Yośovijaya replies that though the different knowledge are manifested by the destruction of their own knowledge obscuring Karmas, yet the Āvaraṇa of perfect knowledge is also same time the cause of manifestation of imperfect knowledge,. just as the veil of cloth may be both, obstruction of clear vision and also a cause of unclear vision.

In other words the obstruction of perfect knowledge is the cause of manifestation of imperfect knowledge. Thus, according to Yashovijaya, for an 'omniscient person partial knowledge is for the cause of partial knowledge i.e. kevalajñānāvaraṇīya, has been destroyed. It may be asked, how can the self be both Āvṛta and Anāvṛta at one and the same time? In reply, it is said that this is possible only from the Anekānta viewpoint. The self may be obscured by the Kevalajñānāvaraṇaand the self may not be obscured by the Matijñānāvaraṇa at the same time. Yashovijays says that knowledge is the essential quality of the self but it has many modes (Paryāya). These modes are the partial knowledge, and when the perfect knowledge is Āvṛta by the Kevalajñānāvaraṇa the partial knowledge may be Anāvṛta. And as the knowledge is the essential quality of the self, the self would be both Āvṛta and Anāvṛta by the destruction of different kinds of Karmas at one and the same time.

Conclusion:

The Jaiṇas view that the sense organs are not capable

to apprehend .the objects with all its permanent and changing qualities seems to be reasonable for sense organs have limited capacities.

According to Jaina, Pratyakṣa is that type of knowledge, which is able to apprehend the object with all its permanent and changing qualities and that is possible only by the self. Therefore, Pratyakṣa means the knowledge arising in the self directly.

The object derived from the sense organs is called Sāmvyavahārika Pratyakṣa - सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष. The Jainas not only define Sāmvyāvahārika Prtyakṣa but also analysis the process involve in it. The process consists in the four stages namely, Avagraha etc. The idea of four stages is original to this system. Though other system of Indian philosophy distinguishes between Nirvikalpaka and Savikalpaka perception, yet this distinction is not as detailed distend as that of Jainas. No other system has given such an account of the different stages of sense perception.

The concept of non-sensuous knowledge of the Jaina philosophy is based on their metaphysics. According to Jainas, knowledge is the essential quality of the self. The pure self possess infinite knowledge, but due to the veil of the Karmic matters it cannot realize its true nature. When the obstruction of true nature is destroyed, knowledge arises in the self. The self can then know the object directly without the help

of sense organs.

Regarding the nature of the non-sensuous perception, the Jainas are not very clear. They say simply that in Avadijñāna one apprehends directly by the self. In Manaḥparyāya the knowledge of other mind is acquired and in Kevalajñāna, the self-possessed the knowledge of all things, past present and future and also of its own pure nature. The Jainas do not say much about the nature of it.

- How does the self apprehend the object? Following what process?
- Does it apprehend the objects as done by the sense organs?
- Do the objects come in the contact with the self only in the shape of ideas?
- Is this knowledge purely subjective experience like the pleasure and the pain?

—These questions are left unanswered. The Jainas hold that every body can become an omniscient, which most other schools believe in God as the omniscient being.

Regarding the nature of omniscient or Kevala-jñāna, the Jainas are not very clear. They simply say that in Kevalajñāna the self-posses knowledge of all.

चर्चा

Jaina theory of perception

डॉ. बी. के. दलाई

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : "विशदं प्रत्यक्षं" "स्पष्टं प्रत्यक्षम्" इस तरहकी प्रत्यक्षकी परिभाषा आपने बतलाई. इसका अर्थ क्या यह होता है कि अन्य प्रमाणोंसे प्राप्त ज्ञान स्पष्ट नहीं है?

बी. के. दलाई : They use three terms one is Viśadam. Sometimes in some text they replace it by Spaṣṭam. And as I told there are two adjectives: Añjasā. Actually 'Spaṣṭa' means अनुमानादिप्रमाणव्यतिरेकेण. Therefore, it means the knowledge that is not depending on Anumāna, Śabda and other things. So 'Spaṣṭam' has nothing to do with clear.

विन्ध्येश्वरीप्रसाद : 'विशदम्' इत्यस्य को अर्थः?

बी. के. दलाई : तदेव. अनुमानादिप्रमाणव्यतिरेकेण लब्धं ज्ञानवैशद्यम्.

यज्ञेश्वर शास्त्री : जैनोंके केवलज्ञानकी तुलना हम यौगिक प्रत्यक्षके साथ कर सकते हैं.

बी. के. दलाई : Ātmā gets direct knowledge of three types : १.अवधिज्ञान २.मनःपर्यायज्ञान ३.केवलज्ञान. So, Pāramārthika is of three kind therefore we have to take them togather.

बलिराम शुक्ल : प्रत्यपरोक्षभेदेन प्रत्यक्षं द्विविधम् इति पत्रे लिखितम् अस्ति. Here you say that Indriya-pratyakṣa is also Parokṣa knowledge. What is the reason behind

it ?

प्रद्योतकुमार : इन्द्रियप्रत्यक्षं परोक्षम् अथवा इन्द्रियज्ञानं परोक्षम् ? What is the word they have used ?

बलिराम शुक्ल : इन्द्रियप्रत्यक्षं परोक्षम् इत्येव.

बी. के. दलाई : Indriya pratyakṣa is parokṣa, he is right.

प्रद्योतकुमार : Do they use words Indriyapratyakṣa is parokṣa ? Pratyakṣam parokṣam ? तदातु वदतोव्याघात: !

बलिराम शुक्ल : Yes.

बी. के. दलाई : I will explain it. Actually we have to consider the historical account. The earliest person was Divakara who has done this division like : Jñāna is of two types:Pratyakṣa and Parokṣa. Then very cleverly ... he was aware of the Agamic problem ...

प्रद्योतकुमार : The idea is you begin by dividing Jñāna in to Pratyakṣa and Parokṣa and later on you say pratyakṣam parokṣam? I am asking the factual question. They say both things Jñāna is of two types Pratyakṣa and Parokṣa. Again they say Pratyakṣam parokṣam.

बी. के. दलाई : Pratyakṣa is a direct knowledge, no Indriya intervention is there. No confusion. Parokṣa knowledge is the knowledge through Indriya, Anumāna etc. Now, let us come to the logical period. In logical period we can see that they are influenced by the Nyāya and Bauddha systems. So they feel that they are telling something that is not relevant. Because they are telling that Indriya

Pratyakṣa is Parokṣa in Āgama period. So they are very much aware that they are telling something no body is going to accept. Akalanka was very claver. He wanted to reconcile this abnormality. So he said: "ज्ञानं द्विविधम्: [१]प्रत्यक्षं [२]परोक्षम्. प्रत्यक्षमपि द्विविधम्: [१]इन्द्रियप्रत्यक्षं पारमार्थिकप्रत्यक्षम्". So did further dichotomy.

प्रद्योतकुमार : You try to consider this point. It can not be that in terms of Naiyāyika is such that they started uttering nonsense or contradiction. This is not possible that naiyāyika teaches contradiction. The idea is, actually what you are saying is this that they admit two types of Pratyakṣa. One is Indriyajanya and other is Anīndriya. There is no contradiction in this.

बी. के. दलाई : So that is further division.

बलिराम शुक्ल : But they have included Indriya Pratyakṣa in Parokṣa.

प्रद्योतकुमार : What I meant to say there is Indriyajanya jñāna and Anīndriya jñāna. Two types of Pratyakṣa is there. This is quite intelligible. How? I can tell you. Indriyajanya jñānam can be Pratyakṣa and Parokṣa also. But how Pratyakṣa can be Parokṣa?

बी. के. दलाई : They have deferent sense while saying Pratyakṣam parokṣam.

प्रद्योतकुमार : It may be. But then how they begin by saying that the dichotomy is there? द्वैविध्यं कथम्? प्रत्यक्षं परोक्षं च इति द्वैविध्यं कथम्?

बी. के. दलाई : Firstly, you suggested that it can not be an influence of Nyāya but I am thoroughly convinced that it is an influence of Nyāya. Because seeing their development that they are following our pattern. They are using Indriya, Artha, Sannikarṣa ...So, definitely Akalanka was consistent that Indriya pratyakṣa cannot be Parokṣa, hence for him there was no other way than accepting two kinds of Pratyakṣa[Post-script].

प्रद्योतकुमार : OK. we shall come on this question some other time. Next question.

वी. एन्. झा : Do you find any argument for accepting Nirvikalpaka Pratyakṣa? What they call it Vyañjanāvagraha?

Post-script : This problem is already raised in the tradition, and answered to as well. When we use the expression "प्रत्यक्षं परोक्षम्", the word 'Pratyakṣa' conventionally means the knowledge derived through sense organs which is 'Pratyakṣa' according to all systems of Indian Philosophy. But the Jainas following Āgamic tradition accepts this as Parokṣa. The objection is how Pratyakṣa is Parokṣa. If knowledge arising from sense-perception is Pratyakṣa, how to account for the views of those who called it Parokṣa. The answer has been given in Syādvādaratnākara (II.I) "आद्ये परोक्षम् इति तत्त्वार्थसूत्रे मति-श्रुतद्वयं परोक्षं भणितं भवति. कथं प्रत्यक्षम्? ... मतिज्ञानं परोक्षमपि प्रत्यक्षज्ञानं तथा स्वात्माभिमुखं भावश्रुतज्ञानमपि परोक्षं सत् प्रत्यक्षं भण्यते" (द्रव्यसंग्रहवृत्ति ५)

"कथं पुनः एतेषां प्रत्यक्षराद् वाच्यत्वम्? रूढितः इति ब्रूमः" (न्यायदीपिका २).

बी. के. दलाई : Yes. There is no systematic argumentation. Even the definition is lacking. Till Akalanka there was no definition. And they say that when Indriya comes in to contact with the object, it gets some awareness like Sattāmātra or Sanmātra jñānam. And that can be equated with Nirvikalpak. They have never used such term. Thye say it is Vyañjanāvagraha.

वी. एन्. झा : Arthāvagraha is produced by Vyañjanāvagraha?

बी. के. दलाई : Yes. But they have no argument in favour of accepting Nirvikalpaka.

बलिराम शुक्ल : They have followed that argument of Naiyāyika.

बी. के. दलाई : That is my supposition.

प्रद्योतकुमार : That I am ready to accept but you can't make me believe that Naiyāyika thought them contradiction.

अम्बिकादत्त शर्मा : प्राय: सभी दर्शन निर्विकल्पककी चर्चामें 'सन्मात्र' शब्दका प्रयोग करते हैं. 'सन्मात्र'का अर्थ जैन दार्शनिक जिस अर्थमें स्वीकारते हैं वही अर्थ क्यों स्वीकारा जाय? क्यों नहीं केवलाद्वैतियोंके या शुद्धाद्वैतियोंके अर्थका स्वीकार किया जाय? जैनियोंके ही अर्थको स्वीकारनेमें जैनदर्शनकी क्या युक्तियां होंगी? दूसरी बात यह है कि स्वयं प्रत्यक्षकी निर्विकल्पकता किस प्रकारके सन्मात्र अर्थको समर्थन देता है? यह विचारणीय है. क्योंकि सभी लोग 'सन्मात्र' शब्दका प्रयोग करते हैं. किन्तु उसके अर्थोंमें परस्पर आत्यन्तिक भेद है. 'सन्मात्र' कहनेसे बौद्धोंका स्वलक्षण, अभेदत्व, शुद्धाद्वैतका पक्ष, जैनोंका स्वलक्षण भी आ जाता है.

प्रद्योतकुमार : सभी दर्शनोंमें ''सन्मात्रविषयकत्वं निर्विकल्पकत्वम्'' तो कहा नहीं गया है. न्यायमें ऐसी कोई बात नहीं है.

अम्बिकादत्त शर्मा : अभिप्राय यह है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्षके विषयमें जब विभिन्न सम्प्रदायोंमें मतभेद है और जो-जो सम्प्रदाय निर्विकल्पक प्रत्यक्षको स्वीकारते हैं उनमें उसके विषयमें आत्यन्तिक भेद है तो स्वयं प्रत्यक्षकी निर्विकल्पकता किस प्रकारके विषयका प्रस्ताव करती है?

गो. श्या. म. : आपके प्रश्नको मैं इस तरहसे प्रस्तुत करना चाहूंगा कि जैनोंका जो सन्मात्रावगाही निर्विकल्पक है वह सत् ऐकान्तिक है अथवा अनैकान्तिक है?

बी. के. दलाई : जैनन्यायमें पांचवी शताब्दिके बाद जो ग्रन्थ लिखे गये हैं उनमें निर्विकल्पक प्रत्यक्षकी बात है ही नहीं. कारण यह है कि उनके प्रत्यक्षके लक्षणमें निर्विकल्पकका कोई स्थान ही नहीं है. इसीलिये अवग्रह, ईहा, अवाय आदि जो चार स्टेज् हैं वो सब सविकल्पक प्रत्यक्ष हैं. यह एक बात हुई. दूसरी बात, अब आप आगमको पकड़ें. आगममें यद्यपि 'निर्विकल्पकप्रत्यक्ष' शब्द नहीं आता है लेकिन वह विषय चर्चित है. उन्होंने वहां उसको सत्य या सत्ताजाति के अर्थमें नहीं लिया है, ''इदं किञ्चित्'' इस अर्थमें लिया है. और आपने पूछा कि वह सत् ऐकान्तिक है कि अनैकान्तिक तो जैन सिद्धान्तमें तो आप कुछ भी पूछेंगे तो वो दोनों बातोंको रखेंगे कि इस दृष्टिसे ऐसा है और इस दृष्टिसे ऐसा है.

गो. श्या. म. : जैन अनेकान्तमें मानते हैं यह बात तो समझमें आती है. पर मेरे प्रश्नका आशय यह था कि जब जैन दर्शनमें निर्विकल्पक प्रत्यक्ष माना गया है तब सन्मात्रकी अनुभूतिमें उसके पर्यायोंकी भी अनुभूति होती है या केवल द्रव्यकी अनुभूति होती है यह स्पष्ट होना चाहिये.

बी. के. दलाई : केवल द्रव्यकी अनुभूति होती है.

गो. श्या. म. : यदि केवल द्रव्यकी अनुभूति होती है तब उसमें सातों भंगिमाओंका अनुभव होता है कि उनमेंसे केवल "स्याद् अस्ति"का ही अनुभव होता है?

बी. के. दलाई : इसका निर्णय तो हम नहीं कर सकते हैं.

प्रद्योतकुमार : Don't say that. This is a very good question. You have to pay attention to it. केवल "स्याद् अस्ति" इतना ही ज्ञान होता है कि नहीं इसका उत्तर सीधा-सीधा देना चाहिये.

बलिराम शुक्ल : इतना ही होगा.

प्रद्योतकुमार : तब तो सप्तभंगीका सिद्धान्त ...

बलिराम शुक्ल : वहां सप्तभंगी नहीं है.

यज्ञेश्वर शास्त्री : सप्तभंगी आयेगा तो सविकल्पक हो जायगा.

गो. श्या. म. : सविकल्पक हो जायगा वह तो ठीक बात है पर मेरी समस्या यह थी कि निर्विकल्पकप्रत्यक्षमें केवल "स्याद् अस्ति"का ही यदि अनुभव होता है तब फिर उसको पारमार्थिक नहीं माना जा सकता है. तब फिर जैनसिद्धान्तानुसार वह बात मिथ्यादृष्टिमें चली जायगी.

एस्. वी. बोकिल् : One thing which is unique about the Jaina system seems to me is that they talk about the knowledge of other's mind which other systems do not do. No other system I have come across presents a discussion of a problem of other minds. They speak of Manḥparyāya which is mentioned as a kind of Mukhya Pratyakṣa. But I do not know how they really treat this Manḥparyāya as Mukhya Pratyakṣa. It is quit clear that we know other minds. We understand their thoughts. We

know that some one is undergoing pain. Now this is not a matter of direct perception. This is not a sensuous perception. This is a matter of inference. And therefore we shell not make any gain by just describing as direct perception or Mukhya Pratyakṣa. The Jaina thinkers will have to think carefully about it that it is a matter of inference. And even when its a matter of inference, you can not put it at such a level that it is not possible for the ordinary people. It seems to me that Manaḥparyāya can be had by a very special category of people. This is not the case.

बी. के. दलाई : You suggested that it should be inference and not Pratyakṣa. But, Jainas have built their system in such a manner that they have to tell it Pratyakṣa and that too Pāramārthika. The definition they give is that ''परमनोगतार्थविषयं मनःपर्यायम्''So, as I said, soul has developed to such a stage that it can read others mind you gave a practical example. But that is an external thing. You see the Linga and go to infer the Sādhya. But Jainas are not accepting this view. They say that soul develop, like Yogī, such a higher extent that by even closing their eyes, without any contact they can read not anybody's mind but minds of everybody. And even they have accepted various stages of Manaḥparyāya. So we can not say that its an inference, it has to be Pratyakṣa, and not only Pratyakṣa, Mukhya

Pratyakṣa.

एस्. वी. बोकिल् : Surely you don't mean by Manḥparyāya Jñāna as telepathic knowledge. You mean that its a knowledge which can be had by anyone who is living in human society.

प्रद्योतकुमार : It is not that there is no recognition of the fact that we can, in Indian system, know others mind. Not even it is the case that we do not admit that we can have knowledge of others mind directly. And thirdly, we can have also knowledge of others mind by a person who is not explicitly a Yogī. This is call Prātibha Jñāna. This kind of knowledge has many many uses. And there are many textual evidence where it has been said that even a small girl or boy says "Me bhrātā āgamiṣyati" and actually his brother comes next day. So, this kind of cognition is possible. But, mostly it is inferential according to Naiyāyika. But even when you say Manḥparyāya, one point Dr. Dalai has made very clear, that it is not the perception of other's mind. It is the perception of the stage of other's mind. Para-manogata-dharma. And lastly, you started with the assumption, which is very risky, you said we all have the knowledge of other's mind. So, how is it that only Jaina accept it ?

एस्. वी. बोकिल् : This is a condition of our living in a society that we have knowledge of other mind. We can not live in society if we are not able

to read the mind of others.

प्रद्योतकुमार : Most of the thing we assume. E.g. we go on when we utter a sentence. Not a single sentence do you utter which gives full description of the event that is described. But still we go on conversing. So for the purpose of conducting our daily business it is not necessary that we have complete knowledge nor it is necessary that we should have direct knowledge of all the things that we believe. So, all these beliefs are not of practical usage. But even as a matter of final attainment, then it has to be complete, it has to be direct.

श्रीहरि:

श्रीद्भागवतप्रस्थाने 'प्रस्थानरत्नाकरे' च प्रत्यक्षप्रमाणविमर्श:

डॉ. विन्ध्येश्वरीप्रसादमिश्र:

मेघश्यामतनुप्रभां स्थिरतडिद्दीप्तोज्ज्वलां मञ्जुलाम्
लीलालास्यलसच्छटां मधुपृषत्सद्वर्षहर्षां पराम्।
शुष्यत्प्रीतिधुनीविवर्धनकरीं चिद्वाटिकोज्जीवनीं
ध्यायामो हृदि सद्घनामृतमयीं राधामुकुन्दद्वयीम्॥१॥
प्रमाणप्रामाण्ये यदनुसरणात् सम्प्रसरत:
प्रमित्सावैविध्यं फलति यदुपाश्रित्य सफलम्।
प्रमेयाकारं यत् स्फुरति बहुधाऽप्यद्वयपदं
नुम: तच्चैतन्यं सदिति हृदि भान्तं रसघनम्॥२॥
शुकवाङ्माधुरीस्फूर्तं मूर्त्तं श्रुत्यन्तविग्रहम्।
वन्दामहे द्रुतं दीप्तं श्रीमद्भागवतामृतम्॥३॥
कृष्णद्वैपायनं श्रीमद्बादरायणसञ्ज्ञितम्।
विधातारं रसस्यास्य व्यासदेवम् उपास्महे॥४॥
ब्रह्मराताभिधं व्यासात्मजं योगीन्द्रवन्दितम्।
नन्दिताखिलसत्सार्थं नमामो बादरायणिम्॥५॥
येषां पादाब्जपांसूनां स्मरणादपि तत्क्षणम्।
मनो निश्चलतां याति गुरूंस्तांश्च भजामहे॥६॥

प्रत्यक्षमिति सर्वप्रमाणोपजीव्यत्वात् मुख्यं प्रमाणम् इति नग्नान् व्यतिरिच्य प्राय: समेषामपि आस्तिक-नास्तिकोभयनयनिपुणानाम् अभिमति:. चार्वाकोऽपि व्यतिरिक्तान् प्रमाणभेदान् अनंगीकृत्य प्रत्यक्षमेव कक्षीकुर्वन् दृश्यते. ''अक्षम् अक्षं प्रतीत्य यस्मिन् प्रमिति: उत्पद्यते तत् प्रत्यक्षम्'' इति अस्य निर्वचनं,

तत्तु प्राय: प्रायोवादतामेव अवलम्बते, सर्वैः वादिभि: अत्र नियततयेन्द्रियार्थसन्निकर्षनियमस्य प्रत्यक्षलक्षणावसरे अनभ्युपगमाद् इति न अविदितं तत् तत्त्वविदाम्. 'द्रष्टम्' इत्यस्यैव नामान्तरं सांख्यकृतान्ते अपरोक्षम् इति, अद्वैतवेदान्तिनां नये 'आत्मसंविद्' इति च, अंशत: श्रीमद्भागवतप्रस्थानाभिमानवताम् अस्माकं सिद्धान्तइति न जातु भ्रमितव्यं सुधीभि:.

चार्वाकाद् अनन्तरं सर्वैरपि वादिभि: स्वस्वप्रक्रियाम् अनुसरद्भि: अस्य वैशद्येन लक्षणस्वरूपभेदप्रभेदाद्याविष्कृति: प्रसाधितेति तत्तदाकरग्रन्थैरेव अवगन्तव्यं, विस्तरभयात् प्रकृते अनावश्यकत्वात् न क्रमश: तेषां समेषां लक्षणादीनाम् अनुवादो अत्र विधीयते; स्वराद्धान्तसमाराधनावसरेतु यथाप्रसंगं समालुलोचयिषया तानि अंशत: समादाय निरूपयिष्यामएव इति अलं बहुभूमिकया. अधुना प्रकृतम् अनुसराम:.

श्रीमद्भागवतमहापुराणं वेदान्तस्य स्वतन्त्रं श्रुतिस्मृतितर्कसमन्वयपरं प्रस्थानम्

अष्टादशपुराणेषु अन्यतमं श्रीमद्भागवतं भावदृष्ट्या कलिकल्मषरन्धनं ललितकृष्णकथानिबन्धनं भगवत्प्रीतिपरायणानाम् अन्यतमं परमञ्च धनं सद्भक्तिशास्त्रं, भगवतो वेदव्यासापरनामधेयस्य बादरायणाचार्यस्य स्वाविष्कृतवेदान्तसूत्राणां स्वोपज्ञं रसभाष्यं, दार्शनिकसिद्धान्तदृष्ट्या च उपनिषद्रूपश्रुतिप्रस्थानस्य श्रीमद्भगवद्गीतारूपस्मृतिप्रस्थानस्य ब्रह्मसूत्ररूपतर्कप्रस्थानस्य च मिथ: समन्वयपरं वेदान्तदर्शनस्य स्वतन्त्रं प्रथमञ्च प्रस्थानम् इति अस्माभि: स्वीयानेकसन्दर्भेषु पुरापि अभ्यधायि. वेदान्तसूत्राणां, श्रीशंकरभगवत्पाद-श्रीभास्कराचार्य-श्रीरामानुजाचार्य-श्रीमदानन्दतीर्थ-श्रीनिम्बार्काचार्य - महाप्रभु-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीबलदेवविद्याभूषणादयो ये-ये भाष्यकृतो अभूवन् ते भारतीयविचारपद्धत्या श्रीभद्भागवतात् कालक्रमतो अर्वाञ्च:. समेषामपि एषां सिद्धान्तानाम् अनादिपरम्परादृष्ट्या नित्यत्वाद् अथच सत्यत्वादपि एभि: प्रवर्तिता: समुद्धृता वा सम्प्रदाया: सन्दृब्धाश्च भाष्यादिग्रन्था न श्रीमद्भागवतस्य स्वाभिप्रायम् अन्यथयितुं प्रभवन्ति - प्रभविष्यन्तीति च सुदृढं मन्यामहे.

अत्र यद्यपि समाम्नातपूर्वाणां भक्ति-ज्ञान-वैराग्यादि-साधनसम्पत्या स्वस्वस्थाने अपूर्वाणाम् अमीषां केवलाद्वैत-विशिष्टाद्वैत-शुद्धाद्वैत-द्वैतद्वैताद्वैतादि-वेदान्तप्रतिष्ठापनाचार्याणाम् आर्याणां सिद्धान्तमूलानि तत्र-तत्र अधिकारिभेदाद् रुचिभेदात् श्रीमद्‌भागवतशास्त्रे प्रसंगतः संगमयितुं शक्यानि किन्तु एकस्यैव कस्यचन आचार्यस्य सिद्धान्तः समग्रस्य श्रीमद्‌भागवतस्य व्याख्याने पर्याप्नोति इति अभिनिवेशो न अस्माकं मनो अनुरञ्जयति. श्रीमद्‌भागवतशास्त्रे बहवो अंशाः दर्शनशास्त्रीयाः तत्तत्प्रसंगेषु अधिकारभेदं रुचिभेदं च अनुरुन्धानाः भक्ति-ज्ञान-विराग-पोषणपूर्वकं नैष्कर्म्याविष्कारायैव प्रभवन्ति; वस्तुतस्तु अमलज्ञानात्मिका परमहंससंहितैव एषा महामुनिकृता वाक्प्रसृतिः. यथा उक्तं तत्रैव ग्रन्थोपसंहारे ''श्रीमद्भागवतं पुराणम् अमलं यद् वैष्णवानां प्रियं, यस्मिन् पारमहंस्यम् एकम् अमलं ज्ञानं परं गीयते, तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यम् आविष्कृतं, तत् शृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येत् नरः'' (भाग.पुरा.१२।१३।१८) इत्यत्र. एतस्मादेव अस्य सर्ववेदान्तसारतापि सांगत्यम् उपैति. तदपि उक्तं भगवता पुराणकृता ''सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणं वस्तु अद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम्'' (तत्रैव १२।१३।१२). अपिच ''सर्ववेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतम् इष्यते'' (तत्रैव १२।१३।१५) इत्युक्तरीत्या 'ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणकं' 'कैवल्यैकप्रयोजनकं' च शास्त्रम् इदं भूयस्त्वेन ज्ञानप्रमाण-तत्त्वाचारमीमांसासु श्रीमच्छंकराचार्यराद्धान्तम् अनुगृह्णाति इति निष्पक्षतया स्फुटम् अवबुध्येरन् मार्मिकाः. किन्तु लीलादिरसरहस्यानां प्रकाशनावसरे भगवद्‌भक्त्युपासनादि-निरूपणसन्दर्भे तत्तद्वैष्णवाचार्याणामपि मतानि उत्तभ्नाति इति निर्विचिकित्सं सम्प्रधारयामः. अतो अस्मत्प्रतिपादितं श्रीमद्‌भागवतदर्शनं ब्रह्मविद्यया सार्द्धं भक्त्यादिसंवलिततत्वात् न केवलं केवलाद्वैतमेव श्रीमद्‌भाष्यकार-शंकरभगवत्पाद-प्रतिपादितं मतं प्रथयति अपितु नैकेषु प्रसंगेषु तद्‌व्यतिरिच्यापि अग्रे सरति इति समालोचनावसरे अवधेयं धिषणाधौरेयैः. एतस्मादेव कारणाद् भागवतोक्त-प्रमाण-प्रमेयादि-सन्दर्भा न सर्वथा वेदान्तपरिभाषादिकानां केवलाद्वैतग्रन्थानां; नवा प्रस्थानरत्नाकरादीनां शुद्धाद्वैतसन्दर्भाणाम् अन्येषां वा साम्प्रदायिकप्रबन्धानामेव तात्पर्यम् अवकल्पन्ते. तेतु स्वतन्त्रानुरोधात् सुतरां स्वतन्त्राअपीति श्रीहरिगुरुकृपया यथामति श्रीमद्‌भागवतशास्त्रस्य भृशम् अनुशीलनान्तरं निर्भ्रान्तं वक्तुम् ईश्महे. अधुना

इदम्प्रथतया शास्त्रस्य अस्य प्रत्यक्षप्रमाणावलम्बिनीं पद्धतिं संक्षिप्य निदर्शयामः.

श्रीमद्भागवते प्रत्यक्षप्रमाणस्य अभिस्वीकृतिः स्वरूपं भेदाः पद्धतिः च

प्रमाणत्वेन अत्र प्रत्यक्षस्य सुस्पष्टम् अभिस्वीकृतिः मुक्तिलक्षणलक्षितं एकादशस्कन्धे वारत्रयम्. यथा "श्रुतिः प्रत्यक्षम् ऐतिह्यम् अनुमानं चतुष्टयं प्रमाणेषु अनवस्थानाद् विकल्पात् स विरज्यते" (११।१९।१७)इति प्रथमवारम्. "प्रत्यक्षेण अनुमानेन निगमेन आत्मसंविदा, आद्यन्तवद् असन् ज्ञात्वा निःसंगो विचरेद् इह" (तत्रैव ११।२८।९) इति द्वितीय वारम्. अथ तृतीयवारञ्च यथा "ज्ञानं विवेको निगमः तपः च प्रत्यक्षम् ऐतिह्यम् अथ अनुमानम्, आद्यन्तयोः अस्य यदेव केवलं कालः च हेतुः च तदेव मध्ये" (तत्रैव ११।२८।१८).

—इति त्रिष्वपि स्थलेषु सर्वटीकाकृत्सम्मतत्वात् प्रत्यक्षस्य प्रमाणता. यथाहि "एवं प्रमाणचतुष्टयम् ..." (११।१९।१७) इत्यस्य भावार्थदपिकायां "आद्यन्तवत्त्वे प्रमाणानि प्रत्यक्षादीनि...." (११।२८।९) इत्यस्य च भावार्थदीपिकायाम्. तत्रभगवन्तः श्रीधरस्वामिनः "श्रुतिरिति द्वाभ्यां...प्रमाणचतुष्टयम्" "...प्रत्यक्षं प्रमाणम्" (११।१९।१७) इत्यस्य 'सिद्धान्तप्रदीप'व्याख्याने श्रीशुकदेवः. "प्रत्यक्षादिप्रमाणबलेन...-"कि१ (११।२८।९) इत्यस्य 'पदरत्नावल्यां' च श्रीमद्विजयध्वजः.

अत्र द्वितीयाभिस्वीकृतौ, "आत्मसंविद्" इति प्रत्यक्षस्यैव आन्तरः पारमार्थिकः कश्चिद् भेदविशेषो न प्रमाणान्तरं, यथाहुः श्रीस्वामिवर्याः "आत्मसंविदा स्वानुभावेन..." (११।२८।९ इत्यत्र 'भावार्थदीपिका') "प्रत्यक्षं स्वानुभवः...." (११।२८।१८ इत्यत्र च 'भावार्थदीपिका') इति.

ननु च 'आत्मसंविदा' इति उपादानं 'प्रत्यक्षेण' इति पृथक्पदसहकृतमिति टीकाग्रन्थो न मूलम् आटीकते इति कैश्चिद् उट्टंक्येत तदपि नावदातं, 'प्रत्यक्षम्' इति प्रथमपदेन विषयेन्द्रियसम्पर्कजस्य व्यावहारिकबोधस्य द्वितीयेन 'आत्मसंविद्' इत्यनेन च 'आत्मसाक्षात्कारा'ख्य-पारमार्थिकबोधस्य उद्दिष्टत्वाद्.

केवलाद्वैतप्रस्थानवद् अत्र भागवतप्रस्थानेऽपि प्रकारान्तरेण इन्द्रियजन्यं तदजन्यम् इति प्रत्यक्षद्वैविध्यस्य वक्ष्यमाणरीत्या अभ्यंगीकाराद् इति अनाकुलम्. अथ अत्र किंस्विल्लक्षं प्रत्यक्षं? किञ्च तत्स्वरूपम् इति उच्यते भगवता श्रीमद्भागवतशास्त्रकृता व्यासेन स्वमुखेन ग्रन्थे अत्र न अस्य लक्षणं न्यरूप्यत: समग्रग्रन्थानुशीलनमहिम्ना वयमेव अस्य लक्षमेत्थं निष्कर्षयाम:

"**साक्षात्कारिप्रमावृत्त्युपजननं प्रत्यक्षम्**" इति.

साक्षात्कारित्वञ्च अत्र ज्ञानान्तरसाचिव्यराहित्यम्. तेन अनुमानादौ न अतिव्याप्ति:. 'प्रमावृत्त्युपजननम्' इत्यनेन भ्रमात्मकज्ञानोपजनके करणे प्रमारूपयथार्थबोधे प्रमाणस्य फले च अतिप्रसक्ति: पराकृता. वृत्त्युपजनकता हि अत्र स्वीकृते बहुविधप्रत्यक्षभेदे पृथक्पृथगेव अवगन्तव्या. तद् यथा व्यावहारिके (लौकिके) प्रत्यक्षे वाक्पाणिपादादि-पञ्चकर्मेन्द्रियै: उपस्थापिते चक्षुरादिपञ्चज्ञानेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानेन्द्रियाणां सामान्यानां, योगिनां योगजप्रत्यक्षे तप:संयमयोगादि-साधनोद्दीप्तबलवद्विशिष्टेन्द्रियाणां भगवदनुगृहीतानां भक्तानां श्रीमद्भगवद्विग्रह-लीलाधामादि-साक्षात्कारे तत्प्रसादावाप्त-दिव्येन्द्रियाणां, सुखदु:खमोहाद्यनुभवात्मके मानसप्रत्यक्षे च अन्त:करणप्रतिरूपस्य मनसो बुद्धेः वा इत्यस्य प्रक्रियातु अग्रे विवरिष्यते. ब्रह्मापरपर्यायस्य आत्मनस्तु साक्षात्कारे यद्यपि "न तत्र चक्षुः गच्छति न वाग् गच्छति नो मन:" (केनोप.१।१।३) "यद् मनसा न मनुते" (तत्रैव १।१।६) "यत् चक्षुषा न पश्यति" (तत्रैव १।१।७) "यत् श्रोत्रेण न शृणोति" (तत्रैव १।१।८) इत्यादिश्रुत्यन्तवचोभि: "यद् न स्पृशन्ति न विदुः मनोबुद्धीन्द्रियासव:" (तत्रैव ६।१६।२३) "नैतन् मनो विशति वाग् उत चक्षुः आत्मा" (तत्रैव ११।३।३६) प्रभृतिभिश्च पारमहंस्यसंहितोक्तवचनैः च मनोबुद्ध्यादीनां तज्जन्यवृत्तीनां वा परमार्थतया नास्ति उपयोग: तथापि "यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्क: सदाशुचि:, सतु तत्पदम् आप्नोति यस्माद् भूयो न जायते" (कठोप.१।३।८) "विज्ञानसारथिः यस्तु मन:प्रग्रहवान् नर:, सो अध्वन: पारम् आप्नोति तद् विष्णो: परमं पदम्" (तत्रैव १।३।९) "एष सर्वेषु भूतेषु गूढो आत्मा न प्रकाशते, दृश्यतेतु अग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि:" (तत्रैव १।३।१२) इत्यादि श्रवणात्. तथैव "निर्गुणे

ब्रह्मणि मयि धारयन् विशदं मनः, परमानन्दम् आप्नोति यत्र कामो अवसीयते''(भाग.पुरा.११।१५।१७) ''आत्मानं चिन्तयेद् एकम् अभेदेन मया मुनिः''(तत्रैव ११।१८।२१) ''तस्माद् ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानम् उद्धव''(तत्रैव ११।१९।५) ''आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षणः एवम् अन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमो मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नीव अर्कोदये तमः''(तत्रैव ११।२४।२७ - २८).

इत्येवमादिभिः वाक्यैः समुत्थिताद् भागवतशास्त्रानुशासनात् च, विविदिषादशायां मनोबुद्धिवृत्तीनामपि औपयिकत्वं न न समञ्जसम्. तस्माद् वक्ष्यमाणरीत्या अस्मत्स्वीकृतेषु समेष्वपि प्रत्यक्षभेदेषु अस्य लक्षणस्य संगतिः निरवद्या.

अथ प्रत्यक्षभेदाः

अस्मिन् शास्त्रे प्रत्यक्षं प्रथमतया द्विरूपम् : १. इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं 'प्रत्यक्ष'पदवाच्यं प्रथमम्. २. मानसम् अथवा अन्तःकरणार्थसन्निकर्षजं 'वेदान्त'पदवाच्यासु उपनिषत्सु 'अपरोक्षम्' इति पदेन श्रीमद्भागवतेतु 'आत्मसंविद्' इति पदेन परामृश्यमाणं द्वितीयम्.

आद्यं पुनः पञ्चप्रकारकम् :

क. सामान्येन्द्रियप्रत्यक्षं लौकिकानां येन आधिभौतिकं स्थूलं वर्त्तमानकालिकञ्च जगत्स्वरूपम् अधिगम्यते. एतच्च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मक-विषयपञ्चकत्वात् श्रोत्रत्वक्चक्षूरस-नघ्राणेन्द्रियद्वारकं पञ्चविधम्. प्रक्रियादृष्ट्या सविकल्पकं निर्विकल्पकम् इति द्विविधं च.

ख. सामान्येन्द्रियद्वारेण घटपटादौ सन्मात्रसत्तावगाहिज्ञानिनां प्रत्यक्षम्. इदन्तु एकविधम्. ब्रह्मविद्वरिष्ठज्ञानिमात्रैकसंवेद्यम्. अनेन पञ्चेन्द्रिय-परिगृहीत-भौतिकप्रपञ्चेऽपि ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' (छान्दो.उप.३।१४।१) इति श्रुत्युक्तदिशा ब्रह्मबुद्धिरेव उपादीयते.

ग. सामान्येन्द्रियद्वारेण भगवद्भक्तानां ''वासुदेवः सर्वम्'' इति 'भावनाप्रत्यक्षम्'. प्रत्यक्षभेदो अयं भावनाप्रवणेषु भगवद्भक्तेष्वेव स्वरूपम् आधत्ते. एतस्मादेव विभूतियोगदर्शनस्य संसिद्धिः इति पश्चात् स्फुटीकरिष्यते.

घ. योगराद्धदिव्येन्द्रियप्रत्यक्षम्. अनेन भूतभविष्यद्वर्त्तमानत्वावच्छिन्नम् आधिभौतिकम् आधिदैविकम् आध्यात्मिकं च जगद् अधिगन्तुं क्षमन्ते युक्तयुञ्जानभेदभिन्नाः योगिनः. एतच्च स्थूलशरीरस्थ-गोलकनिरपेक्षं सूक्ष्मेन्द्रियमात्रनिर्वर्त्यम् आन्तरम्. इदमपि च भेदद्वयीम् अवगाहते. यथा, धारणाध्यानादिचिन्तासहकृतं परिच्छिन्नकालमात्रावसायि प्रथमम्. समाधिजन्यम् अप्रयासनिर्वर्त्यं शश्वत्कालिकं च द्वितीयम्.

ङ. भगवदनुग्रहलब्ध-भगवज्जनानुग्रहलब्ध-दिव्येन्द्रियप्रत्यक्षम्. अनेन आधिदैविकस्य जगतः तत्रापि प्रकृतिकृतकञ्चुकाद्यतीतानां सच्चिदानन्दात्मकानां श्रीमद्भगवतः तत्पार्षदानां च श्रीविग्रहलीलाधामादिकान्तं साक्षात्कृतिः उपपद्यते. अस्य अधिकारिणः सगुणसाकार-भगवन्मूर्त्युपासका भक्ताएव.

द्वितीयम् इन्द्रियनिरपेक्षमपि द्विविधम् : १. सर्वसाधारणस्य मानसप्रत्यक्षं प्रथमम्. २. जीवन्मुक्तानां विदेहमुक्तानां नित्यात्मप्रत्यवमर्शस्वरूपञ्च द्वितीयम्.

अथ एतेषां सनिदर्शनं प्रक्रियानिरूपणम्.

पर्यायेण अत्र समेषामपि एषां प्रत्यक्षभेदानाम् उदाहरणपूर्विका पद्धतिः अत्र प्रसाध्यते.

क. सामान्येन्द्रियप्रत्यक्षं

तेषु इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्ये प्रथमे सामान्येन्द्रियप्रत्यक्षम् अस्मदादिलौकिकजनानाम्. श्रीमद्भागवतशास्त्रानुसारम् अस्मदादीनां पुरुषाणाम् इन्द्रियाणि ब्रह्माण्डाधिष्ठातृचेतनपुरुषस्य भगवतो 'विराड्' इति उपलक्षितस्य आद्यावतारस्य विग्रहे प्रपञ्चनिर्माणोपक्रमे समष्टिरूपतया अधिष्ठितानाम् इन्द्रियाणां

प्रतिरूपकाण्येव. तथ्यम् इदं श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धस्य पञ्चमे अध्याये, द्वाविंशारभ्य एकत्रिंशत्तमं श्लोकं यावत्, तत्रैव षष्ठे अध्याये प्रथमाद् आरभ्य पञ्चदशपद्यपर्यन्तं, तृतीयस्कन्धस्य षष्ठे अध्याये दशमाद् आरभ्य षड्विंशपद्यपर्यन्तम्. एवमेव अत्रैव षड्विंशे अध्याये त्रयोविंशतितमाद् उपक्रम्य त्रिंशत्तमं श्लोकं यावद्. अपिच एकादशस्कन्धस्य द्वाविंशे अध्याये पञ्चदशाद् आरभ्य विंशतितमं पद्यं यावद्. एवं विस्तरेण अधिगन्तुं सुशकम्.

अथ प्रस्थाने अस्मिन् कति इन्द्रियाणि अभ्युपगम्यन्ते? किम् एतेषां स्वरूपाणि कार्याणि इति च संक्षिप्य विमृशामः. अथ अत्र क्वचन "तैजसात्तु विकुर्वाणाद् इन्द्रियाणि दश अभवन्... श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वावाग्दोर्मेढ्राङ्घ्रिपायवः" (२।५।३१) "इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वग्दृग्रसननासिकाः वाक्करौ चरणौ मेढ्रं पायुः दशम उच्यते" (३।२६।१३). इत्युक्तपद्धत्या पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणाख्यानां पञ्चकर्मेन्द्रियाणां वाक्पाणिपादपायूपस्थानाम् इत्याहत्य दशेन्द्रियाणाम् अभ्यंगीकारः. अत्र एकस्मिन् स्थले मनसस्तु उभयेन्द्रियत्वम् उक्तम् अतः क्वचित् तेन सार्द्धम् इन्द्रियाणि एकादशसंख्याकानि इत्यपि प्रत्यपीदद् ग्रन्थकारो यथा "एकादशेन्द्रियचमूः पञ्चसूनाविनोदकृत्" (४।२९।२०) "एकादश आसन् मनसो हि वृत्तयः" (५।११।९) इति. तत्तु औपचारिकमेव आभाति. यतो अत्र श्रीविजयध्वजं विहाय प्रायः सर्वेऽपि टीकाकृतो दशेन्द्रियैः साकं मनसः स्थाने अहंकारम् अंगीकुर्वन्ति. यथा 'भावार्थदीपिकाकारः' श्रीधरस्वामिनः "एकादश वृत्तयः आसन्. आकूतयः क्रियाकाराः पञ्च, धियः च ज्ञानाकाराः पञ्च, अभिमानः च इति" (५।११।९).

एवमेव 'श्रीभागवतचन्द्रिकायां' श्रीवीरराघवः, 'सिद्धान्तप्रदीपे' श्रीशुकदेवः, 'सारार्थदर्शिन्यां' श्रीविश्वनाथचक्रवर्ती, 'बालप्रबोधिन्यां' गोस्वामिश्रीगिरिधरलालो, 'भक्तमनोरञ्जयिन्यां' श्रीभगवत्प्रसादाचार्यः चापि इति समे सम्मेनिरे. 'पदरत्नावली'कृद् विजयध्वजस्तु "अयम् अर्थः ; श्रोत्रादीनि दश, एकं मनः इति एकादशेन्द्रियाणि" इति उपचारदृशैव व्याचष्टे. अथ कुत्रचिद् ज्ञाज्ज्ञानेन्द्रियपञ्चकेन समं मनसः सांगत्यम् आदाय इन्द्रियषट्कं, कुहचिच्च

तद्व्यतिरिच्य इन्द्रियपञ्चकमेव व्याजहार तत्रभगवान् भागवतकृद् यथा ''षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः'' (१।३।३६) ''प्रत्याहृतषडिन्द्रियः'' (१।१३।५३) ''षडिन्द्रियवर्गेण'' (५।१।४।१) ''षडिन्द्रियनामानः'' (५।१।४।१). एवञ्च ''पञ्चेन्द्रियार्थप्रक्षेपः'' (४।२९।१९) ''भूतेन्द्रियाणि पञ्चैव'' (११।१२।२३) ''मनः कर्म्ममयं नृणाम् इन्द्रियैः पञ्चभिः युतम्'' (११।२२।३६). इत्यादौ.

तद् एतेषु सन्दर्भेषु प्रकरणसंगतिरपि उन्नेया. तत्त्वार्थजिघृक्षुभिः भागवतार्थविद्भिः यथा सर्वत्रापि अत्र ज्ञानेन्द्रियाणामेव तत्तद्विषयेषु प्रवृत्तिः प्रत्याहारप्रसंगे च तेभ्यएव निवृत्तिः विवक्षिता तद् उक्तं महाप्रभुणा श्रीमद्वल्लभाचार्येणापि ''प्रत्याहृतषडिन्द्रिय'' (१।१३।५३) इत्यस्य वचनस्य व्याख्याने श्रीसुबोधिन्यां ''षडिन्द्रिय इति (कस्मादाहेत्युच्यते) कर्मेन्द्रियाणि नियमएव प्रत्याहृतानि''. यत्र ज्ञानेन्द्रियाणामेव कर्तृत्वं विवक्षितं मनसश्च पृथगुपादानं कृतं तत्र पञ्चेन्द्रियाणि उक्तानि इत्यस्य प्रकरणार्थो वेदितव्यः.

वस्तुतः ''इन्द्र आत्मा ईयते अनेन इति इन्द्रियम्'' इति व्युत्पत्या इन्द्रियदशकमेव अभ्युपगन्तुम् उचितम् अत्र, ज्ञानेन्द्रियैः साकं कर्मेन्द्रियाणामपि क्रियाशक्तिद्वारेण आत्माभिव्यञ्जनपरत्वात् मनसश्च उभयेन्द्रियानुग्राहकत्वेऽपि उपरिष्टात् निरूप्यमाणसरण्या अस्य तेभ्यः स्वरूपतो भिन्नत्वादिति न काचिद् इह विप्रपत्तिः.

अथ इन्द्रियाणां मनसः च अस्मिन् शास्त्रे समुत्पत्ति-स्वरूप-कार्यादीनां विवेचनम्. यथा ''वैकारिकाद् मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश, दिग्वातार्कप्रचेतोश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः, तैजसात्तु विकुर्वाणाद् इन्द्रियाणि दश अभवन्'' (२।५।३०-३१). ''अहंतत्त्वाद् विकुर्वाणाद् मनो वैकारिकाद् अभूत्, वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः, तैजसानि इन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च (३।५।३०-३१). ''वैकारिकाद् विकुर्वाणाद् मनः तत्त्वम् अजायत यत् संकल्पविकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः (३।२६।२७). ''तैजसानि इन्द्रियाण्येव क्रियाज्ञानविभागशः (३।२६।३१). इत्येभिः ग्रन्थसन्दर्भैः प्रथमं परमात्मनः त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः सञ्जायते. सदसदात्मिकायाम् अस्यां मायेत्यपरपर्यायायां प्रकृतौ कालवृत्या भगवदीक्षणात् सञ्जाते क्षोभे महत् तत्त्वं, तस्मात् च तयैव रीत्या अहं

तत्त्वम् अजायत. अयम् अहंकार: पुन: क्षोभम् अवाप्य कार्यकारणकर्त्रात्मा सन् भूतेन्द्रियमनोरूपत्वं त्रिधात्वम् आधत्ते. अर्थात् कार्यरूपाणि पञ्चभूतानि कारणरूपाणीन्द्रियाणि कर्तृरूपं मनः इन्द्रियाधिष्ठातृदेवान् च क्रमश: स्वसात्त्विकराजसतामसभेदै: सञ्जनयति. सात्त्विकस्यैव अत्र 'वैकारिकाहंकार' इति सञ्ज्ञा राजसस्य च तैजस इति पारिभाषिकत्वम् अवधेयम्. एतेन कारणभेदेन मनसः इन्द्रियाणां च पृथग्व्यवस्थानं सुतराम् उपपद्यते.

श्रीमद्भागवतेऽपि "प्राणेन्द्रियमनोबुद्धिः..." (६।३।२८) "चित्तस्य चित्तैः मन इन्द्रियाणां पतिः महान् भूतभूतगुणाशयेश:" (६।३।२९) "येन इन्द्रियप्राणमनोगुणान्" (६।१।३३) "निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यत्" (१०।८७।३३) "कायेन वाचा मनसा इन्द्रियैः वा" (११।२।३६) "देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो" (११।२।४९) "इन्द्रियाणि मनोबुद्धिः सह वैकारिकैः नृप" (११।३।१५) "नैतद् मनो विशति वाग् उत चक्षुः आत्मा, प्राणेन्द्रियाणि च यथा अनलम् अर्चिषः स्वा:"(११।३।३६) "बुद्धीन्द्रियप्राणमनोवचोभि:" (११।६।७) "मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यते अन्यैरपि इन्द्रियै:"(११।१३।२४) "इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यो मनसा आकृष्य" (११।१४।४२) "वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान् यच्छ इन्द्रियाणि च"(११।१६।४२) "प्राणेन्द्रियमनोमयम्" (११।२१।३६) "भूतेन्द्रियाणि पञ्चैव मन आत्मा त्रयोदश" (११।२२।२३) "मन: कर्म्ममयं नृणाम् इन्द्रियैः पञ्चभिः युतम्" (११।२२।३६) "देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो" (११।२८।१६) "नात्मावपुः पार्थिवम् इन्द्रियाणि मनो अन्नमात्रं धिषणा च सत्त्वम् अहंकृतिः खं क्षितिः अर्थसाम्यम्" (११।२८।२८). इत्येतेषु सन्दर्भेषु मनसः इन्द्रियेभ्य: पृथगुपादानात् तस्य तत्त्वतो अनिन्द्रियत्वं तेभ्यश्च वैशिष्ट्यमेव व्यवतिष्ठते.

अपिच आत्यन्तिकलयप्रसंगे "अम्बरं शब्दतन्मात्रे इन्द्रियाणि स्वयोनिषु, योनिः वैकारिके, सौम्य!, लीयते मनसि ईश्वरे" (११।२४।२४-२५) इति निरूपणाद् इन्द्रियाणां स्वप्रवर्तकदेवतासु अथवा स्वकारणे राजसाहंकारे लयो अभिमत: तेषां तस्य च तन्नियन्तरि मनसि तदनु देवताभि: सह मनसो वैकारिकाहंकारे इति अनेनापि मनो न इन्द्रियम् अपितु तेषां नियन्ता - नायक: इत्येव अत्र अभिप्रेतम् उपलक्ष्यते. वस्तुतो मनो अत्र अन्त:करणस्य कार्यभेदात्

पृथग् अनुभूयमाना वृत्तिरेव. यथोक्तं तृतीये कापिलेयोपाख्याने "मनो बुद्धिः अहंकारः चित्तम् इति अन्तरात्मकं चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्या लक्षणरूपया" (३।२६।१४).

अत्र विविधाश्च टीकाकृतः तद् यथा—

"अन्तरात्मकम् अन्तःकरणं वृत्या स्वगुणवृत्या संकल्पाध्यवसायाभिमानचिन्तारूपया" इति भागवतचन्द्रिकायां श्रीवीरराघवः.

"अन्तरात्मकम् अन्तःकरणम् एकमेव, मननहेतुत्वाद् मनो, बोधनहेतुत्वाद् बुद्धिः, देहादौ अहंकरणहेतुत्वाद् अहंकारः, चिन्तनहेतुत्वात् चित्तम् इति चतुर्धा भेदो लक्षणरूपया मननबोधनादिवृत्या लक्ष्यते" इति सिद्धान्तप्रदीपे श्रीशुकदेवः.

"एकमेव अन्तरात्मकम् अन्तःकरणं मनोबुद्ध्यादिभेदेन चतुर्धा लक्ष्यते" इति सुबोधिन्यां श्रीवल्लभाचार्यः.

अयम् आशयः : प्रस्थाने अस्मिन् अन्तःकरणस्य क्रियाभेदत्वादेव मनोबुद्ध्यादीनां व्यावहारिकं पार्थक्यं न पारमार्थिकम्. तस्माद् अन्तःकरणस्य विक्रियायाः नाम मनः, प्रक्रियायाः नाम बुद्धिः, संस्क्रियायाः नाम चित्तम्, अहंक्रियायाः च नाम अहंकारः इति युक्तम् उत्पश्यामः. तथापि आधिदैविकपद्धत्या अत्र मनसो बुद्धेः च व्यावहारिको भेदः स्वरूपभेदः चपि अभ्युपगम्यते. तत्तद्रहस्यञ्च इत्थम् अवकल्पयामः : "वैकारिकाद् विकुर्वाणाद् मनः तत्त्वम् अजायत यत् संकल्पविकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः, यद् विदुः हि 'अनिरुद्धा'ख्यं हृषीकाणाम् अधीश्वरं शारदेन्दीवरश्यामं संराध्यं योगिभिः शनैः, तैजसात्तु विकुर्वाणाद् बुद्धितत्त्वम् अभूत्, सति, द्रव्यस्फुरणविज्ञानम् इन्द्रियाणाम् अनुग्रहः, संशयो अथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च, स्वापः इति उच्यते बुद्धेः लक्षणं वृत्तितः पृथक्" (३।२६।२७।३०)इति यद् उक्तं तदेतस्य अयम् अभिप्रायः : श्रीमद्भागवतानुसारेण प्रत्येकमपि सृष्टि-स्रष्टव्य-पदार्थजातं तदनुरोधेन च उपास्यरूपं भगवत्तत्त्वमपि आधिदैविकम् आध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् इति त्रिधात्वम् उपाश्नुते. तत् परमार्थदृशा अभिन्नमपि व्यवहारतो भिन्नत्वम् अवगाहते.

यथा उक्तं द्वितीयस्कन्धे "यो आध्यात्मिको अयं पुरुषः सोऽसावेव आधिदैविको यः तत्र उभयविच्छेदः पुरुषो हि आधिभौतिकः, एकम् एकतराभावे यदा न उपलभामहे, त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः" (२।१०।८,९), "वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत् त्रिधा, अधिदैवम् अथ अध्यात्मम् अधिभूतम् इति त्रिधा" (२।१०।१३,१४) अत्र आहुः भावार्थदीपिकाकृतः "आश्रयस्वरूपम् अपरोक्षानुभवेन स्पष्टं दर्शयितुम् अध्यात्मादिविभागम् आह-योऽयम् आध्यात्मिकः पुरुषः चक्षुरादिकरणाभिमानी द्रष्टा जीवः सएव आधिदैविकः चक्षुराद्यधिष्ठाता सूर्यादिः. तत्र एकस्मिन्नेव उभयोः द्विरूपो विच्छेदो यस्मात् स आधिभौतिकः चक्षुर्गोलकाद्युपलक्षितो दृश्यो देहः. पुरुषः इति पुरुषस्य जीवस्य उपाधिः 'स वा एष पुरुषो अन्नरसमयः' इत्यादिश्रुतेः. 'एकम् एकतराभावे' इत्येतेषाम् अन्योन्यसापेक्षसिद्धित्वेन अनात्मत्वं दर्शयति. तथाहि दृश्यं विना तत्प्रतीत्यनुमेयं करणं न सिद्ध्यति नापि द्रष्टा नच तद्विना करणप्रवृत्यनुमेयः तदधिष्ठाता सूर्यादिः. नच तं विना करणं प्रवर्तते, नच तद्विना दृश्यम् इत्येवम् एकतरस्य अभावे एकं न उपलभामहे तत्र तदा तत्त्रितयम् आलोचनात्मकेन प्रत्ययेन यो वेद साक्षितया पश्यति स परमात्मा आश्रयः" इति.

तस्माद् अत्र एवं व्यवस्था : अन्तःकरणं चतुर्धा, मनोबुद्ध्यहंकारचित्त-भेदेन.

तत्र विपरीतक्रमेण प्रथमं चित्तव्यूहम् : अत्र यद् अधिभूतं तत् 'महद्' इति व्यपदेश्यम्. यद् अध्यात्मं तत् 'चित्त'सञ्ज्ञितम्. यद् अधिदैवं तत् 'क्षेत्रज्ञः पुरुषः'. अयमेव आधिदैविकः पुरुषः उपास्यत्वेन 'वासुदेवः' इति अभिमतः.

द्वितीयम् अहंकारव्यूहम् : अत्र अधिभूतं वैकारिकादिभेदोपलक्षितं समष्ट्यहंतत्त्वम्. अध्यात्मं प्रतिपुरुषभिन्नो अहंकारो 'अभिमान'सञ्ज्ञितः. अधिदैवं श्रीरुद्रः. सएव उपास्यत्वेन संकर्षणापरनामा सहस्रफणोपलक्षितो भगवान् अनन्तः.

तृतीयं बुद्धिव्यूहम् : अत्र अधिभूतं समष्टिबुद्धिः "बुद्धिः अव्यक्तमेव

च'' (भग.गीता. १३।५) इति स्मरणात्. अध्यात्मं प्रतिपिण्डम् अर्थेन्द्रियसम्बन्धस्फुरणात्मिका अध्यवसायादिरूपा. अधिदैवम् अत्र परमेष्ठी प्रजापतिः ब्रह्मा, उपास्यदेवः च 'प्रद्युम्ना'ख्यो भगवान् चतुर्व्यूहान्तर्गतः तृतीयः.

एवमेव चतुर्थं मनोव्यूहमपि : अत्र अधिदेवं ब्रह्माण्डव्यापिसोमतत्त्वं तन्मूलतत्त्वं चन्द्रमण्डलं च "चन्द्रमा मनसो जातः" (पुरु.सूक्त.१२) इति श्रुतेः. (एतदेव क्षीराकूपारोद्भवम् उडुपतित्वेन उपलक्षितम् इति पुराणेषु प्रथते वादः). अध्यात्मं प्रतिपिण्डव्यवस्थितम् उभयेन्द्रियाणां नायकम् अन्तःकरणवृत्तिरूपं मनः, "चञ्चलं हि मनः कृष्ण" (भग.गीता. ६।३४) इत्यादिप्रतिपादितत्वात्. अधिदैवं चन्द्रमण्डलाधिष्ठातृदेवत्वेन ब्रह्मणा व्यवस्थापितो अत्रिनन्दनः सोमापरपर्यायः 'चन्द्रा'ख्यो देवः "सोमो अस्माकं ब्राह्मणानां राजा" इति श्रुतेः.

इत्थं तत्त्वतो अभेदेऽपि प्रत्यक्षादिव्यवहारे श्रीमद्भागवते स्वरूपकार्यादिभिन्नत्वाद् बुद्धिमनसी पृथक्-पृथङ् निरूपिते.

अयम् आशयो : मनो वाक्पाण्याद्युपलक्षितानां पञ्चकर्मेन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां प्रेरयिता ईश्वरः च, तद्विना तेषां स्वस्वकार्येजातेषु प्रवृत्यनर्हत्वात्, कथञ्चित् प्रवृत्तेऽपि स्वकार्ये अक्षमत्वादिति अस्य स्वरूपम्. अथच "यत् संकल्प-विकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः" (भाग.पुरा.३।२६।२७।) इति मूलोक्तरीत्या संकल्पविकल्पाभ्यां कामस्य इन्द्रियार्थजन्य-भोगाभिलाषस्य सञ्जननम् अस्य कार्यम्. एवमेव "द्रव्यस्फुरणविज्ञानम् इन्द्रियाणाम् अनुग्रहः, संशयो अथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च स्वाप इति उच्यते बुद्धेः लक्षणं वृत्तितः पृथक्" (तत्रैव ३।२६।२९-३०) इति प्रागुदाहृतग्रन्थप्रामाण्याद् बुद्धिः द्रव्यादीनां, श्रोतव्यावलोकयितव्येत्याद्यर्थानां स्फुरणकरं प्रकाशकं ज्ञानस्वरूपजननं किमपि सामर्थ्यम् इन्द्रियाणां च अनुग्राहकं च. बुद्ध्या विना तानि-तानि इन्द्रियाणि तेभ्यः-तेभ्यः विषयभ्यः पृथक्-पृथग् भोगाहरणं कर्तुम् अनर्हाणि इति एतस्य तात्पर्यम्.

इत्थं चित्तस्य भोगादौ प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मकं स्फुरणं, बुद्धेः द्रव्यस्फुरणरूपं

विज्ञानं, मनसो रागद्वेषादीच्छामयत्वम् अहंकारस्य च एतेषां त्रयाणामपि कार्याणाम् अभिमानम् इति चतुर्विधस्य अन्तःकरणस्य व्यतिरिक्तानि कार्याणि इति अवधेयम्. तथाहि ''शब्दं शृणोमि'' इत्यत्र प्रथमं चित्तेन चेतनामात्रं निधीयते. बुद्ध्या ''शब्दो अयम्'' इति स्फूर्तिः. मनसा ''मधुरो अयं शब्दो/अरन्तुदो अयम्'' इति जिघृक्षा-परिजिहीर्षा वा. अहंकारेण च तत्र स्वाभिमानार्पणम् इति निदर्शनसंगतिः.

बुद्धेः द्रव्यस्फुरणस्यैव प्रपञ्चः संशयादिकाज्ञानविशेषाः, सदोषनिर्दोषेन्द्रिय-वृत्तिद्वारेण जायन्ते. तत्र संशयः ''स्थाणुः वा पुरुषः वा'' इति उभयकोट्यवगाही अनिश्चयज्ञानम्. विपर्यासो अतस्मिन् तद्बुद्धिरूपो मिथ्याज्ञानम्. निश्चयो अध्यवसायः प्रमाणज्ञानं वा. अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः. पूर्वानुभूतस्य विषयस्य संस्कारद्वारेण पुनः बुद्धौ उपारोहः. स्वापो निद्रा च न तिरोहितं तद्विदाम्.

यत्तु ''बुद्धेः जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिः इति च उच्यते'' (१२।४।२५) इति द्वादशस्कन्धोक्तलक्षणं न अत्र संगच्छते इति मा एवं भाषिष्ठाः तत्रैव ''मायामात्रम् इदं राजन् नानात्वं प्रत्यगात्मनि'' (१२।४।२५) इत्युक्तपद्धत्या प्रकरणस्य अस्य पारमार्थिकत्वात् कैश्चिद् मते अत्र 'बुद्धि'शब्दस्य जीवात्मधर्मभूतज्ञानपर-त्वात् च इति अनुक्तोपालम्भनम्.

अपरत्रापि अत्र शास्त्रे ''मनः सर्वविकारात्मा बुद्धिः विज्ञानरूपिणी'' (२।१०।३२) इति मनसो बुद्धेः च लक्षमणी यत् निगदिते तत् तयोरपि तात्पर्यं पूर्वोक्तनिरूपाणात् न मनागपि विसंवदते. यतः सर्वान् कामसंकल्पादीन् मनएव सञ्जीवयति बुद्धिरपि तथाभूतार्थविज्ञानरूपिणी, नतु स्वयं परमार्थग्राहिणी, मनःप्रेरितेन्द्रियानुग्रा-हकमात्रत्वात्. अत्र सुबोधिनीकृतो व्याख्यानं किञ्चिद् भिन्नं दृश्यते. यथाहि ''सर्वे हि विकाराः त्रिविधाः, तन्मयत्वात् मनोऽपि त्रिविधं, बुद्धिरपि त्रिविधा इति आहः 'बुद्धिः विज्ञानरूपिणी' इति. विविधं ज्ञानं विज्ञानम्. तत् त्रिविधमिति तद्रूपिणी बुद्धिरपि त्रिविधा''[२]. अनेन बुद्धि-मनसोः प्रकृतिकृतगुणसम्पर्केण त्रैविध्यम् उदीरितम्

आचार्येण तदपि ''बुद्धेः भेदं धृतेः चैव गुणतः त्रिविधं शृणु'' इति उपक्रम्य ''धृतिः सा पार्थ तामसी''(१८।२९-३५) इत्यन्तं प्रकरणम् अनुसरतीति न प्रमाणपराहतम्.

अथ दशानामपि इन्द्रियाणां लक्षण-स्वरूप-कार्यादीनि. तत्र प्रस्थाने अस्मिन् प्रथमम् इन्द्रियसामान्यलक्षणं तत्रैव द्वितीयस्कन्धे ''गुणात्मकानि इन्द्रियाणि'' (२।१०।३२) इति. अस्य अयम् अर्थो : गुणेषु शब्दादिषु आत्मा प्रवृत्तिः स्वभावो येषाम् अथवा औत्पत्तिकः सम्बन्धो येषां तानि गुणाभिमुखस्वभावानि इति आशयः. शब्दाद्यर्थेषु प्रवृत्तिः यद्यपि मुख्यतया ज्ञानेन्द्रियाणामेव किन्तु कर्मेन्द्रियाण्यपि व्याहरणाहरण-गमनादिक्रियाद्वारेण तदर्थोपस्थापनौपयिकत्वम् आभजन्तइति लक्षणस्य न अव्याप्तिः.

अथ उत्पत्ति-कारणाभिप्रायेण अपरत्र किञ्चिद् अपरं लक्षणं, तत्रैव च क्रियोपजनन-ज्ञानोपजनन-कार्यद्वयविभागाद्, द्वैविध्यमपि अंगीचकार भागवतकृदर्षिः. ''तैजसानि इन्द्रियाण्येव क्रियाज्ञानविभागशः'' (३।२६।३१) कापिलेयोपाख्याने. तदुभयलक्षणोत्थं समुदितं लक्षणं, **''तैजसाहंकारजन्यत्वे सति एकपिण्डस्थिततत्वात् तदभिमानि-भोगसिद्ध्यौपयिक-तत्तत्क्रिया-ज्ञानान्यतरोपजनन-सामर्थ्यम् इन्द्रियम्''** इत्येव निर्गलति.

अथ एतेषां विशेषलक्षणानि : श्रीमद्भागवतशास्त्रे द्वितीयस्कन्धस्य षष्ठे अध्याये (प्रथमाद् आरभ्य अष्टमश्लोकपर्यन्तं), तृतीयस्कन्धस्य च षड्विंशे अध्याये (सप्तचत्वारिंशत्तमाद् आरभ्य अष्टचत्वारिंशत् पद्यम् अभिव्याप्य) उभयविधानाम् इन्द्रियाणाम् अधिष्ठातृदेवैः सममर्थजातानि कार्याणि च समनुक्रान्तानि. एवमेव एकादशे श्रीमद्भगवदुद्धवसंवादेऽपि ''श्रोत्रं त्वग् दर्शनं घ्राणो जिह्वा इति ज्ञानशक्तयो वाक्पाण्युपस्थपाय्वङ्घ्रिकर्माणि अंग उभयं मनः, शब्दः स्पर्शो रसो गन्धो रूपं च इति अर्थजातयो गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्मायतनसिद्धयः'' (११।२२।१५-१६।) इतिश्लोकद्वयेन ज्ञानक्रियाभेदभिन्नानाम् एषां विषयाः कार्यभेदाः च सन्निरूपिताः. तदनुसृत्य क्रमशः समेषामपि विशेषलक्षणानि स्वरूपाणि वा च इत्थं निष्कर्षयामः.

(अ) कर्मेन्द्रियाणि (पञ्च)

१.वह्निदेवताधिष्ठितं स्थूलशब्दोद्भावनसमर्थम् इन्द्रियं वाक्. व्यष्टिशरीरस्थमुखोपलक्षितजिह्वा अस्याः गोलकम्. केवलं वैखर्या एव वाचः समुद्भावनम् अस्याः कर्म. मध्यमा-पश्यन्त्योः मनोरूपत्वात् परायाश्च आत्माभिन्नत्वात्.

२.इन्द्रदेवताधिष्ठितम् आदान-विसर्जनादि-बहुविधशिल्पोपजननम् इन्द्रियं पाणिः. तत् मनुष्येषु सामान्येषु द्वित्वावच्छिन्नं देवादीनां तपोयोगवरप्रभावादि-परिबृंहितसत्त्वानां मानवानाञ्च बहुबाहूपलक्षितमपि.

३.उपेन्द्र(विष्णु)देवताधिष्ठितंगमनसन्तरणस्फालनाघातादि-गत्युपजननम् इन्द्रियम् अंघ्रिः. तदपि सामान्यमानवानां शरीरे द्वित्वमयम्.

४.प्रजापत्यधिष्ठितं कामसुखोत्पादनं सन्तत्युपजनननिमित्तञ्च मेढ्रम्. तच्च स्त्री-पुम्भेदेन द्विप्रकारकं प्रसिद्धमेव.

५.मित्रदेवताकं मृत्युदेवताकं वा मलनिस्सारकम् इन्द्रियं पायुः. अस्य मलादिनिस्सारकं छिद्रं गुदं, मूत्रापसारकञ्च मेंढ्रस्थानएव व्यवस्थितम् इति वैलक्षण्यम्.

एतेषां प्रत्यक्षप्रमाणे न साक्षादुपयोगो, ज्ञानाजनकत्वादिति वयमपि अभ्युपगच्छामः प्रसंगवशादेव अत्र विवेचनं विहितम् एषाम् इति अवधेयम्.

(आ)ज्ञानेन्द्रियाणि(पञ्चैव)

१.''नभोगुणविशेषो अर्थो यस्य तत् श्रोत्रम् उच्यते'' (३।२६।४४) इत्यनेन, ''व्यभिद्येतां कर्णौ श्रोत्रं ततो दिशः'' (३।२६।५५) इत्यनेन च श्रीमद्भागवतवचनप्रामाण्येन ''**दिग्देवता-धिष्ठितं नभोगुणविशेषेण शब्दग्राहकम् इन्द्रियं श्रोत्रम्**''. एतस्य ''पितृहूः दक्षिणः कर्ण उत्तरो देवहूः स्मृतः'' (४।२९।१२) इति पुरञ्जनोपाख्यानतात्पर्याध्यायोक्तदिशा सामान्यतो गोलकद्वयं

मानवानाम्. शक्ति तारतम्येन स्फुटानाम् अस्फुटानां मन्द्रमध्यतारादिस्वरवतां च स्थूलशब्दानाम् अनेन ग्रहणम्. सूक्ष्मदिव्यशब्दानां ग्रहणन्तु प्रमेयबलेन गोलकनिरपेक्षमपि उपपद्यते.

२.''वायोः गुणविशेषो अर्थो यस्य तत् स्पर्शनं विदुः'' (३।२६।८६) इति वचनेन ''स्पर्शो अभवत् ततो वायुः त्वक् स्पर्शस्य च संग्रहः'' (३।२६।३५।) इति वचनेन च **''वायुदेवताकं वायुगुणविशेषत्वेन स्पर्शग्राहकम् इन्द्रियं त्वक्''**. एतस्य सर्वस्मिन्नपि स्थूलशरीरे बाह्याभ्यन्तरे परिव्याप्तिः. त्वग् इति उपलक्षणं स्पर्शग्राहकशरीरकोशानां स्नायुतन्त्रोत्थसूक्ष्मसंवेदनानां वा. तेन न तत् चर्ममात्रपर्यवसायि, दन्तकेशादौ उदराभ्यन्तरावयवेष्वपि च स्पर्शस्य संवेदितत्वाद् इति विशेषेण अवधेयम्. वस्तूनां मृदुत्वं-कठिनत्वं, शैत्यम्-उष्णत्वं, लघुत्वं-गुरुत्वं, समत्वं-विषमत्वं, मसृणत्वं च एवमादयो विविधाः स्पर्शा अनेन गृह्यन्ते[3].

३.''तेजोगुणविशेषो अर्थो यस्य तत् चक्षुः उच्यते'' (३।२६।४८) इत्युक्त्या ''...निरभेद्येताम् अक्षिणी चक्षुः एतयोः. तस्मात् सूर्यः...'' (३।२६।५५) इति उक्त्या च, **''सूर्यदेवताकं बलाबलतारतम्येन उद्भूतानुद्भूतरूपग्राहकम् इन्द्रियं चक्षुः''**. तच्च ''द्रव्याकृतित्वं गुणता व्यक्तिसंस्थात्वमेव च तेजस्त्वं तेजसः, साध्वि!, रूपमात्रस्य वृत्तयः'' (३।२६।३९।) इति उक्तरीत्या रूपतन्मात्रस्य वृत्तयो द्रव्यस्य आकारसमर्पकत्वं 'गुणता'= द्रव्योपसर्जनतया प्रतीतिः 'व्यक्तिसंस्थात्वं'=द्रव्यस्य या संस्था सन्निवेशः तेनैव तत्प्रमाणप्रतीतिः चक्षुरिन्द्रियविषयत्वम्. द्रव्योपसर्जनतया द्रव्ये गुणतया प्रथमं संयोगसम्बन्धेन द्रव्यज्ञानं ततः संयुक्तसम्बन्धेन रूपज्ञानम् इति अर्थः. अथच रूपग्रहणेन साकं प्रतिबिम्ब-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्वादि-धर्माणां साक्षाद् ग्रहणं चक्षुषैव. 'साक्षाद्'

इति कुतः चेद्, उच्यते : संख्यादीनाम् असाक्षाद् ग्रहणं स्पर्शादिभिरपि सम्भवत्येव. शुक्लकृष्णलोहितादिवर्णानां वस्तुनो अभावस्य चापि चक्षुषैव ग्रहणं बोध्यम्. एतेषु च अन्येन्द्रिययोगव्यवच्छेदं, चक्षुर्मात्रैकग्राह्यत्वादिति सर्वम् उपपन्नम्. अस्य च, "खद्योताविर्मुखी च अत्र नेत्रे एकत्र निर्मिते, रूपं विभ्राजितं ताभ्यां विचष्टे चक्षुषा ईश्वरः" (४।२९।१०) इति वचनात् लोकप्रत्यक्षाच्च दक्षिणवामनेत्रभेदाद् गोलकद्वयं सामान्यमानवानां दिव्यचक्षुः योगचक्षुः इत्यादयस्तु गोलकनिरपेक्षमेव तद् उपरिष्टाद् वक्ष्यामः.

४."अम्भोगुणविशेषो अर्थो यस्य तद् रसनं विदुः" (३।२६।४८) इत्यनेन, "... देवाः वैकारिकाः दश दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः" (२।५।३०) इत्येतेन च वाक्येन "**वरुणदेवताकम् अम्भोगुणविशिष्टं रसग्राहकम् इन्द्रियं रसनम्**" इत्यस्य चतुर्थज्ञानेन्द्रियस्य लक्षणम् आयाति. इन्द्रियेन अनेन मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायानां षड्रसानां दुग्धघृतादिविशिष्टास्वादसंवेदनानां जलगतस्यापि आयनकरस्य निर्विशेषरसस्य च ग्रहणं भवति.

५."भूमेः गुणविशेषो अर्थो यस्य स घ्राणः उच्यते" (३।२६।४८) इति ग्रन्थवचसा, पूर्वोदहृतेन च "दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्वि"कि१ इत्यादिना सन्दर्भेण "**नासत्यौ इति ख्याते अश्विनीकुमारयुग्मेन अधिष्ठितं भूमिगुणविशेषेण गन्धग्राहकम् इन्द्रियं घ्राणम्**". अस्यापि स्थूलशरीरे एकस्यामेव नासिकायां छिद्रद्वयरीत्या गोलकद्वयमेव आस्थेयम्. एतत्प्रमाणन्तु पुरञ्जनाख्यानतात्पर्यनिरूपणाध्याये यथा "नलिनीनालिनी नासे गन्धः सौरभ उच्यते" (४।२९।११) इति. गन्धस्य भेदाअपि तृतीयस्कन्धे "करम्भपूतिसौरभ्यशान्तोग्राम्लादिभिः पृथक्, द्रव्यावयववैषम्याद् गन्ध एको विभिद्यते" (३।२६।४५) इति अलम् अतिपल्लवितेन.

एतत् सामान्येन्द्रियप्रत्यक्षं श्रोत्रादिपञ्चेन्द्रियमात्रजन्यं पञ्चविधमेव न

नैयायिकादिवत् षड्विधम् अस्माभिः पूर्वविवेचितरीत्या मनसः इन्द्रियनायकत्वेऽपि तस्य इन्द्रियतया अनभ्यंगीकारात्. तद् इत्थम् : श्रोत्रेन्द्रियस्थूलशब्दसन्निकर्षजं श्रावणम्. त्वगिन्द्रियतद्विषयवद्वस्तुसन्निकर्षजं स्पार्शनम्. चक्षुरिन्द्रियरूपवद्व-स्तुसन्निकर्षजं चाक्षुषम्. रसनेन्द्रियरसवद्वस्तुसन्निकर्षजंरासनम्. घ्राणेन्द्रियगन्ध-वद्वस्तुसन्निकर्षजन्यं च घ्राणजमिति.

यद्यपि वागादिकर्मेन्द्रियाणां ज्ञानजनकत्वं नास्ति किन्तु श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रिय-ग्राह्यशब्दाद्युद्भावने, समीपं गत्वा शब्दश्रवणे, करेण पुष्पादीनि आदाय आघ्राणेन, स्पर्शे, रसवद्वस्त्वादाय तस्य आस्वादने च परोक्षतया हि एतेषामपि साहाय्यम् उन्नेयम्.

प्रत्यक्षप्रक्रियातु अत्र वेदान्तप्रसिद्धा वृत्तिमूलैव. तत्तदिन्द्रियद्वारेण अन्तःकरणस्य विषयाकारपरिणामएव अत्र वृत्तिः. यथा तडागोदकं छिद्रेभ्यो बहिः निर्गत्य कुल्याप्रणालिकादिना केदारं प्रविश्य तदाकारं गृह्णाति तथा अन्तःकरणमपि इन्द्रियवर्त्मना विषयम् उपेत्य तदाकारं गृह्णाति. वृत्तिप्रामाण्यन्तु अत्र शास्त्रे "सखाय इन्द्रियगणा ज्ञानं कर्म च यत् कृतं सख्यः तद् वृत्तयः ..." (४।२९।६) "एकादशा आसन् मनसो हि वृत्तयः" (५।११।९) "... बुद्धेः लक्षणं वृत्तितः पृथक्" (३।२६।३०) "बुद्धेः जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिः इति वृत्तयः" (७।७।२५) इत्यादौ अवलोकयितव्यम्.

प्रत्यक्षप्रमा अत्र वस्तुतो अद्वयज्ञानापरपर्यायचैतन्यमेव तस्य प्रमातृप्रमाणविषयोपाधिवशादेव व्यावहारिकं त्रैविध्यं, यथा उक्तम् अत्रैव : "ज्ञानम् एकं पराचीनैः इन्द्रियैः ब्रह्म निर्गुणम् अवभाति अर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा" (३।३२।२८) अपि च, "बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम्, दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्याम् आद्यन्तवद् अवस्तु यद् दीपः चक्षुः च रूपं च ज्योतिषो न पृथग् भवेद् एवं धीः खानि मात्राः च न स्युः अन्यतमाद् ऋतात्" (१२।४।२३ - २४) इत्यादौ.

ननु चैतन्यमेव अत्र ज्ञानस्वरूपं चेत् सन्निकर्षाणां किं प्रयोजनम्?

इति जिज्ञासायाम् उच्यते : व्यवहारे घट-तद्गतरूपरूपत्व-शब्दशब्दत्वावच्छिन्न-चैतन्याभिव्यञ्जक-वृत्त्युत्पादने संयोग-संयुक्ततादात्म्य-संयुक्ताभिन्नतादात्म्य-रूपाणां सन्निकर्षाणां विनियोगत्वात् न निष्प्रयोजनत्वम्. यद् उक्तम् एकादशे स्वयं भगवतैव "यावद् देहेन्द्रियप्राणैः आत्मनः सन्निकर्षणं संसारः फलवान् तावद् अपदार्थो अविवेकिनाम्" (११।२८।१२) इति.

एवंरीत्या चैत्यसंस्कारोद्बोधात् कामात्मकेन संकल्पविकल्पात्मना मनसः प्रेरणया बुद्धीन्द्रियाणां विषयेषु प्रवृत्तिः पश्चाद्बुद्धिवृत्त्या तेषाम् अनुग्रहः तदनु विषयरसस्य इन्द्रियैः पुनरपि मनसे समर्पणं परस्ताद् "ईश्वरो अहम् अहं भोगी" (भग.गीता. १७।१४) इति रीत्या अहंकारेण कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानः इति विमूढात्मनः प्रत्यक्षप्रक्रिया. यथाहि अत्र ग्रन्थो : "अन्तःपुरं च हृदयं विषूचिः मन उच्यते. तत्र मोहं प्रसादं वा हर्षं प्राप्नोति तद्गुणैः, यथा-यथा विक्रियते गुणाक्तो विकरोति वा, तथा-तथा उपद्रष्टा आत्मा तद्वृत्तीः अनुकार्यते" (४।२९।१६ - १७) "मनएव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति, भविष्यतः च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः सर्वे क्रमानुरोधेन मनसि इन्द्रियगोचराः आयान्ति वर्गशो यान्ति ..." (४।२९।६६,६८) "नाहं ममेति भावो अयं पुरुषे व्यवधीयते यावद्बुद्धिमनोऽक्षार्थगुणव्यूहो हि अनादिमान्" (४।२९।७०) "मनएव, मनुष्येन्द्र !, भूतानां भवभावनं यदा अक्षैः चरितान् ध्यायन् कर्माणि आचिनुते असकृत्" (४।२९।७७ - ७८) युक्तात्मनस्तु "इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यो मनसा आकृष्य, तद् मनो, बुद्ध्या सारथिना, धीरः प्रणयेद् मयि सर्वतः" (११।१४।४२) इति अपरैवसात् परिष्टाद् दर्शयिष्यते. इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वविषयेऽपि औपनिषदां राद्धान्तमेव वयम् अव्याकलयामः. तस्माद् घ्राणरसनत्वगिन्द्रियाणां स्वस्वस्थानएव गन्धरसस्पर्शग्रहणम्. चक्षुःश्रोत्रयोस्तु विषयस्थानम् उपेत्यैव रूपशब्दाहरणम् इति सर्वं सम्प्रतिपन्नम्.

इदम् इन्द्रियप्रत्यक्षं निर्विकल्पक-सविकल्पकम् इति द्विधा : इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य प्रथमक्षणे यत् संसर्गानवगाहि भेदरहितं किञ्चिद् इति अनुभूयते तत् निर्विकल्पकम्. मनःसम्पर्कमात्रजन्यं सात्त्विकं, बुद्धिवृत्या अननुगृहीतं ज्ञानं, यत्तु बुद्धिकृतभेदभिन्नं राजसं द्वितीयक्षणे नामजात्यादि-योजनासहितम्

अवबुध्यते तत् सविकल्पकं प्रत्यक्षं व्यवहारपरम् इति. यथा, "कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत्" (११।२५।२४) "विकल्पबुद्धीन् च गुणैः विधत्ते" (११।२२।३०) "व्यवहृतये विकल्प इषितो अन्धपरम्परया" (१०।८७।३६) इत्यादौ.

ख. सामान्येन्द्रियद्वारेण घटपटादौ सन्मात्रसत्तावगाहिज्ञानिनां प्रत्यक्षम् :

अत्र निर्विकल्पकम् इति सामान्यजनप्रत्यक्षप्रक्रियानुगुणं व्यावहारिकं निरूपितम्. यत्र ब्रह्मावबोधेन योगिनां तत्त्वज्ञानिनां भेदज्ञानं विलीयते तत् शुद्धचिन्मात्रावगाहि द्वितीयं पारमार्थिकं निर्विकल्पकम्. तदेव च सामान्येन्द्रियद्वारेण घटपटादौ सन्मात्रसत्तावगाहि ज्ञानिनां प्रत्यक्षम्.

अत्र पञ्चेन्द्रियैः उपस्थापितेऽपि पञ्चविषयात्मके सांसारिके बोधे विशुद्धमनसां योगिनां न ब्रह्मव्यतिरिक्तम् अन्यद् भानं भवति. घट-पटादौ सर्वत्रापि ब्रह्माकारा वृत्तिरेव जरीजृम्भते, भेदभिन्नम् अखिलं दृश्यजातं च "नेह नाना इति किञ्चन" (बृह.उप.४।४।१९) इति श्रुत्युक्तदिशा स्वयमेव विलीयते. अमीषां शरीरादिव्यवहारजातन्तु बाधितानुवृत्यैव संघटते. श्रीमद्भागवते तन्निरूपणं च यथा "निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यद् मुनय उपासते..." (१०।८७।२३) "ध्यानेन इत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः, संयास्यति आशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः" (११।१४।४६।) "यद् विज्ञाय पुमान् सद्यो जह्याद् वैकल्पिकं भ्रमम्" (११।२४।१) इति.

अस्यैव पारमार्थिक-निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य "तत् त्वम् असि" (छान्दो.उप.६।८।७) इत्यादि महावाक्यानाम् अर्थावगमे संगतिः उपपद्यते[४].

ग. सामान्येन्द्रियद्वारेण भगवद्भक्तानां "वासुदेवः सर्वम्" इति 'भावनाप्रत्यक्षम्' :

पूर्वनिरूपितज्ञानिप्रत्यक्षाद् इदं प्रमातृस्वरूपमहिम्ना किञ्चित् प्रक्रियाभेद-महिम्नैव व्यतिरिच्यते नतु परमार्थतया. ह्यत्रापि सामान्येन्द्रियद्वारेण सुखदुःखादिरूपार्थसार्थवतः संसारस्य भगवद्भक्तिजन्य-भावनाप्राबल्येन "वासुदे-

वः सर्वम्'' इति तत्त्वमात्रपरायणत्वात्. तन्निदर्शनानि च अत्र संक्षिप्य समानीयन्ते. यथा : ''खं वायुम् अग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् सरित्समुद्रान् च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेद् अनन्यः'' (११।२।४१) ''सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावम् आत्मनः, भूतानि भगवति आत्मनि एष भागवतोत्तमः'' (११।२।४५) ''मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यते अन्यैरपि इन्द्रियैः अहमेव न मत्तो अन्यद् इति बुध्यध्वम् अञ्जसा'' (११।१३।२४) ''इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यो मनसा आकृष्य तन्मनः बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेद् मयि सर्वतः'' (११।१४।४२) इत्यादीनि.

अपिच अत्र एकादशस्कन्धगते श्रीकृष्णोद्धवसंवादे, भगवद्विभूतिवर्णनात्मकः षोडशो अध्यायः समग्रोऽपि अस्यैव निदर्शनभूतः इति नः प्रमितिः.

घ. योगराद्धदिव्येन्द्रियप्रत्यक्षम् :

यन्न्यायनये अलौकिकप्रत्यक्षभेदे अन्यतमं, 'योगजप्रत्यक्षं' युक्तयुञ्जानयोगभिन्नं, तद् अत्र अस्मिन् भेदे परिगृह्यते अस्माभिरपि द्विविधम्. तत्र **''धारणाध्यानादिचिन्तासहकृतं प्रथमम्, समाधिजन्यम् अप्रयासनिर्वर्त्यञ्च द्वितीयम्''**. यदुक्तम् अस्मत्प्रस्थाने ''अनागतमतीतञ्च वर्त्तमानम् अतीन्द्रियम्, विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः'' (१०।६१।२१) इत्यत्र.

अत्र तपो योगधारणया ध्यानमहिम्ना वा मितयोगिनो गोलकनिरपेक्षतया सूक्ष्मेन्द्रियैः यत् परिच्छिन्नकालपर्यवसायिनीं साक्षात्कृतिम् आतन्वते तस्य एतानि उदाहरणानि प्रादुर्भवन्ति शास्त्रे अस्मिन् -

पृथोः यज्ञे अश्वहन्तारम् इन्द्रम् अनेनैव चक्षुषा ददर्श तत्रभवानत्रिः ''तम् अत्रिः भगवान् ऐक्षत् त्वरमाणं विहायसा'' (४।१९।१२) इति व्यावर्णितदिशा. तथैव रेणुकायाः स्वपत्न्याः मनश्च्यवनम् अनेनैव विज्ञातवान् जमदग्निः, ''व्यभिचारं मुनिः ज्ञात्वा पत्न्याः प्रकुपितो अब्रवीत्'' (९।१६।५) इति एतानि तपोबलकृतप्रत्यक्षस्य निदर्शनानि. यद्यपि इमे अत्रिजमदग्न्यादयो युक्तत्वात् न मितयोगिनः तथापि अत्र परिच्छिन्नकालावसायिनी प्रत्यक्षप्रक्रिया अमीषाम्

इति उदाहरणत्वेन इह गृहीताः. एवं तपोजन्य-योगजप्रत्यक्षस्य अन्येऽपि सन्दर्भाः "भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्यां चैव मदाश्रयां ताभ्याम् अन्तर्हृदि ब्रह्मन् लोकान् द्रक्ष्यसि अपावृतान्" (३।९।३०).

एवं ध्यानधारणाद्युद्भवानि प्रत्यक्षाण्यपि यानि श्रीमद्भागवते ह्युपवर्णितानि तानि एतत्प्रभेदपर्यवसायीन्येव[६].

अथ समाधिजन्यं शश्वत्कालिकं च योगजप्रत्यक्षमपि : "दृष्ट एव आत्मनि ईश्वरे" (१।२।२१) "पश्यन्ति अदो रूपम् अदभ्रचक्षुषा" (१।३।४) "दुर्भगान् च जनान् वीक्ष्य मुनिः दिव्येन चक्षुषा" (१।४।१८) "अथो महाभाग भवान् अमोघदृक् समाधिना अनुस्मर तद्विचेष्टितम्" (१।५।१३) "भक्तियोगेन मनसि सम्यक्प्रणिहिते अमले, अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदपाश्रयाम्" (१।७।४) "स वा अयं यत्पदम् अत्र सूरयो जितेन्द्रिया निर्जितमातरिश्वनः पश्यन्ति भक्त्युत्कलितामलात्मना ननु एष सत्त्वं परिमार्ष्टुम् अर्हति" (१।१०।२३) "भगवान् वेद कालस्य गतिं भगवतो ननु विश्वं विचक्षते धीरा योगराद्धेन चक्षुषा" (३।११।१७) इत्येवमादिभिः सन्दर्भैः सर्वहृद्यताम् आधत्ते.

ङ. भगवदनुग्रहलब्ध-भगवज्जनानुग्रहलब्ध-दिव्येन्द्रिय- प्रत्यक्षम् :

भगवत्कृपया सिद्धभगवज्जनकृपया च यदा भगवद्भक्तानां सामान्येन्द्रियेष्वेव काचिद् ईदृशी दिव्यशक्तिः आविर्भवति यया ते अप्राकृतानां श्रीमद्भगवद्विग्रहलीलाधामादिकानां साक्षात्काराय सुतरां प्रभवन्ति तदा अयं भेदः स्वरूपम् अवकल्पते. श्रीमद्भागवते अत्र बहूनि उदाहरणानि गोचरयितुं पार्यन्ते. तेषु कानिचनेव अत्र संगृह्यन्ते, यथा -

(१) "तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः सन्दर्शयामास परं न यत्पदम्" (२।९।९) इति उपक्रम्य "तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुतान्तरो हृष्यत्तनुः प्रेमभराश्रुलोचनः" (२।९।१७) इति पर्यन्तः ब्रह्मकृतभगवत्साक्षात्कारसन्दर्भः.
(२) ध्रुवप्रह्लादादिभगवद्भक्तानां भगवद्दर्शनप्रसंगाः.
(३) दशमे अवतरणप्रसङ्गे "तम् अद्भुतं बालकम् अम्बुजेक्षणम्" (१०।३।९)

इति आरभ्य "बभूव: प्राकृतः शिशुः" (१०।३।४६) इत्यन्तं कथानकम्.

(४) दशमे मृद्भक्षणलीलाप्रसंगे यशोदायै: उपाहृतं भगवतो विश्वरूपदर्शनम् (१०।८।३७-४३)

(५) दशमस्कन्धएव उपवर्णितं "इति सञ्चिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरिः, दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्" (१०।२८।१४) इत्यादिरूपेण श्रीकृष्णेन बल्लवजनेभ्यः स्वधाम्नः प्रत्यक्षीकरणम्.

(६) तथा च अत्रैव एकोनत्रिंशे अध्याये यमुनाह्रदे अक्रूराय भगवता स्वकीयं विभूतिमद्विष्णुस्वरूपदर्शनप्रदानम्.

एवं भगवज्ज्ञानानुग्रहलब्ध-दिव्येन्द्रियप्रत्यक्षप्रसंगाअपि, भागवते - नारदांगिरोभ्यां प्रत्तविद्यामाहात्म्येन चित्रकेतोः संकर्षणदर्शनकथानकेन (द्रष्ट. : - ६।१६) "व्यासप्रसादात् श्रुतवान् एतद् गुह्यम् अहं परम्" (भग.गीता. १८।७५) इति सन्दर्भेण उन्नेयाः तत्तत्त्वम् अवजिगमिषुभिः इति सर्वम् अवदातम्.

मानसप्रत्यक्षम् -

"अहं सुखी दुःखी, मनसि मे कामो मोहो हर्षो वा जागर्ति" इत्याद्यन्तःकरणधर्मावबोधकं मानसप्रत्यक्षं सर्वसंवेद्यं न इन्द्रियार्थजन्यम्, उक्तपूर्वरीत्या मनसो अनिन्द्रियत्वात्. तत्र 'आत्ममनःसंयोगा'ख्यः प्रथमः, सुखदुःखादिमनःसन्निकर्षलक्षणः संयुक्तसमवायः च द्वितीयः इति प्राभाकराभिमत-पद्धतिः न अंगीकार्या, अस्मत्प्रस्थाने सुखादीनां मनोवृत्तित्वाभ्युपगमात्. तथाच श्रुतिः "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिः अधृतिः ह्रीः धीः भीः इत्येतत् सर्वं मनएव" (बृह.उप.१।५।३). अत्रच, "अयो दहति" इति लाक्षणिकव्यवहारवद् आत्मनः सुखाद्याकार-परिणाम्यन्तःकरणैक्याध्यासाद् "अहं सुखी" इत्यादि व्यवहारसिद्धिः. बहुलतया उपलभ्यमानत्वाद् ग्रन्थगतोदाहरणवा-क्यानि अत्र न उपन्यस्यन्ते.

मुक्तात्मनां नित्यात्मप्रत्यवर्शात्मकं केवलबोधमयं स्वरूपप्रत्यक्षम् :

अतः परं सूक्ष्मतमम् अव्यक्तं निर्विशेषणम् "अनादिमध्यनिधनं नित्यं

वाङ्मनसः परम्'' (२।१०।३४) ''यतो अप्राप्य निवर्तन्ते वाचः च मनसा सह'' (३।६।४०) ''यद् न स्पृशन्ति न विदुः मनोबुद्धीन्द्रियासवः'' (६।१६।२३) इति आकरग्रन्थप्रतिपादितत्वात् न एकधा च ''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह'' इत्यादि श्रुत्यन्तवचोभिश्च निरूपितत्वात् केवलानुभवानन्दात्मकस्वरूप-साक्षात्कारे न चक्षुरादीन्द्रियाणां न वा मनसो अनुप्रवेशः शक्यस्वीकरणः. तस्मात् ''पश्यन्ति आत्मनि च आत्मनम्'' (१।२।२१) ''ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन प्रकृतेः पुरुषस्य च, निवृत्तबुद्ध्यवस्थानो दूरीभूतान्यदर्शनः उपलभ्य आत्मना आत्मानं चक्षुषेव अर्कम् आत्मदृग् एवं प्रत्यवमृश्य असौ आत्मनां प्रतिपद्यते'' (३।२७।१०-१६) ''यथा उल्मुकाद् विस्फुलिंगाद् धूमाद् वापि स्वसम्भवाद् अप्यात्मत्वेन अभिमताद् यथा अग्निः पृथग् उल्मुकाद् भूतेन्द्रियान्तःकरणात् प्रधानाद् 'जीव'सञ्ज्ञिताद् आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान् 'ब्रह्म'सञ्ज्ञितः, सर्वभूतेषु च आत्मानं सर्वभूतानि च आत्मनि, ईक्षेत अनन्यभावेन भूतेष्विव तदात्मताम्'' (३।२८।४०-४२) ''ईक्षेत आत्मनि च आत्मानं यथा खम् अमलाशयः'' (११।२९।१२) इति उपदर्शितदिशा ब्रह्मबोधानन्तप्रकाशेन उपहितबुद्धितत्स्थ-चिदाभासादि-प्रत्यक्षाभ्युपगमसामग्र्या ब्रह्मापरपर्यायात्माकारा-कारित-वृत्यात्मप्रत्यवमर्शात्मकस्य अपरोक्षस्य ग्रन्थोक्तदिशा 'आत्मसंविद्' इत्याख्यस्य अस्य चरमप्रत्यक्षस्य संगतिः इति अध्यवस्यामः.

इत्थम् इदम्प्रथमतया श्रीमद्भागवतप्रस्थानोपगता प्रत्यक्षप्रक्रिया प्रतिपत्तॄणां प्रमोदाय भगवत्कृपया अत्र यथामति प्रदर्शिता.

अधुना शुद्धाद्वैतनयनिपुणस्य श्रीपुरुषोत्तमचरणस्य प्रस्थानरत्नाकरीया प्रत्यक्षपद्धतिः तुलनात्मकधिया संक्षेपेण अत्र विमृश्यते.

प्रस्थानरत्नाकरोक्तप्रत्यक्षनिरूपणे श्रीमद्भागवतस्य संवादो विसंवादो वेति विमर्शः.

प्रकरणम् आरभमाणः तत्र भवान् गोस्वामिवर्यः प्रथमम् **''इन्द्रियात्मकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्''** इति प्रत्यक्षप्रमाणस्य किञ्चिद् अपूर्वं लक्षणं परिनिश्चिकाय. इन्द्रियाणि अत्र चक्षुरादीनि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि मनः च इति षट्संख्याकान्येव अंगीकृतानि. यद्यपि अत्रैव ग्रन्थे प्रमेयप्रकरणे ''तैजसाहंकारोपादेयत्वे सति

ज्ञानक्रियान्यतरकरणम्'' इति लक्ष्मनिर्धारणपुरस्सरं ''तानि ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-भेदाद् द्विधा. तत्र वागादीनि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि'' ('प्रस्थानरत्नाकरे' प्रमेयरूपब्रह्मणः कोटित्रयः निरूपके कल्लोले द्वितीयतरंगे)[६] इति भागवतप्रस्थानप्रतिपादितार्थमेव प्रादीदृशत् तथापि अत्र नवीनरीत्या मनःसहकृतं षट्कमेव समचीकलदिति मर्मास्य सम्प्रधारयितुं नेश्महे वयं कुतः? उभयत्र विरोधापत्तेः. तत्रहि न मनसः इन्द्रियत्वेन ग्रहणम् अत्रच 'इन्द्रिय'पदेन ज्ञानेन्द्रियपञ्चकस्यैव स्वीकरणमिति अस्वारस्यम् अवसरति श्रीमदाचार्यस्य स्वकीयेष्वेव वचनेषु.

यदि प्रत्यक्षप्रक्रियानुपयोगित्वात् न कर्मेन्द्रियाणि अत्र संकलितानि इति श्रीमद्भिः मेधिष्ठैः तत्पक्षीयैः समाधातुं प्रयत्येत तदपि न मनोरमम्. तथात्वे ''ज्ञानेन्द्रियात्मकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्'' इत्यात्मकेन लक्षणेनैव प्रतिपिपादयिषितत्वसार्थक्यम्. अथ मनसः इन्द्रियत्वविषये स्वयमेव दोलायमानचित्तता तत्र भवतो वेदान्तपरिभाषाकृत्समाधानस्य निराकरणाशक्यत्वात् ''यद्वा इन्द्रियत्वम् अनिन्द्रियत्वञ्च उभयम् अस्तु इति व्याहरणोपलब्धेः'' (तत्रैव १२८ पृष्ठे). श्रीमद्भागवतेऽपि मनो अन्तःकरणभेदत्वेनैव परिगृहीतं, ''मनो बुद्धिः अहंकारः चित्तम् इति अन्तरात्मकं चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्या लक्षणरूपया'' (३।२६।१४) इति प्रागुदाहृतग्रन्थप्रामाण्यात् तत्रैव च. ''एकमेव अन्तरात्मकम् अन्तःकरणं मनोबुद्ध्यादिभेदेन चतुर्धा लक्ष्यते. एकस्य अनेकधा लक्षणे हेतुः ''लक्षणरूपया वृत्या भेदो लक्ष्यत'' इति. वृत्तिभेदाद् भेदः. वृत्तिः च लक्षणरूपा'' इति महाप्रभुवल्लभाचार्यकृत-सुबोधिनीग्रन्थप्रामाण्याद् इति प्रकरणम् इदं चिन्त्यमूलम्.

निबन्धाऽनेन अतःपरं चक्षुरादीन्द्रियग्राह्यविषयविचारे महता अध्यवसायेन अभावस्य आविर्भाव-तिरोभावयोः अन्तर्भावः प्रसाधितः तमपि श्रीमद्भागवतप्रामाण्यपराहतमेव उत्पश्यामः. एतत्तु युक्तिविधुरमपि सर्वविधाभावस्य अनंगीकरणम् इति. ''अत्र घटो ह्यत्र च घटाभावः'' इत्याद्यनुभवस्थले न कश्चित् सामान्यः उत्प्रेक्षाप्रवणो वा जनो ''अत्र घटस्य आविर्भावो अत्रच तस्य तिरोभावः'' इति अनुभवति तत् निपुणतरम् उपपादितमपि प्रकरणम् इदं

न प्रत्यक्षप्रतिपादनम् उपकरोति.

इतो अनन्तरं विद्वद्धौरेयेण श्रीमत्पुरुषोत्तमेन प्रत्यक्षकरणरूपाणाम् इन्द्रियाणां षड्विधव्यापारनिरूपणं निपुणम् उपावर्णि. तत्र अलौकिकव्यापारे 'योगज' इति तस्य उपभेदः न प्रत्यक्षभेदः इति आम्नातः तत्रापि अस्माकम् इयं जिज्ञासा समुन्मिषति — योगिनां प्रत्यक्षे स्थूलेन्द्रियत्वेन उपचरितानां शरीरस्थगोलकानाम् उपयोगो अनुपयोगो वा? यदि उपयोगः तर्हि सामान्य-लौकिक-व्यापाराद् अत्र को विशेषः? यदि अनुपयोगः तर्हि कथं व्यापारत्वं? व्यापारस्य च भवन्मते प्रत्यासत्तिरूपत्वांगीकारात् प्रत्यासत्तेः च इन्द्रियगोलक-तत्सन्निकृष्ट-विषयरूपत्वादिति उभयतः पाशरज्जुः. यश्च श्रीमद्भागवतम् अनुसृत्य "एकादशा आसन् मनसो हि वृत्तयः" (५।११।९) इति वृत्तिविचारो अत्र कृतो; यच्च जाग्रदवस्थायां षड्विधेन्द्रिय-सन्निकर्षमात्रजन्यं ज्ञानं निर्विकल्पकं तदेव संशयादिबुद्धिवृत्त्यनुगृहीतं सत् सविकल्पकं ज्ञानं भवति इति न्यरूपि तत् प्रागुक्तरीत्या वयमपि सम्प्रधारयामः श्रीमद्भागवतसमर्थिततत्वाद् इति प्रमोदजनकमेव अस्मत्कृते.

किन्तु अत्र उपसंहारे श्रीमद्भगवत्साक्षात्कारप्रणाली या सर्वथा प्रमेयबलादेव निर्धारिता तस्य अनिन्द्रियग्राह्यत्वात् कथं प्रत्यक्षत्वसंगतिः? प्रत्यक्षत्वञ्च अस्य तद्वेत्तॄणाम् अनुभवसिद्धम्. अपिच एवंरीत्या "दिव्यं ददामि ते चक्षुः" (भग.गीता ११।८) इति गीताशास्त्रोक्तदिशा श्रीमद्भगवद्दर्शने पुराणग्रन्थेषु भृशं निरूपितचरं दिव्येन्द्रियमयत्वमपि पराहतं भवति. तत् न उचितं, श्रीमद्भागवतशास्त्रे विविधकथासु निरूपितत्वादिति स्वाभिमतम् अतिविनम्रतया आवेदयामः.

अतो अत्र प्रागुपपादिता श्रीमद्भागवतप्रस्थानस्यैव पद्धती रुचिरा इति अवधार्य पर्यन्ते च इदमेव विनिवेद्य विरमामो वयं यथा -

याऽस्माभिः किञ्चिदुन्नीता श्रीमद्भागवताश्रिता।
प्रत्यक्षपद्धतिः सेयं विद्वद्भिरनुमन्यताम्॥
गोस्मामिश्रीमदाचार्याः स्निग्धाः श्याममनोहराः॥

बन्धवश्च शरद्वर्याः तुष्यन्त्वेतेन वर्त्मना ॥

इति श्रीकृष्णार्पणमस्तु !

टिप्पण्यः

१. यथाहि सुगतमतानुयायिनां लक्षणं, ''कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्'', आर्हतानां, ''विशदं प्रत्यक्षम्'', नव्यनैयायिकानां ''ज्ञानाकरणं ज्ञानं प्रत्यक्षम्'', प्राभाकराणां ''साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम्, अद्वैतवेदान्तिनां ''यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म'' (बृह.उप.३।४।१) इति श्रुत्या निर्गलितं ''प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणं. प्रत्यक्षप्रमा च अत्र चैतन्यमेव'' इति वेदान्तपरिभाषोक्तं लक्षणं, विशिष्टाद्वैतवादिनाञ्च ''साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्'' इति यतीन्द्रमतदीपिकोक्तं लक्षणम्.

२. द्रष्टव्या अत्र 'भागवतचन्द्रिका' 'शुकपक्षीया' 'पदरत्नावली' सञ्ज्ञिकाः टीकाः.

३. ''वस्तुनो मृदुकाठिन्यं लघुगुर्वोष्णशीतताम्,
जिघृक्षतस्त्वङ्निर्भिन्नाः तस्यां रोममहीरुहाः'' (भाग.पुरा.२।१०।२३) अपि च,
''मृदुत्वं कठिनत्वञ्च शैत्यमुष्णत्वमेव च,
एतत् स्पर्शस्य स्पर्शत्वं तन्मात्रत्वं नमस्वतः'' (तत्रैव ३।२६।३६।)

४. द्रष्टव्यो अत्र - ''वेदान्तपरिभाषायाः प्रत्यक्षपरिच्छेदः.

५. योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः,
युक्तस्य सर्वथा भानं चिन्तासहकृतो अपरः'' (न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यां कारिका ६५)

६. ''ईक्षेत चिन्तामयम् एनम् ईश्वरं यावन्मनो धारणया अवतिष्ठते.'' (२।२।१२) इत्यत्र धारणाप्रत्यक्षं, ''यदङ्घ्य्रभिध्यानसमाधिधौतया धिया अनुपश्यन्ति हि तत्त्वम् आत्मनः'' (२।४।२१) इत्यत्र च ध्यानप्रत्यक्षं दिङ्मात्रम्.

७. गोस्वामिश्रीश्याममनोहरसम्पादितस्य श्रीवल्लभविद्यापीठ कोल्हापुरतः प्रकाशितस्य 'प्रस्थानरत्नाकरस्य' (तृतीयसंस्करणे) २५३ पृष्ठे.

चर्चा

श्रीद्भागवतप्रस्थाने प्रस्थानरत्नाकरे च प्रत्यक्षप्रमाणविमर्शः

डॉ. विन्ध्येश्वरीप्रसादमिश्रः

मंगला चिंचोरे : What is the period of Bhāgavat? Because of we ... also has differentiated between four kinds of Pratyakṣa : Indriya, Mānasa, Svasamvedana and Yogaj. So, what is the deference between the ... perception ...that is acceptable to Bhāgavat?

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : भागवतस्य कः कालः इति विषये मम मतन्तु प्राचीनं वर्तते, परम्परिकं वर्तते. आचार्यैः यन् निर्दिश्यते तदेव प्रमाणम्.

गो. श्या. म. : हमारे मतमें तो पुराण वेदसे भी प्राचीन हैं, प्रकट बादमें हुवे हैं. ''पुरा भवं पुराणम्''. *लो ऑफ् ग्रेविटिका* नियम बहुत पुराना है पर प्रकट उसको न्यूटनने किया.

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : यह सही है. अब भागवतपर किसका प्रभाव है, धर्मकीर्तिका है या ओर किसीका है यह पृथक् प्रश्न है. अब आप देखिये कि महाभारतके समय तो पुराण थे ही.

गो. श्या. म. : उपनिषदोंमें पुराणोंका वर्णन आता है. धर्मकीर्ति स्वयं मूलमें तो ब्राह्मण थे, बौद्ध तो बादमें हुवे. अतः उन्होंने पुराण पढ़े भी हो सकते हैं.

अच्युतानन्द दास : भगवतो विश्वरूपदर्शनयोगे चिकीर्षितमपि अर्थं दृष्ट्वा तम् अर्थं दर्शितवन्तः अर्जुनाय.

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : भविष्यत्कालीनम्.

अच्युतानन्द दास : एवम्. तम् अर्थं पुनः सञ्जयो दृष्ट्वा युधिष्ठिरं वदति.

सो वदति ''मया हता: त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्'' तत्र इमे भीष्मादयो मया हताएव. अत: त्वं जहि, मा व्यथिष्टा, युध्यस्व, जेतासि. तत्र प्रश्नो अयं भवति, यादृशम् अर्थं न सञ्जातं, भावीनम् अर्थं भगवांस्तु जानात्येव. भगवत: तादृशं सामर्थ्यं वर्तते. भगवत: चिकीर्षितं तद् वर्तते. परन्तु चिकीर्षितस्य अर्थस्य अन्यस्मै दर्शनं नाम केवलं ज्ञापनं वा तस्य साक्षात्कारो ?

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : भूत-भविष्यदित्यादिदृष्टय: तावत् अस्मदादीनां कृते. भगवत: कृतेतु सर्वमपि करतलामलकवत् भवति. सर्वं वर्तमानमेव. अतो भगवता यद् दर्शितं तत् सर्वं दर्शितमेव नतु श्रावितम्. भगवत्कृपया अर्जुनस्य दिव्यचक्षु: सञ्जाता ''दिव्यं ददामि ते चक्षु: पश्य मे योगमैश्वरम्''. तर्हि 'योगम्' इति कश्चन प्रभाव:. गोलकं तदेव भवति.

अच्युतानन्द दास : तदानीं भक्तस्य भगवद्रूपता आयाति वा ?

विन्ध्येश्वरी प्रसाद : आयात्येव.

गो. श्या. म. : इस सम्बन्धमें हमारे यहां इस तरहसे समाधान है. जो भी कुछ नाम-रूप-कर्मात्मक जगत है वह सच्चिदानन्दमेंसे चिदानन्दके तिरोधान पूर्वक लोकमें प्रकट है. पर वो सारेके सारे नाम-रूप-कर्म भगवान्में सच्चिदानन्दात्मक रूपमें हैं ही. अत: भगवान् जब उनका दर्शन कराते हैं तब अंशतिरोधानके बिना उनको दर्शन कराया, नाम-रूप-कर्मोंका. ''स सर्वनामा सच सर्वरूप:'' भगवान् हैं. तो उनमें जब दर्शन होता है तब इन्हीं सर्व वस्तुओंका भगवदात्मक दर्शन होता है. और अभी जब हमें नाम-रूप-कर्मोंका दर्शन होता है तो वह चिदानन्दांशके तिरोधानके कारण जड़त्वके अनुरूप या जीवात्माके अनुरूप होता है. It is a sort of blue print which is there in Brahman. And that blue print is developed in Sṛṣti. इसीलिये मैने अपने

पेपरमें वह श्रुति भी उद्धृत की है कि जितने भी नाम हैं वो वाणीसे उत्थित होते हैं ''नाम्नां वाग्... अतोहि सर्वाणि नामानि उत्तिष्ठन्ति... ब्रह्म एतद् हि सर्वाणि नामानि बिभर्ति''. जितने भी रूप हैं वो चक्षुसे उत्थित होते हैं ''रूपाणां चक्षुः... अतोहि सर्वाणि रूपाणि उत्तिष्ठन्ति... ब्रह्म एतद् हि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति''. जितने भी कर्म हैं वो आत्मासे उत्थित होते हैं ''कर्मणाम् आत्मा... अतोहि सर्वाणि कर्माणि उत्तिष्ठन्ति... ब्रह्म एतद् हि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति''. तो एक तो ब्रह्मद्वारा धृत नाम-रूप-कर्म है और एक चक्षु-वाणी और आत्मा, यानि कि प्राणात्मा लो या जीवात्मा लो, उसके द्वारा पुनरुत्थापित नाम-रूप-कर्म हैं. इस तरह नाम-रूप-कर्मोंका अवस्थाभेदसे... एक लीलात्मक नाम-रूप-कर्म हैं और एक स्वरूपान्त:पाति नाम-रूप-कर्म हैं. इस तरहसे दो भेद मानते हैं. माध्वमतमें बहुत अच्छी एक प्रक्रिया है भगवान् प्रत्येक शब्दके परम या प्रथम वाच्य माने गये हैं. तो वो हम भी इस अर्थमें स्वीकारते हैं कि सर्वशब्दवाच्य भगवान् इस अर्थमें हैं कि सारे रूप भगवान्में *ब्ल्यू-प्रिन्ट्की* तरह मौजूद हैं तो सर्वशब्दके वाच्य भगवान् होंगे ही.

अच्युतानन्द दास : इस बातपरसे मेरे मनमें यह विचार आता है कि क्या हम भगवान्के मनको 'विश्वमन' कह सकते हैं? तो प्रश्न यह है कि योगिप्रत्यक्षमें योगी अपने मनको विश्वमनके साथ जोड़ देता है. इससे विश्वमनमें जितने अर्थ हैं उन सबका योगीको प्रत्यक्ष हो जाता है. अत: योगी भूत-भविष्यत् सबका द्रष्टा हो जाता है.

गो. श्या. म. : इसीलिये कालपरिच्छिन्नता उसमें नहीं होती है. सच्चिदानन्दात्मकता होनेके कारण उसमें कालपरिच्छिन्नता नहीं होती है. इसीलिये महाप्रभुने लिखा है ''अनित्ये

जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागम, नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधा''. उत्पत्तिः त्रिधा भवति. १. अनित्ये जननम् २. नित्ये परिच्छिन्ने समागम. जड़ नाम-रूप-कर्म सब अनित्य हैं, कालतः परिच्छिन्न हैं. और देशतः परिच्छिन्न नाम-रूप-कर्मका गमागम होता है, उत्पत्तिनाश नहीं होता है. कालपरिच्छिन्नमें उत्पत्तिनाशकी लीला प्रकट होती है. इसके प्रतिरूप जो आनन्दात्मक हैं उनमें न तो उत्पत्तिनाश होता है न गमागम होता है, केवल प्राकट्य या अप्राकट्य होता है. ३. नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधा. तो अर्जुनको जो दीखा था वह केवल प्राकट्य था. और जैसे देहमें आत्माका आना-जाना होता है. और देह खत्म होता है और पैदा होता है. ऐसी प्रक्रिया हमारे यहां बतलाई गई है.

......+......

संगोष्ठ्युत्तरलेखन

गो.श्या.म.

श्रीमद्भागवत पुराणके प्रति आलेखकारके ममत्वातिशयके कारण और तदनुरूप निरन्तर अवगाहनके कारण भी भागवतीय प्रत्यक्षप्रमाणकी सुविशद तथा अद्भुत मीमांसा करनेवाली प्रस्तुतिको पढ़ कर मन सहज ही विस्मित हो जाता है! महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके अनुसार श्रीमद्भागवत, परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णका नामात्मक रूप होनेके कारण, श्रवण-कीर्तन-स्मरण-भावनकी प्रकियाद्वारा आराध्य भगवद्रूप है, सर्वसन्देहवारक केवल प्रमाणग्रन्थ ही नहीं. अतः श्रीकृष्णके **''मल्लानाम् अशनिः, नृणां नरवरः, स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्, गोपानां स्वजनो, असतां क्षितिभुजां शास्ता, स्वपित्रोः शिशुः, मृत्युः**

भोजपतेः, विराड् अविदुषां, तत्त्वं परं योगिनां वृष्णीनां परदेवता इति विदितः'' निरूपणके अनुरूप हम शुद्धाद्वैतिओंकी तरह अन्य केवलाद्वैती आदि मतानुगामिओंको भी यह पुराण अपने-अपने भावोंके अनुसार अतिशय ही अपना निजी ग्रन्थ लगे यह स्वाभाविक कथा ही है. अतएव श्रीमधुसूदन सरस्वतीने भागवतीय उपाख्यानोंको ब्रह्मके निदिध्यासनोपयोगी माना है. श्रीमद्भागवतपुराणके परमभक्त श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजीके आलेखपत्रको भी सुनने-पढ़नेपर इस तथ्यकी संपुष्टि होती है.

भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके प्रस्थानत्रयीके भाष्य आदि ग्रन्थोंमें उपलब्ध होते तत्त्वनिरूपण तथा विभिन्न देवी-देवताओंके स्तोत्रोंमें उपलब्ध होते भक्तिभावाभिव्यञ्जन की भाषा संस्कृतभाषाके इतिहासमें एक अतीव स्पृहणीय मानक हैं, इसमें किसी तरहके सन्देहको अवकाश नहीं. इनकी वाणीमें प्रदप्रयोगोंमें प्रकट हुवा सहज प्रसादगुण, भावगाम्भीर्य, लयबद्धता और विचार्य या स्तुत्य विषयवस्तुके निरूपणमें समप्रमाण प्रयुक्ति, उनकी वाणीको भलीभांति न समझ पानेवालेके हृदयको भी बरबस आकृष्ट कर लेती है. यह उनके मतके साथ सहमत हो पानेवाले या न हो पानेवाले प्रत्येक अध्येताके लिये स्वानुभवैकवेद्य विषय है. उनके तत्त्वनिरूपणकी प्रभावोत्पादकता एवं हृदयावर्जकता का प्रमाण स्वयं इतनी बड़ी संख्यामें विद्वत्समुदायका केवलाद्वैतमतानुगामी होना है! इसी तरह भगवत्पादरचित स्तोत्रोंकी भक्तिभावोद्बोधकता भी अनूठी है. कोई किसी देवविशेषका भक्त हो या न हो किन्तु भगवत्पादरचित किसी देवी या देव के स्तोत्रोंको एक बार भी पढ़ ले तो अपने अनाराध्य देवको भी स्मृतिपटलसे दूर कर पाना कठिन हो जाता है, यह भी एक स्वानुभवैकवेद्य तथ्य है! साथ ही साथ यह भी एक तथ्य है कि स्वयं भगवत्पादके तत्त्वनिरूपण और देवस्तोत्रों में प्रकट होनेवाले विचार और भावों की परस्पर संगति बिठा पाना एक अतीव दुष्कर व्यायाम प्रतीत होता है.

यद्यपि बौद्धोंकी तीखी आलोचना करते हुवे भगवत्पाद **''अपिच**

बाह्यार्थ-विज्ञान-शून्य-वादत्रयम् इतरेतरविरुद्धम् उपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतम् आत्मनो असम्बद्धप्रलापित्वं प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्येयुः इमाः प्रजाः इति'' (ब्र.सू.भा.२।२।३२) ऐसा विधान करते हैं. वाल्लभ सम्प्रदाय, परन्तु, भगवान् बुद्धको श्रीहरिका अवतार तो भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यको उसी रुद्रका अवतार, जो सदा वंशीरूपेण श्रीकृष्णके करकमलों और मुखकमल से संलग्न है, मानता है! अतः इन दोनोंके बीचकी इस नोंकझोंको भी हम तो गम्भीररूपसे लेनेके बजाय लीलाकलहके रूपमें ही लेना चाहेंगे. फिरभी इस सन्दर्भमें एक तथ्य अवश्य ही उल्लेखनीय लगता है कि भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके तत्त्वनिरूपण तथा भक्तिपूर्ण स्तोत्रों में प्रकट हुयी विरुद्धधर्माश्रयताने परवर्ती शांकरोंको निरन्तर उलझाये रखा कि इस विरुद्धधर्माश्रयताका समाधान क्या देना!

परवर्ती शांकर विद्वानोंने कभी बौद्धोंके द्विविध संवृति-परमार्थ सत्योंकी तरह व्यावहारिक-पारमार्थिक द्वैतकी कल्पना द्वारा इसे सुलझाना चाहा. तो कभी विनेय-विनीतरूप द्विविध अधिकारियोंके प्रभेदकी कल्पनाकी तरह चित्तशुद्ध्यर्थ/शुद्धचित्तवाले जिज्ञासु/ज्ञानीके प्रभेद **''उपलम्भात् समाचाराद् अस्तिवस्तुत्ववादिनां जातिस्तु देशिता बुद्धैः अजातेः त्रसतां सदा''** (माण्डु.कारि.४।-४२) की कल्पनाद्वारा. तो कभी निर्वाणैकगम्य सर्वविध शून्यताके सम्पूर्ण साक्षात्कारके बादभी करुणाभावकी प्रबलताके वश निरन्तर जनमते रहनेवाले बुद्धकी ही तरह तरह **''सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनः त्वम्!''** (षट्प.स्तो.३) यों ब्रह्मात्म्यैक्यके साक्षात्कारके बाद भी **''द्वैतं मोहाय बोधात् प्राग् जाते बोधे मनीषया भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतम् अद्वैतादपि सुन्दरम्''** जैसी उत्तरकालिक उपासनार्थ द्वैतकी कल्पनाद्वारा. तो कभी *''यः चौरः स स्थाणुः''* की बाधितानुवृत्तिकी कल्पनाद्वारा. तो कभी **''देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः भिद्यन्ते बहुधा लोके उपायैः बहुभिः... भिन्नापि देशना अभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा''** (द्रष्ट. : ब्र.सू.शां.भाम.२।२।१८) की तर्जपर **''अधिगतभिदा... जननहरणी सुक्तिः ब्रह्माद्वयैकपरायणा... प्राचीनैः व्यवहारसिद्धविषयेषु आत्म्यैक्यसिद्धौ परां संनह्यद्भिः अनादरात् सरणयो नानाविधाः दर्शिताः''** (सि.ले.सं.मंग.) नीतिकी कल्पनाद्वारा.

तो कभी आवरणनिवृत्तिके बाद भी विक्षेपानुवृत्तिकी कल्पना द्वारा. तो कभी अपने अलावा अन्य सारे मतवादोंको मिथ्या और अपने ही मतको एकमात्र पारमार्थिक मान कर सर्वाविरोधी "**स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिताः दृढं परस्परं विरुद्ध्यन्ते. तैः अयं न विरुद्ध्यते**" (माण्डु.कारि.३।१७) की नीतिके अपना कर भी सुलझाना चाहा. इसलिये मिथ्यात्वेन अभिमत अन्य मतोंका स्वयंके मतमें अन्तर्भाव स्वीकारनेमें भी किसी तरह आपत्ति न होनेके कारण सर्वसमन्वयकी कल्पनाद्वारा भी कभी सुलझाना चाहा. तो कभी बौद्धोंकी तरह पूर्व-पूर्व प्रसक्तके तात्कालिक अभ्युपगमके बाद उत्तरोत्तर प्रतिषेधद्वारा "**यथा-यथा समारोपाः जायन्ते तत्त्वयोगिनः तथा-तथा समारोपाः हन्यन्ते तत्त्ववादिना**" की तरह अपवादार्थ अध्यारोपाभ्युपगमकी नीति अपना कर "**विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमिः वेदान्तवादे परिणामवादः व्यवस्थिते अस्मिन् परिणामवादे स्वयं समायाति विवर्तवादः**" (संक्षे.शारि.२।६१) सुलझाना चाहा. यों तत्त्वोपदेश और कर्तव्योपदेश के बीच रहे विरोधाभासके परिहारमें निरन्तर शांकरोंका चित्त दोलायमान लक्षित होता है. शांकर वेदान्तमें, अतः, अनेकविध विरुद्धवादोंके आनुषंगिकतया अभ्युपगमोंके उत्तरोत्तर विकसनकी प्रक्रियाके इतिहासका क्रमबद्धतया निर्धारण एक महान् गवेषणीय विषय लगता है.

कहां तो "**न देवाः न लोकाः न वेदाः न यज्ञाः न तीर्थं ... न शुक्लं न कृष्णं... अरूपं तथा... नच एकं तदन्यद् द्वितीयं कुतः स्यात् नवा केवलत्वं नच अकेवलत्वं न शून्यं नच अशून्यम् अद्वैतकत्वात्**" (दशश्लो.३-१०) और कहां "**घनश्यामो वामो व्रजशिशुवयस्यो अर्जुनसखः... मम भवतु कृष्णो अक्षिविषयः**" (श्रीकृष्णाष्ट.७)! और फिर "**प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् स्वप्नवत्**" भी यों सतत विरोधाभासी भावोंमें आन्दोलित होते मूलाचार्योपदिष्ट तथा परम्पराविकसित द्विविध उपदेशोंने ही अन्तमें "**अद्वैतं न सदेहो अस्ति विदेहे द्वैतम् अस्ति नो जीवन्मुक्तस्य न अन्यस्य द्वैताद्वैतमहोत्सवः**" के अंगीकारद्वारा आविद्यक मिथ्या द्वैतको बाधयोग्य माननेके बजाय महोत्सवका घटक बना दिया! ऐसा प्रतीत होता है कि शांकर वेदान्तिओंके ऐसे दोलायमान चित्तका ही यह चरम परिपाक था कि श्रीचित्सुखाचार्य और श्रीश्रीधरस्वामी की

परम्परामें आगे चल कर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके पड़ौसी तथा उनके द्वितीयात्मज गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणके विद्यागुरु श्रीमधुसूदन सरस्वतीको एक श्वासमें ही **''एतेन भगवल्लोकादेरपि नित्यत्वम् अपास्तं... तस्मात् निर्गुणं निराकारं ब्रह्म इति सिद्धम्... वंशीविभूषितकराद् नवनीरदाभात् पीताम्बराद् अरुणबिम्बफला-धरोष्ठात् पूर्णेन्दुसुन्दरमुखाद् अरविन्दनेत्रात् कृष्णात् परं किमपि तत्त्वम् अहं न जाने''** (अद्वै.सि.२) विधानमें कुछ अनुपपत्तिजनक प्रतीत नहीं होता. गौड़ब्रह्मानन्दी व्याख्यामें, परन्तु, **''जीवन्मुक्तोऽपि आचार्यः पूर्वसञ्चितभजनवासनया श्रीकृष्णं स्मरति''** (तत्रैव) कह कर यहां उभरे विरोधाभासको टालनेका प्रयास कथञ्चित् किया गया. इस विरोधाभासका सर्वाधिक विस्फोट भगवान्‌की आत्मस्वीकृति **''अजोऽपि सन्... सम्भवामि आत्ममायया''** (भग.गीता.४।६) के भाष्यमें भगवत्पाद स्वयं **''स्वां मम वैष्णवीं मायां त्रिगुणात्मिकां यस्याः वशे सर्वं जगद् वर्तते यया मोहितं सत् स्वम् आत्मानं वासुदेवं न जानाति... आत्ममायया न परमार्थतः''** (तत्रैव शां.भा.) कहते हैं और शांकर मतके कितने बड़े वकील होनेके बावजूद श्रीमधुसूदन सरस्वती भाष्यकारके मतके समकक्षतया अन्यमतके नामसे जो उन्हें रुचता है वैसा वैष्णवपक्ष प्रस्तुत कर उसे उपपन्नतया दरसाना चाहते हैं :

> **''नित्यो यः कारणोपाधिः 'माया'ख्यो अनेकशक्तिमान् सएव भगवद्देहः इति भाष्यकृतां मतम्. अन्येतु परमेश्वरे देहदेहिभावं न मन्यन्ते किन्तु यश्च नित्यो विभुः सच्चिदानन्दघनो भगवान् वासुदेवः परिपूर्णो निर्गुणः परमात्मा सएव तद्विग्रहो नान्यः कश्चिद् भौतिको मायिको वा इति अस्मिन् पक्षे योजना... सर्वभासकः सर्वकारणमायाधिष्ठानत्वेन सर्वभूतेश्वरोऽपि सन् अहं 'प्रकृतिं'= स्वभावं सच्चिदानन्दघनैकरसम्. मायां व्यावर्तयति... स्वस्वरूपम् अधिष्ठाय स्वरूपावस्थितएव सन् सम्भवामि देहदेहिभावम् अन्तरेणैव देहिवद् व्यवहारामि... कथं तर्हि अदेहे सच्चिदानन्दघने देहत्वत्वप्रतीतिः इत्यतः आह निर्गुणे शुद्धे सच्चिदानन्दरसघने मयि भगवति वासुदेवे देहदेहिभावशून्ये तद्रूपेण प्रतीतिः मायामात्रम्''.**
>
> (तत्रैव मधुसू.).

यहां यद्यपि यह ग्रन्थकारने कण्ठतः यह स्पष्ट नहीं किया उल्लिखित दोनों मतोंमेंसे उन्हें कौन सा अभिप्रेततर है परन्तु आगे बढ़नेपर -

> ‘‘तस्मात् श्रीकृष्णाद् अन्यद् वस्तु पारमार्थिकं किं निरूप्यतां, तदेव एकं पारमार्थिकं न अन्यत् किमपि... पराकृतनमद्बन्धं परं ब्रह्म नराकृतिं सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः’’.
>
> ‘‘शैवाः सौराः च गाणेशाः वैष्णवाः शक्तिपूजकाः भवन्ति यन्मयाः सर्वे सोऽहमस्मि परः शिवः प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यम् अद्भुतं न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढाः निरयंगताः’’.
>
> ‘‘अस्मिन् हि गीताशास्त्रे निष्ठात्रयं साध्यसाधनभावापन्नं विवक्षितम् उक्तं च बहुधा... भगवद्भक्तिनिष्ठातु उभयसाधनभूतोभयफलभूता च भवतीति अन्ते उपसंहृता ‘सर्वधर्मान् परित्यज्य माम् एकं शरणं व्रज’ इत्यत्र. भाष्यकृतस्तु ‘सर्वधर्मान् परित्यज्य’ इति सर्वकर्मसंन्यासानुवादेन... ज्ञाननिष्ठा उपसंहृता इति आहुः. भगवदभिप्रायवर्णने के वयं वराकाः! वचो यद् ‘गीता’ख्यं परमपुरुषस्य आगमगिरां रहस्यं तद्व्याख्याम् अनतिनिपुणः को वितनुताम्! अहन्तु एतद् बाल्यं यद् इह कृतवान् अस्मि कथमपि अहेतुस्नेहानां तदपि कुतुकायैव महताम्’’.
>
> (तत्रैव १४।२७, १५।२०, १८।६६).

इन वचनोंके अवलोकनसे दबी जबानमें गूढार्थदीपिकाकार निजमत ही कहते से दृष्टिगत होते हैं. वैसे भाष्योत्कर्षदीपिकाकारने अनेकत्र गूढार्थदीपिकाकारके व्याख्यानकी जम कर आलोचना की है. वे इस तरहके अमायिक साकाररूपकी मायावादी सिद्धान्तके साथ संगति स्वीकारने उद्यत नहीं. सो जो विकल्पजाल रचते हैं उसका भावानुवाद देना चाहुंगा : ऐसा भगवद्विग्रह क्या साकार होता है कि निराकार? आद्य कल्पमें ऐसे आकारको निर्गुण ब्रह्मका परिणाम मानना कि विवर्त? परिणाम इसलिये माना नहीं जा सकता कि निर्विकार ब्रह्मका विकाररूप परिणाम सम्भव नहीं, अन्यथा उसे अनित्य ही मानना पड़ेगा. विवर्त माननेपर उस विवर्तकी साधिका मायाकी अपरिहार्यताके कारण भगवद्विग्रहको ‘अमायिक’ कहना उपपन्न नहीं होगा. भगवद्विग्रहको निराकार

मान कर श्रीकृष्णरूपमें विशेषाकारवान् भी मानना तो वदतोव्याघात होगा. श्रीकृष्णका ऐसा सच्चिदानन्दघनैकरस विग्रह करचरणादिमान होता है या करचरणादिरहित? ये करचरणादि भी क्या दृश्य होते हैं अथवा अदृश्य? आद्य कल्पमें भगवद्विग्रह पांचभौतिक कार्य होनेसे मायिक सिद्ध होगा. अदृश्य होनेपर तो भक्तोंको भी जो उनके दर्शन होते हैं वे अलौकिकप्रत्यक्ष न हो कर अनिर्वचनीयख्यातिमें अन्तर्गणित होने चाहिये . यहां एक ऐसी उपपत्ति प्रस्तुत की जा सकती है कि अदृश्य होनेपर भी मायाके कारण दृश्य क्यों नहीं बन सकते! परन्तु इसमें भी विचारणीय यही है कि भगवद्विग्रहके करचरणादि परमाणु आदिकी तरह अदृश्य होते हैं या कि स्वयं ब्रह्मकी तरह? आद्य कल्पमें भक्तजनोंके प्रत्यक्ष और योगिजनोंके प्रत्यक्ष में प्रभेद न रह जानेसे कोई अन्तर सिद्ध नहीं होगा. ब्रह्मकी तरह अदृश्य माननेपर तो करचरण आदि अवयव होते हैं और करचरणादिमान् भगवद्विग्रह होता है, ऐसा कहना भी कहने भरकी बात रह गयी, अपने शिष्योंको मायिक बन्धनमें फंसानेवाली. भगवद्विग्रहको करचरणादिसे रहित और सहित दोनों मानना तो शुद्ध वदतोव्याघात ही है.

इस तरहकी शांकर वेदान्तिओंकी आपसी नोंकझोंकको यहां लक्ष्यमें रखनेपर इतना तो स्पष्ट हो जाता है इस दुविधाने शांकर वेदान्तको अपने जन्मकालसे ही अत्यधिक आपसमें ही उलझाये रखा है. स्वाभाविकतया श्रीमधुसूदन सरस्वतीकी परम्पराके अनुवर्ती प्रिय आदरणीय श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्रजीके श्रीमद्भागवतपुराण तथा शांकर वेदान्त विषयक परमस्नेहभाव तथा उसके अनन्यसाधारण गहन अध्ययनमूलक भागवतानुसारी प्रत्यक्षप्रमाण विषयक सुविशद आलेखपत्रमें भी कथञ्चित् पुनः इसी तरहके उलझनभरे इतिहासकी पुनरावृत्ति होती दिखलायी देती है.

मुझे ऐसे लगता है कि शांकर वेदान्तमें परम्परागत प्रमाणव्यवस्थासे पृथक् भागवतपर अवलम्बित स्वतन्त्र प्रमाणव्यवस्थापर भार देनेपर वह शांकर वेदान्तकी सैद्धान्तिकी परिखासे बर्हिभूत हो जानेसे असुरक्षित बन जायेगी. यह विशेषतः इसलिये कि आलेखपत्रकार भागवतीय तत्त्वमीमांसा और प्रमाणमीमांसा को शांकर वेदान्तसे सुसंगत मानते हैं जबकि भगवत्स्वरूप पार्षद लीला

धाम आदि विषयोंमें वैष्णवमतसे सुसंगततया भी प्रस्तुत करना चाहते हैं. वस्तुतः तो जैसी कि भाष्योत्कर्षदीपिकाकारने गूढार्थदीपिका व्याख्यापर आपत्ति उठायी है वही यहां भी दोहरायी जा सकती है कि प्रमाण और तत्त्व मीमांसाकी दृष्टिसे भागवतीय प्रतिपादन शांकर वेदान्तके अनुकूल हो तो भगवत्स्वरूप पार्षद लीला या धाम आदि प्रत्यक्ष कमसे कम अनिवर्चनीयख्याति और अधिकाधिक भजनवासनाप्रयुक्त उपासनार्थ की जाती कल्पना ही होनी चाहिये. यदि भागवतको सर्वसमन्वयसाधक ग्रन्थतया बिरदाना हो तो वैष्णव वेदान्तोंकी प्रमाण और तत्त्व मीमांसाकीय अवधारणाओंको भी अनाविद्यक अमायिक एवं अनारोपित स्वीकारे बिना कोई गति नहीं रह जाती. उन्हें मिथ्या मान कर पूर्णज्ञानके अभावमें अनधिकारियोंको नाराज़ न करनेको बच्चोंकी तरह बहलानेको या फुसलानेको *"ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वे सति ब्रह्मज्ञानबाध्य"* राहुकल्प मिथ्यामतोंका चन्द्रमाकल्प पारमार्थिक शांकर वेदान्तद्वारा प्रकाशन भी और निवर्तन भी दरसा कर स्वीकारा जाता समन्वय तो अन्तमें स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगितारूप समन्वय ही हो सकता है, पारमार्थिक नहीं. अतः श्रीभागवतपुराणको सर्वसमन्वयसाधक माननेके बजाय सभी इसे स्व-स्वसम्प्रदायका प्रतिपादक मानें यह बात सौम्यतर भी एवं बुद्धिगम्य भी लगती है. ऐसे दावेमें किसे क्या आपत्ति होनी चाहिये? क्योंकि सारे ही दर्शनशास्त्र सभी प्रमाणोंको अपने-अपने मतोंके पोषक न मानें तो दार्शनिक चिन्तनकी प्रक्रियामें ही व्याघात उत्पन्न होने लगेगा. हम प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाणोंको सर्वसमन्वयसाधक दरसानेका लोभ नहीं रखते तो अकारण भागवतके बारेमें हमें क्षमस्ववादी दृष्टिकोण क्यों अपनाना चाहिये? वाल्लभ वेदान्तके अनुसार, अतः, कुछ कहना हो तो यही कहना चाहुंगा कि जब तक कोई बलवद् बाधक प्रस्तुत न किया जाये तब तक हमें तो स्वीकारना ही चाहिये कि श्रुति-स्मृति-सूत्रादि प्रमाणोंमें उभरते सभी सन्देहोंका वारक श्रीमद्भागवतपुराण वाल्लभ वेदान्तके सर्वथा अनुकूल ही है, सभी वेदान्तप्रस्थानोंका समन्वयसाधक नहीं. साथ ही साथ ऐसे दावे करनेके अपने अधिकारकी तरह अन्यान्य वेदान्तप्रस्थानोंका भी अथवा अन्य भी जो दर्शन भागवतको प्रमाणतया मानते हों उनके भी ऐसे दावे प्रस्तुत करनेके मौलिक अधिकारको इन्कारा नहीं जा सकता. कोई जब **"माता भूमिः पुत्रो अहम्"** दावा करता हो तो भूमिपर जनमनेवाले अन्योंके भूमिके बारेमें मातृभावके

निराकरणार्थ वह फलितार्थ नहीं हो सकता.

अतएव साधारण लौकिक प्रत्यक्षसे पृथक् यदि भावनाप्रत्यक्ष या योगिप्रत्यक्ष आदिके प्रभेद भागवतप्रामाण्यके आधारपर करने हों तो शांकर वेदान्तकी प्रमाणमीमांसा और तत्त्वमीमांसा की परिखा या दृढ़ दुर्गमेंसे बाहर निकलना उचित नहीं लगता. क्योंकि प्रत्यक्षके इन प्रकारोंको न तो 'अहं-ब्रह्मास्मि'-'तत्त्वमसि'वाक्यजन्य ब्रह्मका अपरोक्षानुभव माना जा सकता है और न ब्रह्मज्ञानबाध्य विकल्पावगाही लौकिक व्यावहारिक प्रत्यक्ष ही. जैसे मध्यमकशास्त्रमें **''स्वभावं परभावं च भावं च अभावमेव च ये पश्यन्ति न पश्यन्ति ते तत्त्वं बुद्धशासने''** (मध्य.शा.१५।६)कहा गया है. उसी तर्जपर भगवत्पादका भी इस विषयमें सुस्पष्ट विधान है कि **''भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता ब्रह्मवृत्त्या हि पूर्णत्वं तया पूर्णत्वम् अभ्यसेत्. ये हि वृत्तिं जहाति एनां 'ब्रह्मा'ख्यां पावनीं परां वृथैव तेतु जीवन्ति पशुभिः च समाः नराः''** (अपरोक्षानु.१२९-१३०). अतः भगवत्स्वरूप पार्षद लीला या धाम आदिके प्रत्यक्षमें यदि ब्रह्मवृत्ति स्वीकारनी हो तो पृथक् निरूपण बालसंमोहन लगेगा और निर्गुण-निर्धर्मक-निराकार-निर्विशेषब्रह्मविषयिणी वृत्तिसे पृथक् कोई वृत्ति तो शांकरवेदान्तगर्हित होनेसे विसंगत ही सिद्ध होगी. कथञ्चित् इसका ब्रह्मवृत्तिमें ही अन्तर्भाव यदि अन्तमें स्वीकारना ही पड़ता हो तो प्रत्यक्षानुभूतिके ये प्रभेद/विभाजन अजागलस्तनवत् निरर्थक सिद्ध होंगे. अतएव भगवत्प्रदत्त दिव्यदृष्टिगम्य प्रत्यक्षमें और योगिप्रत्यक्षमें भी त्रैकालिक वस्तुओंके साक्षात्कारकी जो बात है, वह ब्रह्मज्ञानबाध्य त्रैकालिकता हो तो प्रभेद अनावश्यक लगता है और ब्रह्मज्ञानाबाध्य हो तो अद्वैतसिद्धान्तका तो भंग ही होगा. यही बात भगवत्स्वरूप पार्षद लीला या धाम आदि सच्चिदानन्दात्मक अप्राकृत होनेकी कथापर भी लागू होती है. क्योंकि यह सच्चिदानन्दात्मकता मायिकी या उपासनार्थ अध्यारोपित हो तो मिथ्या ही होनेसे स्वप्रतिपन्नोपाधिमें त्रैकालिक निषेधप्रतियोगिनी ही होगी अथवा अद्वैतभंगापत्ति दुर्वार ही लगती है.

जहां तक मनके इन्द्रिय होने या न होने का प्रश्न है तो स्वयं भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य भी भगवद्गीतामें **''इन्द्रियाणाम् एकादशानां चक्षुरादीनां मनः च अस्मि.''**, **''इन्द्रियाणि दश... एकं च किं? तद् मनः एकादशं...**

तानि एतानि संख्यातः चतुर्विंशतितत्त्वानि आचक्षते'', ''श्रोत्रं चक्षुः **स्पर्शनं च त्वगिन्द्रियं रसनं च घ्राणमेव षष्ठं प्रत्येकम् इन्द्रियेण सह अधिष्ठाय देहस्थो** विषयान् शब्दादीन् उपसेवते'' (भ.गी.शां.भा.१०।२२, १३।६, १५।९) इन वचनोंमें मनका इन्द्रियतया ही निरूपण कर रहे हैं. इसे भी औपचारिक प्रयोग माननेका सुझाव देनेपर तो भगवत्पादके ''**अस्ति तावद् मनः श्रोत्रादिबाह्यकरणव्यतिरिक्तं, यतः एवं प्रसिद्धं बाह्यकरणविषयात्मसम्बन्धे सत्यपि अभिमुखीभूतं विषयं न गृह्णाति 'किं दृष्टवान् असि इदं रूपम्!' इति उक्तो वदति 'अन्यत्र मे गतं मनः आसीत् सोऽहम् अन्यत्रमना आसं नादर्शम्'... तस्माद् यस्य असंनिधौ रूपादिग्रहणसमर्थस्यापि सतः चक्षुरादेः स्वस्वविषयासम्बन्धे रूपशब्दादिविज्ञानं न भवति यस्य च भावे भवति तद् अन्यद् अस्ति मनो नाम अन्तःकरणं सर्वविषययोगी इति अवगम्यते. तस्मात् सर्वो लोकः मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति, तद्व्यग्रत्वे दर्शनाद्यभावात्**'' (बृह.उप.भा.१।५।३) ऐसे प्रतिपादनके आधारपर चक्षुरादि इन्द्रियोंका करण होना भी औपचारिक प्रयोग माना जा सकता है. मनको वस्तुरूप करण न मान केवल अन्तःकरणकी अन्यतम वृत्ति माननेकी कल्पना भी गीताके द्वितीय उद्धरणमें तत्त्वतया परिगणनसे असंगत होनेसे अमान्य लगती है. भगवत्पादरचित 'पञ्चीकरण' नामक ग्रन्थगत ''**कर्मेन्द्रियपञ्चकं ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं प्राणादिवायुपञ्चकं बुद्धिः मनः च इति अन्तःकरणद्वयम् इति सप्तदशकं लिंगम्. तत् च सप्तदशकं भूतकार्यतया भौतिकम्.**'' (पञ्चीकर.) के निरूपणसे भी विपरीत होनेके कारण भी. अतः आदरणीय श्रीविन्ध्येश्वरीजीद्वारा उट्टंकित भागवतीय प्रमाणव्यवस्था और तत्त्वव्यवस्था शांकर वेदान्तसे स्वतन्त्र ही केवल नहीं प्रत्युत असंगत भी लगती है. अतः भागवतावलम्बी प्रस्तुत आलेखपत्रमें प्रस्तुत प्रतिपादनको शांकर वेदान्तकी दृष्ट्या अप्रमाण मानना पड़ता है.

प्रस्थानरत्नाकरकार द्वारा प्रदत्त योगिप्रत्यक्षमें आलेखपत्रकी आपत्ति कि इसमें स्थूलेन्द्रियका उपयोग होता है कि नहीं? यदि होता हो तो लौकिक प्रत्यक्षसे किसी तरहका वैलक्षण्य सिद्ध नहीं होगा और अनुपयोग माननेपर इन्द्रियव्यापार दुर्निरूप्य हो जायेगा. मुझे लगता है कि दिव्यदृष्टिमें यदि भगवत्प्रदत्त दिव्यशक्तिका आधान आलेखपत्रकारको अभिमत हो तो योगिप्रत्यक्षके उदाहरणमें यौगिक उपायों द्वारा भी किसी न किसी तरहकी शक्तिविशेषका आधान होता माननेमें क्या या क्यों आपत्ति होनी चाहिये? व्यर्थ ही

बाह्यगोलकके उपयोगसे रहित सूक्ष्मेन्द्रियद्वारा प्रत्यक्षकी कल्पना तक दौड़ लगानेकी आवश्यकता नहीं रह जायेगी. ऐसा प्रश्न सुरसाकी तरह अपना विकराल मुख खोल बैठेगा कि ऐसी स्थितिमें स्वारसिक बाह्यार्थग्रहणसामर्थ्यसे रहित बाह्यगोलकसे जन्य प्रत्यक्षको 'इन्द्रियजन्य' मानना या 'इन्द्रियेतरकरणके साचिव्य या सहकार से जन्य' अथवा दोलायमान चित्तसे 'इन्द्रियानिन्द्रियोभयजन्य'? सूक्ष्म और स्थूल इन्द्रियोंके बीच अभेद मानना या भेद? क्योंकि अभेद माननेपर योगिप्रत्यक्ष और अयोगिप्रत्यक्ष के बीच भेद सिद्ध नहीं होगा. भेद माननेपर योगद्वारा किसी तरहके अतिशयका आधान जैसे सूक्ष्ममें सम्भव है वैसे स्थूलमें भी क्यों सम्भव नहीं? दोनोंके बीच किसी तरहका तादात्म्य माननेपर या इतरेतरतादात्म्यप्रतियोगिक अभावका त्याग कर आलेखपत्रानभिप्रेत आविर्भाव-तिरोभाव गलेपतित होगा. तादात्म्याध्यास माननेपर योगप्रयुक्त अतिशयसे उसे निवर्तनीय मानना या अनिवर्तनीय? यदि निवर्तनीय मानते हैं तो योगिप्रत्यक्ष आन्तर मानस प्रत्यक्षकी तरह सिद्ध होगा बाह्यार्थप्रत्यक्ष नहीं. और अनिवर्तनीय मानते हैं तो योगीको भी स्थूल इन्द्रियसे उत्पन्न होती भ्रान्तिका शिकार मानना पड़ेगा.

इस संगोष्ठ्युत्तरलेखनके उपसंहार करनेसे पूर्व जिस एक मुद्देपर और ध्यान आकृष्ट करना चाहुंगा वह यह है कि आलेखपत्राभिप्रेत "**साक्षात्कारिप्रमावृत्त्युपजननं प्रत्यक्षम्**" और प्रस्थानरत्नाकराभिप्रेत "**इन्द्रियात्मकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्**" इन दोनों प्रत्यक्षलक्षणोंमेंसे स्वयं भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य द्वारा प्रदत्त "**'इन्द्रियैः अर्थोपलब्धिः जागरितम्' सुषुप्तिव्यावृत्त्यर्थं शब्दादिविषयवाचकम् 'अर्थ'पदम्. स्वप्नं निरसितुम् 'इन्द्रिय'विशेषणम्. तत्र विद्यमानमपि मनो विविधविषयाकारेण परिणतं साक्षिणो दृश्यतया अवतिष्ठमानं न उपलब्धौ करणं भवति इति भावः**" (पञ्चीकर.) इस जागरितोपलब्धिके लक्षणसे संनिकृष्टतर लक्षण कौन सा है? इस प्रश्नके उत्तरतया प्रस्थानरत्नाकरीय प्रत्यक्षलक्षणको ही संनिकृष्टतर मानना पड़ता है. यह कथा भिन्न है कि भागवतको स्वतन्त्र प्रस्थान माननेवाले आलेखपत्रकारके अभिप्रायमें भागवतपुराणप्रतिपादित प्रमाणव्यवस्था और तत्त्वव्यवस्था शांकरवेदान्तके साथ संनिकृष्टतर है.

ये कुछ वैमत्यजनक मुद्दे हैं जिनका विमर्श आवश्यक हो या न

हो. इसमें, परन्तु, किसी भी तरहके सन्देहका कोई अवकाश नहीं कि आलेखपत्रमें जिस तरहसे भागवतपुराणके प्रत्यक्षप्रमाणसम्बन्धी वचनोंका संकलन, उनका प्रत्यक्षप्रमाणमीमांसौपयिक वर्गीकरण तथा व्याख्यान हमें श्रीमद्भागवतपुराणके अनुपम पाण्डित्य तथा निष्ठा से परिपूर्ण श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्रजीने प्रदान किया तदर्थ शब्दोंमें जितना भी अभिनन्दन कोई दे पाये उससे कुछ समधिक महत्त्वशाली ही है. मुझे यह स्वीकार करनेमें तनिक भी संकोच नहीं होता है कि मुझसे यह कार्य कोई करनेको कहे तो वह मेरेलिये अति कठिन होता !

Advaitic Theory of Perception in Comparision with Śuddhādvaita View.

Prof. Dr. Yejneshwar S. Shastri

Dharmarājādhvarīndra has systematically developed the epistemology of Advaita Vedānta in his monumental work Vedāntaparibhāṣa. Pramāan is the means that leads to right knowledge (तत्र प्रमाकरणं प्रमाणम्). Vedāntaparibhāṣā- Pratyakṣaparichheda, (-VPP p.9). Right knowledge (Pramā), in Advaita Vedānta, is the knowledge of an object being excludent of memory, which is previously unacquired - (anadhigata) and uncontracted (abādhita) - तत्र स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वं, अनधिगताबाधितविषय-ज्ञानत्वम्. (VPP.p. 10) memory is excluded from the right knowledge, because, novelty is essential character of valid cognition. All our uncontradicted knowledge of the objects of the external world should be regarded as right knowledge until the absolute is realised (सिद्धान्ते घटादेः मिथ्यात्वेन बाधितत्त्वात् तत् कथं प्रमाणम्? उच्यते, ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरं हि घटादीनां नतु संसारदशायां बाधः) (VPP.p. 12-12).

Vedāntaparibhāṣā mentions six means of valid knowledge (Pramāṇas) accepted by the Advaitins viz., Perception, Inference, Comparison, Verbal Testimony, Presumption and non-apprehension (तानि प्रमाणानि षट् : प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थपत्त्यनुपल-ब्धिभेदात्.) (VPP.p.14) Advaitic stalwart Śaṅkarācārya has not separately discussed the theory of Pramāṇas, but he mentions

only five Pramāṇas by name, excluding non-apprehension (anupalabdhi), while commenting on Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad (III-III-I).

Sureśvarācārya also accepts only five pramāṇas and does not admit non-apprehension (anupalabdhi) as an independent source of valid knowledge (Vidvat-paricarcā-ṣaddakhaṇḍa, p.308). It seems at the time of Dharmarājādhvarīndra, non-apprehension (anupalabdhi) has been accepted as an independent means of valid knowledge in advaitic tradition. Among the six Pramāṇas are dependent on it (तत्र प्रत्यक्षस्य सर्वप्रमाणोपजीव्यत्वात् ज्येष्ठत्वात् च - Arthadīpika p.14.).

Perception is defined as being the instrument of valid perceptual knowledge (तत्र प्रत्यक्षप्रमायाः करणं प्रत्यक्षप्रमाणम्. VPP.p.14-15). According to Advaita, the perceptual knowledge is nothing but pure-consciousness or Caitainya (प्रत्यक्षप्रमा च अत्र चैतन्यमेव VPP,p.15). Despite the fact that the pure-consciousness is beginningless, pervading everywhere and devoid of sense-organs, it is revealed through the mental state. Thus, perception is the cit of pure-consciousness manifestation in the Antaḥkaraṇavṛtti into the form of an object with which it is in contact. Hence, pure-consciousness, though beginningless when qualified by the Antahkaraṇavṛtti is spoken of as having beginning (चैतन्यस्य अनादितदभिव्यञ्जकान्तःकरणवृत्तिः इन्द्रियसन्निकर्षादिना जायते इति वृत्तिविशिष्टं चैतन्यं आदिमत् इति उच्यते. VPP.p.16).

That means, perception is the direct consciousness of

objects brought about by the actual contact of the object of perception with the percipient. What is required for perception is a certain kind of identity or unification between consciousness determined by the object and consciousness determined by the mental state (Vṛtti). This unification or contact is effected either through the mediation of a sense or without such mediation.

Advaita Vedāntins accept only five sense organs. Knowledge arising through the eyes, ears, tongue, nose and skin is regarded as perceptive knowledge. Mind is not accepted as a sense organ though it is included in the group of the instruments of perceptual knowledge. thus, primarily, there are two kinds of perceptual knowledge, and caused by the exercise of a sense organ (Indriyajanya) and the other that is not so caused (Indiryājanya). Perception of physical object belongs to the formed category, while perception of mental states, like desire, happiness, misery and so forth belongs to the latter kind.

The process of perceptual knowledge in Advaita may be analysed in the following manner; when any of our senses, say, sight, comes in contact with an object, say, a pat, existing out there in space, the internal organ undergoes modification. The Vṛtti or the modally transformed Antaḥkarana, steams forth through the concerned sense organ (the eye in the present case) to the object and assumes the form of some quality of the object, like its shape or colour. We have, than the perception of the object in that particular

attribute. Antaḥkaraṇa, though by itself powerless to illumine objects reflects the knowledge that is constitute of ultimate consciousness. Hence, as a result of the outgoing activity or attention (Avadhāana) of the Antaḥkaraṇa, we have the perceptive cognition of the object. Consciousness flows with Vṛitti towards the object and when it unites with consciousness determined by the object whose form the Vṛtti has assumed. If the Vṛtti assumes the form of the colour of the object, we perceive the colour. If it takes the form of the weight or the object, we perceive its weight, And similar, the several properties of the object fall within our cognition according to the specific form assumed by the Vṛtti. The outgoing Vṛttis extend only up to a certain distance and this accounts for our non-perception of remote objects.

Thus perception of an object is the self-shining of the consciousness (cit) through a Vṛtti (mental state) of a form resembling an object of knowledge. This process of perception is beautifully explained in the Vedāntaparibhāṣā : Just as a water tank goes out through a hole, enters the field through channels, and then water assumes the shape of the field, either a quadrangular or any other shape, so too, the Antaḥkaraṇa which is of the nature of light, goes out through the eye, eye, enters the space occupied by the object like a pot, and is modified into the shape of the object, like a pot. This modification of Antaḥkaraṇa (Vṛtti) serves to reveal the objects of knowledge (तत्र यथा तडागोदकं छिद्रात् निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति तथा तैजसम्

अन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते. सएव परिणामो वृत्तिः इति उच्यते. VPP.p.23)

Put it in more clear wards, in a case of a perception of a pot, when eye is fixed on a pot, the mental state comes out through the eye, illuminates the pot by its own light and assumes its shape. Further, the consciousness (cit) within the pot manifests in the mental state, then, the pot is perceived. The two limiting conditions of consciousness or cit, (i.e. cit in the mental state and in the pot before the eye), the modification and the object do not produce any difference, because, they are in the same place. This identity makes the cognition of the pot perceptual. In the perception of an external object there is non-difference of cit (consciousness) within the Antaḥkaraṇa and cit within the object.

Perception on the subjective side is defined as the union or undifferentiation (Abheda) of the subjective consciousness with the sensible objects through the specific mental states (तथाच तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्तमानविषयावच्छिन्न-चैतन्याभिन्नत्वं तत्तदाकारवृत्त्यवच्छि-न्नत्वं तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम् VPP.p.33). This union in perception means that the objective has at the moment no separate existence from the subjective consciousness of the perceiver. The undifferentiated consciousness appears as the subject and the object as a result of ignorance (Avidyā).

There are three limiting factors (Upādhis) to consciousness.

They are the internal organs (Antaḥaraṇa), the modification of the internal organ (Vṛtti) and the particular object (Viṣaya). In reality there is no distinction in consciousness. But in false association with these adjuncts (Upādhis), consciousness apparently modifies into three factors, the knower, the means of knowledge and known object. on account of these superimposed Upādhis, consciousness appears to be three kinds :

1. Pramātṛ-caitanya- consciousness in association with the internal organs appears as the subject or knower.
2. Viṣaya-caitanya - Consciousness associated with particular object (Viṣaya), which may be either physical objects or mental states, it serves as the object of knowledge and
3. Pramāṇa-caitanya - Consciousness associate with the Antaḥkaraṇavṛtti In association with the Vṛtti, consciousness appears as the process or means of knowledge, the cognitive consciousness.

Empirical knowledge is the result of this apparent three-fold modifications of consciousness (त्रिविधं चैतन्यं : १. प्रमातृचैतन्यं २. प्रमाणचैतन्यं ३. विषयचैतन्यं च इति. VPP.p.22).

Pramātṛcaitanya is the ultimate consciousness determined by the internal organ. The internal organ is the connecting link between the Ātman and the organs of sense. It is not itself a sense organ. It is distinct from the organs of sense which are external to it. The function of the internal organ

is to receive and arrange the material that is brought to it through the senses. Like a mirror, which has the power to reflect, it reflects object presented to it through the senses and what is more, becomes conscious of them. However, this power to reflect is acquired by it from the Ātman the internal organ partakes of the physical world. Hence, by itself, it has no power to illumine objects.

Antaḥkaraṇa must be admitted as connecting link between the Ātman and the organs of sense in the process of perception, otherwise there would be either perpetual perception or perpetual non-perception (BSB. II.III. 32). Suppose, that the only requisites for perception are :

1. the Ātman as the subject of knowledge,
2. The presence of the object to be perceived and the senses in proper condition.

So long as these are present, there should be perpetual perception of the objects. But the fact is that even though these conditions may be present one may fail to perceive. The sense organs may be in contact with any object and yet one may not perceive. One may not see, though the eye may meet the object, one may not hear, though the ear may receive the sound. If on the contrary one does not grant that the mere conjunction of the Ātman, the senses, the objects can effect perception, in the absence of a sufficient cause of perception, one would have to admit that perpetual

non-perception would be the result.

But neither is this observed. Given the Ātman, the senses and the objects, perception sometimes takes place and sometimes does not. This fact can be explained only by positing the existence of a fourth factor, the Antaḥkaraṇa, on whose attention perception takes place and on whose non-attention perception does not take place (BSB.II.III.3).

The validity of the assumption is evidenced by the common experience of ours that when we are absent-minded, we do not perceive, though the objects may be presented to the senses. The Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad refers to this and declares that, therefore, there is a mind apart from the external organs (Br.op.I.V.3 Śāṅkarabhāṣya on it and VPP.p.18).

We have already noted that, this Antaḥkaraṇa undergoes modifications of forms and these modifications are known as Vṛtti serve to reveal the objects of knowledge. The Vṛtti of internal organ is of four kinds. In each of these Vṛttis, the internal organs has a distinct name and form. The same Antaḥkaraṇa (internal organ) according to its diverse functions, is called, means, Buddhi, Ahaṅkāra and Citta. When it has the mode of doubt or indetermination (Samśay) it is called Manas; when it has the mode of determination (Niścaya), it is called Ahaṅkāra, and in the mode of remembrance (Smaraṇa), it goes by the name Citta (सा च वृत्तिः चतुर्धा; १. संशयो २. निश्चयो ३. गर्वः ४. स्मरणम् इति. एवंविधवृत्तिभेदेन एकमपि अन्तःकरणं

मनः इति, बुद्धिः इति, अहंकार इति, चित्तम् इति व्याख्यायते.VPP.P.40).

The internal organ differs from individual to individual and so cognition by one does not imply or involve cognition by all. It functions within varying limits which are determined by the past conduct of the individual to whom it belongs.

It is when screen by the Antaḥkaraṇa that consciousness functions as the subject in empirical knowledge. This is the witnessing self or Jīvasākṣi. The Jīva is a consciousness identified with the knowable elements, namely, the mind or the internal organ and through it, the body (तत्र 'जीवो' नाम अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यम्. VPP.p.46). The Jīvasākṣi or Witness Self, is pure-consciousness merely hidden by these adjuncts (तत्साक्षितु अन्तःकरणोपहितं चैतन्यम्. VPP.p.46). It is the Jīvasākṣi that the subject. It knows the constituents of the Jīva as well as the objects of the external world. Jīvasākṣi differs from the Jīva or the empirical ego. The Jīva is the internal organ, but the Jīvasākṣi is the same consciousness merely hidden by the internal organ. While the internal organ enters into the constituent of the Jīva, it remains outside the Jīvasākṣi screening it, as it were. In the former case it is an attribute (Viśeṣaṇa), in the latter case it is a limitation viz. Upādhī. (अन्तःकरणस्य विशेषणत्वोपाधित्वाभ्यां अनयोः भेदः. VPP.p.46).

Viṣayacaitanya is the ultimate consciousness determined by the object cognised. Knowledge requires a subject and or an object as distinct from each other. In order that the

same consciousness may appear as subject and object, two independent adjuncts are required : the internal organ and the object cognised. Just as consciousness has to be limited on the subjective side by the internal organ, it has to be limited on the objective side by the object cognised, which may be a physical thing or a mental image.

The variety of our cognition can be accounted for only by positing the objective existence of a variety of objects, each limiting the undifferentiated consciousness according to its own specific nature.

Pramaṇacaitanya: According to Advaita, all empirical knowledge is a process of revelation rather than of acquisition. The other thing is that the mind is actively at the work in the formation of empirical knowledge. The cognitive process exhibits these two fundamental features. Empirical knowledge is the manifestation of the undifferentiated consciousness under limitations imposed by the internal organ, the modification of the internal organ and the external object. that which is manifested is beyond time and space, reason and relations. But the manifestation is subject to all such limitations. It is temporal and occurs through individual minds. It involves relations like those of subject and object, substance and attribute, concept and percept and so forth.

Knowledge is the very nature of the self. Just as a salt crystal is through and through saltish, the human soul

is consciousness all compact (Br.Up.II.Iv.12). The analysis of the process of knowledge thus reveals the true nature of the self. It is this inner light of consciousness that manifests itself through the sense organs. Śankara beautifully expresses this idea and says: when a lamp is placed inside a pot having many holes, the light streams out through the holes. In the same way, the knowledge, that the self streams out through the various sense organs, like the eye, the ear and so on : नाना छिद्रघटोदरस्थित-मर्यादया प्रभाभास्वरं ज्ञानं यस्यतु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिः स्वन्यते. Dakṣiṇāmūrtistotra-4).

The various Pramāṇas serve as vehicles for the revelation of consciousness under the limitations of empirical life.

The other important feature of knowledge is that the mind is not passive. The Antaḥkaraṇa is actively at work in the formation of knowledge. Empirical knowledge is the result of the minds interpretation of the object that it comes in contact or meets. We do not acquire ready-made knowledge. Without mental construction, no knowledge is formed during deep sleep, when Antaḥkaraṇa is temporarily at rest. The constructive activity takes place through a modification of the internal organ, known as Vṛtti. The mind-undergoes a modification (or Vṛtti), according to the nature of the material that has to be interpreted. These two feature of process of cognition are most apparent in the case of sense perception (Indriya-janya-pratykṣa).

Kinds of perception :

According to Advaita Vedānta, the perception is two-fold- one is determinate (Savikalpa) and the other being indeterminate (Nirvikalpa).

In the determinate perception (Savikalpa), there is a distinction between the thing determined the jar, for example and the determining attribute i.e. jar-ness. In an example, 'I know the jar' the object of knowledge i.e. jar and its qualifying attribute - jar-ness, are apprehended. Thus, it is a cognition apprehending - relatedness (तत्र प्रत्यक्षं द्विविधम् सविकल्पक-निर्विकल्पकभेदात्. तत्र सविकल्पकं वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं यथा "घटम् अहं जानामि" इत्यादि ज्ञानम्. VPP.p.41). Advaitins differ from other systems while interpreting Nirvikalpaka-Pratyakṣa.

In the Nirvikalpaka (indeterminate) perception there is no apprehension of relatedness. All determining attributes are left out of view. This indeterminate perception is the knowledge arising from the sentence like 'This is that Devadatta', 'Thou are That' etc. In such cases cognition arises by leaving out the particular features like this and that, which refer to the present and past; as such recognition of the Devadatta Is possible. So also, 'Thou' and 'That' referring to something present and absent respectively, have to be left out before the apprehension of the essential to Advaita, there is no destination between determinate and indeterminate in visual perception, but only is Sabda-perception as in case referred above (निर्विकल्पकन्तु संसर्गानवगाहिज्ञानम्. यथा "सोऽयं देवदत्तः" "तत्त्वमसि"

इत्यादि वाक्यज्ञानम्. VPP.p.41-43).

Advaitins have again accepted two more kinds of perception, according to their metaphysical stand. That is Jīvasākṣi or the witness within the individual self and Īśvarasākṣi or the witness within God. As has been already stated in earlier pages, jīva is nothing but ultimate consciousness, limited by the Antaḥkaraṇa or the mind, and sākṣi however is the consciousness that has the Antaḥkaraṇa as its limiting adjunct (Upādhi). The difference between Jīva and Sākṣi is that, in the former case Antaḥkaraṇa is a limiting adjunct. In fact, Antaḥkaraṇa being insentient cannot reveal the objects, it is the limiting adjunct of consciousness that makes the object revealed. This Sākṣi which manifest itself as possessing limiting adjunct of Antaḥkaraṇa is considered to be different in each individual. Because of this reason, what one has known, the other would not recollect (VPP.p.46-47).

When the cosmic illusion or Māyā is a qualifying attribute of consciousness, that consciousness is called God, and when the cosmic illusion is limiting adjunct (Upādhi) of the consciousness, it is called the witness in God. (तस्य प्रत्यक्षं पुनः द्विविधं जीवसाक्षि-ईश्वरसाक्षि च इति. तत्र 'जीवो' नाम अन्तःकरणावतच्छिन्नं चैतन्यम्. तत्साक्षितु अन्तःकरणोपहितं चैतन्यम्. अन्तःकरणस्य विशेषणत्वोपाधिभ्यां अनयोः भेदः. VPP.p.45-46).

This Advaitic theory of perception has its own significance from the Scientific as well as metaphysical point of view.

From the scientific point of view, it can explain the connection between physical vibrations and mental states, which is the central difficulty of Western theories of perception. The activity, according to the latter, is primarily on the object side, when a jar is presented to sight, the light waves proceeding from it impinge on the eye, and an inverted impinge of it is formed on the retina. When this is followed by the stimulation of the optic centres of the brain, we perceive the jar. But we fail to understand how the inverted image of the object, formed on the retina is transformed into the mental picture or idea of the tangible upright object, out there in space, Western psychology, having created a gulf, a big gap, between the physical vibrations occurring in the sense mechanism and the mental act of perception of the object, is unable to bridge it (Pañcapādikā, Eng. Tran. D. Venkataramaiah, Intro, pp.XXII.iii-G.O. Series, 1948). Such a difficulty does not arise when we recognize that the physical Vibrations are not the material, which is transformed into the mental out of perception, but that they are only the media through which the mental act of perception takes place. The higher cannot be explained in terms of the lower, but the lower can certainly be explained by the higher.

On the metaphysical side, the importance of the theory cannot be exaggerated. It signifies that consciousness delimited (determines the limit or fix the boundary) by the Antaḥkaraṇa and consciousness as delimited by the object are in essence, non-different. This non-difference of consciousness is

manifested by the Vṛtti going out through the senses, pervading the object and assuming the form of the object. Consciousness is the common basis which sustains the illuminating Antaḥkaraṇa as well as the illumined object. Not only perception, but every form of cognition can be reduced and traced to the single ultimate source of consciousness (The concept of the Vyāvahārika in Advaita Vedānta pp.180-181).

The Advaita account of sense perception marks an improvement on the theories of some of the Western thinkers especially the view of empiricists and of the Idealists. Regarding the perception, these two schools differ on the question of the need for the constructive activity of the mind. The empiricists, who regard the mind as a "tabula rasa" (a clean slate, a blank sheet of paper), believe that perception consists in the mere passive reception of impressions from the external world. the idealists like Kant and Hegal call attention to the significant part played by the mind in giving rise to knowledge. The Advaitins agree with Kant in that without conceptions perceptions would be blind : The common fact that, when one is absent-minded or deeply engrossed in something, one may actually hear a sound or see an object and yet, not notice it illustrates this truth. But Advatanins differ from both Kant and Hegel in regard to the procedure, which the mind adopts for interpreting the sensations.

According to both Kant and Hegel, the mind interprets the sensations, which come from the object. The interpretation

is done in terms of the categories of the understanding. But Kant looks upon the categories as external to the mind and at its possession like a bunch of Keys. A little reflection would however show that the categories cannot be separate from the mind. Hegel corrects this mistake and treats the categories as constitutive of the mind. The mind itself takes the different forms in order to suit the nature of the material, which requires to be interpreted. Hegel's view is good so far as it goes, but it does not go far enough. How does the mind decide which categories would be most natural to the sensations received? naturally in the light of its previous knowledge. But the origin of this original knowledge will have to be explained. This is the difficulty in the idealistic position. This difficulty can be overcome only by admitting that the order of experience the reverse of what we have referred to instead of sensations coming from the object and the mind interpreting them, the mind illumined by knowledge which is the nature of the self itself goes forth and interprets the sense object. This is the Advaitic position. The position has been aptly summed up by stating that it is not the object, which comes to the subject, but it is the subject, in a sense, that goes to the object in order to apprehend it. (D. Venkataramaiah, Pañcapādikā, Eng.Trans. Into p.XXII.G.O. Series 1948, Baroda).

Prasthānaratnākarakāra disagrees with Advaitins in several respects. Advaitins do not accept Manas, as one of the sense organs whereas Śuddhādvaitins accept it as one of the sense

organs. He defines perception as "इन्द्रियात्मकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्" (p.127). Sense organs are the means of direct perception and they are of six kinds, viz., eye, skin, nose, tongue, ear and mind (तानि चक्षु-त्वक्-घ्राण-रसन-श्रवण-मनोभेदेन षट्. p.127).

He accepts Manas or mind as one of the sense organs and refutes Advaitic view. He says Lord Kṛṣṇa clearly mentions in the Gītā, that Manas is one of the sense organs (Gita-X.22). Advaitic view contradicts this statement of the God. mind is internal and external both, since it is connected with action and Knowledge.

Secondly, according to Advaita, perceptual knowledge is nothing but pure-consciousness, which is revolved through the mental state, whereas in Śuddhādvaita, perceptual knowledge is knowledge of manifestation of properties of particular object, or substance or categories.

Thirdly, Vedāntaparibhāṣākāra, accepts, Anupalabdhi (non-existence) as an independent means of valid knowledge. This means of Valid knowledge, according to 'Dharmarājādhvarīndra, which consists in non-existence (Abhāva), which is not generated by an instrumental (Karaṇa) of knowledge. As there is not contact of sense organ with non-existence, the cognition of non-existence does not arise from sense-organ. The cognition of non-existence arises when a perceptible object is not seen. For example, when there is a jar on the brightly -little- ground, there is an apprehension of the

jar. If the jar is not perceived on such ground, non-existence of the jar is ascertained. And this non-existence of the jar is to be known through non-apprehension (इदानीं षष्ठं प्रमाणं निरूप्यते. ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणं अनुपलब्धिरूपं प्रमाणम्... तथाच घटाद्यभावाकारवृत्तिः न इन्द्रियजन्या, इन्द्रियस्य विषयेण असन्निकर्षात् किन्तु घटानुपलब्धिरूपमानान्तरजन्या, इति भवति अनुपलब्धेः मानान्तरम्. VPP.p.141-145)

Advaitins accept four kinds of Abhāva (non-existence) viz. Prior-non-existence (Prāgabhāva), posterior-non-existence (Pradhavamsābhāva), absolute non-existence (atyāntābhāva) and mutual non-existence (Anyonyābhāva), like Naiyāyikas and others and state that, the cognition of the above four types of non-existence is through non-apprehension which is possessed of capacity. Hence, non-apprehension is a separate means of valid knowledge (स च अभावः चतुर्विधः - १. प्रागभावः २. प्रध्वंसाभावः ३. अत्यन्ताभावः ४. अन्योन्याभावः च इति. ... चतुर्विधाभावानां योग्यानुपलब्ध्या प्रतीतिः. तत्र अनुपलब्धिः मानान्तरम्. VPP.p.147-152).

Śuddhādvaitins do not agree with this Advaitic view and state that it is not necessary to accept non-apprehension (Anupalabdhi) as an independent means of valid knowledge to perceive non-existence, because, just as after perceiving particular object through eyes, its knowledge is manifested, similarly, we do not get knowledge of any object through non-apprehension. By receiving the material cause, the method of perception of prior-non-existence and posterior non-existence can be known. Prior-non-existence is -concealment - of effect

and favourable to, manifestation of effect. Posterior non-existence is unfavourable state of the effect. Mutual non-existence is perceived or understood in two ways, viz., in the example of- 'pot is not cloth', the absence of pot in the cloth is experienced and object as 'can pot be cloth?' which is refuted as 'pot cannot be cloth;' thus, mutual non-existence can be perceived. In the perception of the absolute non-existence, such as 'pot is not on the floor', perception of the floor, associated with concealing of pot is perceived.

Both, Advaitins and Śuddhādvaitins accept determinate (Savikalpaka) and indeterminate (Nirvikalpak) kinds of perception. Śuddhádvaitins' concept of indeterminate knowledge is very similar to that of Naiyāyikas. Here Advaitins differ from other systems of thought. According to them there is no destination between determinate and indeterminate in visual perception but only in Śabda-perception as in case of - 'This is that Devadatta' and 'Thou are that' etc. Again, Advaitins have accepted two more kinds of perception based on their metaphysical stand point, viz., Jīvasākṣi and Īśvarasākṣi, which is not found, in any other system of thought.

······+······

चर्चा

Advaitic Theory of Perception in Comparision with Śuddhādvaita View.

डॉ. यज्ञेश्वर शास्त्री

अच्युतानन्द दास : Essentially what the Advaitins do is, they tray to bring in identity between three Caitanyas i.e. प्रमातृचैतन्य, विषयचैतन्य, अन्त:करणावच्छिन्नचैतन्य ... Then only one gets perception. And Advaitins accept only Eka Ātmacaitanya. So there is only one in paramārthadaśā. And only in Vyavahāra-daśā they have three types of Caitanyas. And it will be possible only on the account of Māyā-Avidyā. Then the question comes, it is due to Māyā we understand Viṣya as Viṣya totally deferent from the Caitanya i.e. Jada. Because of Māyā we can not see Viṣya, Viṣyacaitanya.

My question is, Śankara's Adhyāsa-bhāṣya is possible ... in the beginning he says "युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयो: विषयविषयिणो: तम:प्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयो:. Viṣyī is चैतन्यस्वभाव: प्रकाशस्वभाव:, विषय is तम:स्वभाव:, जडस्वभाव:. Only if that state remains then only superimposition i.e. अध्यास becomes possible. And in व्यवहारदशा प्रमातृचैतन्य goes through the प्रणालिका i.e. through the अन्त:करण to the Viṣaya which is Jada. Pramatṛcatanya wants to see the Viṣaya as

Jada, which is not essentially Caitanay. If the Caitanya is there ... suppose pramatṛcatanya knows that Viṣaya is caitanyātmaka, not Jada then naturally the thing ... like praṇālika thesis ... there is Pramatṛcaitanya, and there is Viṣayacaitanya e.g. there is water and there is Tadāga where also there is water, and the Praṇālika i.e. channel also is water. Only it is blocked due to Māyā. Now, that is not the case. And if you accept the block theory, that is the Āvaraṇa-bhanga type of Siddhānata, then perception would be possible like Caitanya-ekātma-katā. Then question is, Adhyāsa theory would not stand.

प्रद्योतकुमार : Why ? Clarify it.

अच्युतानन्द दास : Because, Adhyāsa is possible only if you take Viṣaya as Jada.

प्रद्योतकुमार : Is it necessary for Adyāsa to took place that I take the thing to Jada or the thing to be Jada ?

अच्युतानन्द दास : I know it is Jada. That is Jada. I should not say 'I take'. Viṣaya is Jada.

प्रद्योतकुमार : you are not clarifying the question.

डी.प्रह्लादाचार : Advaita explanation, so far I understand, is this. Caitanya doesn't go outside. It has no movement at all. Antaḥkaraṇa goes out through the Indriya and reaches the object and takes the shape of the object. This is called Antahkaraṇa vṛtti. And here in this Vṛtti the Caitanya reflects.

''स्वच्छे अन्तःकरणे अशनि प्रसमरे नेत्रादिमागोद्गते तत्तद्बाह्यविषयात्मना परिणते बिम्बीभवति चितिः. चैतन्य is reflected there. एकापि अर्थमनोविशेषकवशात् द्वैतंप्रपन्ना हरति अज्ञानं, प्रकटीकरोति विषयं. ज्ञातं मया इदन्तु इति. See, that Ajñāna also is not an Āvaraṇa for the object. That object is Jaḍa. Jaḍa has no Āvaraṇa. There is no necessety for a Jaḍa to have an Āvaraṇa. Only Caitanya which is of a nature of illumination, it needs some Āvaraṇa. Because otherwise it should be having illumination all the time. But it is not being illuminated all the time. That means only the Caitanya requires an Āvaraṇa. So the Caitanya is Āvṛta. And because of this Vṛtti, that Āvaraṇa is removed and then the Caitanya becomes manifested. This manifestation of Caitanya being identical with the Viṣayāvacchinna-caitanyaand Antaḥkaraṇāvacchinna-caitanya is considered as the knowledge of the object. This will be in the form of ''इदं मया ज्ञातम्''. So, the knower need not recognise it as Jaḍa. While we get the cognition we don't think whether it is Jaḍa or something. If it is Ghaṭa it is Ghaṭa and you will get the cognition. So in order to get the cognition, this is the precess that they have explained.

अच्युतानन्द दास : तत्र प्रश्नो भवति. यदि तत्र प्रतिबिम्बितम् इति स्वीक्रियते यथा स्वच्छे स्फटिके जपाकुसुमस्य प्रतिबिम्बं, तावता तत्र जपाकुसुमगतलौहत्यम् यदि स्फटिके प्रतिबिम्बितं वर्तते. योहि दृष्टा सो जानाति यद् जपाकुसुमगतलौहित्यम् अत्र प्रतिबिम्बितं

वर्तते. वस्तुवृत्यातु स्फटिके स्वच्छतैव वर्तते तत्र लौहित्यं नास्ति इति वस्तुस्थितिः. तथैव, इदं जडवस्तु वर्तते.

प्रद्योतकुमार : विषयेतु प्रकाशस्वभावो नास्ति. चैतन्यसम्बन्धतया तस्य प्रकाशत्वम्.

अच्युतानन्द दास : अत्र मम प्रश्नः. विषयस्तु जडात्मा तमःस्वभावरूपम्. प्रमातृचैतन्यं प्रकाशस्वभावः. किन्तु सामान्यतो अस्माकम् अनुभवस्तु एवं हि भवति "अयं घटः" इति उक्ते जडात्मनः कस्यचिद् वस्तुनो दर्शनं मया कृतम्. तत्र चैतन्यात्मकस्य घटस्य ...

डी.प्रह्लादाचार : चैतन्यात्मकस्य घटस्य इति नास्ति. :

अच्युतानन्द दास : तर्हि 'विषयचैतन्यम्' इति कथम् उच्यते? ...

प्रद्योतकुमार : The point I understand is this that you are not distinguishing two things. Knowing an object and knowing the process which made this knowing possible. One thing is विषयज्ञानम्. अपरन्तु विषयज्ञानजनक-कारणस्य ज्ञानम्. प्रक्रियाज्ञानम् is not necessary. Prakriyā is there, and that generates the knowledge in our sense ... So, when I have the knowledge of the jar, there is entire process. In every system there is a precess. But this ... is not known as the same act. Its a deferent thing. You can ask me how do we know the process. Śāstra discription is also there. But that is a deferent thing. Knowing the jar and knowing the process of cognition is deferent thing. So, when you are asking, you are confusing between knowing the object and knowing the process of the knowledge.

अच्युतानन्द दास : Perceptual process as explained by the

Advaitins will work only if we accept this is विषयचैतन्य, प्रमातृचैतन्य एवं प्रणालिका ...

वी. एन्. झा : विषयचैतन्य does not mean विषयरूपचैतन्य.

प्रद्योतकुमार : विषयावच्छिन्नचैतन्य.

डी.प्रह्लादाचार : 'विषयावच्छिन्नचैतन्य' means अन्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बित-चैतन्याभिव्यक्ताधिष्ठानचैतन्यम्. इदञ्च चैतन्यं विषयस्य ज्ञानम्. घटावच्छिन्नचैतन्यं नाम the Caitanya on which Ghaṭa is superimposed. Ghaṭa is Adhyasta and the Caitanya is Adhiṣṭhāna. So, whatever the object is being seen, actually the Caitanya is there. On that Caitanya the object is superimposed. So, घटावच्छिन्नचैतन्यं नाम घटाधिष्ठानचैतन्यम्. That Caitanya, when it become manifested, then there is Jñānam. For the manifestation of that Caitanya, we need अन्तःकरणवृत्तिचैतन्य. This Caitanya is प्रमातृचैतन्य. यदा अन्तःकरणवृत्ति takes place in it ... Pramātṛ-caitanya means Antaḥkaraṇāvacchinna Caitanya. Antaḥkaraṇāvacchinna Caitanya will have reflection in it. This kind of Caitanya alone is capable of removing that Āvaraṇa which covers Ghaṭāvacchinna-caitanya or Ghaṭādhiṣṭhana-caitanya.

अच्युतानन्द दास : That Āvaraṇa covers Viṣya.

डी.प्रह्लादाचार : Object is not at all Āvṛta.

प्रद्योतकुमार : There is a way of saying 'विषयावरक'. It actually means विषयावच्छिन्नचैतन्यावरक'. नतु ...

डी.प्रह्लादाचार : विषयावच्छिन्न-चैतन्यावरकम् अज्ञानम्.

प्रद्योतकुमार : नतु चैतन्यावरकम्, नतु विषयावरकम्. इदं विषयावच्छिन्न-चैतन्यावरकम् अज्ञानम्.

वी. एन्. झा : Manas is not accepted as an Indriya in Advita, whereas it is accepted in Śuddhadvaita. Now suppose Manas is accepted as an Indriya, what is going to happen to the Advaita system as such?

बलिराम शुक्ल : "इन्द्रियात् परो मनः" इति श्रुतिः वर्तते. श्रुतिबाधात् ...

डी.प्रह्लादाचार : श्रुतिबाधः प्रधानं कारणम्. अन्यत् किमपि नास्ति. ह्यः मया युक्तयः काश्चन उक्ताः. यथा प्रमाणसहकारित्वात्, प्रमाश्रयत्वात्. यः प्रमाश्रयः भवति सः प्रमाणं न भवति. यः प्रमायाः प्रमाणस्य सहकारी भवति तत् प्रमाणं न भवति. आलोकः चक्षुरिन्द्रियस्य सहकारी, नहि प्रमाणम् अंगीक्रियते, प्रमाणसाधनम् इति अंगीक्रिते. So many arguments are there, but these arguments are based on the assumption that Manas is not an Indriya because the Śruti is there.

यज्ञेश्वर शास्त्री : It is not Indriya because Manas is subtler then other five Indriyas.

डी.प्रह्लादाचार : No. I don't think that there is any deference among them. Cakṣurindriya is as subtle as Manas. How can you say that ...

प्रद्योतकुमार : You can get a bit more light this is the reason, I think, in Advaita. But there is a greater light you will get if you ask yourself why is it that some other people insist on Manas being an Indriya.

डी.प्रह्लादाचार : I have an answer. When other sense organs are not functioning, when there is not Śabda, no

Anumāna, even then you are getting cognition. There must be some instrument there, Karaṇa is needed.

प्रद्योतकुमार : That is not the only thing. The thing is this, we are having the perception. Sākṣāt-pratiti. That is to be first decided. And then the next question is you already think Sākṣāt-jñāna is to be defined in the terms of Indriya. इन्द्रियजन्यं ज्ञानं साक्षात्कारम्. If you change that notion of Sākṣātva ...

डी.प्रह्लादाचार : My submission is what is a perception as described ... it is Sākṣātkāra. The word 'Sākṣātkāra' means it is a direct cognition. Not an indirect cognition. An indirect cognition doesn't take place immediately. It needs so many steps. E.g. व्याप्तिज्ञान, परामर्श and then we get the cognition ultimately. It is not immediate. Whereas in Pratyakṣa the moment the sense organ comes into contact with object, the cognition takes place. That is direct one.

वी. एन्. झा : What I feel, there is a process. When I say that pratyakṣa is Kārya, all these things comes because of that. So, there is a structure that Kārya has to be produced by some Kāraṇa. And, therefore, unless we maintain this kind of structure, we can not understand the production of a perception at the particular point...

प्रद्योतकुमार : No, there is one type of analysis.

वी. एन्. झा : ... and therefore in that process there should

be some element which should act as an element. Without that, I think, no Kārya can be explained.

बलिराम शुक्ल : But only that "इन्द्रियात् परं मनः" we also accept that Śruti, then what ?

डी.प्रह्लादाचार : The explanation is given.

बलिराम शुक्ल : In Vātsyāyana-bhāṣya that these are भौतिकानि इन्द्रियाणि, मनस्तु अभौतिकम् इन्द्रियम्.

गो. श्या. म. : इस सन्दर्भमें वाल्लभ सिद्धान्तकी स्पष्टता करना चाहूंगा क्योंकि हम भी अतिरिक्तेन्द्रियवादी हैं. सबसे पहली बात यह है कि श्रुतिबाधका विषय है ... पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंमें चेतना रहती है. और उसका जो *फ़क्च्युएशन* हम देखते हैं कि उस सचेतन इन्द्रियोंमें कभी विषय प्रत्यक्ष होता है कभी नहीं होता है. जैसे अभी मैं अकस्मात् आपसे पूछ लूं कि "आप क्या कर रहे हैं?". तो आप कहेंगे कि "सुन रहे हैं". एक प्रसिद्ध जोक् है : शिक्षक बच्चेको पढ़ा रहा था. बच्चेका ध्यान खिड़कीके बाहर था. बाहर एक सांप अपने बिलमें घुस रहा था. उसकी पूंछ घुसनी बाकी थी. इतनेमें शिक्षकने उस बच्चेसे पूछा "मेरी बात तुम्हारे दिमागमें घुसी कि नहीं?". बच्चेने प्रश्नका उत्तर दिया "बस थोड़ीसी पूंछ बाकी है". तो आदमी देख रहा है कि सुन रहा है कि सूंघ रहा है कि स्पर्शानुभव कर रहा है ... सारी इन्द्रियां सचेतन हैं. उसके बावजूद भी कोई एक *फंक्शन्* हमारे भीतर ऐसा है कि जो इन सब *फंक्शनोंको* सचेतन होनेके बावजूद भी प्रत्यक्षमें पर्यवसित नहीं होने देता है. उस तरहका जो *फंक्शन* है ... श्रुति स्पष्ट कहती है "अन्यत्रमनाः नाश्रुण्वन्, अन्यत्रमनाः नापश्यन्". तो सुननेमें यदि मेरा मन नहीं है तो सुनाई नहीं देगा, कान यद्यपि खुले हुवे हैं. देखनेमें मेरा मन

नहीं है ... मेरेसे एक *नोर्वेजियन् स्कोलर्* पढ़ने आती थी. वह दर्शनकी विद्यार्थी नहीं थी. उसने मुझसे कहा कि आप दर्शन पढ़ाओ. वह खुली आंखोंसे सो जाती थी. मैं समझ नहीं पाता था कि उसे क्या हो रहा है. उसकी आंखे शवकी आंखों जैसी हो जाती थीं. मैं उससे पूछता कि क्या तुम सुन रही हो तो वो हड़बड़ाकर कहती हां, मैं सुन रही हूं. पर वो सुनती नहीं होती थी. तो मनकी अतिरिक्त इन्द्रियताका यह स्पष्ट प्रमाण है.

ज्योर्ज करुविलेल् : Comparison between ... tradition ... knowing is a process of the mind taking the form of the object. Similarly, here we have seen that Antaḥkaraṇa goes out and takes the form of the object. ... What are the bases of that? Same problem ... Thomistic tradition also. It assumes that the object has one form, what happens if there is more then one form? ... How would Advitins explain that?

एस्. वी. बोकिल् : Whatever has been said about perception in Indian philosophy we shell just leave it bit apart. See, we must make distinction between the questions as to how we come to acquire perceptual belief. ... that is a process of perception. You have described it. Now, whether we are required to accept mind as an instrument, I think, these are matters of ... this is rather a factual question and perhaps we may not agree on that. But whether such perceptual belief can be claimed to be known? I think that is more important question for a

philosopher. This is a normative issue, not a factual issue. And it seems to me that sometimes you will find the solution ...

प्रद्योतकुमार : Whether the perceptual belief itself can be known.

एस्. वी. बोकिल् : Perceptual belief may be had by us through the senses and all that but whether it can be claimed to be an item of knowledge. Its a normative issue.

प्रद्योतकुमार : Perceptual belief is it a knowledge ? Pratyakṣa jñāna mātr prama ki nahin ?

एस्. वी. बोकिल् : I will give you an example. How we come to acquire our knowledge of the size of the moon and sun. Actually perception gives us the knowledge. And do we really accept that perception that moon is of that size that we perceive? No. We consider our perception in the context of the whole as to physical system. And I think there are definite ways and means of ... Now we are not deceived in it. Or take the example of the rainbow, its not a deception. Because, deception could be subjective. But this is not a deception. This is only an appearance. I would not call rainbow as an illusion. Its an appearance. And we must make distinction between that. And you will find that we do not take rainbow at its face value. We know what it is and science of optics and physics will tell us. So we must

make a distinction between the factual question as to how we come to collect a certain perceptual belief. And how we judge that perceptual belief to be knowledge. Now whether in the Advaitic system you have such a distinction. Getting the perceptual belief, I believe that there is such a distinction in Advaita though it may not be in the context of natural science that we have at present. But they have there own metaphysical explanation of it.

यज्ञेश्वर शास्त्री : In our Indian tradition प्रमा, संशय, विपर्यय, भ्रम all these things have been accepted. Because when there is a doubt ...

अम्बिकादत्त शर्मा : श्रीहर्षने ''मानाधीना मेयसिद्धि''का भूरि-भूरि खण्डन किया और सभी प्रमाणोंका खण्डन किया कि ये कोई सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं बन सकते. प्रत्यक्षका कोई लक्षण नहीं बन सकता है, अनुमानका कोई लक्षण नहीं बन सकता है. ऐसी स्थितिमें धर्मराजाध्वरीन्द्रने प्रमाणोंके एक तन्त्रका निर्माण किया. तो जिन आपत्तियोंको श्रीहर्ष उठा रहे थे दूसरे सम्प्रदायोंके प्रमाणोंके प्रति, क्या उन आपत्तियोंके प्रति धर्मराजाध्वरीन्द्र सजग रहे हैं जब वह स्वयं प्रत्यक्षका लक्षण बना रहे हैं या अनुमानका लक्षण बना रहे हैं?

यज्ञेश्वर शास्त्री : श्रीहर्षका ... मेटाफिज़िकल पोईन्ट ओफ् व्यू. अब इम्पिरिकल पोईन्ट ओफ् व्यू स्वतन्त्र कोई ग्रन्थ ही अद्वैतमें नहीं था. प्रमाणमीमांसाके ऊपर अद्वैतमें कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ ही नहीं था.

प्रद्योतकुमार : जरूत भी नहीं थी.

यज्ञेश्वर शास्त्री : संसारदशायां सकलानामपि प्रमाणानां आवश्यकता. जो अद्वैतके मेटाफिज़िक्स्के साथ चले उस तरहका ग्रन्थ जरूर थे. वेदान्तपरिभाषा अद्वैतके मेटाफिज़िक्स्के साथ चलता है.

वैभाषिक दर्शनमें प्रत्यक्षकी अवधारणा तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य : वाल्लभ वेदान्त

डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा

संखखारोस्सज्जम सुत्त[१] का एक प्रसंग है कि बुद्धके अतिवृद्ध हो जाने पर 'मार' नामक प्रेतने उन पर आक्रमण किया और कहा कि आप आयु संस्कारको समाप्त कर निर्वाण लाभ करें. इसके उत्तरमें बुद्धने कहा कि "**न तावहं पापिम परिनिब्बायिस्साभिभाव में भिक्खु ... उपपन्नं परप्पवादं सह धम्मेन सुनिग्गहितं निग्गहेत्वा सम्पाटि हरियं धम्म देहे स्सन्तिति**". अर्थात् जब तक हमारे भिक्षुगण तर्क, प्रमाण एवं युक्ति में पटु नहीं हो जाते— जिससे कि वे प्रतिपक्षियों द्वारा उठाये गये प्रश्नोंका पूर्ण समाधान कर 'धम्म' को संस्थापित कर सकें —तब तक मैं निर्वाण लाभ नहीं करुंगा. इस प्रसंगसे स्वयं बुद्धका 'धम्म' के प्रति यौक्तिक आग्रह और तदनुरूप प्रमाण - विद्या हेतु - विद्या के प्रति गहरी अभिरुचिके संकेत मिलते हैं. सम्प्रति अनात्मवाद एवं क्षणिकवाद की आधारशिला पर बौद्ध प्रमाण विद्याका जिस रूपमें विकास हुआ है, उसके बीज बुद्धवचनोंमें तो मिलते हैं लेकिन उसका प्रारम्भिक रूप हमें वैभाषिक दर्शनमें प्राप्त होता है. प्रस्तुत निबन्धमें हम वैभाषिक दर्शनमें अन्तर्निहित प्रत्यक्षकी अवधारणाको उजागर करते हुए वाल्लभ वेदान्तकी प्रत्यक्ष विषयक अवधारणासे कुछ बिन्दुओंपर तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करनेका प्रययास करेंगे. इसकेलिए सर्वप्रथम हम प्रत्यक्षविचारकेलिए एक दार्शनिक परिप्रेक्ष्यका निर्माण करते हुए यह दिखानेका प्रयास करेंगे कि किस प्रकार दो दर्शनोंमें प्रत्यक्षकी अवधारणा उन दर्शनोंकी तत्त्वदृष्टिको सम्पोषित करनेमें ही अपने स्वरूपको प्राप्त करती है.

किसी भी दर्शनकी प्रमाणमीमांसीय योजनामें प्रत्यक्षका अवधारणात्मक महत्त्व आधारभूत होता है. इस रूपमें प्रत्यक्षकी आधारभूत महत्ताको केवल इतने तक सीमित नहीं किया जा सकता कि वह प्रत्यक्षेतर प्रमाणोंका उपजीव्य होता है. उपजीव्यताके करणमूलक साधारण अर्थसे कुछ भिन्न एवं विशिष्ट इसके महत्त्वका एक बृहत्तर आयाम होता है. वह यह कि प्रत्यक्ष ही अपने ऊपर किसी प्रमाणमीमांसापर पड़नेवाले सम्पूर्ण तत्त्वमीमांसीय अधिभारोंका वहन करता है. प्रत्यक्ष ही वह द्वार है जिसके माध्यमसे तत्त्वदृष्टि किसी प्रमाणमीमांसामें संक्रमित होती है. वास्तवमें एक विशेष प्रकारकी तत्त्वदृष्टिको धारण करते हुए ही कोई प्रमाणमीमांसा अपने स्वतन्त्र एवं समानान्तर स्वरूपको विज्ञापित कर पाती है. इस रूपमें तत्त्वमीमांसीय अधिभारोंको प्रमाणमीमांसा विशेषके प्रति ''नीतिनिर्देशक तत्त्व'' के रूपमें समझा जा सकता है. सर्वप्रथम प्रत्यक्ष ही उपजीव्य प्रमाण होनेके चलते इससे निर्दिष्ट होता है और तत्त्वमीमांसीय निर्दिष्टियोंके आलोकमें अपनेको निरूपित करता है. इसलिए जब यह कहा जाता है कि प्रत्यक्षपूर्वक ही अन्य प्रमाण फलित होते हैं तो इसका तात्पर्य यह भी है कि तत्त्वमीमांसीय निर्दिष्टियोंके आलोकमें निरूपित होकर प्रत्यक्ष उन निर्दिष्टियोंको अन्य प्रमाणों तक अग्रसारित करते हुए ही उनका उपजीव्य होता है.

साधारण तौरपर प्रत्यक्षको बड़ा ही सरल और शुद्ध प्रमाण माना जाता है. परन्तु उपर्युक्त रूपमें प्रत्यक्षके अवधारणात्मक महत्त्वको स्वीकार कर लेनेपर प्रत्यक्षके सरल एवं शुद्ध स्वरूपका निर्धारण प्रमाणमीमांसीय दृष्टिसे उतना ही सरल एवं शुद्ध नहीं रह जाता है. प्रमाणमीमांसाके वैकल्पिक प्रारूपोंके सम्भव होनेके कारण उनके मध्य यह निश्चित कर पाना और भी कठिन हो जाता है कि प्रत्यक्षका कोई सरल और शुद्ध स्वरूप होता भी है अथवा नहीं. वास्तवमें प्रत्यक्षका होना जितना निर्विवाद है उतना ही विवादास्पद यह है कि प्रत्यक्ष

किसका और कैसे होता है. यदि प्रत्यक्षकी प्रत्यक्षता अर्थात् साक्षात् एवं सद्यः ज्ञानको कमसे कम प्रत्यक्षका सरल एवं शुद्ध स्वरूप मान भी लिया जाय तो भी साक्षात्कारित्वकी आधारभूमिपर प्रत्यक्ष अपनी बहुविध व्याख्याका विरोध नहीं करता. वस्तुतः प्रत्यक्षकी तथाकथित सरलता एवं शुद्धता ऐन्द्रिक संवेदनकी एक ऐसी प्रभावाभिनत स्थिति है कि उसके स्वरूप एवं व्याख्या को आसानीसे प्रभावित करते हुए प्रत्यक्षविषयक एकसे अधिक अवधारणाओंको निर्मित करनेका लाभ लिया जा सकता है. इसलिए तो विभिन्न दर्शनोंके प्रस्थानभेदसे प्रत्यक्षकी भिन्न - भिन्न अवधारणाएं सम्भव होती हैं, और तब भी सबके सब प्रत्यक्षके वास्तविक स्वरूपको ही उद्घाटित करनेका दावा करते हैं. अवधेय है कि यदि किसी दर्शनकी प्रमाणमीमांसाके अन्तर्गत प्रत्यक्षपर संशोधनात्मक रूपसे विचार किया जाता है और इस तरह प्रत्यक्षके सरल एवं शुद्ध स्वरूपको ही उद्घाटित करनेका दावा किया जाता है तो ऐसे प्रयासोंमें भी प्रत्यक्षके किसी अन्य प्रकारके तत्त्वमीमांसीय आग्रहकी अनुरूपतामें ही निरूपित किये जानेका पूर्वाग्रह निहित होता है. अतएव यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक दृष्टिसे प्रत्यक्षका संज्ञानात्मक मूल्य जितना महत्त्वपूर्ण नहीं उससे अधिक महत्त्वपूर्ण उसका अवधारणात्मक मूल्य होता है. प्रत्यक्षको ऐसा अवधारणात्मक मूल्य किसी तत्त्वदृष्टिकी अनुरूपतामें निरूपित किये जानेसे प्राप्त होता है. लोकव्यवहारमें प्रत्यक्षविषयक एक आम सहमति है लेकिन दो या दोसे अधिक दर्शनोंमें प्रत्यक्षविषयक जो मतभेद होता है, उसे प्रत्यक्षके अवधारणात्मक मूल्यके सन्दर्भमें ही समझा जा सकता है.

यहां यह भी अवधेय है कि प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय की त्रिपुटीय संरचनामें करण एवं विषय नामक दो पक्ष प्रत्यक्षकी अवधारणाके महत्त्वपूर्ण घटक होते हैं. एतदर्थ तत्त्वशास्त्रीय निर्दिष्टियोंके आलोकमें प्रत्यक्ष अपनेको निरूपित करे, इसकेलिए प्रत्यक्षप्रमाको अपने करण एवं विषय में परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करते हुए दोनों ही दृष्टियोंसे

अपनेको निरूपित करना पड़ता है. यही कारण है कि भारतीय दर्शनमें प्रत्यक्षात्मक ज्ञानके कारण उपकरण एवं विषय को लेकर रोचक विवादोंका एक लम्बा इतिहास देखनेको मिलता है. इस विवादके अन्यान्य निहितार्थोंमें एक प्रमुख निहितार्थ यह भी रहा है कि प्रत्यक्षके करणात्मक पक्षकी व्याख्यामें किसी प्रकारका बदलाव प्रत्यक्ष प्रमाके स्वरूपको प्रभावित करते हुए उसके विषय पक्षमें भी बदलावके पूर्वग्रहको न्यूनाधिक रूपसे सूचित करता है. दूसरे शब्दोंमें प्रत्यक्षके करणात्मक पक्षकी व्याख्या ही प्रत्यक्षकी पात्रताको निर्धारित करता हुआ प्रतीत होता है कि निर्दिष्ट प्रत्यक्षका विषय कैसा और क्या होगा? अब यदि विषयका स्वरूप एक तत्त्वमीमांसीय निर्धारण है तो प्रत्यक्षकेलिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि तदनुरूप ही वह अपनेको इस तरह निरूपित करे कि प्रत्यक्षकी प्रत्यक्षता और निर्दिष्ट विषयके प्रति उसकी प्रमाणता दोनों सुरक्षित रहें.

उपर्युक्त दृष्टिसे यदि भारतीय दर्शनोंके प्रमाणमीमांसीय चिन्तनके विकासको देखा जाय तो प्रत्यक्षके करणात्मक पक्षकी व्याख्यासे सम्बन्धित भिन्न - भिन्न प्रकारके सिद्धान्तोंके सन्दर्भ प्राप्त होते हैं. इन्हें मोटे तौरपर इन्द्रियप्रमाणवाद (न्याय - वैशेषिक), सन्निकर्षप्रमाणवाद (माध्व वेदान्त), ज्ञानप्रमाणवाद (मण्डनमीमांसा, कुमारिलभट्ट, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, बौद्ध एवं जैन), त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद (प्रभाकरमीमांसा), वृत्तिप्रमाणवाद (सांख्य - योग), चित्प्रमाणवाद (शाक्त, शैव) और वृत्तिचित्प्रमाणवाद (अद्वैतवेदान्त) इत्यादिके रूपमें रेखांकित किया जा सकता है. इन सभी सिद्धान्तोंके पारस्परिक भेदको केवल प्रत्यक्षके विषयको ही सामने रखकर नहीं समझा जा सकता. तब भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि ऐसे सभी सिद्धान्त प्रत्यक्षकी ग्राह्यताको एक विशेष रूपमें संस्कारित तो अवश्य ही करते हैं. प्रत्यक्षात्मक विषयके स्वरूपके अतिरिक्त प्रत्यक्षात्मक प्रमाके करण पक्षकी व्याख्याको प्रभावित करने वाला दूसरा महत्त्वपूर्ण घटक चेतनाके स्वरूपसे सम्बन्धित उनकी निराकारता

और साकारता है जो भारतीय दर्शनोंके प्रमाणचिन्तनको बहुत गहरे अर्थोंमें प्रभावित करते हैं. प्रमाण और प्रमाणफल में भेद और अभेद जैसी निष्पत्तियोंको इन्हीं दोनों अभ्युपगमोंके सन्दर्भमें समझा जा सकता है. प्रकाशवाद एवं प्रतिभासवाद की समस्या भी मौलिक रूपसे निराकारज्ञान एवं साकारज्ञान वादसे ही सम्बन्धित प्रतीत होती है.

II

अब यदि उपर्युक्त पृष्ठभूमिमें वैभाषिकोंके प्रमाणचिन्तनपर विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि यह बौद्ध दर्शनका पहला सम्प्रदाय है जिसने **"ये धम्मा हेतु प्रभवाः..."** नामक बुद्ध वचनको आधार बनाकर एक धर्मप्रविचयात्मक तत्त्वशास्त्रकी रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए कुछ एक प्रमाणमीमांसीय प्रश्नोंपर विचार किया है. धर्मप्रविचयके पीछे उनकी मूलभूत दृष्टि इस संसारमें चेतनाकी प्रवृत्तिको समझकर वास्तवमें संसारसे चेतनाकी निवृत्तिके सूत्रको खोजना था. इसीलिए अभिधर्मकी व्याख्या **"अमला प्रज्ञा सानुचराः अभिधर्माः"**[२]. अर्थात् निर्वाणोन्मुखी धर्मके रूपमें की गई है. अवधेय है कि चित्तकी लोकप्रवृत्ति और विषयोन्मुखता के साथ ही सञ्ज्ञानकी प्रक्रिया और उससे सम्बन्धित एक सिद्धान्तका जन्म हो जाता है. सञ्ज्ञानकी प्रक्रिया और उसका अवधारणीकरण किये बिना हम चित्तकी लोकप्रवृत्तिको पुंखानुपुंख समझ भी नहीं सकते. अतएव कहा जा सकता है कि वैभाषिकोंने धर्मप्रविचयके अन्तर्गत भूत - भौतिक, चित्त - चैतसिक आदि स्थितियोंको जितनी सूक्ष्मताके साथ पहचाननेका प्रयास किया है उसमें स्वभाविक रूपसे एक प्रमाणविज्ञान अन्तर्निहित है. यह बात अलग है कि वैभाषिक दार्शनिकोंने अपने प्रमाण - चिन्तनको उस रूपमें विवेचित और व्याख्यायित नहीं किया है जितना कि अन्य भारतीय दर्शनोंमें प्रमाणचिन्तन अपने विवेचित रूपमें प्राप्य होता है. तब भी यह कहा जा सकता है कि वैभाषिकोत्तर बौद्ध दर्शनके सम्प्रदायोंमें बौद्ध प्रमाणशास्त्रका विकास जिस रूपमें हुआ

है, उसकी मूलभूत दृष्टि उन्हें वैभाषिकोंमें ही प्राप्त हुई हो.

वैभाषिकोंने अस्तित्वके अवयवोंके रूपमें धर्मोंका प्रविचय स्कन्ध, आयतन एवं धातु के रूपमें किया है. स्कन्धके अन्तर्गत रूप, वेदना, सञ्ज्ञा, संस्कार और विज्ञान परिगणित किये गये हैं. आयतनके अन्तर्गत पांच ज्ञानेन्द्रियां और एक मन तथा तत्तद् इन्द्रियोंके रूप-शब्दादि विषयोंको सम्मिलित किया गया है. इसी तरह द्वादश आयतनमें षड्विध इन्द्रियोंसे जन्य विज्ञानोंको समाविष्ट कर अष्टादश धातुओंकी व्यवस्थाकी गई है. वैभाषिक इस प्रकार ७२ संस्कृत धर्म और ३ असंस्कृत धर्म स्वीकार करते हैं. उनके अनुसार बुद्धने जब यह कहा था कि "सर्वम् अस्ति" तो सब कुछ होनेका तात्पर्य इन्हीं संस्कृत एवं असंस्कृत धर्मोंसे था[३]. इसीलिए वैभाषिक दर्शन 'सर्वास्तिवाद'की एक शाखाके रूपमें सामने आता है. धर्मोंको भाव, लक्षण अवस्था एवं कारित्र की दृष्टिसे क्षणिक लेकिन द्रव्यात्मक दृष्टिसे त्रैकालिक माननेके कारण इन्हें कभी-कभी 'सर्वदास्तिवादी' भी कहा जाता है[४]. वास्तविक सत्ता इन्हीं धर्मोंकी है. हमारा जीवन और जगत् ऐसे ही धर्मोंकी एक सुसंहत व्यवस्था है, लेकिन धर्मसंघातको अविद्यादृष्टि अथवा कल्पित बताया गया है. संघातदृष्टि ही वैभाषिक सम्मत पुदगल नैरात्म्यदृष्टि है. इनमेंसे प्रत्येक संस्कृत धर्म अपने स्वरूपमें एक-दूसरेसे पृथक्-पृथक्, क्षणिक, स्वलक्षणात्मक, प्रतीत्यसमुत्पन्न एवं अनात्मलक्षणसे सम्पन्न होते हैं. यहां तक कि इनके मध्य किसीको आन्तरिक और बाह्य भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सभी धर्म अपनी असंकीर्णता एवं असाधारणता में एक-दूसरेकेलिए बाह्य ही हैं. जिस रूपमें विज्ञान एक संस्कृत धर्म है, विज्ञानका विषय भी उसी रूपमें एक संस्कृत धर्म है. ऐसे पृथक्-पृथक् स्वलक्षणात्मक धर्मोंके बीच जो एक व्यापक नियम क्रियाशील है, वह है—प्रतीत्यसमुत्पाद. यशोमित्र[५] ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि "कुछ धर्मोंके हेतु होनेपर अन्य कुछ धर्मोंकी संयुक्त उत्पत्ति ही प्रतीत्यसमुत्पाद है." वसुबन्धु[६] ने तो धर्मसंकेतका

अभिप्राय ही ''अस्मिन् सति इदं भवति'' माना है.

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैभाषिकोंका धर्मप्रविचय अथवा धर्मसंकेत चित्त और चित्त की लोकप्रवृत्तिके साधनभूत इन्द्रियां और उन साधनोंसे उपलब्ध होने वाले विज्ञान और विज्ञेय वस्तुओंके असाधारण स्वरूपकी एक ऐसी व्यवस्था है कि जिसमें प्रत्येक धर्म अपने हेतु-प्रत्ययोंसे उत्पन्न होकर क्षणिक रूपसे अध्व(/ऊर्ध्व)संक्रमण करते रहते हैं. इस व्यवस्थामें प्रमाणविज्ञानसे सम्बन्धित प्रश्न धर्मोंकी क्षणिकताके चलते जटिलताके साथ उपस्थित होते हैं कि ज्ञानके घटक ज्ञानोत्पत्तिमें किस प्रकारका सहयोग करते हैं? आयतनों तथा धातुओं की प्रत्यक्षोपलब्धि किस प्रकार होती है? ज्ञोनोत्पत्तिके सम्बन्धमें बौद्ध दार्शनिकोंकी एक सामान्य मान्यता है कि नील विज्ञानकी उत्पत्ति आलम्बनप्रत्यय, समनन्तरप्रत्यय, अधिपतिप्रत्यय और सहकारीप्रत्यय के अधीन होती है[७]. नील-स्वलक्षण वस्तु नीलविज्ञानका आलम्बनप्रत्यय है, क्योंकि इसीके चलते नीलविज्ञान नीलविषयक होता है. जिस विज्ञानके अनन्तर नीलविज्ञानकी उत्पत्ति होती है, उसे समनन्तरप्रत्यय कहते हैं. अर्थात् चित्तकी सन्तानधारामें पूर्ववर्ती चित्तक्षण उत्तरवर्ती चित्तक्षणकेलिए समनन्तरप्रत्यय होता है[८]. इससे नीलविज्ञानमें बोधरूपता आती है. इन्द्रियां अधिपतिप्रत्यय हैं, क्योंकि ये ही रूप आदि ज्ञानके नियामक होते हैं. अर्थात् रूप-स्पर्शादि ज्ञानका परिच्छेदक इन्द्रियां ही होती हैं. ज्ञानोत्पत्तिके प्रति प्रकाश आदिको सहाकारी प्रत्ययके अन्तर्गत परिगणित किया गया है[९]. इसके अतिरिक्त वैभाषिकोंने छः प्रकारके हेतुओंको भी स्वीकार किया है जो किसी भी वस्तु तथा चित्त-चैतसिककी उत्पत्तिकेलिए एक व्यापक कारणसामग्रीका ताना-बाना तैयार करते हैं.

यहां विचारणीय है कि ज्ञानोत्पत्तिके घटकोंका प्रत्ययोंके रूपमें जिस प्रकारसे निर्देश किया गया है, वे सभी एक-दूसरेसे पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र एवं क्षणोंमें विभक्त हैं. ऐसा होनेसे उनके मध्य किसी प्रकारके

सम्बन्धकी संकल्पना नहीं की जा सकती. परन्तु किसी वस्तुका प्रत्यक्ष होनेकेलिए ज्ञानग्राहक चेतना और ज्ञेय वस्तु सद्यः अथवा किसी माध्यमसे सम्बन्धका होना आवश्यक है, जैसा कि बौद्धेतर दर्शनोंमें विभिन्न प्रकारके सन्निकर्षोंकी अवधारणा की गई है. वास्तवमें जब वस्तुमात्रकी संकल्पना पृथक्-पृथक् क्षणभंगुर धर्मोंके रूपमें की जाती है तो प्रत्यक्षकी व्याख्या बहुत जटिल हो जाती है. ऐसा इसलिए कि न केवल वस्तुएं क्षणिक हैं बल्कि प्रत्यक्षकी प्रक्रिया भी उतनी ही क्षणिक है; तो दोनोंके मध्य किस प्रकारका सम्बन्ध हो सकता है? पुनः सम्बन्धके बिना आखिर किस प्रकार विषयको 'प्रत्यक्षका विषय' कहा जायेगा? यदि प्रत्यक्षकी प्रक्रिया पूर्ण होने तक भी विषयको स्थिर माना जाय तो वस्तुकी क्षणिकता ही बाधित हो जाती है![१०] अतएव ज्ञेय वस्तुकी क्षणिकता एवं उसके प्रत्यक्षमें एक सहज ही विरोध प्रतीत होता है. यह समस्या बौद्ध प्रमाणमीमांसाकेलिए आधारभूत एवं साथ ही साथ सामान्य रूपसे विचारणीय है.

III

उपर्युक्त समस्याका सर्वास्तिवादी वैभाषिकोंने बड़ा ही मौलिक समाधान प्रस्तुत किया है जो बौद्ध दर्शनके सभी सम्प्रदायोंकी प्रमाणमीमांसाकेलिए उपादेय सिद्ध हुआ है. उनकी दृष्टिमें वस्तुओंकी क्षणिकता और उनके प्रत्यक्षमें विरोध तब दिखाई देता है जब वस्तु और उसके ज्ञानको कालिक अनुक्रममें रख कर देखते हैं. साथ ही साथ कालिक अनुक्रममें ही वस्तुको ज्ञानका कारण अथवा आलम्बनप्रत्यय स्वीकार करते हैं. यह बात सही है कि कालिक अनुक्रममें ज्ञानोत्पत्ति चतुर्विध प्रत्ययोंका समवधान क्षणिकवादमें सम्भव नहीं और इस प्रक्रियामें वे सभी घटक ज्ञानोत्पत्तिमें किसी प्रकारका सहयोग प्रदान नहीं कर सकते, परन्तु इसकी व्याख्या एक-दूसरे रूपसे भी की जा सकती है. वैभाषिकोंके अनुसार प्रतीत्यसमुत्पादके नियमानुसार ज्ञानोत्पत्तिके घटकोंका

समवधान, वास्तवमें, कालिक अनुक्रममें न होकर समानान्तर और युगपद् रूपसे होती है. ये सभी घटक अपनी समानान्तर और युगपद् उपस्थितिके अतिरिक्त ज्ञानको उत्पन्न करनेमें किसी अन्य प्रकारका सहयोग नहीं करते. इनके समानान्तर और युगपत् सन्निपातसे ही ज्ञानोत्पत्ति हो जाती है. वैभाषिकोंके अनुसार वास्तवमें यह तथता-दृष्टि है अर्थात् ज्ञानोत्पत्तिके घटक तत्त्वोंका स्वभाव ही ऐसा है कि ज्ञानके कारणोंमें न कोई सम्बन्ध होता है, न ही उनके बीच कोई क्रिया होती है. तब भी उन कारणोंके समानान्तर सन्निपातसे विज्ञानकी उत्पत्ति हो जाती है. बौद्धेतर अधिकांश दर्शनोंमें ज्ञानोत्पत्तिकी व्याख्याकेलिए कालिक अनुक्रम और उसके क्रियामीमांसीय विश्लेषणका तरीका अपनाया गया है; लेकिन वैभाषिकोंकी उपर्युक्त मान्यता क्रियामीमांसा ज्ञानसिद्धान्तके विरोधमें खड़ा होता है. वैभाषिकोंका यह सिद्धान्त हमारे साधारण और संश्लिष्ट अनुभवसे कितना संगत है, यह विचारणीय तो है हि, लेकिन क्षणिकवादकी आधारभूमिपर ज्ञानमीमांसाको खड़ा करनेका इससे बेहतर विकल्प शायद ही कुछ हो सकता था.

इस सिद्धान्तके अनुसार आलम्बन, इन्द्रियविकार और विज्ञान का त्रिकसन्निपात होना ही प्रत्यक्षका घटना है. त्रिकसन्निपातको पारिभाषिक शब्दावलीमें 'फस्सो' अथवा 'स्पर्श' कहा जाता है[११]. स्पर्शके परिणामस्वरूप इन्द्रियोंमें साकारता आती है और तत्तद् इन्द्रियविज्ञानोंका समुत्पाद होता है. उदाहरणकेलिए रूप एक क्षण, चक्षुरिन्द्रियका एक क्षण और विज्ञानका एक क्षण —इन तीनोंके युगपत् स्पर्शसे चक्षुर्विज्ञान समुत्पन्न होता है और उससे रूपका ग्रहण अर्थात् रूपस्वलक्षणका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है. ऐसे ही सभी इन्द्रियोंके विज्ञानका समुत्पाद और उनके विषयोंका प्रत्यक्ष समझना चाहिए. एक दूसरी व्याख्याके अनुसार रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्शादि आयतनोंकी प्रज्ञा चक्षुर्विज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान तथा कायविज्ञानके अतिरिक्त मनोविज्ञानसे भी होती है. अतः इनके दो-दो प्रज्ञाता माने गये हैं[१२]. अवधेय है कि चक्षुर्विज्ञान पश्चात्

मनोविज्ञानके उत्पादकका यह अर्थ नहीं लिया जाता कि उसकी परिव्याप्ति सम्पूर्ण प्रत्यक्ष तक नहीं रहती. आचार्य धर्मत्रातने स्पष्ट किया है कि चक्षु, रूप, आलोक तथा मनस्कार से चक्षुर्विज्ञानका समुत्पाद होता है फिर भी उसे केवल 'चक्षुर्विज्ञान' नाम दिया गया है, क्योंकि उसमें चक्षुरिन्द्रियकी प्रधानता है. वह रूपसे प्रतीत्यसमुत्पन्न विज्ञानके प्रति असाधारण कारण, अधिपतिप्रत्यय है. जिस प्रकार बीज अंकुरका आश्रय है उसी प्रकार चक्षुर्विज्ञानका आश्रय चक्षु है. जिस प्रकार सुना जानेवाला शब्द भेरीकी समीपतासे भेरीजन्य शब्द कहा जाता है. उसी प्रकार चक्षुर्विज्ञान चक्षुरिन्द्रियके सन्निकट होनेसे चक्षुर्विज्ञान कहा जाता है. जब चक्षुरिन्द्रिय देखता है तो उस विषयको चक्षुर्विज्ञानसे संयुक्त व्यवस्थापित किया जाता है[२३]. अतएव सभी विषयोंका मनोविज्ञान एक साथ नहीं होता, क्योंकि एक चित्त-सन्तानमें दो चित्त नहीं होते हैं[२४]. वास्तवमें इन्द्रियविज्ञान और मनोविज्ञान की संयुक्त व्यवस्थासे ही प्रत्यक्षको पूर्णता मिलती है. इन्द्रिय विज्ञानोंसे रूपादि स्वलक्षण धर्मोंका निर्विकल्प प्रत्यक्ष होता है. इससे बहुत सारे चैतसिक धर्मोंकि प्रत्यक्षकी व्याख्या नहीं हो सकती. पुनः इन्द्रियविज्ञान धर्मोंकि त्रैकालिक अस्तित्वकेलिए कोई प्रमाणमीमांसीय आधार प्रस्तुत नहीं करते, क्योंकि उनके द्वारा वस्तुतः पूर्वापरसे व्यावृत्त वस्तुका ही ग्रहण प्रसक्त होता है. अतः प्रत्यक्षकी अवधारणामें मनोविज्ञानका समावेश वैभाषिकोंकेलिए कई दृष्टिसे उपादेय है. बादमें बौद्ध नैयायिकोंकेद्वारा मानस प्रत्यक्षकी अवधारणाका विकास सम्भवतः इसी आधारभूमिपर हुआ है.

IV

बौद्ध दर्शनके वैभाषिकोत्तर सम्प्रदायोंसे वैभाषिक मतकी एक विशिष्टता यह है कि ये निराकारवादी हैं[२५]. अर्थात् इनके मतमें विज्ञानोंके स्वरूपको निराकार स्वीकार किया गया है. रूप आदि बाह्यार्थोंका प्रतिभास चक्षुमें हुआ करता है, चक्षुविज्ञानमें नहीं. चक्षु ही रूपको देखता है, चक्षुर्विज्ञान तो चक्षुगत प्रतिबिम्बका साक्षात्कार करता है[२६]. अतः

इनके मतमें इन्द्रियोंमें साकारता होती है, इन्द्रियविज्ञान निराकार ही रहते हैं. अपनी ऐसी मान्यताके पीछे उनका तर्क यह है कि यदि चक्षुर्विज्ञानमें रूपोंका प्रतिभास माना जायेगा तो उसके द्वारा प्राचीर - कुड्यादिसे ओझल रूपोंका साक्षात्कार भी मानना पड़ेगा[१७]. ऐसा इसलिए कि विज्ञान सप्रतिघ नहीं, बल्कि स्वभावसे ही अप्रतिघ होता है. विज्ञानके अप्रतिघ होनेसे रूपी धर्म उसके गमनागमनमें बाधक नहीं हो सकते. वैभाषिकोंके अतिरिक्त बौद्ध दर्शनके अन्य सम्प्रदाय अपने - अपने तरीकेसे इन्द्रिय विज्ञानको ही साकार मानते हैं और उसीकेद्वारा रूपादि विषयों एवं चैतसिक धर्मोंके प्रत्यक्षकी व्याख्या करते हैं.

इस दृष्टिसे इन्द्रियोंकी साकारता और उनकी प्रकृति तथा निराकार विज्ञानकेद्वारा रूपादि विषयोंका ग्रहण वैभाषिकोंके प्रत्यक्ष - विचारकेलिए महत्वपूर्ण हो जाता है. जहां तक इन्द्रियोंके स्वरूपका प्रश्न है तो वैभाषिक मतमें इन्द्रियां भौतिक ही हैं. वसुबन्धुने अभिधर्मकोशमें इनके स्वरूपका बड़ा ही सूक्ष्म और आलंकारिक वर्णन किया है. रूप धर्मका वह अंश है जिससे इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है, वह 'रूपप्रसाद' कहलाता है. यह अत्यन्त सूक्ष्म और मणिप्रभाके समान होता है. इसे न तो खण्डोंमें विभाजित किया जा सकता है और न ही जलाया जा सकता है. जीवन पर्यन्त इनका अस्तित्व रहता है. जीवन कालमें परमाण्वात्मक इन्द्रियां पांच विभिन्न प्रकारके परमाणुओंके माध्यमसे अभिव्यक्त होती हैं. चक्षुके परमाणु काले जीरे (अजाजी)के पुष्पके समान चक्षुगोलकपर अवस्थित होते हैं. जिह्वेन्द्रियके परमाणु अर्धचन्द्रके आकारमें जिह्वापर स्थित रहते हैं. कायेन्द्रियके परमाणु काय - संस्थानमें रहते हुए सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त होते हैं. वस्तुतः इन्द्रियोंके सम्बन्धमें इस प्रकारका वर्णन प्रमाणमीमांसीय दृष्टिसे बहुत महत्त्वका नहीं है. महत्त्वपूर्ण केवल इतना है कि इन्द्रियां परभासक हैं और स्वसामर्थ्यके अनुरूप विशेषताके कारण वे अपने-अपने विषयोंका प्रतिभास ग्रहण करते हैं. इसमें चक्षुरिन्द्रिय और श्रौत्रेन्द्रिय असम्प्राप्तग्राही अर्थात् दूरीसे

विषयोंका ग्रहण करते हैं. और घ्राण, जिह्वा तथा कायेन्द्रिय सम्प्राप्तग्राही अर्थात् सन्निहित विषयके ग्रहणमें समर्थ होते हैं. अभिधम्मत्थ-संगहो, अभिधर्मकोश आदि ग्रन्थोंमें इन्द्रियोंके सम्प्राप्तग्राहित्व एवं असम्प्राप्तग्राहित्व तथा उनके ग्रहणक्षेत्रपर विभिन्न दृष्टान्तों एवं युक्तियों केद्वारा सविस्तार विचार किया गया है जो द्रष्टव्य है[१८].

यहां यह भी द्रष्टव्य है कि सर्वास्तिवादमें इन्द्रियोंके सम्बन्धमें जो इस प्रकारके विचार प्राप्त होते हैं, उसे उस विचारका प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है जिसका विकास बादमें इन्द्रिय प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व की समस्याके रूपमें हुआ है. यद्यपि बौद्ध नैयायिकोंकेद्वारा बौद्धेतर दर्शनोंके इन्द्रियप्राप्यकारित्व सिद्धान्तका खण्डन किया गया है और उसके पीछे उनका उद्देश्य सन्निकर्षकी अवधारणाका खण्डन प्रतीत होता है, लेकिन वैभाषिक मतमें भी इन्द्रियोंको सम्प्राप्तग्राही असम्प्राप्तग्राही भेदसे प्राप्याकारी ही मानना पड़ेगा परन्तु वैभाषिकोंका प्राप्यकारित्व विविध प्रकारके इन्द्रियार्थसन्निकर्षके रूपमें व्याख्येय न होकर 'स्पर्श-सिद्धान्त'के परिप्रेक्ष्यमें निरूप्य है. इस दृष्टिसे वैभाषिक मतमें प्रत्यक्षीकरणकी प्रक्रियामें चक्षुरिन्द्रिय और विज्ञान वस्तुतः कोई क्रिया नहीं करते और उनका वस्तुओंके साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध भी स्थापित नहीं होता. किसी विशेष परिस्थितिमें एक सांयोगिक नियमसे इन्द्रिय, चित्त और वस्तुक्षण का त्रिकसन्निपात होनेसे इन्द्रिय वस्तुका प्रतिभास ग्रहण कर लेती है और विज्ञानको उस वस्तुका प्रत्यक्ष होता है. बुद्धवचन भी है कि "हे ब्राह्मण! चक्षुरिन्द्रियरूपी दरवाजासे विज्ञान रूपको देखता है". अतः इन्द्रिय दरवाजा है, द्रष्टा तो चित्त है. इस प्रकार वैभाषिक प्रत्यक्षीकरणकी प्रक्रियामें ज्ञानेन्द्रियों एवं विज्ञानके भेदपूर्ण भूमिका को आगम एवं युक्ति दोनों ही तरहसे प्रतिपादित करते हैं.

V

सौत्रान्तिकोंने वैभाषिकोंके इस अभ्युपगम (इन्द्रिय और इन्द्रिय

विज्ञानों की भेदपूर्ण भूमिका और इन्द्रियोंकी साकारता)की जमकर आलोचनाकी है. एतद्विषयक उनके मध्य शास्त्रार्थका एक लम्बा इतिहास है. दोनों ही अपने-अपने पक्षमें आगमों और युक्तियों का संग्रह करते हैं लेकिन अन्तमें सौत्रान्तिक[१९] इस टिप्पणीके साथ विवादको समाप्त कर देता है कि चक्षु देखता है और विज्ञानको वस्तुकी चेतना होती है, दोनोंमें अन्तर करते हुए विवाद करना शून्याकाशको चबाने जैसा है. कौन द्रष्टा है? कौनसी क्रिया है? —यह सब निरर्थक प्रश्न हैं. धर्मोंके अतिरिक्त किसी अन्यका अस्तित्व नहीं है. वे ही हेतुप्रत्ययके रूपमें प्रकट होते हैं और आवश्यकतानुसार चक्षु देखता है, विज्ञानको ज्ञान होता है जैसी अभिव्यक्तियोंका प्रयोग हुआ करता है. इस प्रकारकी पृथग्जन अभिव्यक्तियोंका कोई सैद्धान्तिक महत्त्व नहीं है. इस तरह सौत्रान्तिकोंने वैभाषिकोंके विचारोंमें संशोधन करते हुए वास्तवमें प्रत्यक्षीकरणकी प्रक्रियामें इन्द्रियोंकी भूमिकाको गौण कर दिया है और इन्द्रियोंकी साकारताके बदले विज्ञानकी साकारताके सिद्धान्तको विज्ञान और वस्तुमें 'सारूप्य' मानते हुए स्थिर किया है. इनके मतमें इन्द्रियक्षण, वस्तुक्षण और चित्तक्षण के त्रिकसन्निपात होनेपर साकार विज्ञानका समुत्पाद होता है और वस्तुतः आकारप्रत्यक्ष ही प्रत्यक्ष होता है, बाह्यार्थप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष नहीं. बाह्यार्थमें आकारके प्रत्यक्षका अभिनिवेश होता है. ऐसा इसलिए कि ज्ञानोत्पत्ति कालमें वस्तुक्षण मृत पूर्ववर्ति क्षण हो चुका रहता है. इस तरह 'क्षणादूर्ध्वम् अविज्ञप्तिः'[२०] होनेसे सौत्रान्तिक मतमें बाह्यानुमेयवाद फलित होता है. इस प्रसंगमें सौत्रान्तिकोंकेद्वारा वैभाषिकोंके निराकारवादकी खूब आलोचना हुई है. यदि इस आलोचनाको व्यापक परिप्रेक्ष्यमें देखा जाय तो बौद्धेतर दर्शनोंका निराकारवाद तथा नैयायिक एवं मीमांसक आदि भी आलोच्य हो जाते हैं. न्याय-वार्तिक-तात्पर्य-टीकामें वाचस्पति मिश्रने[२१] सौत्रान्तिकोंके पक्षको ऐसे ही व्यापक परिप्रेक्ष्यमें बहुत ही परिष्कारपूर्वक उपस्थापित किया है. सौत्रान्तिकोंका प्रमुख तर्क यह है कि यदि सत्तामात्रसे अर्थात् विद्यमान होनेसे बाह्यार्थ निराकारज्ञानके विषय हो

जाते हैं तो समस्त अर्थोंको भी सभी विज्ञानोंका विषय हो जाना चाहिए, क्योंकि सत्तामात्रसे तो सभी वस्तुएं विद्यमान होती हैं. इस तरह अनायास ही सर्वजनसुलभ सर्वज्ञता प्रसक्त होगी. इसपर वैभाषिकों[२२] की ओरसे कहा जा सकता है कि चूंकि बाह्यार्थ ज्ञानके कारण हैं, अतएव अपने कारणोंसे उत्पन्न विज्ञानका स्वभाव ही ऐसा होता है कि उसमें अपने स्वरूपको भासित करनेके साथ-साथ अर्थको भी प्रकाशित करनेकी शक्ति होती है. अतएव कोई अर्थविशेष ही ज्ञानका विषय बनता है, सभी अर्थ समानकालमें उसके विषय नहीं होते. पुनः सौत्रान्तिक इसपर आपत्ति करता है कि विज्ञानकी उत्पत्तिमें वस्तुक्षण जिस रूपसे कारण होता है, उसी तरह इन्द्रियां भी कारण सामग्रीके अन्तर्गत समान रूपसे कारण होनेकी भूमिकाका निर्वाह करती हैं. अतः इन्द्रियोंको भी निराकार ज्ञानका विषय होना चाहिए[२३]. केवल विषयमें अर्थात् वस्तुक्षणमें ऐसी क्या विशेषता होती है कि वही ज्ञानमें प्रकाशित होता है और इन्द्रियां नहीं होती हैं. वैभाषिक पक्षसे इसका क्या उत्तर हो सकता है यह बहुत स्पष्ट नहीं है. अभिधर्मकोशमें इस प्रश्नको उठाकर विषय एवं विज्ञान में 'सारूप्य'की स्थापना करते हुए उत्तर दिया गया है[२४]. परन्तु यह उत्तर सौत्रान्तिक सम्मत प्रतीत होता है, क्योंकि यह प्रश्न न केवल वैभाषिकोंके प्रति बल्कि सौत्रान्तिकों प्रति भी समान रूपसे उठाया जा सकता है. पुनः सारूप्यकी अवधारणा साकारज्ञानवादकी स्थापना करता है जबकि वैभाषिकोंका इन्द्रियोंकी साकारता और इन्द्रियविज्ञानोंकी निराकारता का है. वस्तुतः सारूप्य और साथ ही साथ स्वसंवेदन को स्वीकार कर सौत्रान्तिक साकारविज्ञानवादकी स्थापना तो कर लेते हैं लेकिन बाह्यार्थकी सत्ताको मानते हुए भी बाह्यार्थके प्रत्यक्षकी समुचित व्याख्या न कर विज्ञप्तिमात्रतावादी मार्ग प्रशस्त करने लगते हैं. दूसरी और वैभाषिक बाह्यार्थवादी बने रहनेका हर सम्भव प्रयास करते हैं. सौत्रान्तिक मतमें बाह्यार्थोंकी बाह्यार्थ रूपसे प्रत्यक्षकी अव्याख्येयताकेलिए उत्तरदायी उनका धर्मोंका द्विलक्षणात्मक सिद्धान्त भी है, जिसके अन्तर्गत वे संस्कृत धर्मोंको उत्पत्ति और

विनाश नामक दो ही लक्षणोंसे युक्त मानते हैं. यही कारण है कि सौत्रान्तिक सर्वास्तिवाद अर्थात् ''सर्व अस्ति''की प्रतिष्ठा बाह्यानुमेयवादकेद्वारा करनेकेलिए विवश हो जाते हैं. परन्तु यहां हम टिप्पणी करना चाहेंगे कि आत्यन्तिक क्षणिकताको तर्कबलसे स्वीकार करते हुए भी बाह्यानुमेयवाद धर्मोंकी स्वलक्षण सत्ताकी स्थापनाकेलिए मजबूत ज्ञानमीमांसीय आधार प्रदान नहीं करता. सौत्रान्तिकोत्तर कालमें बौद्ध दर्शनके अन्तर्गत अनुमानका विकास जिस रूपसे हुआ है और जिस तरहसे अनुमितिके सम्पूर्ण क्षेत्रको सामान्यलक्षण अर्थात् संवृतिक्षेत्रके अन्तर्गत लिया गया है, उससे भी यही बात प्रमाणित होती है. इसके विपरीत वैभाषिकोंकेद्वारा संस्कृत धर्मोंको जाति, स्थिति, जरा और अनित्यता नामक चतुर्विध लक्षणोंसे सम्पन्न मानना और इन्द्रियोंकी साकारता तथा इन्द्रियविज्ञानकी निराकारताको मानते हुए बाह्यार्थप्रत्यक्षकेद्वारा धर्मोंकी स्वलक्षण सत्ताको प्रतिष्ठित करना सर्वास्तिवादको अपेक्षाकृत अधिक आगमसम्मत सबल प्रमाणमीमांसीय आधार प्रदान करता है.

इस प्रकार वैभाषिकोंकी धर्मप्रविचयात्मक प्रणालीमें स्वाभाविक रूपसे प्रत्यक्षकी जैसी अवधारणा अन्तर्निहित है और जिस रूपसे उसका विवेचन किया जाना यहां सम्भव हुआ है, उसका निहितार्थ यह है कि वैभाषिक बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी हैं. इनका बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद धर्मलक्षण तक ही सीमित है. धर्मोंका स्वभाव अर्थात् द्रव्यरूपसे उनकी त्रैकालिकता बुद्धिगोचर है. धर्मलक्षण यद्यपि क्षणिक हैं लेकिन निराकारविज्ञान संयुक्त साकार इन्द्रियद्वारा उनका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है. जाति, जरा, स्थिति और अनित्यता नामक चतुर्विध लक्षणोंसे सम्पन्न मानना और इन्द्रियोंकी साकारता तथा इन्द्रियविज्ञानकी निराकारताको मानते हुए बाह्यार्थप्रत्यक्षकेद्वारा धर्मोंकी स्वलक्षण सत्ताको प्रतिष्ठित करना सर्वास्तिवादको अपेक्षाकृत अधिक आगमसम्मत सबल प्रमाणमीमांसीय आधार प्रदान करता है.

प्रत्यक्षीकरणकी प्रक्रियामें रूप, इन्द्रिय (चक्षु), चक्षुर्विज्ञान और

मनोविज्ञान अपने - अपने चतुर्विध लक्षणोंके साथ प्रयुक्त होकर समन्वागमको १८ क्षणोंका जीवन प्रदान करते हैं. यहां तक प्रत्यक्षका स्वरूप निर्विकल्प ही होता है. इसके बाद मनोविज्ञानका आश्रय लेकर मनोजल्पात्मक उत्प्रेक्षणात्मक रूपमें विकल्पोंका प्रादुर्भाव होता है और नामजात्यादि विकल्पोंसे विकल्पित सविकल्प विज्ञप्तिका अध्यवसाय होता है.

जहां तक प्रत्यक्षके प्रकारोंका प्रश्न है तो वैभाषिक मतमें इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष एवं योगप्रत्यक्ष ही मान्य हो सकते हैं. चूंकि वैभाषिक स्वसंवेदनको नहीं मानते, अतएव उनके मतमें स्वसंवेदनप्रत्यक्ष नहीं होता. वस्तुतः स्वसंवेदनप्रत्यक्षकी अस्वीकृति और निराकार विज्ञानकी स्वीकृति ही वैभाषिक प्रमाणमीमांसाके दो आधारभूत अभ्युपगम हैं जो उनके बाह्यार्थप्रत्यक्षवादको शुद्धता प्रदान करते हैं.

अब यदि वैभाषिकोंकी प्रत्यक्ष विषयक अवधारणा एवं वाल्लभीय प्रत्यक्षकी अवधारणा पर तुलनात्मक दृष्टिसे कुछ बिन्दुओंपर विचार किया जाय तो तुलनासे पहले कुछ स्पष्टीकरण अपेक्षित प्रतीत होता है. ध्यातव्य है कि सार्थक तुलनाकी कुछ पूर्वापेक्षाएं होती हैं और उसी प्रागपेक्षामें तुलनाएं एक सार्थक निष्कर्षमें रचितार्थ होती हैं. दो या दोसे अधिक वस्तुओं अथवा सिद्धान्तोंमें सार्थक तुलना वहीं सम्भव होती है जहां तुलनीयोंके मध्य कुछ मूलगामी समानताएं हों अर्थात् तुलनीय पदार्थ कमसे कम एक ही मूलपर अधिष्ठित होकर अपनी पारस्परिक विभिन्नताओंको अवाप्त किये हुवे हों. उदाहरणकेलिए सभी प्रकारके वनस्पतियोंका एक ही *'आर्चिटाइप'* होता है, लेकिन उस मूलगामी एकताके बावजुद भी उनके आकार-प्रकार एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हुआ करते हैं. परन्तु तुलनाके प्रकृत प्रसंगमें वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है. वैभाषिक और वाल्लभ दर्शन दो भिन्न मूलके दर्शन हैं. इनकी तात्त्विक दृष्टिमें भेद ही नहीं, आत्यन्तिक विरोध विवक्षित है. अतएव दोनोंकी प्रमाणमीमांसामे प्रत्यक्ष - विचार जिस आकारको

ग्रहण करता है, उसमें कोई निकटवर्ती तुलना सम्भव नहीं है. यदि तुलनाकेलिए कुछ दूरवर्ती आधारोंको सन्दर्भ बनाया जाय तो विभज्यवादका पोषण करने वाले वैभाषिकोंकेलिए प्रत्यक्ष-विचार और शुद्धाद्वैतका पोषण करने वाले वाल्लभीय प्रत्यक्ष-विचारमें कतिपय अतिवर्ती तुलनाएं की जा सकती हैं. इस प्रकारकी तुलनासे केवल यही समझा जा सकता है कि किस प्रकार दो दर्शनोंके प्रमाणमीमांसीय सिद्धान्त अपने विकास क्रममें अपनी-अपनी तात्त्विक विशिष्टताओंको ही विज्ञापित करते हुए फलित होते हैं.

वाल्लभ वेदान्तके अनुसार यह सम्पूर्ण दृग्-द्रष्टृ-दृश्यात्मक नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मकी सत्यसंकल्पता तथा सर्वसम्भवनकी इतिकर्तव्यरूपा आविर्भाव-तिरोभावरूपा शक्तियोंद्वारा सम्पन्न होती एक लीला है. इस लीलोमें आविर्भूत और तिरोभूत होने वाला ब्रह्म अपने उस स्वरूपमें प्रमाणों (प्रत्यक्षादि) से गम्य न हो कर शास्त्रैकगम्य है. परन्तु लीलारूपसे नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् चूंकि ब्रह्मात्मक ही है, अतएव प्रत्यक्षादि विषयोंकी ब्रह्मात्मकता शुद्धाद्वैतमें मान्यकी गई है. अवधेय है कि यहां न केवल प्रत्यक्षादि विषयोंकी ब्रह्मात्मकता बल्कि प्रत्यक्षात्मक वृत्तिका घटित होना भी ब्रह्मात्मक ही है. क्योंकि इन्द्रियां अपने स्वसामर्थ्यसे अपने-अपने विषयोंका प्रत्यक्ष नहीं करती बल्कि “**भगवदिच्छैव सर्वे पश्यन्तु**”[२५] ...

“भगवदिच्छैव सर्वे पश्यन्तु”के आलोकमें शुद्धाद्वैती प्रत्यक्षकी प्रक्रिया इस प्रकार है— अन्तर्यामी एवं अदृष्ट रूप दैवके अनुकूल होनेपर प्रस्तुत ज्ञानक्रियाके प्रति मनको अन्तर्यामी प्रेरित करता है, मन इन्द्रियको प्रेरित करने हेतु उस इन्द्रियसे सन्निकर्ष लेता है, इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवोंके अनुकूल होनेपर विषयसन्निकर्षके द्वारा पहले इन्द्रियविशिष्ट मनमें निर्विकल्पक ज्ञान जनित होता है जिसकी बुद्धिवृत्ति इन्द्रियप्रदेशमें रहती है. तत्पश्चात् वृत्तिद्वारा बुद्धिका अनुग्रह प्राप्त करने पर सविकल्पक

ज्ञान और हानोपानादि बुद्धिका उदय होता है[२६].

उपर्युक्त रूपसे निर्देशित प्रक्रियाके प्रति कहा जा सकता है कि वाल्लभ मतमें दैवाधिशासित तत्त्वमीमांसीय जगतमें प्रत्यक्ष जिस रूपसे घटित होता है, वह प्रमाताकी स्वतन्त्र-इच्छामूलक घटना नहीं है बल्कि सच्चिदानन्दके सर्वसम्भवके सातत्यमें घटित होने वाली उसीके अन्तर्गतकी घटना है. यहां 'दैव' शब्दका अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है लेकिन भारतीय दार्शनिक परम्परामें यह शब्द 'नियामकत्व' और 'नियति' के अर्थमें प्रयुक्त होता रहा है. इसके विपरीत वैभाषिकोंकी दृष्टिमें 'प्रत्यक्ष' प्रतीत्यसमुत्पादके नियमसे अधिशासित जगत्‌में घटित होनेवाली घटना है और जिसका घटित होना हेतुप्रत्ययरूप कारणसामग्रियोंके सन्निपातद्वारा निर्धारित होता है. यहां अवधेय है कि प्रतीत्यसमुत्पाद कोई ईश्वर-निमित्तक नियम नहीं बल्कि एक सांयोगिक निमित्तवाद है. बौद्ध इसे 'तथतादृष्टि' कहते हैं.

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैभाषिक और वाल्लभ मतमें प्रत्यक्ष जिस जगत्‌में घटित होनेवाली एक ज्ञानमीमांसीय घटना है, वह जगत् ही दोनों दर्शनोंमें तत्त्वमीमांसीय दृष्टिसे परस्पर भिन्न ही नहीं, विरोधी भी हैं. तत्त्वमीमांसीय दृष्टिसे जगत्‌की परस्पर भिन्न अवधारणाएं दोनों दर्शनोंमें प्रत्यक्षकी अवधारणाको बहुत गहरे प्रभावित करती हैं. परन्तु इसके बावजुद भी दोनों दर्शनोंकी प्रत्यक्षकी अवधारणामें कुछ समानताएं देखी जा सकती हैं. उदाहरणकेलिए दोनों दार्शनिक परम्पराएं बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी हैं. जब हम भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तनके सम्पूर्ण विकासको प्रकाशवाद और प्रतिभासवाद में विभाजन करते हैं तो वैभाषिक और वाल्लभ दोनों ही मत प्रतिभासवादके विरोधमें खड़े होकर बाह्यार्थोंके प्रत्यक्षकी व्याख्या अपने-अपने ढंगसे करते हैं. दोनों ही परम्पराओंमें प्रत्यक्षके प्रति इन्द्रियोंकी भूमिकाको समान महत्त्वके साथ स्वीकारा गया है. इन्द्रियोंका महत्त्व इस रूपमें इन्द्रियां विकारी

अर्थात् वस्तुका प्रतिबिम्ब अथवा वृत्तिको ग्रहण करती हैं और इन्द्रियविशिष्ट मन या विज्ञानमें निर्विकल्पक ज्ञानका उदय होता है. परन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्षका विषय जहां वाल्लभ वेदान्तमें सन्मात्र होता है वहीं वैभाषिक मतमें विविक्त स्वलक्षण. वैभाषिक मतमें प्रत्यक्ष निर्विकल्पक ही है, सविकल्पक प्रत्यक्ष वास्तवमें प्रत्यक्ष नहीं बल्कि मानसिक, विकल्पात्मक संरचना है. जबकि वाल्लभ मतमें प्रत्यक्षकी प्रत्यक्षता सविकल्पक प्रत्यक्ष पर्यन्त बनी रहती है. प्रत्यक्षकी निर्विकल्पकता और सविकल्पकता का भेद विषयकी दृष्टिसे नहीं किया गया है. दोनोंका विषय समान ही होता है. वस्तुतः शुद्धाद्वैती किसी भी प्रमाणकी व्याख्या करनेमें आत्मनिष्ठताको अपने मतमें प्रवेश ही नहीं दे सकते हैं. इसीलिए ख्यातिकी व्याख्या भी वे 'अन्यख्याति'के रूपमें करते हैं ताकि ज्ञानकी व्याख्या करते हुए आत्मनिष्ठताका सर्वतोभावेन निराकरण किया जा सके. जहां तक इन्द्रियोंके स्वरूपका प्रश्न है तो वाल्लभ मतमें इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं. इसीलिए वे अलौकिक एवं लौकिक रूपसे विभिन्न प्रकारके सन्निकर्षोंको स्वीकार करते हैं और इस तरह वाल्लभ वेदान्त भी नैयायिकोंकी तरह ज्ञानका क्रियामीमांसीय विश्लेषण ही प्रस्तुत करता है. इसके विपरीत वैभाषिक यद्यपि इन्द्रियोंको प्राप्यकारी मानते हैं लेकिन उनमें सम्प्राप्तग्राही और असम्प्राप्तग्राहीका एक विशिष्ट भेद प्रतिपादित करते हैं. साथी ही साथ वैभाषिक किसी प्रकारका सन्निकर्ष नहीं मानते, क्योंकि सभी धर्म वास्तवमें निर्व्यापार हैं. वैभाषिकोंने सन्निकर्षके बदले एक सर्वथा अभिनव सिद्धान्त 'स्पर्श'का प्रतिपादित करते हैं. इस प्रकार दोनों मतोंमें बहुतसी समानताएं एवं भेद देखे जा सकते हैं. लेकिन प्रत्यक्ष जैसी सर्वजनसुलभ घटनाके प्रति जो मतभेद दिखाई पड़ते हैं उन्हें अन्तिम रूपसे दोनों दर्शनोंके तत्त्वमीमांसीय भेदमें ही समझा जा सकता है.

वस्तुतः सम्पूर्ण भारतीय प्रमाणचिन्तनके अन्तर्गत जो असमझौतापूर्ण असहमतियां दिखाई पड़ती हैं, वे सभी प्रमाणमीमांसीय नहीं बल्कि

अधिप्रमाणमीमांसीय अर्थात् तत्त्वमीमांसामूलक हैं.

सन्दर्भ एवं टिप्पणि

१. महावग्गो, १ - २३.

२. "धर्माणां प्रविचयमन्तरेण नास्ति क्लेशानां यत उपशान्तयेऽभ्युपायः". अभिधर्मकोश, १/२ एवं १/३ (भाष्य.)

३. "तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादी मतः" अभिधर्मकोश, ५/२५

४. शेरबात्सिकी, सेन्ट्रल कॅन्सेप्शन ऑफ़ बुद्धिज़्म, पृ. ३५.

५. "समेत्य सम्भमप्रत्ययैः कृतं संस्कृतम् तं-तं प्रत्ययं प्रतीत्यसमुत्पन्नं प्रतीत्य समुत्पन्नं इति". अभिधर्मकोश भाष्य, २/४६

६. अभिधर्मकोश, ३/१८, २/४७ इत्यादि.

७. "चतुर्भिः चैत्ता हि चित्त - चैत्ता हि चतुर्भिः प्रत्ययैः उत्पद्यन्ते". अभिधर्मकोश, २/२६

८. "समनन्तरप्रत्ययशब्दः, स्वसन्तानवर्तिनि उपादाने ज्ञाने रुढ्या प्रसिद्धिः". मोक्षाकरतर्कभाषा.

९. चतुर्विध प्रत्ययोंकी संज्ञानोत्पत्तिमें भूमिका विषयक वाचस्पति मिश्रकी व्याख्या द्रष्टव्य है, "नीलाभासस्य हि चित्तस्य नीलाद् आलम्बनप्रत्ययत्वात् नीलाकारता. समनन्तरप्रत्ययात् पूर्वविज्ञानाद् बोधरूपता. चक्षुषो अधिपतिप्रत्ययाद् रूपग्रहणप्रतिनियमः. आलोकात् सहकारिप्रत्ययाद् हेतोः स्पष्टार्थता". भामती पृ.५३३.

१० "वर्तमानालम्बनग्रहणे क्षणभंगबाधः". मध्यान्तविभागसूत्रभाष्य टीका, सम्पा. भट्टाचार्य एवं टुच्ची, पृ.२१

११. "त्रिणिसंगति फस्सो" अथवा "त्रयाणां सन्निपातः स्पर्शः".

१२. "रूपाणि चक्षुर्विज्ञान-मनोविज्ञानम् इति द्वे विज्ञाने प्रज्ञानीतः... कार्यविज्ञान-मनोविज्ञानम् इति". प, चवस्तुकशास्त्र, पृ.३

१३. "यदा चक्षुः इन्द्रियं पश्यति तदा चक्षुः विज्ञानेन व्यवस्थाप्येत ... एकस्मिन् सन्ताने चित्तद्वयाप्रवर्तनात्". प, चवस्तुक विभाषा, पृ. २६

१४. "निराकारबुद्धिवादिवैभाषिकमते". प्रमाणवार्तिक - मनोरथनन्दी २/३

१५. "चक्षुः पश्यति रूपाणि सभांग न तदाश्रितं, विज्ञानं दृश्यते रूपं न किल

अन्तरितं यतः''. द्रष्टव्यः अभिधर्मकोश, १/४२.

''चक्षुः पश्यति विज्ञानं विजानाति स्वगोचरम्, आलोचनोपलब्धित्वाद् विशेषः सुमहान् तयोः'' तत्रैव १/४४

१६. ''दृश्यते रूपं न किल अन्तरितं यतः... तस्य चक्षुषु आलोचनवृत्त्यभावः. अभिधर्मकोश, स्फुटार्थ. १/४२

१७. ''चक्षुः श्रोत्रं मनो अप्राप्तविषयं त्रयम् अन्यथा''. वहीं, १/४३.''अप्राप्यम् अर्थं मनः चक्षुः श्रोत्रं च त्रीणि अतो अन्यथा, अप्राप्तग्राहिणः सिद्धा दूरासन्नसमग्रहात्, प्रदीपादिप्रभावश्चेत् न समं तत्समुद्भवात्, सर्वग्रहप्रसंगः चेश्चेत् न अयस्कान्तादिदर्शनात्, सर्वगत्वाद् अदोषः चेत् न अयोगात् तिलतैलवत्''. अभिधर्मदीप १ - ४५/४६/४७

१८. ''किमिदम् आकाशं खाद्यते! चक्षुर्हि प्रतीत्य रूपाणि ... निर्व्यापारंहि इदं धर्ममात्रं, हेतुफलमात्रं च ... विज्ञानं विजानातीति न अत्र अभिनिवेष्टव्यम्''. अभिधर्मकोश १/४२ (भाष्य).

१९. अभिधर्मकोश - ४/४

२०. द्रष्टव्य - न्याय-वार्तिक-तात्पर्य-टीका, पृ. ६५६, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९८२ विक्रम सं.

२१. ''स्वकारणाद् आत्मप्रकाशनशक्तियुक्तम् उत्पद्यते ज्ञानं तादृशं येन कश्चिदेव अस्य विषयो न सर्वम् इति चेत्''. वहीं, पृ.६५७

२२. ''अपिच चक्षुरादयोऽपि विज्ञानस्य कारणम् इति विषयारूपज्ञानस्य प्रसज्येत्''. वहीं, पृ. ६५६

२३. शेरबात्सिकी - सेन्ट्रल कॅन्सेप्शन् ऑफ बुद्धिज़्म, पृ.५६; तत्वार्थदीपनिबन्ध, पृ.१/७१-७२.

२४. ''तत्र अयं क्रमो : देवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मनः तत्कायार्थं प्रेर्यते. तच्च इन्द्रियप्रेरणाय तत्तदिन्द्रियेण संसृज्यते. तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्ये विषयसंसृष्टैः इन्द्रियैः स्वावच्छिन्ने मनसि पूर्वं निर्विकल्पकम् उत्पाद्यते तदिन्द्रियप्रदेशे बुद्धेः वृत्तिः. ततो बुद्ध्यापि वृत्तिद्वारा तदनुग्रहे सविकल्पकं भवति''. प्रस्थानरत्नाकर, पृ.१४७-४८. सम्पादक : गोस्वामी श्याम मनोहर, प्रकाशक : श्रीवल्लभ विद्यापीठ, कोल्हापुर.

......+......

चर्चा

वैभाषिक दर्शनमें प्रत्यक्षकी अवधारणा
तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य : वाल्लभ वेदान्त

डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा

अच्युतानन्द दाश : डा. शर्माने एक तरहसे अपने आलेखमें वैभाषिकोंके प्रत्यक्षविचारको रीकॅन्स्ट्रक्ट करनेका प्रयास किया है और ऐसा करते हुवे उन्होंने वैभाषिकोंकी प्रमाणशास्त्रीय दृष्टिको अच्छेसे उभारा है. यद्यपि बौद्ध दर्शनके वैभाषिकोत्तर सम्प्रदायोंमें वैभाषिक मतकी खूब आलोचना हुयी है. मेरा प्रश्न सीधे-सीधे यह है कि वैभाषिक सर्वास्तिवादी हैं और इस अर्थमें वे संस्कृत धर्मोंकी पारमार्थिक सत्ताको स्वीकारते करते हैं. संस्कृत धर्मोंका संघात कल्पनामात्र होनेसे आविद्यक है. पुनः वे संस्कृत धर्मोंकी व्याख्या भी दो धरातलपर करते हैं : प्रथम द्रव्यात्मक दृष्टिसे धर्मोंकी त्रैकालिक सत्ता है और दूसरे स्तरपर कारित्रकी दृष्टिसे धर्मोंको क्षणिक माना गया है. अब प्रश्न उठता है कि वैभाषिकोंके प्रत्यक्षके द्वारा धर्मोंकी त्रैकालिकताका ग्रहण होता है अथवा उनके क्षणिकत्वका ?

अम्बिकादत्त शर्मा : दाश बाबुकी इस टिप्पणीसे हम सहमत हैं कि हमने वैभाषिकोंके प्रत्यक्षविचारकी पुनः-रचना की है और यह दिखानेका प्रयास किया है कि प्रत्यक्षविषयक उनकी दृष्टि सर्वास्तिवादी तत्त्वदृष्टिसे कितनी संगत है. परन्तु डा. दाशने जो प्रश्न उठाया है वह महत्त्वपूर्ण है. वस्तुतः

वैभाषिकोंने संस्कृत धर्मोंके क्षणिक स्वरूपको ही ध्यानमें रखते हुवे प्रत्यक्षपर विचार किया है. बादमें सौत्रान्तिकोंने जिस तरह इनके प्रत्यक्ष और क्षणिकत्व में विरोध दिखाते हुवे बाह्यार्थके बदले बाह्यार्थानुमेयवादकी स्थापना की है उससे यह विदित होता है कि वैभाषिक प्रत्यक्षके द्वारा धर्मोंके क्षणिकत्वका ही ग्रहण मानते रहे होंगे, लेकिन् जहां तक धर्मोंके त्रैकालिक अस्तित्व और प्रत्यक्ष की ग्राह्यताका प्रश्न है तो प्रत्यक्षके द्वारा धर्मोंकी त्रैकालिकताका ग्रहण दुष्कर प्रतीत होता है. इसीलिये वैभाषिकोंने धर्मोंकी त्रैकालिकताको सिद्ध करनेके लिये बुद्धवचन और युक्ति प्रस्तुत की है : तदुक्ते द्वयात् सद्विषयात् फलात् इत्यादि.

यज्ञेश्वर शास्त्री : अम्बिकादत्तजीसे मेरा प्रश्न यह है कि भगवत्पाद शंकराचार्यने सर्वास्तिवादके खण्डनके प्रसंगमें यह दिखाया है कि क्षणिक वस्तुका ज्ञान ही नहीं हो सकता तो उसके होनेका प्रमाण ही क्या है? फिर सौत्रान्तिकोंने भी प्रत्यक्ष और क्षणिकत्व में परस्पर विरोध दिखाया है. तब अम्बिकादत्तजीको अपने निष्कर्षपर पुनः विचार करना होगा कि वैभाषिक किस तरह सर्वास्तिवादको अपेक्षाकृत अधिक युक्तिसम्मत प्रमाणमीमांसीय आधार प्रदान करते हैं?

अम्बिकादत्त शर्मा : शास्त्रीजीने शंकराचार्यकी आलोचनाका अच्छा प्रसंग उठाया है. और सौत्रान्तिकोंने वैभाषिक मतकी जैसी आलोचना की है उससे उन्हें प्रतीत होता है कि शंकरकी आलोचनाको बल अथवा समर्थन मिल रहा है जबकि बात ऐसी नहीं है. आचार्य शंकर क्षणिक बाह्यार्थ और ज्ञान में ही विरोध देखते हैं जबकि सौत्रान्तिक क्षणिक बाह्यार्थ और उनके प्रत्यक्षोपलब्धिमें विरोध देखते हैं. हमने अपने आलेखमें ज्ञानोपलब्धि और क्षणिकत्व के विरोधका समाधान करते हुवे दिखाया है कि ज्ञानकी कारणसामग्री और ज्ञेयवस्तु

के बीच जब कालिक अनुक्रममें सम्बन्ध मानते हैं तो क्षणिकत्व और उसके ज्ञेय होनेमें विरोध जायज है. परन्तु द्रष्टव्य है कि वैभाषिक ज्ञानोत्पत्तिकी व्याख्या 'त्रिकसन्निपात'के द्वारा करते हैं. त्रिकसन्निपातकी दृष्टिसे ज्ञानकी कारणसामग्री और ज्ञेय का युगपद् समवधान होता है. अतएव कहा जा सकता है कि शंकराचार्य वैभाषिकोंकी आलोचना करते हुवे उनके मतको उचित रूपसे प्रस्तुत नहीं किया है. अर्थात् ज्ञानकी क्रियामीमांसीय दृष्टिको सामने रख कर क्षणिकत्व और ज्ञान की सम्भावनामें विरोध देखा है. जहां तक वैभाषिकोंद्वारा बाह्यार्थवादी सर्वास्तिवादी दृष्टिके सबल पक्षधर होनेका प्रश्न है तो इसपर भी हमने आलेखमें विस्तारसे विचार किया है. वस्तुतः सर्वास्तिवादी तो सौत्रान्तिक भी हैं लेकिन उनका नित्यानुमेयवाद तथा अन्य सहायक सिद्धान्त सर्वास्तिवादको छोड़ते हुवे और विज्ञानवादकी ओर बढ़ते हुवे प्रतीत होते हैं.

पारसनाथ द्विवेदी : शर्माजीकी सर्वप्रथम हम सराहना करते हैं कि इन्होंने बड़े परिश्रमसे वैभाषिकोंके प्रत्यक्ष-विचारको ठीक ढंगसे उद्घाटित किया है. वस्तुतः सर्वदर्शनसंग्रह इत्यादिमें एतद्विषयक जो कुछ विवेचना मिलती है वह अपर्याप्त है. शर्माजीसे मेरी जिज्ञासा है कि 'विजानाति' पदका योग इन्द्रियसे अथवा विज्ञानसे होता है— इस बातको लेकर सौत्रान्तिक और वैभाषिक आचार्यों के बीच लम्बा विवाद हुवा है और इसका कोई एक निष्कर्ष नहीं निकला. शर्माजी आप इस विषयमें क्या सोचते हैं?

अम्बिकादत्त शर्मा : आप तो गुरुजी मुझे संकटमें डाल रहे हैं! जो विवाद सम्प्रदायके आचार्योंने नहीं सुलझाया, उसे हम क्या सुलझायेंगे?

पारसनाथ द्विवेदी : परवर्ती आचार्योंके प्रमाणचिन्तनमें तो 'विजानाति'

पदके साथ विज्ञानका ही योग पुरस्कृत हुवा है.

अम्बिकादत्त शर्मा : आपका कहना, गुरुजी!, सर्वथा उचित है कि बादके प्रमाणशास्त्रीय चिन्तनमें इन्द्रियकारणवादके बदले ज्ञानकारणवादको ही बौद्धोंने अपना स्वाभिमत बनाया है. परन्तु वैभाषिकोंके बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादके लिये इन्द्रियोंकी ज्ञानके प्रति कारणता ‘‘चक्षुः पश्यति रूपाणि’’ अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होती है. वस्तुतः विज्ञान ही जानता है लेकिन जो जाना जाता है या जाना जा रहा है, वह है रूपका विज्ञान अथवा रसका. इसका परिच्छेद तो इन्द्रियोंसे ही सम्भव है. यदि परिच्छेद्यताको ज्ञानके लिये साधकतम माना जाय तो इन्द्रियोंकी भूमिकाको गौण नहीं बनाया जा सकता. परवर्ती सम्प्रदायोंमें भी इन्द्रियोंके तटस्थ द्वारिभावको स्वीकार किया गया है. वैभाषिक विज्ञानकी साकारताके इन्द्रियोंकी साकारताको ही स्वीकार करते हैं और उनके मतमें ज्ञान निराकार है. ये दोनों बातें संयुक्तरूपसे वैभाषिकोंके बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादके लिये अति आवश्यक हैं.

के.ई.देवनाथन : वैभाषिक यदि ज्ञानकी परिच्छेद्यतामें इन्द्रियोंकी भूमिकाको साधकतम मानते हैं तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आवश्यक होगा. परन्तु बौद्ध मतमें इन्द्रियोंको अप्राप्यकारी माना गया है. इसी कारणसे वे न्यायाभिमत नियम इन्द्रियोंके प्राप्यकारित्वका खण्डन करते हैं.

अम्बिकादत्त शर्मा : देवनाथनजी! आप न्यायवासन-वासितरूपमें बौद्धोंके पक्षको समझनेका प्रयास कर रहे हैं. वस्तुतः ज्ञानोत्पत्तिकी व्याख्या जब त्रिकसन्निपातके द्वारा की जाती है तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष माननेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती. बहुधा लोग ऐसा मानते हैं कि इन्द्रियार्थसन्निकर्षके बिना ज्ञानोत्पत्ति हो ही नहीं सकती. जबकि आस्तिकपरम्परामें भी बादमें इन्द्रियार्थसन्निकर्षकी धारणाका प्रबल विरोध हुवा है. फिर

यह भी आवश्यक नहीं कि इन्द्रियोंकी प्राप्यकारिता इन्द्रियार्थसन्निकर्ष-पूर्वक ही होती है. अद्वैतवेदान्तमें आदि दर्शनोंमें विषयदेशमें ही विषयका ग्रहण होता है और इस तरह प्राप्यकारित्वकी उच्च प्रतिष्ठा होती है लेकिन फिर भी इन दर्शनोंने न्यायसम्मत इन्द्रियार्थसन्निकर्षका खण्डन किया है और बदलेमें इन्द्रियोंका योग्यतामूलक सम्प्राप्तग्राहित्व और असम्प्राप्तग्राहित्व को स्वीकार किया है. शान्तरक्षितने एतद्‌विषयक विवादका उपसंहार करते हुवे एक सुन्दर टिप्पणी की है कि दूर तक विचार करनेपर इन्द्रियार्थसन्निकर्ष माननेपर भी इन्द्रियोंकी योग्यताका पक्ष स्वीकार ही करना पड़ता है. अब इन्द्रियोंकी योग्यतामात्रसे ही प्रत्यक्षकी व्याख्या हो जाती हो तो पुनः इन्द्रियार्थसंनिकर्षको मानना एक तरहका अनावश्यक अतिरेक अभ्युपगम ही है.

मंगला चिंचोरे : अम्बिकादत्तजीने प्रत्यक्षका जैसा निरूपण किया उससे मेरे मनमें एक प्रश्न बनता है कि वैभाषिकोंका भ्रमविषयक सिद्धान्त क्या होगा? इन्हें 'असत्ख्यातिवादी' भी नहीं कहा जा सकता और बाह्यार्थवादी होनेके कारण इन्हें आत्मख्यातिवादिओंके अन्तर्गत भी नहीं रखा जा सकता.

अम्बिकादत्त शर्मा : मंगलाजी! आपने बहुत अच्छा और सटीक प्रश्न उठाया है. वस्तुतः पूरे भारतीय दर्शनमें जहां भी ख्यातिपर विचार किया गया है. वहां बाह्यार्थवादी बौद्धोंकी ख्यातिका विचार नहीं किया गया है. ऊपरि तौरपर ऐसा लगता है कि वैभाषिक चूंकि बाह्यार्थवादी हैं, इसलिये ख्यातिके सन्दर्भमें उनका मत अन्यथाख्यातिवादीकी तरहका होना चाहिये. वाचस्पति मिश्रने भामतीमें एक जगह संकेतमात्र किया है कि वैभाषिक-सौत्रान्तिक सम्प्रदायका ख्यातिविचार भी आत्मख्यातिमें अन्तर्भूत हो जाता है. यद्यपि आचार्यप्रवरने मिश्रने इस अन्तर्भावका खुलासा नहीं किया है, फिरभी

मुझे उनकी टिप्पणी बहुत समीचीन प्रतीत होती है. बाह्यार्थवाद और स्थैर्यवाद साथ-साथ माननेपर अन्यथाख्याति उसकी सगोत्रीय किसी अन्यविध ख्यातिकी निष्पत्ति होती है, लेकिन वैभाषिक बाह्यार्थवादी तो हैं परन्तु स्थैर्यवादी नहीं हैं. अतः उनके मतमें ख्यातिका अधिष्ठान और विषय बाह्यार्थ नहीं हो सकता. क्षणिक वस्तु ज्ञानका आलम्बन तो है लेकिन भ्रमात्मक ज्ञानका वैसा ही अधिष्ठान नहीं क्योंकि ''जन्मदेशे एव च्युतिः'' उसका स्वभाव है. वैभाषिक मतमें क्षणिक आलम्बनका सारूप्य इन्द्रियां ग्रहण करती हैं, एतदर्थ उन्हें इन्द्रियोंकी साकारता मान्य है. अब इन्द्रियों द्वारा इन्द्रिय इन्द्रियदोषके चलते सारूप्यका अन्यथाग्रहण भी हो सकता है और तब दोषपूर्ण सारूप्य विकल्पित हो कर आत्मनिष्ठ रूपसे ही बाह्यतया प्रक्षेपित होगा क्योंकि वह आलम्बन क्षण जिसका दोषपूर्ण सारूप्य इन्द्रियग्राह्य हुवा, वह तो निरुद्ध हो चुका है. इस तरहसे बाह्यार्थवादी बौद्धोंकी ख्यातिको आत्मख्यातिकी गोत्रकी 'विकल्पख्याति' भी कहा जा सकता है.

......+......

संगोष्ठ्युत्तरलेखन

गो.श्या.म.

डॉ. श्रीअम्बिकादत्त शर्माजीके साथ जबसे इन विद्वद्गोष्ठियोंके माध्यमसे परिचय हुवा तबसे ही इनके बौद्ध आदि अनेक दर्शनोंके गहरे अभ्यास और उन दार्शनिक अवधारणाओंपर इनकी अपनी अनूठी पकड़को सुननेकी-जाननेकी उत्कण्ठा बनी ही रहती है.

स्वाभाविकतया वैभाषिक और वाल्लभ मतोंकी प्रत्यक्षसम्बन्धी अवधारणाओंके तुलनात्मक विमर्शका प्रसंग उपस्थित होनेपर शर्माजीकी सूझ सबसे पहले आनी स्वाभाविक ही थी. और हम देख सकते हैं कि वैभाषिकोंके प्रत्यक्षसम्बन्धी चिन्तनको कितने तलस्पर्शी विवेचन द्वारा शर्माजीने उभारा! तदर्थ विचारगोष्ठीमें सभी सहभागी निश्चयेन उपकृत हुवे हैं.

दुर्भाग्यवश विचारगोष्ठीके समय बिजलीके गुल हो जाने तथा टेपरेकॉर्डरके भी खराब हो जानेसे शर्माजीके आलेखपत्रपर हुयी चर्चा रेकॉर्ड नहीं हो पायी. अतः अपनी स्मृतिके आधारपर जो कुछ श्रीअम्बिकादत्तजी पुनः प्रस्तुत कर पाये उसे यहां संलग्न किया गया है. इसकी शब्दानुपूर्वी चाहे वैसी हो कि न हो पर ऐसे ही मुद्दोंपर चर्चा हुयी थी, ऐसा तो लिखित चर्चाविवरणको पढ़नेपर प्रतीत होता ही है.

स्मृतिके आधारपर लिखित इस चर्चाविवरणके उपसंहारमें श्रीअम्बिकादत्तजीने ऐसा स्नेहाग्रह रखा कि मैं भी इस विषयमें कुछ लिखुं. तदनुसार आलेखपत्रमें छेड़े गये मुद्दोंपर कुछ बातें लिखना चाहुंगा.

वैभाषिक और वाल्लभ प्रत्यक्षप्रक्रियाकी तुलनात्मक विवेचनाके हेतु उद्यत होनेसे पहले सार्थक निष्कर्षार्थ श्रीअम्बिकादत्तजीने कुछ प्रागपेक्षा या निकष प्रस्तावित किये हैं : "...**सार्थक तुलना वहीं सम्भव होती है जहां तुलनीयोंके मध्य कुछ मूलगामी समानताएं हों अर्थात् तुलनीय पदार्थ कमसे कम एक ही मूलपर अधिष्ठित होकर अपनी पारस्परिक विभिन्नताओंको अवाप्त किये हुवे हों**". इस बारेमें मेरी रुझान और तुलनात्मक अध्ययनकी धारणा तनिक भिन्न है. वह कितनी प्रामाणिक हैं या कितनी फलवती है, यह तो कह पानेको समर्थ नहीं हुं. फिर भी श्रीअम्बिकादत्तजी कथमपि पराये नहीं लगते होनेसे मेरी विपरीत बात निःसंकोच लेखबद्ध अवश्य कर देना चाहता हुं.

मेरी समझमें तुलनात्मक अध्ययनकी उल्लिखित या ऐसी अन्य भी

कुछ प्रागपेक्षायें *विवेचकाः खलु एवं विवेचयन्ति नतु प्रतिपत्तारो लोके एवं प्रतीयुः''* कहावतको चरितार्थ करती हैं. मुझे लगता है कि हमारे मस्तिष्कमें सार्थक तुलनात्मिका बुद्धिवृत्तिके मूल इससे कहीं अधिक गहरे होने चाहिये.

किन्हीं दो पदार्थों या चिन्तनों के बारेमें तुलनात्मक विमर्श करना हो तो निःशंक ही उन दो पदार्थों या चिन्तनों के हमारे मनमें अवधारणात्मक प्रत्ययोंके उभरे बिना वह सम्भव नहीं हो पाता. वैसे तो मनमें अगणित प्रत्ययोंका भण्डार भरा हुवा रहता ही है परन्तु उस भण्डारमें से जब किन्हीं दो प्रत्ययोंको चुन कर हमारी बुद्धि एक-दूसरेके पास जमाती (juxtapose) है तो सबसे पहले उन दो प्रत्ययोंका द्वन्द्व हमारी बुद्धिमें अवभासित होता है. ''**चार्थे द्वन्द्वः**'' (पाणि.सू.२।२।२९) सूत्रद्वारा 'च'कारार्थरूप समुच्चय अन्वाचय इतरेतरयोग और समाहार में से अन्तिम दो अर्थोंमें द्वन्द्वसमासको पाणिनि वैध मानते हैं. वह समासघटक वस्तुद्वन्द्व भी किस-किस प्रकारके उदाहरणोंमें हमारे वाग्व्यवहारमें अभिव्यक्त होता है, यह भी पाणिनिने सूत्रित किया है. उदाहरणतया, 'धर्म-अर्थ' 'जाया-पति' 'गो-व्याघ्र' या 'होता-पोता' आदि-आदि वस्तु व्यक्ति गुण कर्म सामान्यधर्म आदिके बीच हमारी बुद्धि इतरेतरयोग या समाहार की अनुभूति करती है. पाणिनिने ऐसी गवेषणाके द्वारा तुलनीय प्रत्ययोंके बुद्धिमें उद्‌भव तथा वाग्व्यवहारमें उनके शब्दप्रयोग के नियमोंपर हमारा ध्यान इदम्प्रथमतया आकृष्ट किया. अतः वस्तुओं या व्यक्तिओं के प्रत्ययोंके मानसिक द्वन्द्वभावापन्न होनेकी प्रक्रिया मुझे लगता है कि सारे तुलनात्मक विमर्शका परममूल है. इसका विकास बादमें तर्कोदाहरण, सौन्दर्यादि-अनुभूतिके उदाहरण; इसी तरह प्रत्यभिज्ञानके उदाहरण आदि अनेक रूपोंमें विकसित होता है.

वादात्मिका चर्चाकी मनोवृत्तिके वश परार्थानुमानमें उलझे भारतीय चिन्तकोंने न्यायसूत्रकारके ''**लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन् अर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः**'' (गौ.न्या.सू.१।१।२५) वचनमें प्रतिपादित तर्कोदाहरणको विचारयात्राके इस आरम्भबिन्दुसे प्रतिज्ञावचनके साथ तुलनीय व्याप्ति-उदाहरण पर्यन्त बड़ी लम्बी

दूरी तै कर के "**यो-यो धूमवान् स-स वह्निमान् इति उदाहरणम्**" (तर्कसं.अनु.परि.) गन्तव्य तक पहुंचाया. एतावता लौकिक परीक्षकोंकी किन दो अर्थोंमें बुद्धिसाम्य है यह जाननेकी अपेक्षा क्षीणप्राय हो गयी. क्योंकि व्याप्तिस्वरूप जिसके आधारपर पक्ष और सपक्ष तुलनीय हो सकते हैं उसने स्वयं इतना जटिल रूप धारण कर लिया कि लौकिक पुरुषोंके लिये व्याप्तिका स्वरूप समझ पाना भी एक दुर्बोध व्यायाम हो गया. तो उसके आधारपर पक्ष-सपक्षोंकी तुलना तो बहुत दूरतरवर्ती पदार्थ हो जाते हैं. परिणामस्वरूप ऐसे आदर्शोंसे प्रेरित होनेके कारण दो दर्शनोंके तुलनात्मक चिन्तनसे भी हमारी अपेक्षायें हमने अति तर्ककठोर घड़ ली हैं.

स्वतःस्फूर्त आन्तर तुलनात्मक बौद्धिक व्यापार तो, जबकि, वस्तुतः ऐसी प्रागपेक्षाओंके बिना भी न जाने कितनी बाह्य जगत्की सूचनाओंका अध्यवसाय करता है, उनका संचय करता है, इसी तरह परिकलन, वर्गीकरण, साधर्म्य-वैधर्म्यनिर्धारण, परिभाषा; एवं, उपनयात्मक (inductive) या निगमनात्मक (deductive) निष्कर्ष भी निकालता ही रहता है!

अतएव तुलनात्मक चिन्तनकी एकदम प्राथमिक प्रयोगान्वितिकी अन्वेषणा करनी हो तो हमें द्वन्द्वसमास एवं कर्मधारयसमास कहां-कहां होते हैं, उस बारेमें मानवकी बौद्धिक अवधारणाओंको पाणिनिने कैसे सूत्रबद्ध किया है, यह पहले खोज करनी चाहिये. क्योंकि इतरेतरके कार्य या कारण, प्रयोज्य या प्रयोजन, सहभावी या असहभावी, सदृश या विसदृश, सजातीय या विजातीय, इतरेतरके विरोधी या अविरोधी आदि अनेक निकषोंके अनुरोधवश हम किन्हीं दो वस्तुओंको द्वन्द्वके रूपमें बुद्धिसे अवधारित करते हैं. अतएव ये दोनों समास सारे तुलनात्मक प्रत्ययोंके बीजभाव सदृश बौद्धिक अवग्रह होते हैं. इनमें कहीं एकमूलकता तो होती है तो कहीं अनेकमूलता भी. वस्तुओंके द्वन्द्वभावापादक बौद्धिक प्रत्ययसे थोड़ा और आगे बढ़नेपर अलंकारशास्त्रोक्त "**साधर्म्यम् उपमा भेदे**" सदृश उपमा रूपक प्रतीप व्यतिरेक आदि अर्थालंकारोंके प्रत्यय भी उभरते ही हैं. इन्हें काव्यांग होनेके कारण केवल काव्यसाहित्योपयोगी

मान कर किसी भी तरहके गम्भीर यौक्तिक निष्कर्षमें सर्वथा अनुपयोगी मान लेना, बुद्धिके उत्स्फूर्त तुलनात्मक व्यापार या प्रत्ययों के उत्सके अस्वीकारमें पर्यवसित होगा.

अपने स्वाभाविक उत्ससे तौलनिक प्रत्ययोंके उभरनेके बाद तार्किक निष्कर्षोंकी अवाप्तिके हेतु तुलनीय सादृश्य किन्हीं दो पदार्थोंके या चिन्तनोंके बीच स्वाभाविक या औपाधिक हो सकता है.

यदि स्वाभाविक हो तो वह सादृश्य इतरनिरपेक्षस्वभावानुरोधी भी हो सकता है अथवा इतरसापेक्षस्वभावानुरोधी भी.

यदि वह सादृश्य औपाधिक हो तो वह उपाधि जैसे ज्ञेयवस्तुसमवहित हो सकती है वैसे ही ज्ञानोपकरणसमवहित अथवा ज्ञातृसमवहित भी. यह भी औपाधिक सादृश्यके बारेमें विचारणीय होना चाहिये.

कभी ज्ञाताके भीतर रही ज्ञानेतर वृत्तिओंकी प्रबलताके वश भी सादृश्यानुभूति विचारप्रकियापर भावारोपित हो जाती है. ऐसा होनेपर बुद्धिमें प्रकट होते तुलनात्मक प्रत्यय तार्किक निष्कर्षार्थ अनुपयोगी माने जा सकते हैं.

उपमानोपमेयभावघटित अवधारणावधारणीयभावघटित पदोंके द्वन्द्वैकवद्भावमें उपमान और रूपक के अनुरूप तुलनात्मक प्रत्यय अवधारित होते पाये जाते हैं. आपाततः इन व्याकरणशास्त्रीय और अलंकारशास्त्रीय बुद्धिकी तुलनात्मक अवधारणाओंके आधारपर यौक्तिक निष्कर्ष निकाल पाना दुष्कर माना जा सकता है. फिरभी यौक्तिक निष्कर्षोंके उदाहरणोंमें भी साजात्य या सादृश्य को वस्तुधर्म न मान कर बुद्धिधर्म माननेवाले चिन्तकोंके मतमें तो तादात्म्य और तदुत्पत्ति रूप व्याप्तिसम्बन्ध भी वस्तुका अकल्पित स्वरूप नहीं माना गया. अतः परार्थानुमितिके पञ्चावयववाक्यीय उदाहरणका भी अलंकारशास्त्रीय उदाहरणसे अधिक तार्किक मूल्य प्रकट नहीं हो पाता है ! अतएव 'तुलनात्मक दर्शन' नामक ग्रन्थ जब श्रीअम्बिकादत्तजीने मुझे स्नेहोपहारके रूपमें भेजा तो मुझे भी इस दिशामें कुछ विचार करनेको विवश होना पड़ा. उस समय जो एक तालिका मैंने

तुलनात्मक अध्ययनकी बनायी उसे यहां केवल प्रस्तुत करना चाहुंगा :

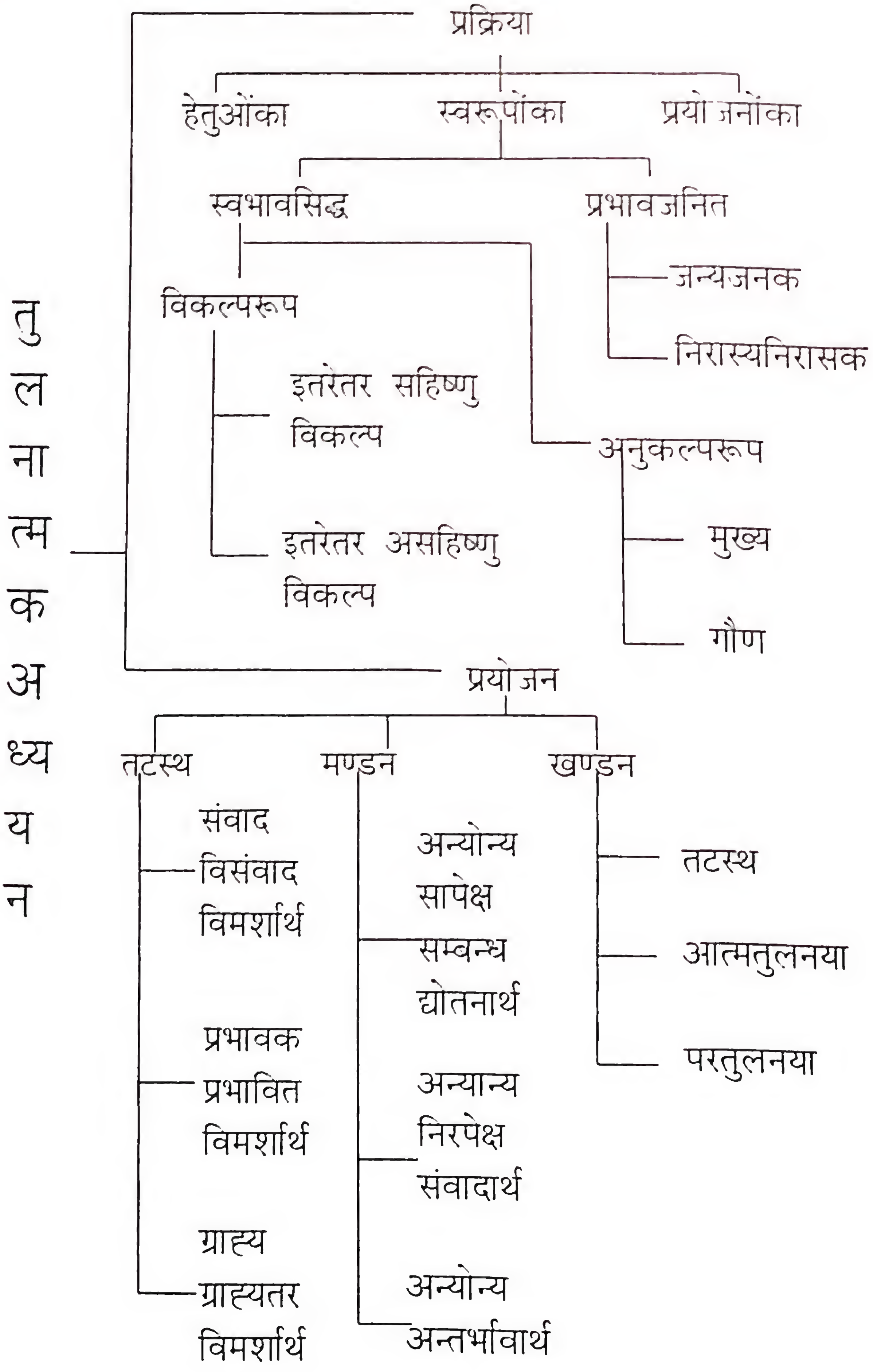

तुलनात्मक विमर्शके इन अनेकविध प्रकारोंमें समानमूलके अथवा विभिन्नमूलके किन्हीं दो चिन्तनोंमें मुक्तमनसे तुलनात्मक विमर्श शक्य होनेसे वैभाषिक प्रत्यक्षप्रक्रिया और वाल्लभ प्रत्यक्षप्रक्रिया का तुलनात्मक विमर्श सहज ही हो सकता है.

अतः शर्माजी जब यह विधान करते हैं कि वैभाषिक मतमें प्रत्यक्षज्ञान प्रमाताकी इच्छा/सामर्थ्यसे घटित होनेवाली घटना है जबकि वाल्लभ मतमें इन्द्रियां स्वसामर्थ्यसे अपने-अपने विषयोंका प्रत्यक्ष नहीं करती बल्कि ''भगवदिच्छैव सर्वे पश्यन्तु''वाली नीति यहां है. तो वाल्लभ मतकी दृष्टिसे दोनों प्रक्रियाओंके तुलनात्मक पक्षोंके बारेमें यह स्पष्ट करना चाहुंगा कि यह बात अर्धांशमें सही है और कुछ अपूर्ण भी. क्योंकि वाल्लभ. मतमें ब्राह्मिक अद्वैत जागतिक द्वैतको मिथ्या नहीं मानता. ब्रह्मरूप अंशीकी लीलात्मिका 'अर्थक्रियाकारिता' जड़रूप अंश आंशिकी अर्थक्रियाकारितासे रहित नहीं होते और न जीवरूप अंश निजी आंशिक ज्ञान इच्छा या यत्न के सामर्थ्यसे रहित.

वहां वैभाषिक मतमें यदि प्रत्यक्षज्ञानकी घटना ब्रह्मसदृश सर्वव्यापी प्रतीत्यसमुत्पादसे नियत है तो यहां वाल्लभ मतमें ब्रह्म भी काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषके प्रतीत्यसमुत्पादसदृश अनेकद्वारभूत करणसामग्री द्वारा ही प्रत्येक जागतिक क्रिया या ज्ञप्ति का जनक होता है. अतएव भगवान् गीतामें स्वयं अपने और स्वांश जीवात्मा के कर्तृत्वका स्वरूप समझाते हुवे कहते हैं **''चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः तस्य कर्तारमपि विद्धि अकर्तारम् अव्ययं'', ''प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः अहंकारविमूढात्मा कर्ता अहम् इति मन्यते'', ''न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते''** (भग.गीता.४।१३ , ३।२७ ५।१४). भगवान् भी अनेक करणसामग्रिओंको जुटा कर ही लीलाके स्वभाववश कुछ होने देते हैं. इसी अर्थमें कर्ता भी होते हैं अकर्ता भी. इसी तरह उनका अंशरूप जीव भी. दोनोंके बीच अन्तर तब केवल इतना ही है

कि सर्वज्ञ सर्वोपादान परमात्मा अपने द्वारा घटित होते कर्ममें कर्तृत्वमोहसे ग्रस्त नहीं होता, आत्मभिन्न पूर्वसिद्ध हेतुके अभाववश. जबकि असर्वज्ञ जीवात्मा तो स्वयं अपने पञ्चमहाभूतोंके संघातरूप शरीरका धारक होनेपर भी उपादान नहीं होता फिरभी कर्तृत्वमोहसे ग्रस्त हो जाता है. अपने शरीरको निजकर्मोंका विपाक मान लेता है!

स्वयं प्रतीत्यसमुत्पादवाद भी एक तरहके अकठोर लीलात्मक कार्य-कारणभावका अनुभावक लगता है. इसी तरह भगवल्लीलात्मक कार्य-कारणभाव भी असत्कार्यवादी अथवा आरम्भवादी कठोर नियतपूर्ववृत्तिताके बजाय निजान्तर्निहितके ही बहिराविर्भावरूप अकठोर कार्य-कारणभावका अनुभावक होता है. प्रतीत्यसमुत्पादकी नियतिमें जैसे ज्ञाता ज्ञेयाभिमुख होनेमें शतप्रतिशत न तो निज स्वातन्त्र्यवश समर्थ हो पाता है और न शतप्रतिशत असमर्थ ही. ऐसे ही भगवल्लीलावादमें भी ज्ञाता ज्ञानोत्पत्ति इच्छोत्पत्ति यत्नोपत्तिमें अथवा फलोत्पत्तिमें भी, न शतप्रतिशत समर्थ होता है और न शतप्रतिशत असमर्थ ही. अतएव भगवद्गीतामें भगवान् स्वयं यह कहते हैं **''प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः अहंकारविमूढात्मा 'कर्ता-अहम्' इति मन्यते'', ''अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधं विविधाः च पृथक्चेष्टा दैवं चैव अत्र पञ्चमम्. तत्र एवं सति आत्मानं कर्तारं केवलस्तु यः पश्यति अकृतबुद्धित्वात् न स पश्यति दुर्मतिः''** (भग.गीता.३।२७, १८।१४) इस सूचिमें क्रियाजनक ज्ञानजनक सामग्रिओंका शब्दान्तरमें प्रतीत्यसमुत्पाद नही तो अन्य क्या प्रतिपादित हुवा? अतएव केवल जीवात्माके कर्ता या ज्ञाता होनेके मनोभावकी 'दुर्मति'के रूपमें निन्दा भी की गयी है.

वाल्लभ मतमें निर्विकल्पज्ञानगोचर सन्मात्र है जबकि वैभाषिक मतमें विविक्त स्वलक्षण, इतने अंशोंमें दोनोंके मतोंके बीच थोड़ी-बहुत सदृशता खोजी भी जा सकती हो परन्तु सविकल्पज्ञानके स्तरपर वाल्लभ मतमें प्रत्यक्षका सातत्य स्वीकृत है. जबकि वैभाषिक मतमें वहां मानस विकल्पोंकी संरचनाका जाल छा जाता है. शर्माजी कहते हैं ''प्रतीत्यसमुत्पाद कोई

ईश्वर - निमित्तक नियम नहीं बल्कि एक सांयोगिक निमित्तवाद है'', इस विषयमें मुझे ऐसा लगता है कि विकल्प तो वाल्लभ मतमें भी मनसा ही योजित होते हैं परन्तु वे ज्ञाताकी कल्पनासे जन्य न हो कर ज्ञेयधर्म और ज्ञातृधर्म का एक तरहका प्रतीत्यसमुत्पाद/सांयोगिक निमित्तोत्पाद होनेपर भी बाह्याभ्यन्तर उभयत्र तिरोहित (potentiality) का आविर्भाव (manifestation)है.

इसके अलावा वाल्लभ मतमें प्रमाके स्वरूपमें आत्मनिष्ठाका अप्रवेश भ्रमके की मीमांसामें उसे अन्यख्यातिवादी बनाता है, इस विधानके बारेमें मुझे यह कथनीय है कि ऐसा 'अन्य' निर्विकल्पज्ञानगोचर अधिष्ठानसे भिन्न होनेकी विवक्षावश है नकि अधिष्ठानसे भिन्न बाह्यदेशस्थ अन्यकी विवक्षावश, क्योंकि अन्यख्यातिमें 'अन्य'तया अभ्युपगत अर्न्तजगत्‌में वस्तुतः विद्यमान परन्तु बहिप्रक्षिप्त होनेके रूपमें मिथ्यावभासित होने लगता है.

इस तरह देखनेका प्रयास करें तो विभिन्नमूलवाले इन दोनों दर्शनोमें भी साधर्म्यविमर्शात्मिका तुलनीयता की तरह वैधर्म्यविमर्शात्मिका तुलनीयता को भी जान लेनेपर, दोनों मतोंकी आंशिक संवादिताके प्रत्यभिज्ञानका मार्ग प्रशस्त हो पाता है.

पुनश्च श्रीअम्बिकादत्तजीके तलस्पर्शी विचारके अनुभावक आलेखपत्रकी प्रस्तुतिके कारण प्रस्तुतिकर्ताको भूरिशः अभिनन्दनके साथ...

प्रत्यक्षे वल्लभसौत्रान्तिकमतयोः विमर्शः

प्रा. पारसनाथ द्विवेदी

चत्वारो बौद्धाः भवन्ति : वैभाषिकाः, सौत्रान्तिकाः, योगाचाराः, माध्यमिकाः च इति.

तत्र कात्यायनीपुत्रप्रथितज्ञानप्रस्थानव्याख्यानभूत 'विभाषा' ख्यविपुलग्रन्थम् उपजीव्य यथायोग्यं प्रत्यक्षानुमेयबाह्याभ्यन्तरास्तित्ववादिनो वैभाषिकाः.

सिद्धान्तचरमरहस्यप्रतिपादकसूत्रपिटकम् उपजीव्य तेनैव चरन्तः सर्वास्तित्ववादिनः परन्तु बाह्यार्थाः अनुमेयाः इति वदन्तः सौत्रान्तिकाः.

योगानां सप्तदशभूम्यभ्यासपटवः तथा चरन्तो विज्ञानमेव सत् न बाह्याः पदार्थाः प्रत्यक्षाः अनुमेयाः वा सन्ति इति वदन्तो योगाचाराः विज्ञानवादिनः.

योगानां सप्तदश भूमयः

(१) विज्ञानभूमिः, विवेकविज्ञानाद् विरतिकारिणी.
(२) मनोभूमिः मननाद् निश्चयकारिणी.
(३) सवितर्का सविचारा स्थूलसूक्ष्मावगाहनाद्.
(४) अवितर्का सविचारा सूक्ष्मार्थध्याननैपुण्यात्.
(५) अवितर्का अविचारा चेतनमात्रध्यानात्.
(६) समाहितभूमिः चित्तसमाधानात् ऐकाग्र्याढ्या.
(७) असमाहिता यत्नेन विना समाधानात्.
(८) सचित्ता 'अहं ध्यायामि' इत्येव ज्ञानयुता.

(९) अचित्ता चित्तानुभवं विनापि ज्ञानधारामात्रा.
(१०) श्रुतमयी बुद्धादेशश्रवणप्रधाना.
(११) चिन्तामयी तदुपदेशचिन्तनात्.
(१२) भावनामयी श्रवणमननसहितसमाधानरूपा.
(१३) श्रावकभूमिः निर्वाणमार्गाधिरोहात् (स्त्रोतापन्नः, सकृदागामी, अनागामी भवति).
(१४) प्रत्येकबुद्धभूमिः अर्थानां स्वतः स्फुरणात्.
(१५) बोधिसत्त्वभूमिः परमकल्याणप्राविण्याद्.
(१६) सोपाधिकबुद्धिभूमिः परदुःखप्रहाणेच्छासत्त्वात्.
(१७) निरुपाधिकबुद्धभूमिः परमोपशमरूपनिर्विकल्पकनिर्वाणप्राप्तेः.

—एवं सप्तदशयोगभूमिम् आहरन्तो योगाचाराः.

बाह्यान्तरसर्वशून्यत्ववादिनो वाङ्मनसातीतं परमार्थतत्त्वं सांवृतिकं विश्वम् इति वदन्तः शून्यवादिनः मध्यममार्गाश्रितत्वाद् माध्यमिकाः.

तत्र चतुर्ष्वपि बौद्धेषु सौत्रान्तिकमते प्रत्यक्षचर्चा वल्लभमतसापेक्षा प्रस्तुता अस्मिन् निबन्धे.

सौत्रान्तिकाअपि वैभाषिकमतवत् पदार्थान् मन्यन्ते. तथाहि बाह्यम् आन्तरं च जगत्. भूतभौतिकं बाह्यं चित्तचैत्तं च आन्तरम्.

भूतं पृथिव्यादयो धातवो अणुरूपाः, भौतिकं रूपादयः चक्षुरादयः च अणवः पृथिव्यादिभावेन संहन्यन्ते. अयम् अणुहेतुको भूतभौतिकसमुदायः, तथा रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञकाः पञ्चस्कन्धाः तेऽपि अध्यात्मं सर्वव्यवहारास्पदभावेन संहन्यन्ते. अयं स्कन्धहेतुकः समुदायः. सविषयाणि इन्द्रियाणि रूपस्कन्धः. यद्यपि रूप्यमाणाः पृथिव्यादयो बाह्याः तथापि कायस्थत्वाद् इन्द्रियसम्बन्धाद् वा भवन्ति आध्यात्मिकाः. विज्ञानस्कन्धः

'अहम्' इत्याकारो आलयविज्ञानं रूपादिविषयं प्रवृत्तिविज्ञानं च प्रवाहापन्नम्. वेदनास्कन्धः प्रियाप्रियविषयस्पर्शे सुखदुःखाद्यवस्था चित्तस्य. संज्ञास्कन्धः संज्ञासंसर्गयोग्यप्रतिभासः सविकल्पप्रत्ययः, यथा डित्थः कुण्डली गौरः ब्राह्मणः इत्यादिः. संस्कारस्कन्धो रागादयः क्लेशाः, मदमानादयः उपक्लेशाः धर्माधर्मौ च. एवं समुदायद्वयात्मकं सर्वं जगत् संस्कृतं क्षणिकं प्रत्यक्षानुमेयं सौत्रान्तिकमते बाह्यार्थो अनुमेयः. एतत् क्षणिकं जगत् दुःखहेतुकत्वात् मास्रवं दुःखरूपः, उत्पत्तिमत्वाद् भवरूपः, लोक्यमानत्वात् 'लोकः' इति उच्यते. सच अयम् उभयविधः समुदायः प्रतीत्यसमुत्पादः, हेतुप्रत्ययं प्रतीत्य समुत्पन्नो न ईश्वरनियत्यादिकृतः. आकाशः प्रतिसंख्यानिरोधो अप्रतिसंख्यानिरोधः च अभावरूपो असंस्कृतो अक्षणिको अनास्रवः. निर्वाणोऽपि असंस्कृतः.

तथा अविद्यादयो द्विविधसमुदायाक्षेपकाः वर्ण्यन्ते - अविद्या, संस्कारः, विज्ञानं, नामरूपं (शरीरस्य कललाद्यवस्था), षडायतनं (इन्द्रियाणि), स्पर्शः, वेदना, उपादानं, भवः (स्कन्धप्रादुर्भावः), जातिः, जरा, शोकः, परिवेदना, दुःखं दौर्मनस्यम् इत्येवं समासव्यासरूपेण पदार्थाः निर्दिष्टाः. तत्र यावद् अविद्या न निवर्तते तावद् संस्कारादयो न निवर्तन्ते. इमे भावाः घटीयन्त्रवद् अनिशम् आवर्तमानाः सन्ति इति संक्षेपः.

प्रमाणविमर्शः :

अथ इदानीं सौगतसमये प्रमाणविचारः प्रस्तूयते. तत्र प्रमाकरणं प्रमाणं, ''प्रमीयते अनेन'' इति व्युत्पत्तेः. प्रमा च सम्यग् ज्ञानम्. अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग् ज्ञानम्. ज्ञाने सम्यक्त्वम् अविसंवादकत्वं वा स्वप्रदर्शितार्थप्रापकत्वं यथार्थत्वं वा, यथार्थत्वं नाम अर्थम् अनतिक्रम्य विद्यमानत्वम्. लोके च पूर्वप्रदर्शितम् अर्थं प्रापयन् 'संवादकः' उच्यते. ज्ञानमपि स्वयं प्रदर्शितम् अर्थसंवादकम् उच्यते. ज्ञानस्य प्रापकत्वं नाम स्वप्रकाशिते अर्थे प्रवर्तकत्वम्, तच्च प्रवृत्तिविषयप्रकाशकत्वम्. नहि बलादेव ज्ञानम् अर्थे प्रवर्तयत्येव. अर्थाधिगतिः प्रमाणफलम्. अधिगते च अर्थे प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितः च अर्थः प्रमाणेन. एतदधिकन्तु किं ज्ञानेन कार्यम्! ज्ञानस्य अर्थप्रकाशः

तद्द्वारा प्रवृत्तिः वा कार्यम्. यदि च प्रमाणान्तरेण अर्थप्रकाशो जातः तदा तम् अर्थं प्रकाशयद् ज्ञानं न प्रमा भवति. तादृशेन ज्ञानेन नाधिकं किञ्चित् कृतं पूर्वज्ञानकृतात्. तस्माद् अधिगतविषयकज्ञानम् अप्रमाणम्. तथाच अनगधिगताबाधितविषयकज्ञानत्वं प्रमात्वम् इति स्थितम्.

प्रत्यक्षविमर्शः :

प्रतिगतम् अक्षं प्रत्यक्षम्. ''**अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया**'' इति वार्तिकेन समासे प्रत्यक्षम् अक्षाश्रितं ज्ञानम्. अथवा ''अक्षिणी प्रति'' इति विग्रहे लक्षणेन ''**अभिप्रत्याभिमुख्ये**'' (पा.सू.२।१।१४) इति सूत्रेण समासे ''**प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः**'' (पा.ग.सू.१४८) इति गणसूत्रेण टचि 'प्रत्यक्षम्' इति रूपम्. तत्पुरुषसमासपक्षे न परवल्लिंगं, ''**द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्व-गतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः**'' (वा.१५।४५) इति वार्तिकेन निषेधात्. 'प्रत्यक्ष'शब्दो विशेष्यनिघ्नो, अतः सएव समासो युक्तः. अव्ययीभावपक्षेतु 'प्रत्यक्ष'शब्दस्य नेत्राभिमुख्यम् अर्थः प्रत्यक्षं घटो नेत्राभिमुख्यं घटस्य इति अर्थः.

एतच्च अक्षाश्रितत्वं अक्षाभिमुख्यं वा 'प्रत्यक्ष'शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं नतु प्रयोगनिमित्तम्. अन्यथा मानसादिप्रत्यक्षे एतन्निमित्ताभावात् प्रत्यक्षत्वं न स्यात्. तस्मात् साक्षात्कारिज्ञानत्वं 'प्रत्यक्ष'पदप्रवृत्तिनिमित्तं बोध्यम्.

तत्र न्यायबिन्दौ आचार्येण धर्मकीर्त्तिना ''**कल्पनापोढम् अभ्रान्तं प्रत्यक्षम्**'' इति उक्तम्. प्रत्यक्षं साक्षात्कारिज्ञानं कल्पनापोढम् अभ्रान्तं वेदितव्यम्. प्रत्यक्षम् अनूद्य कल्पनापोढत्वादि विधीयते. प्रत्यक्षञ्च प्रसिद्धम् इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायिषु अर्थेषु लोके साक्षात्कारि विज्ञानम् तद् अनूद्य कल्पनापोढत्वादि तत्र प्रमात्वप्रयोजकं विधीयते.

कल्पनया अपोढम् अपेतं='कल्पनापोढं', कल्पनास्वभावरहितम् इति अर्थः. 'अभ्रान्तम्'=अविपर्यस्तं भ्रमभिन्नम् इति अर्थः. एतद्द्वयं प्रत्यक्षविशेषणं

विप्रतिपत्तिनिरासार्थम्. तथाहि 'अभ्रान्त'ग्रहणाभावे गच्छदवृक्षदर्शनं शुक्तौ-रजतदर्शनं च प्रत्यक्षं प्रमा स्यात्. तस्माद् 'अभ्रान्त'ग्रहणम्. 'कल्पनापोढ'ग्रहणाभावे च अनुमानादावपि लक्षणं प्रसज्येत इति तद्ग्रहणम्.

कल्पनाविमर्शः :

का नाम कल्पना यया रहितं 'प्रत्यक्षम्' इति उक्तम्? उच्यते : "अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना" (न्यायबिन्दुः). अयम् अर्थो : "अभिलप्यते अनेन इति 'अभिलापः' शब्दः". 'अभिलापेन शब्देन संसर्गो अभिलापसंसर्गः. अभिलापसंसर्गाय योग्यो आधेयाभासो यस्यां सा अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा सा एषा प्रतीतिः इति व्युत्पत्तिः. 'आभासो'=ज्ञाने अर्थाकारता. अभिलापसंसर्गो नाम एकस्मिन् ज्ञाने अभिधेयाकारस्य अभिधानाकारेण सह ग्राह्याकारतया शीलनम्. एकत्र ज्ञाने अभिधेयाभिधानाकारौ प्रविष्टौ यदा भवतः तदा तज्ज्ञानेन संसृष्टौ अभिधानाभिधेयौ भवतः. अभिलापसंसर्गयोग्याभिधेयाभासवती प्रतीतिः कल्पना. शाब्दबोधस्थले अनुमानादौ च तथा सम्भवः शाब्दबोधे शब्दस्य तदर्थस्य च ग्राह्यत्वम्. भवतिच तत्र शब्देन सह अभिधेयस्य ज्ञानविषयतया प्रतीतिः इति सा कल्पना. प्रत्यक्षेच न तथा. तत्र काचित् प्रतीतिः अभिलापसंसृष्टभासा भवति. यथा गृहीतसंकेतस्य 'घट'शब्दसंसृष्टाभासा भवति. काचित् प्रतीतिस्तु अभिलापासंसृष्टाभासापि अभिलापसंसर्गयोग्याभासा भवति. यथा अव्युत्पन्नसं-केतस्य बालकस्य प्रतीतिः तस्याअपि कल्पनायाः संग्रहाय 'योग्या' इति निवेशः. ग्राह्योहि अर्थो विज्ञानं जनयन् नियतप्रतिभासं करोति. यथा रूपं चक्षुर्विज्ञानं जनयद् नियतप्रतिभासं करोति. विकल्पविज्ञानन्तु अर्थाद् न उत्पद्यते इति प्रतिभासनियमहेतोः अभावाद् अनियतप्रतिभासाद् विकल्पविज्ञानं हि न अर्थसन्निधिम् अपेक्षते असन्निहितविषयं तद्विज्ञानम्. पूर्वदृष्टापरदृष्टं च अर्थम् एकीकुर्वद् विज्ञानम् असन्निहितविषयकं पूर्वदृष्टस्य असन्निहितत्वात्. असन्निहितविषयकं च विज्ञानम् अर्थनिरपेक्षम्. अनपेक्षञ्च अनियतप्रतिभासम्. तादृशज्ञानम् अभिलापसंसर्गयोग्यं न इन्द्रियविज्ञानं तादृशं, सन्निहितार्थमात्रग्राहि-त्वाद् अर्थसापेक्षं तद्. अर्थस्य च प्रतिभासनियमहेतुत्वाद् नियतप्रतिभासं

विज्ञानम्.

तत्त्वसंग्रहेऽपि कथितं : "**प्रत्यक्षं कल्पनापोढम् अभ्रान्तम्. अभिलापिनी प्रतीतिः कल्पना**" इति. तथाच इन्द्रियविज्ञानं न अभिलापसंसर्गयोग्यम्. असन्निहितविषयं च विज्ञानं कल्पना तया रहितं प्रत्यक्षम्. 'अभ्रान्तम्' इत्यस्य भ्रमरहितम् इति अर्थः. भ्रमश्च काचकामलतिमिरादिनयनदोषात् सम्भवति. सच बाधितविषयको, न संवादिविज्ञानम् इति तन्न प्रत्यक्षम्.

अयं भावो : नामजात्यादियोजना कल्पना. तत्र 'देवदत्तः' इति नामयोजना, 'गौः' इत्यादि जातियोजना, 'गच्छति' इति क्रियायोजना, 'शुक्लः' इति गुणयोजना, 'दण्डी' इति द्रव्ययोजना इत्येषा पञ्चविधाकल्पना. एतत् सर्वं नाम्नैव गृह्यते. योजनासंसर्गः प्रत्यक्षे, निर्विकल्पके नायं संसर्गः इति.

प्रत्यक्षभेदः :

तच्च प्रत्यक्षं विज्ञानं चतुर्विधं : इन्द्रिज्ञानम्, मनोविज्ञानम्, आत्मसंवेदनम्, योगिज्ञानं च इति.

इन्द्रियज्ञानम् :

इन्द्रियस्य ज्ञानम् इन्द्रियज्ञानम्. इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि. इन्द्रियाश्रितं यद् विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्.

मनोविज्ञानम् :

स्वविषयान्तरविषयसहकारिणा इन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं यत् तद् मनोविज्ञानम् (न्यायबिन्दुः). अयम् अर्थः : स्वविषयस्य इन्द्रियविज्ञानविषयस्य अनन्तरो व्यवधानरहितो यः इन्द्रियविज्ञानविषयक्षणाद् अव्यवहितोत्तरक्षणे एकसन्तानान्तर्भूतो विषयक्षणः, स सहकारी यस्य इन्द्रियविज्ञानस्य तत् तथा इति उक्तम्. तादृशेन समनन्तरप्रत्ययेन हेतुना जनितं यद् ज्ञानं

तन्मनोविज्ञानम्. अनेन एकसन्तानान्तर्भूतयोरेव इन्द्रियज्ञानमनोज्ञानयोः जन्यजनकभावे मनोविज्ञानं प्रत्यक्षम् उच्यते. योगिविज्ञानं च परसन्तानवर्तिमनोविज्ञानाद् अतिरिच्यते. अयं भावः : चक्षुरादीन्द्रियविज्ञानविषयः प्रथमक्षणे जायते गृहीतः च तदुत्तरक्षणे तस्य इन्द्रियविषयस्य योऽयं सन्तानप्रादुर्भावो द्वितीयक्षणोत्पन्नो विषयः सएव सहकारिकारणम्. तादृशस्वविषयानन्तरक्षण-प्रादुर्भूत-विषयसहकारि-समवधान-सहितेन इन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं ज्ञानं मनोविज्ञानम्. अत्र मनोविज्ञाने इन्द्रियविज्ञानविषयद्वितीयक्षणोत्पन्नो विषयः सहकारिकारणम्. इन्द्रियविज्ञानं च समनन्तरप्रत्ययहेतुः. तादृशविषयसहकृतेन्द्रियविज्ञानसमनन्तरप्रत्ययेन मनोविज्ञानं जायते. इन्द्रियज्ञानविषयं च अत्र सहकारि एककार्यकारित्वेन नतु परस्परोपकारकत्वेन, क्षणिके वस्तुनि सहकारिणा परस्परम् अतिशयानाधायकत्वात्. स्वविषयसन्तानवर्त्तिविषयसहकारिणा इन्द्रियज्ञानेन मनोविज्ञारूपैककार्यकारित्वम् अस्त्येव. स्वविषयाव्यवहितोत्तरक्षणजायमानविषयसहकृतेन्द्रियज्ञानेन मनोविज्ञानं जन्यते इति भावः.

अत्र ईदृशेन इन्द्रियविज्ञानेन आलम्बनप्रत्ययभूतेन योगिज्ञानं जन्यते इति तन्निरासार्थं 'समनन्तरप्रत्ययेन' इति उक्तम्. समश्च असौ ज्ञानत्वेन अनन्तरश्च असौ अव्यवहितत्वेन, सच असौ प्रत्ययः 'समनन्तरप्रत्ययः', तेन जनितम् इति भावः.

नच इन्द्रियविज्ञानाद् मनोविज्ञानस्य अन्यविषयाभावाद् एकएव विषयः उभयविज्ञानस्येति ग्रहीतग्रहणाद् मनोविज्ञानस्य अप्रामाण्यं स्याद् इति वाच्यम्, उभयोः विज्ञानयोः विषयभेदात्. इन्द्रियविज्ञानस्य प्रथमक्षणविषयः तदव्यवहितोत्तरक्षणोदितो विषयो मनोविज्ञानस्य अन्यएव. एतच्च मनोविज्ञानम् उपरते इन्द्रियव्यापारे इष्यते व्यापारवतितु चक्षुषि तद्रूपविज्ञानम् इन्द्रियप्रत्यक्षमेव.

आत्मसंवेदप्रत्यक्षम् :

''सर्वचित्तचैत्तानाम् आत्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्'' (न्यायबिन्दुः). चित्तम् अर्थमात्रग्राहिविज्ञानं, चैत्ताः विशेषावस्थाग्राहिणः सुखदुःखादयः. चित्तचैत्तविज्ञा-

ननं प्रत्यक्षम्. नास्ति काचिद् अवस्था चित्तस्य यस्याम् आत्मसंवेदनं न स्यात्. सुखादयएव स्फुटानुभवात् स्वसंविदिता:. येनहि रूपेण आत्मा वेद्यते तद्रूम् आमात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्. एतच्च ज्ञानरूपं वेदनम् आत्मनः साक्षात्कारि अभ्रान्तं च तस्मात् प्रत्यक्षम्.

योगिप्रत्यक्षम् :

''भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानम्'' (न्यायबिन्दुः). प्रमाणेन दृष्टो अर्थः सद्भूतो 'भूतार्थः'. यथा चत्वारि आर्यसत्यानि. भूतार्थस्य भावना पुनःपुनः चेतसि विनिवेशनम्. तस्याः भावनायाः प्रकर्षः, भाव्यमानार्थाभासस्य ज्ञानस्य संस्फुटत्वारम्भः. प्रकर्षपर्यन्तो यदा स्फुटाभत्वम्. ईषद् असम्पूर्णो भवति तदा तस्य नास्ति प्रकर्षगतिः. ततः सम्पूर्णावस्थायाः प्राक्तनी अवस्था स्फुटाभत्वं 'प्रकर्षपर्यन्त' उच्यते. तस्मात् पर्यन्ताद् यद् ज्ञातं भाव्यमानं सन्निहितमिव, तस्य स्फुटाकारावगाहिज्ञानं योगिनः प्रत्यक्षम्. स्फुटत्वारम्भावस्था भावनाप्रकर्षः. अभ्रकव्यवहितमिव यदा भाव्यमानं पश्यति सा प्रकर्षपर्यन्तावस्था, करतलमलकमिव भाव्यमानस्य यद् दर्शनं तद् ज्ञानं योगिप्रत्यक्षम्. तच्च स्फुटाभम्. स्फुटाभत्वादेव निर्विकल्पकम्. योगः समाधिः सो अस्य अस्ति इति योगी.

एवं चातुर्विध्यं प्रत्यक्षस्य व्याख्यातम्.

प्रत्यक्षविषयविमर्श :

तस्य चतुर्विधस्य प्रत्यक्षस्य विषयो बोद्धव्यः स्वलक्षणम्. 'स्वम्'=असाधारणं 'लक्षणं'=तत्त्वं 'स्वलक्षणम्'. द्विविधं हि वस्तुनः तत्त्वं साधारणम् असाधारणं च इति. साधारणम् असामान्यं स्वलक्षणं प्रत्यक्षग्राह्यम्. सामान्यञ्च अनुमानविषयः. द्विविधो हि प्रमाणस्य विषयो ग्राह्यः च यदाकारं प्रमाणम् उत्पद्यते. प्रापणीयः च यम् अध्यवस्यति. अन्यो ग्राह्यो अन्यो अध्यवसेयः. प्रत्यक्षस्य हि क्षणे एकग्राह्यः. अध्यवसेयस्तु प्रत्यक्षबलेन उत्पन्नेन निश्चयेन सन्तानएव. सन्तानएव क्षणभंगवादे प्रत्यक्षस्य प्रापणीयः.

क्षणस्य प्रापयितुम् अशक्यत्वात्.

स्वलक्षणञ्च अर्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदः. प्रतिभासः आकारः. प्रत्यक्षविषयएव स्वलक्षणम्. तस्यैव परमार्थसत्त्वात्. परमार्थो अनारोपितरूपम्. तेन अनारोपितरूपेण अस्तीति परमार्थसत्. अनुमानेन हि आरोपितो अर्थो गृह्यते. परमार्थसदेव अर्थक्रियासमर्थम्. अर्थस्य क्रिया हानोपादानरूपा. तस्य हानोपादानस्य सामर्थ्यं परमार्थसत्येव वस्तुनि न आरोपिते अस्ति.

यस्माद् अर्थक्रियासमर्थं परमार्थसद् उच्यते सन्निधानासन्निधानाभ्यां च ज्ञानप्रतिभासस्य भेदको अर्थो अर्थक्रियासमर्थः. तस्मात् स एकः परमार्थसन्. ततएव हि प्रत्यक्षविषयाद् अर्थक्रिया प्राप्यते न विकल्पविषयात्. सामान्यञ्च यद्रूपं तद् अनुमानस्य विषयः.

प्रत्यक्षफलविमर्श :

अर्थप्रतीतिरेव प्रत्यक्षप्रमाणफलम्. साच प्रतीतिः प्रत्यक्षाः. प्रापकं ज्ञानं प्रमाणम्. अर्थाद् उत्पन्नज्ञानस्य प्रत्यक्षस्य अस्ति कश्चिद् अवश्यः कर्तव्यः प्रापकव्यापारः प्रापणरूपो येन कृतेन अर्थः प्रापितो भवति. तदेव प्रमाणफलम्. एतदनुष्ठानात् प्रापकं भवति ज्ञानम्. प्रापणञ्च ज्ञानेन न केवलम् अर्थाविनाभावाद् भवति. प्रवृत्तिविषयप्रदर्शनमेव प्रापकस्य प्रत्यक्षस्य प्रापणव्यापारः तत्प्रदर्शनं प्रतीतिः, अर्थदर्शनरूपं प्रमाणस्य फलम्.

ननु प्रत्यक्षार्थप्रतीतिः तदवगमो वा प्रत्यक्षस्य फलं तर्हि किमिति तत् प्रमाणम्. नच प्रत्यक्षप्रतीतिरेव प्रमाणं तत् फलं च इति युज्यते इति चेद्, उच्यते : अर्थसारूप्यम् अत्र प्रमाणम्. अर्थेन सह ज्ञानस्य यत् सारूप्यं सादृश्यं तदेव प्रमाणं ज्ञानस्य. ज्ञानं हि सम्भवद् अर्थाकारं भवति. यथा नीलाद् अर्थाद् उत्पद्यमानं ज्ञानं नीलाकारं नीलसदृशं वा भवति. तच्च सारूप्यं सादृश्यम् आकारः आभासः इति व्यपदिश्यते.

ज्ञाने अर्थाकारसादृश्यं प्रमाणम्. तत् सारूप्यसामर्थ्यादेव अर्थप्रतीतिसिद्धिः भवति. यथा नीलनिर्भासाद् विज्ञानाद् नीलस्य प्रतीतिः अवसीयते. नहि चक्षुषि उत्पद्यमानं ज्ञानं नीलस्य इति शक्यते व्यवस्थापयितुं यावज्ज्ञाने तस्मिन् नीलाकारता नीलसारूप्यं वा न व्यवस्थितं भवति. नीलसदृशन्तु विज्ञानं नीलप्रतीतिकारकं भवति. एकस्यापि वस्तुनः किञ्चिद् रूपं प्रमाणं फलं किञ्चिद्रूपम् इति न विरुध्यते. प्रत्यक्षज्ञानस्य हि अर्थसारूप्यं प्रमाणम् अर्थप्रतीतिः फलम् इति भावः. एकस्मिन्नेव विज्ञाने व्यवस्थापकं अर्थसारूप्यं व्यवस्थाप्यम् अर्थप्रतीतिः इति. एवं प्रत्यक्षस्य विषयः फलं स्वरूपं भेदाः एतत् सर्वं व्याख्यातम्. कल्पनापोढत्वम् अभ्रान्तत्वं स्वरूपं, स्वलक्षणं विषयो, अर्थप्रतीतिः फलम्, इन्द्रियजन्यादिचत्वारो भेदाः, अर्थसारूप्यम् अस्य प्रमाणम्. एतेन अन्येषां मतं निरस्तं वेदितव्यम्.

वल्लभमतनिर्देश :

प्रत्यक्षप्रमाकरणं इन्द्रियात्मकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्. दोषदुष्टेन्द्रियवारणाय 'प्रमाणम्' इति. शब्दादिवारणाय 'इन्द्रियम्' इति. तानि इन्द्रियाणि चक्षुस्त्वग्घ्राणरसनश्रवणमनोभेदेन षट्. तैजसाहंकारोपादेयत्वे सति ज्ञानक्रियान्यतरकरणत्वम् इन्द्रियत्वम्. अणुतमत्वम् अतीन्द्रियत्वम् अनित्यत्वं अक्षणिकत्वं विकारित्वं च एषाम्. आहंकारिकत्वमेव न भौतिकत्वम्.

एतेषां योग्याः विषयाअपि तृतीयतरंगे प्रस्थानरत्नाकरे श्रीपुरुषोत्तमाचार्येण निर्दिष्टाः यथा : चक्षुषः उद्भूतरूपं तद्वान् उद्भूतरूपवन्मात्रवृत्तयः संख्यापरिमाणादयः इत्यादि तत्रैव द्रष्टव्यम्. बुद्धिरपि अहंकारस्य रूपविशेषः **''ततो विकुर्वतो जातो यो अहंकारो विमोहनो वैकारिकः तैजसः च तामसः च इति अहं त्रिवृत्. तन्मात्रेन्द्रियमनसां कारणं चिदचिन्मयः''** (भाग.११।२४।६।७).

अस्य अर्थः श्रीपुरुषोत्तमेन कृतः तत्रैव : तन्मात्रजनकत्वं तामसत्वं, इन्द्रियजनकत्वं राजसत्वं, तदेव अस्य तैजसत्वं मनोजनकत्वं सात्त्विकत्वम् तस्यैव 'वैकारिकः' इति संज्ञा. प्राणो बुद्धिरिति अस्यैव रूपान्तरम्.

''द्रव्यस्फुरणविज्ञानत्वं'' बुद्धेः स्वरूपलक्षणम्. ''इन्द्रियानुग्राहकत्वं संशयादिपञ्चवृत्तिकत्वं'' द्वयं कार्यलक्षणम्. बुद्धिप्राणमनोऽहंकाराणां हृदयं गोलकम् इति. केवलात्मा न प्रत्यक्षविषयः. अनध्यस्ताविद्यान्तःकरणादिपञ्चपर्वात्मा केवलो न प्रत्यक्षगम्यः शास्त्रीयसाधनम् अन्तरेण. केवलात्मा न लौकिकप्रत्यक्षगम्यो विभुत्वाद् आकाशादिवत्, तथा आत्मत्वात् परात्मवद् अणुत्वात् परमाणुवद् इति. तमसः प्रतिबिम्बादेः पदार्थान्तरत्वम् अंगीकृतं गन्धर्वनगरादेरपि मायिकत्वम्. एतेषां प्रतीतिरपि पदार्थस्वभावादेव न कार्यकारणभावान्तरकल्पना. अभावानां तिरोभावे अन्तर्भावात् 'स्वसंयुक्तविशेषणता'ख्यसंसर्गेण प्रत्यक्षता, न अनुपलब्धिः प्रमाणान्तरम्. इन्द्रियाणां व्यापाररूपः सन्निकर्षो द्विविधो लौकिको अलौकिकः च इति. अलौकिकः त्रिधा सामान्य-योगज-माया-भेदात्. सामान्यस्य अनुगताकारेण व्यक्तिज्ञाने उपयोगः. अतीतानागतयोः भगवद्ध्यानादौ च द्वितीयस्य उपयोगः. तृतीयस्य च अविद्यामानानां पदार्थानां शुक्तिरजतादीनां बुद्धौ उपस्थाने उपयोगः. लौकिकः पञ्चविधः : संयोगः तादात्म्यं संयुक्ततादात्म्यं संयुक्तविशेषणतादात्म्यं स्वरूपं च इति. शब्दग्रहे स्वरूपम् उपयुज्यते. मनसस्तु बहिर्विषये स्वसंयोगद्वारकः इन्द्रियसंयोगादिः. स्वधर्माणां ज्ञानसुखादौ तादात्म्यं वृत्तीनां ग्रहणेतु वृत्तिस्वरूपमेव. तिरोभावस्तु इन्द्रियसंयुक्तविशेषणतया गृह्यते. बुद्धेः अवस्था वृत्तिगुणजन्या. वृत्तिः इन्द्रियेण विषयसम्पर्के निर्विकल्पकं ज्ञानं जायते बुद्धिवृत्त्यनुग्रहेण सविकल्पः प्रमाभ्रमादिरूपः. इदञ्च सर्वं ज्ञानं अन्तःकरणाद्यध्यासात् जीवात्मा स्वस्मिन् अभिमन्यते. अतएव लोके एतेषाम् आत्मधर्मत्ववादः. हृदये देशे अन्तःकरणादीनां जीवस्य च विद्यमानत्वाद् अध्यासः. तेषु अन्तःकरणेषु तस्य प्रतिबिम्बः. तस्य प्रतिबिम्बस्य इन्द्रियेषु प्रतिबिम्बान्तरं तत्र इन्द्रियाध्यासः. तस्य देहे प्रतिबिम्बे देहाध्यासः. प्रतिबिम्बः च तत्प्रकाशस्य तेषु संक्रमेण भवति सूर्यस्येव, नतु मुखस्येव सन्निधिमात्रेण. एवं प्रस्थानरत्नाकरे विस्तरेण प्रत्यक्षप्रक्रिया वर्णिता संक्षेपेण इह संगृहीता.

सौत्रान्तिकाः वदन्ति :

बाह्यार्थाः अनुमेयाएव. बाह्याः सन्तोऽपि न ते प्रत्यक्षाः, क्षणिकत्वाद्

अतो भूतभौतिकसंघातो अनुमेयः. चित्तचैतञ्च च स्वसंवेदनप्रत्यक्षगम्यं स्वेनैव स्वयंप्रकाशा क्षणिकविज्ञानसन्ततिः. चित्तम् इति आलयप्रवृत्तिविज्ञानम् उच्यते चैत्तं सुखादयः. चित्तचैत्तं न अविदितं किञ्चिद् भवतीति सर्वजनीनो अनुभवः इति.

वाल्लभाः वदन्ति :

चित्तत्वं निर्विषयसर्वविकाररहितज्ञानवृत्तिकत्वम्. बुद्धिवारणाय 'निर्विषये-'ति, मनोवारणाय 'सर्वविकाररहिते'ति, अहंकारवारणाय 'ज्ञाने'ति, आत्मवारणाय 'वृत्तिः'इति. अस्यापि गोलकं हृदयं ब्रह्मा देवता चित्तचैत्तमपि मानसप्रत्यक्षविषयएव. मनसस्तु स्वधर्माणां ज्ञानसुखादिनां ग्रहणे तादात्म्यं वृत्तीनां ग्रहणेतु स्वरूपमेव द्वारम्. वृत्तयो बुद्धेः अवस्थाः चित्तं महतो अध्यात्मिकभेदो ज्ञानवृत्तिकः. मनो अन्यद् अन्तःकरणरूपं, बुद्धिः अन्या सविकल्पकज्ञानहेतुभूता. अहंकारस्यैव रूपान्तरं मनोबुद्धिप्राणः च. तत्र अन्तरिन्द्रियं मनः बहिः अस्वतन्त्रं इन्द्रियम् अपेक्षते स्वधर्मग्रहणे स्वग्रहणे वृत्तिग्रहणे च किम् अपेक्षते? तत्र स्वधर्मग्रहणे तादात्म्यं सुखादीनां तादात्म्येन मनआश्रितत्वात्. इन्द्रियदेशे बुद्धिवृत्तीनां ग्रहणे वृत्तिस्वरूपं द्वारम्.

इन्द्रियाणि मनः च एतत् अतीन्द्रियाणि स्वरूपेणैव ज्ञानहेतुः. बुद्धिस्तु न इन्द्रियम्, अतः तस्या वृत्त्यात्मिकायाः ग्रहणं वृत्तिस्वरूपेण इति. वृत्तिविषयिणी वृत्तिः न भवति.

ननु वृत्तिविषयिण्याः वृत्तेः अभावाद् तस्याः प्रत्यक्षता न स्यात्. स्यादपि निर्विकल्पमेव स्यात् बुद्धेः अननुग्रहाद् वृत्त्यैव बुद्धिः अनुगृह्णाति इति तदभ्युपगमो. अनुभवविरोधोऽपि बुद्धिः अप्रत्यक्षा न भवति इति चेद् न, बुद्धेः ज्ञानरूपत्वाभावात् ज्ञानस्य बुद्धिवृत्तित्वात्. बुद्धिः न न्यायमतवद् आत्मसमवायिनी ज्ञानरूपा. न सांख्यवद् महत्तत्त्वरूपा, अपितु अहंकारस्यैव सत्त्वगुणयुक्तावस्थाविशेषः इन्द्रियमनोऽनुग्राहको विकल्पविज्ञानहेतुः. इन्द्रियमनो-भिः च विषयसम्पर्के निविर्कल्पकं ज्ञानं जायते.

नच विषयेन्द्रियमनोभिरेव सविकल्पकत्वं विज्ञानं जायतां कृतं बुद्धिप्रवेशेन इति वाच्यम् आगमविरोधाद् ''द्रव्यस्फुरणविज्ञानम् इन्द्रियाणाम् अनुग्रहः'' (भाग. ३।२६।३०) इत्यादिशास्त्रविरोधात्.

अथ को अयम् अनुग्रहः? इन्द्रियेण उत्पादिते निर्विकल्पके सविकल्पत्वापादनम्. तच्च ज्ञाने नानाकारतापादनद्वारा. नानाकारतापादनं च ज्ञाने इन्द्रियदेशएव मनःसंयुक्ते नतु बुद्धेः बहिर्निर्गमो. मायया तमसा बहिः अर्थाकारस्य इन्द्रियदेशे आक्षेपाद्.

अत्र सौत्रान्तिकः शंकते :

चित्तम् एकं चेतनं, बुद्ध्यादि तस्य अवस्थाविशेषएव तत्तद्विषयाकारः प्रवृत्तिविज्ञानरूपः, तस्यां बुद्धावेव अर्थाकारता. प्रथमं इन्द्रियेण विषयसम्पर्के जाते बुद्धौ विषयाकारार्पणम् अर्पितेन च बुद्ध्याकारेण विषयानुमानं जायते. चैतन्यसन्ततिः बुद्धिः स्वतो निराकारा विषयसम्पर्काद् विषयकारा जायते. इन्द्रियविषयाभ्यां बुद्धौ चित्सन्ततिरूपायाम् आकारो जायते, आकारः च बुद्ध्यैव स्वप्रकाशया प्रकाशितः. बाह्यः च अनुमेयो न प्रत्यक्षः. तदतिरिक्तायां बुद्धौ प्रमाणाभावात्. वल्लभमतेतु ज्ञानं सुखादिकं मनोधर्मः, इन्द्रियेण मनसा निर्विकल्पकं ज्ञानं, बुद्धिवृत्तियोगात् सविकल्पकं ज्ञानं जायते. न बुद्धिः अध्यवसायात्मिका एका, अपितु संशयादिसर्वज्ञानानां ऐन्द्रियकानाम् अनुग्राहिका वृत्तिभेदाद् नाना.

यद्यपि आलोचनात्मकं ज्ञानम् इन्द्रियेण, मनसा संकल्पः, बुद्ध्या अध्यवसायः इत्येव शास्त्रान्तरे प्रसिद्धं तथापि भागवतादिशास्त्रप्रामाण्याद् वाल्लभैः तथा अभिमन्यते. एवं बुद्धिपदार्थे द्वयोः विप्रतिपत्तिः. इदन्तु अवधेयं यदा मनसः तद्धर्माणां बुद्ध्यादीनां च जीवात्मनि चित्स्वरूपे अध्यासः तदा तच्चैतन्येनैव साक्षिणा बुद्ध्यादीनां प्रत्यक्षोपपत्त्या मानसप्रत्यक्षत्ववर्णनं गौरवग्रस्तम् , अद्वैतमते अन्तःकरणादीनां साक्षिभाष्यत्वावगमात्. अध्यासस्य, जीवस्वरूपस्य चिद्रूपस्य च समानत्वात्.

यदि बुद्धिः संशयादिकारिणी तर्हि का निश्चयकारिणी? यदि बुद्धिरेव तर्हि तस्याः भेदो वक्तव्यः. अस्त्येव वृत्तिः बुद्धिभेदरूपा इति चेत् तर्हि तस्य भेदहेतुः वक्तव्यः. नानार्थाकारतैव हेतुः. कथं नानार्थाकारता बुद्धेः बहिनिर्गमाभावाद् इति चेत् मायाविक्षेपात्. मायाविक्षेपात् चेत् तर्हि कथं न भ्रमत्वमेव ज्ञानस्य? इति चेद् उच्यते यदा सत्त्वगुणात्मिकया मायया अर्थाक्षेपः क्रियते तदा प्रमा, यदा राजस्या आक्षेपः तामस्या च विषयावरणं तदा भ्रमः. यद् उक्तं प्रस्थानरत्नाकरे : ननु इन्द्रियार्थसम्प्रयोगोत्तरं सम्प्रयुक्तार्थाकारसमानो बुद्धौ आकारो जायते इति प्रमा भवतु. भ्रमादिकन्तु न भविष्यति, शुक्तादौ तद्विरुद्धस्य रजताद्याकारस्य अभावेन बुद्धौ मायाकृत-तत्समर्पणायोगाद् इति चेद् न, स्वभावगुणानुग्रहादेव तस्यापि सिद्धेः पूर्वोत्पन्नस्य रजताद्याकारकसंस्कारस्य रजसा बहिःक्षेपे सम्प्रयुक्तार्थाकारस्य तमसावरणे च भ्रमस्य सुखेन वक्तुं शक्यत्वात्. एवं नानाविधाद् गुणक्षोभजवृत्तिभेदादेव अन्येऽपि ज्ञानभेदा उन्नेयाः.

एवञ्च यदा विषयेन्द्रियसंयोगाद् निर्विकल्पकं स्वावच्छिन्ने मनसि ज्ञानं जायते. तदा इन्द्रियदेशे बुद्धेः वृत्तिः, तया इन्द्रियानुग्रहे सविकल्पकम् अननुग्रहे न इति. वृत्त्यन्तरेण पूर्ववृत्तिनाशे सविकल्पकस्य संस्काररूपेण अवस्थानं तस्य उद्बोधकैः उद्बोधे मायोपस्थापितमायिकार्थसहकृता स्मृतिः. राजसैः रागादिभिः संस्कारप्राबल्ये मायया विषयाकारावरणपूर्वकं मायिकपदार्थस-हितस्य ज्ञानस्य गोलकाग्रभागे क्षेपे भ्रमः. किञ्चिदावरणे संशयः. सत्त्वेन सर्वथा आवरणभंगे विक्षेपस्यापि निवृत्तौ विशेषदर्शनम् इत्यादि. वृत्तिविषयातु वृत्तिः न भवति.

तत्र अयं क्रमो : दैवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मनः तत्तत्कार्यार्थं प्रेर्यते. तच्च इन्द्रियप्रेरणाय तत्तदिन्द्रियेण संसृज्यते. तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्ये विषयसंसृष्टैः इन्द्रियैः स्वावच्छिन्ने मनसि पूर्वं निर्विकल्पम् उत्पाद्यते. तदा इन्द्रियदेशे बुद्धेः वृत्तिः. ततो बुद्ध्यापि वृत्तिद्वारा तदनुग्रहे सविकल्पं भवति इति (पृ.१४८).

अत्र विचार्यं : मनसि इन्द्रियैः विषयसंसृष्टैः निर्विकल्पकं 'किञ्चिद् एतद्' इत्याकारकं विज्ञानम् उत्पाद्यते, वृत्त्या अनुग्रहात्तु सविकल्पकम् इति. बुद्धिवृत्तिः अर्थाकारावस्था बुद्धेः बहिर्निर्गमाभावेऽपि इन्द्रियदेशे मायया क्षिप्तो विषयाकारः तदर्थाकारा बुद्धिः जायते. इन्द्रियैः निर्विकल्पके जनिते सविकल्पके जननीये वृत्त्या अर्थाकारया अनुग्रहो, ज्ञाने विषयाकारसमर्पणं क्रियते इति. एवं तर्हि बुद्धिवृत्तिभेदाः एवं प्रमाविज्ञानानि. यत्रच वृत्तिः नास्ति तद्विकल्परहितं ज्ञानम्. मनसः तर्हि कः उपयोगः इन्द्रियैरेव बुद्ध्यनुग्रहाननुग्रहाद् ज्ञानद्वयं जन्यताम् कृतं मनसा इति चेद्, उच्यते क्व तर्हि ज्ञानम् उत्पद्येत इन्द्रिये बुद्धौ वा? न उभयोः तथानभ्युपगमात्. नच आत्मनि, आत्मना सह उभयोः सम्पर्काभावात्. नच इन्द्रिये, इन्द्रियस्य ज्ञानाधारत्वाभावात्, नापि बुद्धौ तस्याः अनुग्रहमात्रकारित्वात्. अतो अगत्या ज्ञानादितादात्म्याधारतया मनोऽपि तत्र अंगीकर्तव्यम्.

अत्र अद्वैतिनो : मनोबुद्धी अन्तःकरणस्य वृत्तिभेदावेव. मनः संकल्पयति बुद्धिवृत्तिस्तु निश्चिनोति इति. मनोवृत्तिरेव ज्ञानम् इति वदन्ति. ननु वल्लभमते ज्ञानं जडं चेतनं वा? स्फुटमेव ज्ञानस्य जडत्वं नहि इन्द्रियादिभिः जडवर्गैः चैतन्यं कर्तुं शक्यते, चितो नित्यत्वात्. ज्ञानस्य जडत्वे च विषयप्रकाशो न स्यात्. अद्वैतमते च जडायाअपि बुद्धिवृत्तौ तदवच्छेदेन चैतन्येन अवभासितत्वात् विषयप्रकाशः सम्भवति. सौत्रान्तिकमते च चित्(विज्ञान)सन्ततिरेव बुद्धिरिति तस्याः अर्थाकारसहितायाः स्वप्रकाशत्वादेव विषयप्रकाशः इति चेद् न, बुद्धेः सत्त्वगुणायाः प्रकाशकत्वोपपत्तेः बुद्धिरेव अर्थप्रकाशिका. नच बुद्धेः स्वभावजडायाः कथं प्रकाशकत्वम् इति वाच्यं, सत्त्वगुणस्यैव प्रकाशकत्वम् नतु वृत्तेः प्रकाशकत्वम्. एतच्च सौत्रान्तिकनये न अंगीक्रियते. अद्वैतेतु सत्त्वस्यापि चैतन्याध्यासादेव प्रकाशकत्वम्. नतु वृत्तेः स्वाभाविकः प्रकाशः. ज्ञानाद्यध्यासस्तु जीवात्मनि चिद्रूपे वाल्लभानामपि इष्टएव अन्यथा ''अहं ज्ञानी''-''अहं सुखी'' इत्यादिप्रत्ययो न स्यात्. तदध्यासादेव ज्ञानादेः बुद्धिवृत्तिरूपस्य प्रकाशोपपत्तिः भवेत्. नहि चैतन्यं न प्रकाशते इति न. नहि गुणप्रकाशादेव वस्तुप्रकाशः, अपितु चैतन्यादेव स्फुटप्रकाशः, 'साक्षात्करोमि'

'जानामि' इत्यादिव्यवहारात्.

अतः क्षणिकायामपि चित्सन्ततौ सविषयत्वसाकारत्वार्थं बहिर्विषयानुमेयाः मन्तव्याः, अर्थाकारतां विना विज्ञानवैचित्र्यानुपपत्तेः. साकारता अवश्यं मन्तव्या साच विषयद्वारैव सम्भवति. विषयाः च चिति विज्ञाने स्वाकारम् अर्पयन्ति. यद् उक्तं सर्वसिद्धान्तसंग्रहे -

नीलपीतादिभिः चित्रैः बुद्ध्याकारैः इह आन्तरैः।
सौत्रान्तिकमते नित्यं बाह्यार्थस्तु अनुमीयते॥
अर्थेन घटयति एनां नहि मुक्त्वा अर्थरूपताम्।
तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता॥

अर्थरूपताम् अर्थाकारतां मुक्त्वा एनां बुद्धिं चित्सन्ततिं न कश्चिद् घटयति अपितु अर्थेन अर्थाकारेणैव घटयति, ''घटं जानामि''-''पटं जानामि'' इत्यादिरूपेण. तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणम् बुद्धेः मेयरूपता अर्थसारूप्यमेव इति भावः.

तस्मात् प्रत्यक्षं चित्तचैत्तं, चतुर्विधान् प्रत्ययान् (कारणसमुदायं) प्राप्य जायते. तेच चत्वारः प्रत्ययाः प्रसिद्धाः आलम्बनसमनन्तरसहकार्यधिपतिरूपाः. तत्र नीलाद्यवभासस्य ज्ञानस्य नीलादिविषयः आलम्बनप्रत्ययो अतएव विज्ञाने नीलाकारता भवति. पूर्वविज्ञानमेव समनन्तरप्रत्ययः. तस्मात् नीलादिविषयप्रकाशनसामर्थ्यं लभ्यते. आलोकादिरेव सहकारिकारणं, तस्मात् नीलादिविज्ञाने स्पष्टता भवति. चक्षुरादिरेव अधिपतिप्रत्ययः तस्माच्च विषयग्रहणप्रतिनियमो भवति. रूपं चक्षुषा गृह्यते. रसः रसनया इत्यादि.

विज्ञानातिरिक्तचैतन्ये प्रमाणं नास्ति. नच तदतिरिक्तात्मसिद्धिः.

वाल्लभास्तु चित्तसन्तानः आत्मा इति पक्षं पूर्वाचार्योक्त-वाचोयुक्तिभिरेव आक्षेपयन्ति.

इदमपि विचारणीयं यद् वाल्लभमते चक्षुषि रूपप्राप्तिः प्रतिबिम्बभवनरूपैव. सातु प्राप्तिः मायया भवति. एवं बुद्ध्याकारसमर्पकत्वं प्रतिबिम्बस्यैव चक्षुषि विषयसन्निकर्षे रूपस्य प्रतिबिम्बो रूपप्रतिबिम्बएव बुद्धेः आकारसमर्पकः. सौत्रान्तिकनये बाह्यविषयाणां इन्द्रियसम्पर्के चित्तसन्ततौ आलयविज्ञानेन बाह्यरूपप्रतिबिम्बो, नवा बाह्यार्थारोपः, नवा चक्षुषि प्रतिबिम्बस्य बुद्धौ आकारार्पकत्वम् अपितु इन्द्रियद्वारा बुद्धेः अर्थाकारता. साच अर्थाकारता विषयसारूप्यं बुद्धेः प्रवृत्तिविज्ञानसिद्धये. नहि विज्ञानम् अस्पृशन् बाह्यो विषयो भोगाय भवति. विषयाकारो न अध्यारोपितो अपितु विषयवासनारूपतापत्तिरेव. एवञ्च सवासनं विज्ञानं प्रतिक्षणम् उत्पादविनाशशालि जायते. इदमपि विचारम् अर्हति : अन्तःकरणाध्यासात् सर्वं ज्ञानं जीवात्मा स्वस्मिन् अभिमन्यते इति वाल्लभाः. सौत्रान्तिकमते अन्तःकरणाध्यासास्वीकारः. अन्तःकरणं चित्तमेव. स्वस्मिन् स्वस्य अध्यासायोगात्. चैतन्यसन्ततिः बुद्धिः सा स्वयं निराकारा अर्थच्छायया अर्थाकारा भवति. यथा जपाकुसुमसान्निध्यात् मणिरपि लोहितो भवति. तादृशाकाराद् उत्तरविज्ञानसन्ततौ यदि सएव आकारः तर्हि स साकारा बुद्धिः स्मृतिः. प्रत्यक्षेण आकारः चेत् ज्ञानं प्रत्यक्षं अनुमानेन आकारः चेद् अनुमितिः इति प्रत्यक्षानुमितिस्मृतिरित्यादिप्रवृत्तिज्ञानानि विषयसरूपाणि जायन्ते.

बुद्धिसन्ततौ पूर्वं कदाचित् रजतादिज्ञानजन्यसंस्कारसद्भावात् इन्द्रियदोषाद् रजताद्यविषयेऽपि रजतबुद्धिः भवति सा बुद्धिः भ्रमः इति. तदेवं निर्गलितो अर्थः : सौत्रान्तिके बुद्धिः चित्सन्ततिः आलयविज्ञानरूपा विषयाकाराकारिता. विषयाकारः विषयवासना. अर्थाकारेणैव बाह्या अनुमेयाः पुष्ट्या भोजनमिव. बाह्याः प्रत्यक्षाः न भवन्ति. प्रत्यक्षं स्वसंवेदनं योगजं मनोविज्ञानम् इति इन्द्रियजन्यं प्रत्यक्षं न अभ्युपगम्यते.

किञ्च बौद्धमते अभावो अनुमानगम्यो न प्रत्यक्षगम्यः. तथाहि पक्षसत्त्वादित्रिरूपस्य लिंगस्य त्रयः प्रकाराः : अनुपलब्धिः स्वभावः कार्यम् इति. अनुपलब्धिः अभावावेदिका, स्वभावः कार्यञ्च भावावेदके (न्यायबिन्दुः

पृ. २०८).

वाल्लभमते च अभावः प्रत्यक्षगम्यएव. यदि अनुपलब्धिः अनुमानं यदि वा प्रमाणान्तरं तदुभयपक्षेऽपि अभावः तिरोभावरूपो वस्तुनो अवस्थाविशेषो वा आविर्भावरूपो वा न अनुपलब्धिगम्यः. विवृतं च एतत् प्रस्थानरत्नाकरे.

अत्र इदं बोध्यम् : अभावप्रत्यक्षवादिनापि उपलब्ध्यभावाद् अभावज्ञाने हेतुता क्लृप्तैव तत्र करणत्वमात्रं कल्प्यते. किञ्च अभावस्य इन्द्रियसन्निकर्षाभावात् न प्रत्यक्षज्ञानगोचरता. नच संयुक्तविशेषणता सन्निकर्षः, तत्र प्रमाणाभावात्. संयुक्तविशेषणतासन्निकर्षेणैव जात्यादेरपि प्रत्यक्षसम्भवे संयुक्ततादात्म्यादेः पृथक् सन्निकर्षाभावात्. किञ्च संयुक्ते प्रथमं सिद्धे अभावस्य तत्र विशेषणतया भानं स्यात् विशेषणतया ग्रहे च उक्तसन्निकर्षेण अभावग्रहः इति व्यक्तम् अन्योन्याश्रयत्वम्. तस्माद् अभावस्य प्रत्यक्षता न्यायमतानुसारिणी.

क्षणिकत्वखण्डनम् :

अत्र विमृश्यते बाह्यार्थाः तावद् विज्ञानवासनावैचित्र्यनिर्वाहार्थं सौत्रान्तिकैः अंगीक्रियन्ते. तेच अनुमेयाः न प्रत्यक्षाः क्षणिकत्वात्. क्षणिकत्वञ्च द्वितीयक्षणध्वंसप्रतियोगित्वम्. सन्निकर्षक्षणोत्तरक्षणे नष्टा बाह्याः कथं प्रत्यक्षप्रतीतिगोचराः स्युः. वस्तुसन्निकर्षक्षणे एवं सन्निकृष्टाः भावाः चित्ते स्वाकारम् अर्पयन्ति. तेन अर्पितेन च आकारेण पुष्ट्या भोजनादिमिव बाह्यार्थाः अनुमीयन्ते. यद् उक्तम् ''अर्थेन घटयति एनां नहि मुक्त्वा अर्थरूपतां तस्मात् प्रमाणाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता'' नहि वित्तिसत्तयैव तद्वेदना युक्ता. तस्याः सर्वत्र अविशेषात्. तान्तु सारूप्यम् आविशत् सरूपयितुं घटयेद् इति च. तथाच वित्तौ अर्थसारूप्यमेव बहिः अर्थानुमापकं भविष्यति.

अत्र उच्यते : क्षणिकत्वाद् भावानां प्रत्यक्षत्वं न उपपद्यते इति

अयुक्तं, भावाः क्षणिकाः सत्त्वात् प्रदीपकलिकावद् इत्याद्यनुमानं प्रत्यक्षप्रत्यभिज्ञानाबाधितम्. अस्तिच पूर्वापरक्षणवर्त्तिभावयोः एकत्वस्थैर्यसाधकं निष्कम्पम् अबाधितं प्रत्यभिज्ञानं ''तदेव इदम्'' इति. इदं प्रत्यभिज्ञानं घटादेः वस्तुनः स्थैर्यं विना अनुपपद्यमानं बलादेव एकस्य वस्तुनः तत्कालैतत्कालसम्बन्धित्वं साधयति. नच द्वितीयादिक्षणे निरन्वयविनाशम् उपगतस्य वस्तुनो अनन्तरक्षणे तदनुगमाभावात् उक्तप्रत्यभिज्ञानस्य उपपतिः भविष्यति. नच एतत् प्रत्यभिज्ञानं भ्रमो अबाधितविषयकत्वात्.

किञ्च सत्त्वात् क्षणिकत्व साधनं विरुद्धम्. सत्त्वं नाम त्रिकालाबाध्यत्वं तच्च कथं क्षणिकत्वसाधनम्. नच अर्थक्रियाकारित्वमेव सत्त्वम् तच्च क्षणिकत्वेन व्याप्तम् इति वाच्यं, विकल्पासहत्वात्. तथाहि अर्थक्रियाकारित्वं सद् वा असद् वा? सत्त्वे तत्रापि अर्थक्रियाकारित्वं वक्तव्यम् इति अनवस्था. असत्त्वे असत्त्वापत्तिः. अतो असतो अर्थक्रियाकारित्वेन क्षणिकत्वव्यवस्थापनासम्भवात्. अतः सत्तासामान्ययोगित्वम् अबाध्यत्वं वा सत्त्वं वक्तव्यम्. तथाच न क्षणिकत्वसिद्धिः. घटादयो अक्षणिकाः प्रमाणभूतप्रत्यभिज्ञाविषयत्वाद् व्यतिरेकेण वन्ध्यापुत्रादिवत्. किञ्च क्षणिकत्वपक्षे अर्थक्रियापि न उपपद्यते क्षणिकत्वादेव. नहि निर्व्यापारस्य अर्थक्रिया दृष्टा. व्यापारकाले अवस्थायित्वे क्षणिकत्वभंगप्रसंगः.

किञ्च पूर्वक्षणस्य निरुद्ध्यमानस्य निरुद्धस्य वा उत्तरक्षणहेतुत्वं न स्यात्. नहि अभावाद् भावोत्पत्तिसम्भवः. सम्भवे वा सर्वत्र सर्वस्य उत्पत्तिप्रसंगो अभावाविशेषात्. ''उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधाद्'' इत्यादिसूत्रे क्षणिकत्वस्य निराकृतत्वात्.

एवं बाह्यार्थस्य अक्षणिकत्वे यथायोग्यं प्रत्यक्षगम्यत्वम् उपपद्यते इति वाल्लभाः वदन्ति अन्ये च प्रत्यक्षवादिनः. अप्रत्यक्षे कस्मिंश्चिद् बाह्यार्थे बाह्यार्थानुमानमपि दुःसम्पादकम्.

सविकल्पकस्यापि प्रत्यक्षत्वम् :

सौत्रान्तिकादिसौगताः प्रत्यक्षं निर्विकल्पमेव कल्पनापोढत्वात्. सविकल्पकप्रत्ययस्तु कल्पनायुक्तत्वाद् अप्रमाणम्. कल्पनाच जातिगुणकामादि-संसर्गयोग्यता इति वदन्ति. तदपि न युक्तिमत्. तथाहि इन्द्रियार्थसन्निकर्षेण जायमानं ज्ञानं निर्विकल्पकं सामान्यरूपम् एकं जायते तत्र बुद्धिवृत्त्यनुग्रहात् सविकल्पकं प्रत्यक्षं व्यवहारोपयोगि ज्ञानं जायते. बुद्धिवृत्तिश्च निर्विकल्पके अर्थाकारम् आरोपयति. अतो निर्विकल्पकं ज्ञानं बुद्धिवृत्त्युपनीतार्थाकारेण युक्तं सविकल्पकं ज्ञानं इन्द्रियजन्यत्वादेव प्रत्यक्षं जायते.

ननु सौत्रान्तिकमतेऽपि ज्ञाने अर्थाकारता जायते. इन्द्रियेण यो अर्थो ग्राह्यः सः तत्क्षणे स्वाकारम् अर्पयति विज्ञाने. तथाच विज्ञानं साकारं जायते साकारमेव ज्ञानं निर्विकल्पकं कल्पनापोढत्वात्. तच्च प्रमाणभूतम्. वल्लभमते तु निर्विकल्पकं निराकारं बुद्धिवृत्तेः प्राग् ज्ञाने अर्थारोपाभावात् निर्विषयत्वं निर्विकल्पकज्ञानस्य स्यात्. किञ्च कोऽयं बुद्धिवृत्त्यनुग्रहः. यदि निर्विकल्पे जायमाने अर्थाकारारोपः, तर्हि स आरोपो न उपपद्यते. बुद्धौ अर्थस्य अभावात्. बुद्धिवृत्तेरपि बहिर्देशे निर्गममन्तरा असम्भवात्.

किञ्च इन्द्रियेण अर्थसंयोगः, मनःसंयोगः, अविकल्पज्ञानोत्पत्तिः पुनः बुद्धिवृत्तिः तया ज्ञाने अर्थारोपः इति गुर्वी अप्रमाणिकी च प्रक्रिया. तद्वरं इन्द्रियेण ग्राह्यार्थस्यैव आकारार्थकत्वम् इति चेद् न स्यादेवं यदि विज्ञानसन्ततिः चित्तापरपर्याया अनुच्छिन्ना अशाश्वती आलयविज्ञानरूपा श्रुत्यादिप्रमाणवादैः अंगीक्रियते युक्तिभिः उपपद्येत. किन्तु तथा नास्ति. अतः कुत्र आकारार्पणं स्यात्. अप्रमाणिकम् अण्वपि कल्पनं न युक्तिमत् प्रमाणिकञ्च गुरुभूतमपि अंगीकर्त्तव्यम्. खण्डितश्च अयम् अर्थः पूर्वाचार्यैः तथाहि : क्षणिकचित्तसन्ततिः आलयविज्ञानं नाम यदि स्वीक्रियते तर्हि तेन इदं सरूपम् इति ज्ञानस्य पूर्वोत्तरक्षणवर्तिसदृशपदार्थकस्य कर्तुरेकस्य अभावात् सादृश्यनिमित्तं प्रतिसन्धानं न स्यात्. यदि एकः ग्रहीता कल्प्यते तदा क्षणद्वयसम्बन्धित्वात् तस्य क्षणभंगः. नच कल्पितएव उक्तज्ञाने आकारः

नतु बाह्यः कश्चिद् अर्थः वासनावैचित्र्यादेव विज्ञाने साकारे ते अर्थाः भासन्ते. अतः एकमेव विज्ञानसादृश्याकारम् इति न पूर्वोत्तरक्षणवर्तिनौ बाह्यौ पदार्थौ इति वाच्यम्. तेन इदं सदृशम् इति वाक्यप्रयोगस्य आनर्थक्यप्रसंगात्. किञ्च उक्तविज्ञाने प्रतिभासमानां पदार्थानां विज्ञानाभेदे सति अर्थानामपि अभेदः प्राप्नोति. तथा च इतरेतरभेदेन लोके प्रसिद्धा पदार्थाः बाध्येरन् एवं सति बाह्यस्य लोके प्रसिद्धस्य कस्यचिद् अर्थस्य विज्ञानव्यतिरेकेण अभावात् स्वपक्षसिद्धि-परपक्षनिरासरूपो विवादो न स्यात्. विज्ञानाकारत्वे हि विकल्पप्रतिभासिनां नित्यत्वानित्यत्वादीनाम् एकार्थविषयत्वाभावात् ज्ञानानाञ्च धर्मिणां भेदात् विरोधाभावात्. एकधर्मिक विप्रतिषिद्धधर्मद्वयाभ्युपगमस्य विवादरूपत्वात्.

यदि सौत्रान्तिको ब्रूते ''अस्ति बाह्यो अर्थः. सतु क्षणिकः निर्विकल्पके चकास्ति. सविकल्पकप्रत्ययास्तु विकल्परूपाः बाह्यार्थगतसादृश्याकारे निर्विकल्पकगतसादृश्याकारेण प्रतिभासन्ते. अतः बाह्यार्थसद्भावे न विवादहानिः इति. नच स्वग्राहकस्य ज्ञानस्य स्वयं तावद् ग्राह्यम् आन्तरं कथं तस्य बाह्याकारविषयत्वम् इति वाच्यम्. विकल्पविषयद्वैविध्यात्. द्विविधो हि विकल्पानां विषयो ग्राह्यः च अध्यवसेयः च. स्वाकारस्य निर्विकल्पस्य अवसायाद् 'अधि'=उपरि अवसेयो 'अध्यवसेयः'. अध्यवसेयो बाह्यः. तेन हानोपादानादिप्रवृत्तिः लोके सिध्यति स्वप्रतिभासे आन्तरे बाह्यात्मत्वाध्यासाद् इति. तदपि न युक्तम्, आन्तरस्य निर्विकल्पस्य ज्ञानाकारस्य तद्विपरीतबाह्याकारेण अध्यवसायस्य असम्भवात्. अध्यवसायो यदि आरोपः तर्हि कस्य-कुत्र इति वक्तव्यम्. आन्तरस्य ज्ञानाकारस्य बाह्ये आरोपः चेत् सच बाह्ये गृह्यमाणे अगृह्यमाणे वा? तदपि बाह्यं स्वलक्षणं सामान्यं वा? अक्षसन्निकर्षेण विज्ञाने जायमानम् अर्थसारूप्यं विकल्पेन अनुमानेन गृह्यमाणे बाह्ये स्वलक्षणे न सम्भवति. नहि विकल्पस्य स्वलक्षणं विषयः. नच सामान्यमेव बाह्यं तत्र गृह्यमाणे अर्थाकारारोपः इति, तदपि न, व्यक्तिग्रहणं विना सामान्यस्य गृहीतुम् अशक्यत्वात्. अगृह्यमाणे बाह्ये स्वाकारस्य आरोपे स्वाकारएव स्यात्. नतु बाह्यः

इति एवम् अधिष्ठानप्रतिभासासम्भावाद् बाह्ये ज्ञानस्वरूपस्य नारोपः. आरोप्यस्य अस्फुरणादपि नारोपः. पूर्वं स्वाकारग्रहणं पश्चाद् बाह्यार्थारोपणं च अशक्यम्. ज्ञानस्य क्रमविरहिणो ग्रहणारोपणयोः असम्भवात्. नच यदैव गृह्णाति तदैव आरोपयति इति युक्तं स्वाकारस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षतया अतिविशदत्वात् बाह्यस्य च आरोप्यमाणस्य अविशदत्वात् उभयोः भेदः स्यात्. एवम् अध्यवसायो असम्भवः. खण्डितश्च अयं सौत्रान्तिकवादः सूत्रभाष्यभामत्यादिषु वाल्लभग्रन्थेषु च. ततश्च बाह्यार्थो अक्षणिको यथायोग्यं प्रत्यक्षेण बोध्यः इति वाल्लभानाम् आशयः. एवञ्च सविकल्पकस्यापि प्रत्यक्षत्वं सम्भवति. इन्द्रियविषयसन्निकर्षजननीये निर्विकल्पे बुद्ध्या वृत्तिरूपया सविकल्पकत्वं जायते.

अर्थारोपः :

इदं विचार्यते निर्विकल्पके बाह्यार्थारोपो वल्लभमतेऽपि सौत्रान्तिकमतेऽपि. प्रकारस्तु उभयोः वर्णितः. तत्र विषयेन्द्रियसन्निकर्षे जाते चित्सन्ततौ विषयसारूप्यं भवति तच्च स्वाकारविज्ञानं निर्विकल्पकं तादृशाकारस्य बाह्ये आरोपाद् प्रवृत्तिः. वाल्लभेतु विषयेन्द्रियसम्पर्काद् मनसि निर्विकल्पकं जायते. तत् किं निर्विषयं सविषयं वा? सविषयत्वे केन विषयाकारः आरोप्यते बुद्धिवृत्तेः पश्चाद् भावितत्वाद्. यदि तद् निर्विकल्पकं ज्ञानं स्वभावादेव विषयम् अवगाहते चेद् विषयप्रकारमपि अवगाहेत, बुद्धिवृत्तेः का आवश्यकता?. किञ्च बुद्धौ यदि विषयाः सन्ति इति मतं तर्हि योगाचारमतापत्तिः नहि बुद्धौ बहिर्वद् विषयाः सम्भवन्ति अपितु वासनारूपतयैव. नच मायया बुद्धौ आक्षिप्यन्ते इति मतम्. मायया मनस्यपि विषयाकाराक्षेपसम्भवात्. किंवा मायया निर्विकल्पकज्ञानएव विषयाकाराक्षेपसम्भवाद् व्यर्थो बुद्धिवृत्त्यंगीकारः.

किञ्च इन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् मनसि यद् ज्ञानं जायते तत् किं मनःपरिणामरूपम्? किंवा मनःसमवायी मनोधर्मः? किंवा मनसि अर्थाकारारोपः? प्रथमे निर्विकल्पकं मनःपरिणामं, सविकल्पकं च बुद्धिपरिणामः

इति गौरवम्. वृत्तिरपि बुद्ध्यवस्थाविशेषएव तैः अंगीक्रियते.

द्वितीये समवायस्य अस्वीकृत्वात् मनोधर्मो ज्ञानं चेत् तद् बुद्धिवृत्तिः किम् उपकरिष्यति. अथ बुद्धिः मनएकमेव अन्तःकरणरूपम् इति? तदपि न, स्वसिद्धान्तविरोधात्.

अपिच माया यदि भगवतो व्यामोहिका शक्तिः तर्हि सर्वस्य विज्ञानस्य भ्रान्तत्वापत्तिः. यदि सर्वभवनरूपाशक्तिः तर्हि विज्ञानस्य भ्रमत्वानापत्तिः. किञ्च वाल्लभमते ज्ञानं जडं चेतनं वा? जडत्वे विषयप्रकाशनासम्भवात्. चेतनत्वे आत्मनो जडत्वापत्तेः, एकत्र चैतन्यद्वयानंगीकारात्. अथ चैतन्यं चेतनस्य आत्मनो धर्मएव इति मतं तर्हि शरीरादिसंघातस्य आत्मनि अध्यासात् आत्मचैतन्येनैव प्रकाशसम्भवात् अलं बुद्धिवृत्त्या मानसे ज्ञाने अर्थारोपेण.

किञ्च बुद्धिवृत्तिः बुद्धेः अर्थाकारावस्थाविशेषः इति तदपि न उपपद्यते. बुद्धौ विषयाभावात् तस्य विषयस्य च घटादेः बाह्यत्वात्. मायया आक्षेपोऽपि समानाकारस्यैव न वस्तुतो विषयस्य तथानुभावात्. एतस्माद् वरं बुद्धेः बहिःनिःसरणमेव तथात्वे सिद्धान्तहानिः. बहिःनिःसरणाभावे बुद्धौ अर्थाकारो विषयेन्द्रियसम्पर्काद् इति सौत्रान्तिकमतप्रवेशः इत्येवमादयो विचाराः समाधेयाः सम्भवन्ति.

बौद्धमतखण्डनम् :

तदेतत् सर्वं तर्कप्रभवम्. नहि तर्केण अप्रमाणभूतेन वस्तुतत्वं व्यवस्थायितुं शक्यते, "**तर्काप्रतिष्ठानात्**" इति स्मरणात्. एवञ्च यथाप्रमाणमेव वस्तुतत्त्वावगतिः. नहि वाल्लभैः अप्रमाणं किञ्चिद् उच्यते यथाशास्त्रम् अवगतिः क्रियते. किं मनः, का बुद्धिः, को अहंकारः, किं चितम्, इत्यादि सर्वं यथाशास्त्रमेव उच्यते. नहि शास्त्रं व्यवस्थितम् आप्तप्रकाशं तर्कैः व्याकुलीकर्तुं शक्यम्. बाह्यैश्च बौद्धैः स्वमतिप्रकल्पनादेव स्वस्य

बहुप्रलापित्वं ख्याप्यते.

सौत्रान्तिकैः विज्ञानसन्ततिः तस्याअपि क्षणिकत्वं बाह्यस्यापि क्षणिकत्वम् इत्यादिसर्वं स्वमतिकल्पितमेव सर्वथा अनुपपन्नम् उच्यते. सर्वमेव विश्वं परमेश्वरान्तम् इति अविर्भावतिरोभावशक्तिभ्याम् उत्पन्नम् इति नातिरोहितं वेदशास्त्रविदाम् इति दिक्.

......+......

संगोष्ठ्युत्तरलेखनम्

गो.श्या.म.

बौद्धशांकराद्यनेकमतेषु पाण्डित्यनिकषभूतैः मूर्तिमत्सौमनस्यैः तत्रश्रीपारसनाथद्वि-वेदिमहाभागैः सौत्रान्तिकवाल्लभवेदान्तमतयोः प्रत्यक्षप्रमाविषयके तौलनिकविमर्शपरे अस्मिन् आलेखपत्रे उभयोः मतयोः यत् तुलनात्मकस्वरूपप्रतिपादनं तदुभयोः च मतयोः सम्भावितपूर्वोत्तरपक्षावपि स्वशेमुषिविशेषप्रकर्षेण समुद्भाव्य यच्च निरूपणं कृतं तद् एतन्महाभागेतरेण दुर्वहः खलु कर्तव्यभारो केनापि निर्वोढुं शक्यः!

तेन यद्यपि उत्थिताकांक्षाप्रयुक्तं किमपि वक्तव्यं नावशिष्यते, श्रीमद्भिः पारसनाथमहाभागैरेव निराकरणप्रकारस्यापि द्योतितत्वादेव. तथापि विषये अस्मिन् योहि "**वल्लभमतेतु निर्विकल्पकं निराकारं बुद्धिवृत्तेः प्राग् ज्ञाने अर्थारोपाभावात् निर्विषयत्वं निर्विकल्पकज्ञानस्य स्यात्. किञ्च कोऽयं बुद्धिवृत्त्यनुग्रहः? यदि निर्विकल्पे जायमाने अर्थाकारारोपः, तर्हि सः आरोपो न उपपद्यते. बुद्धौ अर्थस्य अभावात्. बुद्धिवृत्तेरपि बहिर्देशे निर्गमम् अन्तरा असम्भवात्**" इति यौक्तिकाक्षेपो दर्शितः तत्र वाल्लभदृष्ट्या इह यत् किमपि यौक्तिकं समाधानं मनसि स्फुरति तद् उत्थाप्याकांक्षापूर्त्यै आवेद्यते : न तावद् अस्माकं मते निर्विकल्पज्ञानस्य सर्वथा विषयाकाररराहित्यम् आपादयितुं शक्यं "पुरोवस्थितम् इदं किञ्चिद्"

इति विषयाकारस्य अभ्युपगतत्वेन निर्विकल्पकज्ञाने अभ्युपगतत्वेन न तत्र निर्विषयकत्वापत्तिः, नामगुणकर्मसामान्यधर्माद्यनुल्लेखिन्याः अनुभूत्याः समनस्केन्द्रियेण निर्विकल्पकज्ञानवता पुरुषेण अपलपितुम् अशक्यत्वात् न. नच एतादृशे विशेषानुल्लेखिनि ज्ञाने भासमानं पुरोवस्थितं स्फीतालोकवर्ति वस्त्वपि दूरदेशस्थवस्तुवत् स्वविशेषाकारं निगूहत्येवेति तत्र बुद्धिवृत्तिकृतविशेषाकारापेक्षैव न स्यात्. पश्चात्तु पूर्वानुभूत्यधिगतसंज्ञादिसंस्काराणां संकल्पविकल्पपरे मनसि समुत्थानेन च बुद्धिं प्रति मनसा च प्रदर्शितेषु सत्सु तामसराजससात्त्विकान्यतमगुणोद्रेकजनितया च बुद्धिवृत्त्या तेषु संकलितानां अनवबोधसंशयभ्रमादिवृत्तयः कुतो न समुपजायेयुः? सर्वस्यापि प्रत्यक्षावभासस्य इह परस्परसापेक्षदुर्लक्ष्योत्तरोत्तरावस्थाभेदेन शतपत्रवेधवद् झटिति जायमानत्वेन बाह्यार्थविशेषाकारारोपोऽपि तत्र बुद्धेः बहिर्गमनापेक्षाभावादेव नासम्भवः.

एतेन ''**वाल्लभेतु विषयेन्द्रियसम्पर्काद् मनसि निर्विकल्पकं जायते. तत् किं निर्विषयं सविषयं वा? सविषयत्वे केन विषयाकारः आरोप्यते? बुद्धिवृत्तेः पश्चाद् भावितत्वाद्. यदि तद् निर्विकल्पकं ज्ञानं स्वभावादेव विषयम् अवगाहते चेद् विषयप्रकारमपि अवगाहेत, बुद्धिवृत्तेः का आवश्यकता?** इत्यस्यापि पर्यनुयोगस्य समाधानं जायतएव. यस्मात् निर्विकल्पकं हि तावत् समनस्केन्द्रियजनितं ज्ञानं सविषयकमेव. तत्र अवभातस्य अनवगतविशेषाकारस्य वस्तुनः पश्चाद् संकल्पविकल्पात्मकमनोगृहीतस्य विशेषाकारस्य बुद्धिवृत्त्या ग्रहणपूर्वकं निर्विकल्पकज्ञाने तद्विशेषाकाराधानम्. तेनच निर्विकल्पकज्ञानक्षणे विशेषाकारवत्तया अनवभातप्रकारता-कांक्षायामेव पश्चाद् बुद्धेः विशेषाकारावभासकतापि संशयभ्रमाध्यवसायाद्यन्यतमबुद्धिवृ-त्तिरूपा सुवचा. इयमेव खलु बुद्धेः आवश्यकता. यदि उच्येत मनसैव तद् भवतु तदा इदम् आलोच्यतां मनसोऽपि का आवश्यकता? यदि पुरोवस्थितवस्तुसंयुक्तस्यापि चक्षुषो मनःसाचीव्याभावे तद्ग्रहणसामर्थ्यानुपलम्भाद् आवश्यकता अस्त्येव इति चेत् तदा तेनैव न्यायेन बुद्धेरपि आवश्यकत्वम् अंगीकार्यम्. तथाहि अमनस्कपुरुषस्य इन्द्रियाणां विषयसंयोगेऽपि विषयानुपलम्भदर्शनाद् यथा मनसः आवश्यकता तथैव समनस्कपुरुषस्यापि इन्द्रियसंयुक्तार्थोपलम्भक्षणे विषयविशेषाकारादेः यदि उपलम्भनैयत्यं चेत् तदा अनवबोधसंशयभ्रमानुदयप्रसंगः.

अथ अनुपलम्भनैयत्यं चेद् अध्यवसायप्रत्यभिज्ञास्मृत्यनुदयप्रसंगः. ततः संकल्पविकल्प-हेतुना मनसा स्वकार्यकरणेऽपि अनवबोधसंशयभ्रमाध्यवसायस्मृत्यादेः उपलम्भादेव मनोभिन्नायाः बुद्धेः अंगीकारोऽपि आवश्यकएव. नहि ज्ञानं स्वस्वभावादेव स्वविषयम् अवगाहतइति बाह्याभ्यन्तरकरणनिरपेक्षेण स्वभावेनैव लोके विषयावभासनं सम्भवदुक्तिकम्.

एतेन "**किञ्च बुद्धौ यदि विषयाः सन्ति इति मतं तर्हि योगाचारमतापत्तिः नहि बुद्धौ बहिर्वद् विषयाः सम्भवन्ति अपितु वासनारूपतयैव**" इति आपादनमपि निरस्तं वेदितव्यम्. यस्मात् "**तदेतत्(नामरूपकर्मत्रिकं) त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा, आत्मो एकः सन् एतत्त्रयम्**" (बृह.उप.१।६।३) इति एकस्य त्र्यात्मकता त्रयाणां च एकात्मकता चेति तादात्म्यवादिनाम् अस्माकं मते "**सर्वं सर्वमयम्**" इतिच श्रुत्यनुरोधाद् प्रागपि इन्द्रियार्थसंयोगाद् इन्द्रियार्थवस्तुनो नामात्मकतया बुद्धौ विद्यमानता. तथा वस्तुन्यपि नामवद्बुद्धेरपि रूपात्मकतया विद्यमानतायां दोषाभावात्. विद्यमानयोरपि नामरूपयोः आविर्भावस्तु पाञ्चभौतिकपदार्थानां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धत-न्मात्राद्वारा तत्तद्ग्रहणोपकरणभूतैः इन्द्रियैः सह परस्परसंनिकर्षव्यापारद्वारकएव, समानस्वरोपेतयो इतरेतरपार्श्ववर्तिनोः द्वयोः तन्तुवाद्ययोः एकस्य वादने अपरेस्मिन् स्वरानुरणनवत्. इन्द्रियाणाञ्च मनोहंकारसात्त्विकबुद्धिरूपाभ्यन्तरकरणव्यापारैः उपकृतानां पुरोवस्थितविषयेण सह सम्पर्के सति तस्मिन् "**चक्षुषा आलोच्य वस्तूनि विकल्प्य मनसा तथा अहंमत्यापि अहंकाराद् बुद्ध्यैव हि अध्यवस्यति**" इति प्रणालिकयैव ज्ञेयताविर्भावः. तस्माद् यथा सौत्रान्तिकनये अर्थसारूप्यं ज्ञानप्रामाण्यघटकं तथा वाल्लभनये ज्ञानाविर्भूतनामादिसारूप्यम् अनुभूतिगोचरस्य वस्तुनः प्रमेयताघटकम् इति आस्थेयम्.

एतेन "**मायया मनस्यपि विषयाकाराक्षेपसम्भवात्. किंवा मायया निर्विकल्पकज्ञानएव विषयाकाराक्षेपसम्भवाद् व्यर्थो बुद्धिवृत्यंगीकारः**" इत्युक्तिरपि परास्ता भ्रमात्मकज्ञाने विषय-तद्बहिष्ट्व-बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वादीनां विनैव सर्वावभास-कतोपलम्भकत्वदर्शनात् न प्रमात्मकेऽपि ज्ञाने एतेषां प्रत्यक्षगोचरत्वं वा अनुमेयत्वं वा व्यर्थम् इति शक्यशंकं, सौत्रान्तिकमतत्यागेन योगाचार-माध्यमिकमतप्रवेशापत्तेः.

अपिच ''**इन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् मनसि यद् ज्ञानं जायते तत् किं मन:परिणामरूपम्? किंवा मन:समवायी मनोधर्म:? किंवा मनसि अर्थाकारारोप:?. प्रथमे निर्विकल्पकं मन:परिणाम:, सविकल्पकं च बुद्धिपरिणाम: इति गौरवम्. वृत्तिरपि बुद्ध्यवस्थाविशेषएव तै: अंगीक्रियते**'' इति यद् उच्यते तत्रापि वाल्लभमतीयप्रक्रियानुरोधाद् एतेषां विकल्पानां न एकसत्त्वे अपरासत्त्वरूपविरुद्धकल्पता. तस्माद् इन्द्रियार्थसंनिकर्षाद् मनसि जायमानं निर्विकल्पकं ज्ञानं हि आदौतु विषयोपरञ्जितमनसः साधारणपरिणामविशेषरूपएव. सः परिणामविशेषो जायमानो मनःसमवायितया मनोधर्मरूपोऽपि कुतो न भवेत्! भवतु च तेन मनसि संस्काररूपेण अवस्थितस्य वस्तुविषयकसंकल्पविकल्पोद्बोधनम्. तेषाञ्च पुनः बुद्धिं प्रति मनसा कृतेन प्रदर्शनेन बुद्धौ सविकल्पकज्ञानोत्पत्तिरपि भवित्री. ननु कल्पनागौरवम् इति चेत् न, यथा सौत्रान्तिकनये ज्ञानातिरिक्तज्ञेयांगीकारेऽपि न कल्पनागौरवं तथैव वाल्लभनयेऽपि सौत्रान्तिकेन सोढव्यमेव.

किञ्च ''**माया यदि भगवतो व्यामोहिका शक्ति: तर्हि सर्वस्य विज्ञानस्य भ्रान्तत्वापत्ति:. यदि सर्वभवनरूपाशक्ति: तर्हि विज्ञानस्य भ्रमत्वानापत्ति:**'' इति या आपत्तिः प्रदर्शिता तत्रापि बाह्यविषय-तद्ग्राहकबाह्याभ्यन्तरकरण-तथाभूतकरणोपहितजीवचैतन्यम् एतेषां च मिथः संयोगवियोगादिव्यापारानुकूल्यं च एवमादिसर्वं भगवतः सर्वभवनसामर्थ्यरूपमायायाः कार्यम्. एतद्वैपरीत्येन बाह्यवस्तुनि स्वभासकानुभूतिवैपरीत्यं बाह्यवस्त्वभासके ज्ञाने स्वावभासितवस्तुवैपरीत्यं च व्यामोहिकायाः मायायाः कार्यम् इति न कापि अनुपपत्तिः.

किञ्च ''**वाल्लभमते ज्ञानं जडं चेतनं वा? जडत्वे विषयप्रकाशनासम्भवात्. चेतनत्वे आत्मनो जडत्वापत्ते:, एकत्र चैतन्यद्वयानंगीकारात्. अथ चैतन्यं चेतनस्य आत्मनो धर्मएव इति मतं तर्हि शरीरादिसंघातस्य आत्मनि अध्यासात् आत्मचैतन्येनैव प्रकाशसम्भवाद् अलं बुद्धिवृत्त्या मानसे ज्ञाने अर्थारोपेण**'' इति यद् आपादितं तत्र तादात्म्यवादिनि वाल्लभमते एवं प्रश्नाक्षेपावेव तावद् न उपपद्येते, सर्वस्यापि जडचेतनरूपस्य जगतो ब्रह्मोपादानकत्वेन ब्रह्मतादात्म्यांगीकारेण परस्परतादात्म्यस्यापि अभ्युपगतत्वेनैव तादात्म्यस्य च भेदसहिष्णवभेदरूपतयापि अंगीकारात्. भेदव्यवहारोप-

पत्तये तावत् प्रक्रियातु उपपादनीयैव वाल्लभैरपि. तत्र ऋते चार्वाकमतं सर्वेषामपि वादिनां मतेषु — ज्ञानाद्वैतवादिनो वा भवन्तु ज्ञानज्ञेयद्वैतवादिनो वा — एते जडरूपाएव चित्ताहंकारमनोबुद्धयः चक्षुस्त्वग्घ्राणरसनश्रवणेन्द्रियाणि च भवन्ति. तेष्वेतेषु — बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेन वा भवतु अयोगोलकन्यायेन वा — ज्ञानोत्पत्तिः वा ज्ञानोत्पत्तिभ्रान्तिः वा सर्वैः खलु अकामैरपि अवश्यांगीकार्यैव, अन्यथा प्रत्यक्षानुत्पादप्रसंगापत्तिरिति "न सार्वजनिकं दुःखम् एकः सोढुम् इह अर्हति!" नूनं तदेतत्तु सर्ववादिनां दुःखं सर्वैः मिलित्वैव सहनीयम्!

याच "**बुद्धिवृत्तिः बुद्धेः अर्थाकारावस्थाविशेषः इति तदपि न उपपद्यते. बुद्धौ विषयाभावात् तस्य विषयस्य च घटादेः बाह्यत्वात्. मायया आक्षेपोऽपि समानाकारस्यैव न वस्तुतो विषयस्य तथानुभावात्. एतस्माद् वरं बुद्धेः बहिःनिःसरणमेव तथात्वे सिद्धान्तहानिः. बहिःनिःसरणाभावे बुद्धौ अर्थाकारो विषयेन्द्रियसम्पर्काद् इति सौत्रान्तिकमतप्रवेशः**" इति वाल्लभमतस्य सौत्रान्तिकान्तिकतापत्तिः प्रदर्शिता सा खलु बाह्यार्थानुमेयवादिना सौत्रान्तिकैः तावद् न प्रदर्शयितुं शक्या, यस्माद् बुद्धेः बहिर्निस्सरणे बोद्धुः बुद्धिराहित्यापत्त्या बाह्यार्थानुमितिरूपा बुद्धिरपि नोदीयात्. यदितु वेदान्तपरिभाषोक्तरीत्या तडागकुल्याकेदाराधिष्ठानेषु प्रवहमानजलवत् न बुद्धेरेव बहिःनिस्सरणं किन्तु बुद्धिवृत्तेरिति बहिःनिस्सरणमिव कश्चन ऐन्द्रियकप्रणाड्या विषयदेशसंगमः इति प्रस्तूयेत, तदापि न स संगमो अंशभेदेन तडागदेशत्यागपूर्वकं केदारदेशावस्थानं जलस्येव बुद्धिवृत्तेरपि सम्भवति. यस्मात् स्वदेशावस्थितबुद्धिवृत्तेः अंशेन स्वाधिष्ठाने बोद्धरि अवस्थानं अंशेन च विषयाधिष्ठानेऽपि अवस्थानं, तदा एतयोः द्वयोः अंशयोः ऐक्यं वा भेदो वा? ऐक्येतु "अहं घटो घटद्रष्टा च" इति प्रतीत्यापत्तिः. भेदेतु तादृशेन भिन्नेन अंशेन देहात् छिन्नेन करेणेव वस्तुग्रहणसामर्थ्यहानिः दुर्वारैव. नापि दर्पणे बिम्बाकारितासद्भावे दर्पणस्य बिम्बदेशे गमनम् अथवा बिम्बस्य दर्पणदेशे गमनम् आवश्यकम् इति केनापि उपदेष्टुं शक्यम्.

सर्वथातु सौत्रान्तिकचिन्तनकाले वाल्लभवेदान्तस्य अजातत्वेन एतयोः मतयोः मिथो यद् मौनमिव आसीद्. श्रीमद्भिः पारसनाथमहाभागैस्तु स्वासाधारणवैदुष्येन

सौत्रान्तिकवाल्लभवेदान्तिनौ परस्परमतविषयकं मौनं सेवमानौ मिथो वाग्व्यवहारव्यापृतौ कृतौ. तदेतद् महते उपकाराय सर्वेषामेव कृते भवेदिति भृशम् स्वकार्तज्ञ्यं प्रकाशयन् विरमामि.

Dharmakīrti and Vallabha on Pratyakṣa : Juxtaposition

Dr. Mangala Chinchore

In the classical history of Indian philosophical traditions, we find that Pratyakṣa plays a very important role and hence there is unanimity in assigning the status of an independent Pramāṇa to Pratyakṣa (means of cognition and / or justification). In this consideration there is no differentiation possible between Cārvāka, Śramaṇic and Brāhmaṇical traditions. This is mainly because, common-sensically as well as philosophically, it is the easiest and simplest mode of getting access to reality—both internal and external—directly.

However, if one undertakes an in-depth study it becomes clear that though there is consensus in accepting Pratyakṣa as an independent Pramāna, the nature and status of it advocated by the various philosophical traditions and their numerous adherents, is not the same. And hence, there are various conceptions and interpretations of Pratyakṣa. There may be certain similarities and dissimilarities, too. Very many times similarities are emphasized, but dissimilarities also need to be paid enough attention to, if one wants to understand uniqueness of a particular philosopher or a tradition. Hence, it becomes interesting and important to investigate into such

differences of opinion and critically examine the reasons behind the respective strands.

In the present paper, I am going to pay attention to two such views, viz. of Dharmakīrti, a well known Buddhist scholar from Mahayana tradition and of Vallabha, a spokes-man of Vedānta especially Śuddhāvaita-Vedānta. I have chosen these traditions, because Buddhism and Vedānta both have considerably influenced our day-to-day life and practices right from ancient times and even today are living traditions. More importantly, they were predominant philosophical trends of thought, such that all the rest of the traditions of Indian classical period were influenced by them in one way or the other, and hence borrowed some points and concepts from them in due course of time. Thus, both in thought and practice they have made significant contributions.

Historically, though Dharmakīrti (7th Cen. A.D.) and Vallabha (15th Cen. A.D.) were neither contemporaries, immediate predecessors and successors, nor have they involved into debates and controversies directly or indirectly, nor even Vallabha criticises the views of Dharmakīrti in general or with regard to Pratyakṣa specifically, still it is pertinent to juxtapose their views. It is because, perhaps, Dharmakīrti attempts to give a methodologically comprehensive and appropriate analysis of Pratyakṣa within the camp of Buddhism for the first time. In comparison to his predecessors like, Asañga, Vasubandhu, Dinnāga[1] etc. it is distinct, and with

regard to his successors also, it seems, it is unique. It is distinct in number of ways and hence followers of him, it seems, have not made any major alteration and modification in the analysis and explanation of Pratyakṣa given by Dharmakīrti, while writing the commentaries. Various philosophers wrote commentaries by just adding further explanatory note/s, but the core remained almost untouched. Thus, the impact of Dharmakīrtis' views on his followers and successors within the Buddhist tradition is considerably noticeable, but even on the later non-Buddhist philosophers[2] too it is not negligible. On the other hand, Vallabha is proclaimed to be a true-spokesman and as an authentic representative of Vedānta and hence is called as the founder of Śuddha-advaita (Vedānta in the purest/unqualified form). He represents a deferent school of Vedānta. He has attempted, it seems, to analyze and explain Vedāntic conception of Pratyakṣa in a simplest way and transparently. Thus, the choice of selecting the two representatives of respective traditions is not arbitrary but backed by a philosophical consideration. To compare and contrast the views of Dharmakīrti and Vallabha with reference to Pratyakṣa and find out similarities and dissimilarities, along with their contentions is the aim of the present paper, which I wish to undertake in the following two sections. In the first section, I shall consider their analysis of Pratyakṣa and point out some of the similarities or dissimilarities. On this background, in the second section, I shall inquire into the reasons behind their differences of opinion and corresponding perspectival variations anchored

in the respective philosophical foundations.

SECTION - I

Analyses of Pratyakṣa: Similarities and Dissimilarities

As is well known, the word Pratyakṣa is used generally in two senses, i.e. as a Pramā (cognition) and Pramāṇa (means of cognition and/or justification.) For both Buddhists and Vedāntins in general, there is a distinction between the two. It is Pramā, which is cognitively much more important for both, yet it is Pramāṇa that is essential indeed for acquisition of the former, but it is methodologically secondary. For, unless there is an instrument to cognise (Pramāṇa), there is no possibility of cognition (Pramā). Further Pramāṇa determines both form (Ākāra) and content (Āśaya) of the cognition (Pramā). Hence, obviously, in comparison to Pramā, Pramāṇa is logically primarily important; on the other hand, Pramā is epistemically primary. Nonetheless, there can be and actually is a difference of opinion with regard to the autonomy of Pramāṇa. One may advocate that the nature and number of Pramāṇa/s are not determined independently by themselves, but by either Prameyas or Pramātā[4]. Yet, an inquiry into epistemic/cognitive considerations begins primarily from Pramā, and Pramāṇa/s derivatively, is a point to be noted. However, we cannot go into the details of this issue here.

All the philosophical traditions of Indian origin hold a

view that knowledge is essential not only for the destruction of and freedom from Avidyā/Ajñāna negatively, but for emancipation (Mukti or Nirvāṇa) by understanding the true nature of reality, positively. And this is true with regard to both Buddhism and Vedānta, as well. There are, perhaps, four important considerations commonly acceptable to both-

1. There is a possibility to know the ultimate truth, it is not unknowable.
2. There exists something 'real' to know and it can be known directly, hence Pratyakṣa Pramāṇa is upheld.
3. Such cognition of truth is basically Nirvikalpaka (indeterminate) in nature.
4. Savikalpaka (determinate) is not a legitimate kind of perception.

Let us discuss these points of similarity:

Our existence, continuation and growth as a human being is in some way or the other essentially connected to knowledge. And we are minimally being endowed with sense organs, which enable us to have access to the external world and other things remaining the same, cognition derived from them is authentic and reliable. To have sensation is a sign of our existence psycho-physically as well as epistemically. Our co-relation with the external world could legitimately be established via experience. And hence, there is a need to accept direct and immediate avenue to actual world we live in and our being essentially co-related with it. It is this,

perhaps, which compels them to advocate Pratyakṣa as a Pramāṇa, minimally.

Further, both uphold the primacy and decisive significance of Nirvikalpaka-Pratyakṣa (indeterminate-perception). The very definition of Pratyakṣa given by Dharmakīrti[5] specifically is such that it excludes anything imaginarily conceived (Kalpanā-apoḍha) and deceitful (Abhrānta) in nature. It only concentrates on veridical kind of it, bereft of any kind of non-reliability, viz illusion, hallucination, dream experience, or even ideation and conception, etc. That is why it is non-shareable, incommunicable. It is knowledge acquired directly through acquaintance and hence is a pure form of sensation. A similar kind of conception of Pratyakṣa also is seen at the hands of Vedāntins in general and Vallabha[6] tradition in particular. According to Vallabha, Pratyakṣa is free from words, because what we experience directly cannot be expressed truly. Such an experience is pure and simple. There is a need and necessity of sense organs for getting direct cognition of the external world, which is acknowledged by both, Vallabha and Dharmakīrti.

Both hold a view that Savikalpaka-Pratyakṣa (determinate--perception) cannot be considered as a true case of it, because it is not a simple and authentic representation of reality as such. Reality as it is, exists in the world and without any adulteration could be known / apprehended directly. Since, in order of being existence is prior as contrasted to its

knowing and still further its communicating. Nirvikalpa is cognitively primarily important. There is no reflective thought essential for the cognition of reality, as it truly exists. Without intervention of thought/s and expressions—verbally or non-verbally—i.e. without the help of signs and symbols or words, we can know existence appropriately in a simpler way directly. Hence, Savikalpaka-Pratyakṣa is not a true kind of cognition of the ultimate reality but it is a distortive understanding. For the sake of communication and/or explanation of whatever we have cognised directly, we take help of expressions; but they are our ways of understanding and interpretation of facts, and not what is true basically.

Moreover, it is neither the form (Ākāra) nor relatedness (Sambandha) or any kind of determination that is essential for proper understanding of the ultimate reality. If a question is raised: Can Pratyakṣa be used as an access to ultimate reality without earlier experience or conception/s? To this both, Buddhist in general and Dharmakīrti in particular on the one hand and Vallabha specifically and Vedāntins in general on the other hand, agree on the point that the autonomy of direct cognition needs to be stressed universally. In order to make sense of a particular experience, earlier experience of it is not essential. For, it is only in the context of incidence of direct cognition, existential reality could be revealed with simplicity, clarity and distinctness, and not on the basis of its prior experience.

One more point of similarity between them needs to

be paid attention to, viz. knowledge of the ultimate reality (Paramārtha-Sat) is such that there cannot be a distinction between knower (Jñātā) object (Jñeya) and knowledge (Jñāna) at the time of its incidence. Such a three-fold distinction is pertinent only on the general level of communication, interpretation and explanation of our experience of reality, which is conventionally true (Lok-Saṁvrtti-Sat). Ultimately, however, all of them are convergent, and hence such a distinction itself is not vital. At the moment of incidence of cognition discrimination and distinction of the above sort, is simply unavailable and hence it is primarily redundānt and futile. It is only when we wish to justify our knowledge claim/s or communicate them to others, it becomes essential to put it into an epistemic framework and its categories of understanding. Further, for incidence or occasioning of an experience, no other person is essential to be present. Nor for its being reflectively interpreted and communicated, we require another person as Naiyāyikas hold. I can very well communicate and explain to myself, in order to better understand, what I have cognised. Thus, privacy of incidence of cognition and its subjectivity needs to be maintained going against the so-called sway of objectivity.

Lastly, but not least importantly, both hold a view that we have a disposition to cognise and we are endowed with sense organs. This opens the possibility to comprehend reality, but unless and until something is given objectively to comprehend, we cannot utilize our capacities. Hence,

independently of us world can exist, but anyone knows it directly only through perception with the help of sense organs. Although we are very many times passive recipients of the comprehension/s and are capable of revelation of ultimate reality, yet whatever we cognise directly just because it is given to us, may not be true and authentic manifestation of the ultimate reality as such. And hence, deception can be there in our experiential cognition. So, there is a need to discriminate between veridical and non-veridical cognition. So long as we are alive there is a permanent possibility of deception and misunderstanding, but it is only through Pratyakṣa that we can be free from such bewitchments and misconceptions with regard to reality, as it exists.

After knowing the points of similarity, let us turn to consider some points of dissimilarity. They are as follows:

i. Status of Pratyakṣa : To begin with, the very status of Pratyakṣa as a Pramāṇa, for Vedāntins is secondary not only enumeratively, but also functionally. When there is a clash between the two kinds of cognition, viz. acquired through Śruti and Pratyakṣa, it is Śruti that enjoys an exclusive prerogative, context-freely. And, when we attempt to justify our directly apprehended knowledge-claim/s, Śruti is the touchstone of it ultimately. Though Vallabha admits Pratyakṣa[7] as a Pramāṇa along with the other three, viz. Śruti (Authority / Testimony), Aitihya (Tradition) and Anumāna (Inference), it is only within the framework of Śruti that the remaining three have to be made

sense of and not independently. Thus, Śruti not only puts a constraint on the nature and function of Pratyakṣa and thus operates as a determiner, but going one step ahead even they are ready to subsume Pratyakṣa under Śruti[8]. This implies that the autonomy and independence of Pratyakṣa is relative to and delimited by Śruti.

On the contrary, for Buddhists in general and Dharmakīrti in particular, the status of Pratyakṣa is completely independent and autonomous for its' functioning, and so is Anumāna, or vice-versa. As they admit only two Pramāṇas[9], viz. Pratyakṣa (perception) and Anumāna (inference), over and above these two no other means, like Śruti or Aitihya, need to be admitted. Hence, the question of reduction or subsumption of Pratyakṣa to any other Pramāṇa simply does not arise. Even though enumeratively Pratyakṣa is prior, such a priority is not determinative of the nature and status of Anumāna. For, enumerative priorities cannot be determinative of cognitive and/or justificatory priorities. Further, since Anumāna is independent, it cannot be subsumed under or reduced to Pratyakṣa either.

ii. Meaning of Nirvikalpaka: Although both of them define Pratyakṣa in terms of Nirvikalpaka-Pratyakṣa (indeterminate--knowledge) and deny Savikalpaka-Pratyakṣa (determinate-knowledge) as a true case of Pratyakṣa, they differ on the nature of direct cognition itself. According to Vallabha, Pratyakṣa is Indriyātmaka (consisting of and originating from Indriyas)

only, and hence Pratyakṣa-Pramā (direct-cognition), its nature and structure, is determined by the sense organs. This restrictive understanding of the meaning of Pratyakṣa will not be and indeed is not acceptable to Buddhists in general and Dharmakīrti in particular. According to him, the content of cognition need not be determined by the channels (Āyatanas /Indriyas)[10], through which it is acquired. For, it is possible to comprehend directly and immediately even without Indriyas, say for example, in the case of Mānasa-Pratyakṣa, Sva-saṁvedana or Yogī-Pratyakṣa etc.[11], we do not necessarily require sense organs. It is the content in its exhaustive form and characteristic way that is to be taken into account while defining Pratyakṣa. By its very nature and definition of it, it is Kalpanā-apoḍha (free from mental construction like ideas, thoughts concepts, imagination etc.) and Abhrānta (devoid of fictitious and erroneous modes of it like illusion, hallucination, dream, etc.), as necessary and sufficient features of it. Generally, the true nature of it is reflected in its defining features, which will enable anybody to differentiate it from indirect (A-parokṣa) cognition. And more importantly, Indriya/s are not the causal determiners of the complete nature of direct cognition, but they can open the possibility of it. Hence, they are sufficient conditions but not necessary as well. Be that as it may. For fear of digression we cannot afford to linger over this point here.

iii. Nature of Pratyakṣa: Pratyakṣa is not monotonously and restrictively to be understood, as Indriya-Pratyakṣa only, as

Vallabha seems to be doing. According to Dharmakīrti, Pratyakṣa is of four kinds viz. Indriya, Manasa[12], Sva-saṁvedana[13] and Yogī[14]. Except the first one the remaining three, seem to be neglected by Vallabha-Vedāntins, and hence the nature and treatment of Pratyakṣa at their hands seems to remain incomplete.

Further, even restricting to the consideration of Indriya-Pratyakṣa, unlike Vedāntins, Buddhists hold a view that Indriyas are five and not six. Manas (mind) is not an Indriya (Physical-organ), but a faculty of comprehension and has independent existence, apart from the other sense organs. The nature and function of Manas is not similar to our organismic physical body; it is qualitatively different altogether. It is through mind that we cognise various mental states, such as pain, pleasure, aversion, attraction etc, which cannot be cognised by sense organs. Secondly, Sva-Saṁvedana too cannot be considered within the framework of Indriya-Pratyakṣa, because I can cognise that I am cognizing, without the involvement of sense organs or of mind, and hence is an independent kind of Pratyakṣa. Similarly, Yogī-Pratyakṣa advocated by Buddhists, is neglected by Vedāntins. Yogī-Pratyakṣa is that kind of cognition, which enables us to know about past, present, etc. and about the subtleties of existence, which are impossible to be analysed within the framework of Indriya / Manasa / Yogī-Pratyakṣa.

iv. Object of Pratyakṣa: Although both are of the view that

Pratyakṣa enables us to comprehend reality truly, for Buddhists such a reality consists of unique, particular, momentary features (Sva-lakṣaṇas), which are susceptible to change (Anityatā) and are non-substantial (Anātmatā) in nature. On the contrary, for Vallabha, reality is Nitya and Śaśvata (eternal and permanent). And it consists only of universal transcendental principle, i.e. Brahman. According to Buddhists, particularity and uniqueness is a built-in nature of Svalakṣaṇa/s,[15] i.e. ontological-existence. And hence, differentiation and distinction is given to us and we do not fabricate it due to our Avidyā or Māyā, as Vedāntins, it seems, attempt to argue. To discriminate and differentiate is embedded in the phenomenal/e-mpirical world, which is not ultimately true nature of reality, is the contention of Vedāntins. It is wrong to hold that differences and distinctions don't exist ontologically, but are creations of our mind and its webs, according to Buddhists. Rather, distinctions and differentiations are given to us and determined by the very nature of ontological reality and are not always the products of our wild-imagination. Hence, even though both are ready to accept Nirvikalpaka-Pratyakṣa, the meaning and nature of it at their hands is different. According to Buddhists Nirvikalpaka is incommunicable, not because of non-existence of differentia and uniqueness, but due to generality of the nature of words. Whereas for Vedāntins, it seems, that reality is incommunicable because of its uniformly being one and hence, no differences are ultimately real. Differentiations totally being products of mind and language, the truly real is 'neti neti' i.e. not so discriminated.

v. Nature of Savikalpaka: Even though, prima facie, both deny Savikalpaka Pratyakṣa as a legitimate variety of it, the meaning of Savikalpaka too seems to be different. Whenever a distinction between part and whole (Aṁśa and Aṁśin) is held, it is significant conventionally (Lok-Vyavahāra-Sat) in the phenomenal world only and it is a product of the play of God (Prabhu-līlā) for Vedāntins like Vallabha. Whereas, Buddhists in general and Dharmakīrti in particular, argues that Savikalpaka is not a true case of Pratyakṣa at all, but is articulation and formulation of already cognised something directly (Adhyavaseya), and hence it is to be considered appropriately under Anumāna. Since for cognition of something directly and its justification, Pratyakṣa is enough. Such a knowledge--claim of the object of cognition directly (Grāhya) can alone be demonstrated or established (Adhyavaseya) by the corresponding object so acquired (Artha-sārūpya). As when we try to explain and communicate about our cognition of the ultimate reality it is not a matter of dogma but requires proof (Adhyavaseya), in order to be claimed as a true piece of knowledge. It is like-truth but not truth, though it is not illusion (Bhrama) for that reason. Thus, Savikalpaka is neither illusion nor fictitious one, but truth attempted to be captured with approximation in thoughts and words, based on our understanding of the facts conventionally (Lok-Saṁvrtti--Sat). There is nothing like a play of God or otherwise. There is continuity experienced by us but it is relative and contextual, which could be made sense of only within the framework of change (A-nityatā) and non-substantiality

(Anatmatā) and not independently of the two, according to Buddhists.

vi. Role of Nirvikalpaka: The true nature of Pratyakṣa is Nirvikalpaka, which according to Vedāntins like Vallabha is determined by the nature of Brahman. Brahman alone is Sat (real), Cit (conscious) and Ānanda (bliss) Svarūpa and is one and only one (Ekam). Naturally, comprehension of truth which is made available to us through Nirvikalpaka-Pratyakṣa will have to be uniformly the same or identical. Moreover, the truth will be eternal and the same, since the reality captured by it is Nitya (eternal) and reliable. It is the transcendental unity preserved by the very nature of Brahman and is experienced directly. Since, Brahman manifest everywhere as Sat (real), Cit (consciousness) and Ānand (bliss) - Svarūpa, anything that is objectively experienced by us is also of that kind. Further, Brahman is Nitya (eternal), Eka (one) and Anirvacanīya (impossible to be described). Correspondingly our cognition of it, also exhibits such features of it.

In contrast to this, Buddhists also advocate primacy of Nirvikalpaka-Pratyakṣa, but it is because of its uniqueness and extreme particularity. Further, they hold that the world is not constituted of transcendental principle - one or many - but the plurality and variety is its built-in feature. On the contrary, Vedāntins like Vallabha hold a view that corresponding to our direct cognition we cannot acquire objects in the

real world (A-prāpyakārī), even though such a truth can have continued existence (Sātatya and Nairantarya), which Buddhists will not be ready to admit. According to Buddhists, as mentioned above, Svalakṣaṇa/s being momentary we can have objects corresponding to our cognitions acquired directly (Prāpyakārī). Repeatability is not only denied but is improbable as well. For Vedāntins it is not an Indriya (sense-organ), which knows the object, but through sense organs it is the Buddhī (intellect), which reveals it. And, Buddhī is of three kinds viz. Sāttvikī, Rājasī and Tāmasī[16]; hence we have correspondingly three kinds of comprehensions. Such a classification of Buddhī and corresponding to it of cognitions cannot be held in the Buddhist framework, as according them any Buddhī is an articulated cognition, whether it be Sāttvikī or otherwise. Nor like Vedāntins will they be ready to hold that only Sāttvikī-Buddhī is Nirvikalpaka-Pratyakṣa, and the rest two are Savikalpaka. For them, anything, which is Kalpanā-poḍha and Bhrānta, is Savikalpaka and anything, which is Savikalpaka, obviously cannot be Nirvikalpaka. The difference between Nirvikalpaka and Savikalpaka is only of the stages, the former is cognition prior to communication, while as the latter is after its' being cognised and/or communicated, and not of kinds. On the contrary, it is not stages of cognition but of its kinds, one belonging to the realm of pure nature of Brahman being comprehended and another of our day-to-day empirical facts being cognised, according to Vallabha.

vii. Process of Pratyakṣa: Lastly, but not least importantly,

coming to the process of Pratyakṣa. Dharmakīrtis' analysis of Pratyakṣa is not process-oriented; nor does he give a detailed explanation of the process of each kind of Pratyakṣa. Rather, he is much more interested in the content and prefers to give a qualitative analysis of it. He stresses on the cognitive and justificatory (both) role of Pratyakṣa, and classifies Pratyakṣa (Nirvikalpaka) into four kinds viz. Indriya, Mānasa, Sva-saṁvedana and Yogī, as mentioned above. In each case, the process is different, and hence it is redundānt and futile to discuss the process of cognition carried out separately in each kind. Even when we restrict to his analysis of Indriya-Pratyakṣa we find that he stresses on the object of cognition and respectively its content. And on that basis he analyses the nature of it and not on the basis of sense organs correspondingly determining its kind. For the simple reason that Indriyas alone don't shape and determine direct cognitions, hence any kind of Pratyakṣa is not necessarily determined by Indriyas. Without Indriyas, Mind (Manas) can enable us to comprehend mental states, and hence, Mānasa-Pratyakṣa is a separate category of Pratyakṣa. Similarly, in case of Sva-saṁvedana, we cognise that we are cognizing i.e. cognition of cognitive-process / cognitive states of existence and consciousness can be explained. In Yogi-Pratyakṣa, one can instantaneously contemplate, intuitively know and clearly but insightfully comprehend the future or subtleties which normally otherwise we cannot cognise with the help of sense organs or mind. Thus, in each kind of Pratyakṣa, the process of cognizing will be different. What is minimally at stake is something that is given to know (Grāhya) and someone

knows (Grāhaka)[17] momentarily, and at that moment they turn out to be convergent, united and are inseparable (Aikya) in fact ontologically. As the object of perception is free from discrimination and construction, so is its comprehension. Thus, Nirvikalpakatva of Pratyakṣa is determined by the sort of unique object that is comprehended in it.

On the other hand, in the case of Vallabha-Vedānta we find a detailed discussion of the process of perception, which seems to be a synthesis of Saṁkhya views on the one hand, Nyāya views on the other[18]. In the entire analysis of Pratyakṣa, it seems that it is the knower (Pramātā / Jñāta) that is at the center. For, the process of perception[19] begins due to the favour of God towards Antaryāmin (inner controller / knower), which initiates (Manas) Mind. Mind becomes ready for particular action being undertaken, Manas further initiates the concerned sense-organ / s (Indriyas), when a particular sense organ is favoured by Gods grace (Devatānukūlyena)then only it comes into contact with the object of cognition. This results into reflection of indeterminate cognition Nirvikalpaka-Pratyakṣa particularly. Then, after there is interplay of the three kinds of qualities (Guṇās) in the intellect (Buddhī), intellect may benefit (Anughraha) the respective sense organ either partially or totally, depending on which mental states manifest (Vṛtti) and that leads to determinate cognition (Savikalpaka). But so long as inner emotions like attachment, aversion or neutrality do not provoke (Preraṇā), inner and external activities like effort will not

emerge. This is necessary for actual external activity taking place in terms of acceptance or rejection or neutrality, ending into gain or loss, which is responsible for sorrow, happiness, or indifference. It means, when there is involvement of intellect (Buddhī) along with mental states (Vṛtti) it gives rise to Savikalpaka. Thus, determination with the help of form, quality, number, name etc. is due to admixture of Buddhī and Vṛtti, and not because of the object comprehended that possesses such attributes. Further, five important factors[20] are involved in any action including cognition, viz. Śarīra (body) as a Adhisṭhāna (substratum), Jīva (soul) as a Kartā (Agent), instruments (Karaṇa) such as sight etc. external sense organs action of Prāṇa etc., Ceṣṭā (vital air), Kāla (time) and God's will called Daiva (destiny) or the inner controller (Antaryāmī) of all living beings. All the five together are the instrumental determiners / conditions, along with the Brahman, which is always a constitutive condition. When cognitive action takes place a fraction and mixture of them appropriately is done. Thus, Vallabha believes that the operation of sense organs is not possible without presiding of deities of the respective the sense organs and their grace. Further, he holds, it seems, not only we can perceive external world but even perception of self and God is possible, through Pratyakṣa.

This is totally impossible to be made sense of within the framework of Buddhism, leave apart its acceptability. For them, neither God exists nor self is real, hence perception of them is out of question. Moreover these, above mentioned,

five factors, which are the instrumental conditions, and the Brahman (transcendental principle) as the constitutive condition, also cannot be accepted by any Buddhist, including Dharmakīrti. For Buddhists, Anityatā, Anātmatā and Duḥkha is the true nature of reality. Hence, ultimately no causal and substantial/transcendental framework of analysis will help us to understand and comprehend reality directly and truly. It is Pratītya-samutpāda (inter-connectedness), which can help to explain the nature of cognition and our knowledge of the reality; but there is nothing mystical. It is an event, which cannot be explained mechanically or totally as engineered deliberately and purposively. There is a possibility of contingency. Generally it is the external world given to us, from which explanatorily the process begins, and not by the grace of Paramātmā (God) or from Antaryāmin / Jñātā (knower). The object of direct comprehension is not engineered or fabricated by our wild imagination completely, which has its own distinct and unique existence. But, so too I am not a passive recipient. Perception too being an event, neither an action nor a process, it neither requires any action by involvement of or initiation from any agent, human or divine. Apart from other major differences, roughly speaking, it could be said that whereas Buddhists in general and Dharmakīrti in particular present an event-centric analysis of perception, on the contrary, Vedāntins like Vallabha basically put forth an agent-centric analysis of it.

With this background of the discussion of similarities

and dissimilarities, we propose to inquire into the reasons behind the respective strands and for that we turn to the second section.

SECTION -II

Reasons Behind the Perspectival Differences:

In the last section we have dealt with the views of Dharmakīrti and Vallabha with regard to the conception of Pratyakṣa and various issues concerning it, viz. definition, nature, status, role, conditions, process, kinds, etc. Now in this section, I shall attempt to inquire into why such similarities and dissimilarities are noticeable. At the outset it is clear that Dharmakīrti being chronologically prior to Vallabha, some considerations of Pratyakṣa are bound to be originated in his analysis and the latter being influenced by the former, however unknowingly it may be. Further, it is not altogether impossible that Dharmakīrtis some views are borrowed or brought in by Vallabha, if not directly by front door at least by back door, even though the former belongs to a non-Brāhamanical tradition. It was a normal practice, as evident in the classical period of Indian history of ideas. It was never considered as wrong to accept whatever is good, even though it may be originated in the opposite camp. One can at least see influence and impact of predecessors on successors irrespective of the consideration of the camp to which one belongs. And hence, such similarities are often noticeable, and to this trend perhaps even Vallabha is not an exception. That is why he retained the analysis of Nirvikalpa-pratyakṣa

as a core of ultimate reality to be cognized directly through Pratyakṣa and its primacy over Savikalpaka. Nonetheless, their analysis and interpretations of it differ due to their differential ontological strands and influence of their respective predecessors. Let us try to investigate into them briefly in what follows:

(A) Prāmāṇya / A-prāmāṇya Consideration : According to Buddhists in general and Dharmakīrti in particular, Aprāmaṇyam Svataḥ (non-reliability is an intrinsic nature of knowledge in its origination), but it becomes reliable only when it fulfills certain conditions of its authenticity (Prāmāṇyam Parataḥ)[21]. Exactly opposite is the view of Vedāntins, including Vallabha. According to them Prāmāṇya is Svataḥ (knowledge by its very nature is authentic and reliable), but due to external conditions conducive to pollution and adulteration it becomes unreliable (Aprāmāṇyam Parataḥ)[22]. Thus, they disagree on the Prāmāṇya (authenticity and reliability of knowledge) and Aprāmāṇya issue. For Buddhists any piece of information gathered through cognition- direct or indirect - in order to be called as a knowledge-claim worth the name, has to fulfill certain conditions of its reliability. Conditions of cognition and conditions of its reliability are different, and that is the basic point of difference between them. Knowledge, according to Dharmakīrti, by its intrinsic nature is not authentic but after going through certain examination, it becomes viable, acceptable and reliable. Such conditions are three, viz. Avisaṁvādakatva (non-inconsistency), Avijñātārtha-prakāśaka-

tva (knowing something hitherto unknown) and Vyavahartavyatva (pragmatic efficacy)[23]. Further, such cognition in order to be true has to fulfill additionally two more conditions in order to be true, viz. Artha-kriyā-kāritva (ability to provoke an action) and Arthasārūpya (correspondence). Thus, what is viable and acceptable need not be true as well. The last two conditions are pertinent only within the framework of Pratyakṣa and need not necessarily be fulfilled in the case of indirect cognition. Perceptual cognition (Pratyakṣa), thus, it seems, has to undergo five conditions for it's being reliable, and prove its worth as true; but by its very nature it is not true in its incidence.

For Vallabha-Vedāntins, as pointed out earlier, Prāmāṇyaṁ Svataḥ (knowledge by its very nature is self-evident). For its reliability it does not have to pass through any tests and examinations, as it is consisting of and determined by Brahman, how can it be unreliable? Naturally, conditions of cognition alone are necessary and sufficient to be considered. Any cognition in its very emergence is not only acceptable and reliable but true as well, and this holds good even with regard to Pratyakṣa. Moreover, this is for the simple reason that for Vallabha Śruti is the primarily important Pramāṇa, such that its authenticity and reliability cannot be challenged and all other Pramāṇas (i.e. three, including Pratyakṣa) have to function and operate only within the parameters of Śruti. It means if there is any clash between Śruti and Pratyakṣa, it is the former, which will supersede. Its nature being authentic,

reliability of it cannot be challenged, contested and questioned critically. Such is not the case with regard to Buddhist consideration of Pramáṇas / Pramā / Satyatva of Pramā. Going a step ahead, Buddhists are even ready to examine the thoughts of the Buddha; they are not held to be automatically authentic and authoritative, because and in so far as they are put forth by a particular person or accepted by a tradition. One can find out one's own way disregarding the route laid down by the Buddha, in changing circumstances and situations, if it is essential. Although, circumstantial forces compel one to live, act and experience certain things in a particular way, it is not ultimately and context-freely true. Neither the notion of truth is fixed and final, eternal and permanent, nor are our comprehensions of existential facts eternal and permanent. Hence, any comprehension, direct or indirect, by its very nature is liable to be unreliable (Apramāṇa). In contrast to this, for Vallabha in particular and Vedāntins in general, cognition of the Brahman cannot be challenged; though it can be directly made available, one will have to establish such a claim within the framework of Śruti. Moreover, one will have to follow a particular way laid down by the tradition (Aitihya), then only it will be possible to have such a kind of experience of ultimate reality directly. This seems to be dogmatic, from a Buddhist point of view. Be that as it may.

(B) Pramāṇa-Saṁplava V / S Pramāṇa-Vyavasthā: Vedāntins are ready to advocate Pratyakṣa to be given secondary status as compared to Śruti. For them, justificatory efficacy

of Śruti is much more stronger and indispensable as compared to Pratyakṣa, because one's sense organs can have limitation as well as possibility to be deceived is rit large, due to involvement of mind and various states of it. So context-freely Pratyakṣa is not an independent mode of cognition and its justification is not built into it. Rather, all the Pramāṇas are cognitively important but justificatorily Śruti is primarily important to all of them. Functioning of all Pramāṇas, jointly and collaboratively is admissible to them, as they uphold Pramāṇa-Saṁplava. For them, Pramāṇas - their nature and number is not determined by Prameyas (knowables), but by the Pramātā (knower). Since there is one and only one object of cognition ultimately i.e. Brahman, neither the distinction between Prameyas primarily nor of Pramā derivatively, is pertinent. And in different contexts, which Pramāṇa is appropriate to be used, is decided by the choice of the knower (Pramātā). This amounts to the primacy of Pramātā over Prameya. Hence, even though they accept the four Pramāṇas, all of them jointly or distributively enable us to give knowledge of the same ultimate reality, unitarily. This is a kind of Pramā-Saṁplava advocated by them.

On the contrary, as pointed out earlier, Buddhists not only vehemently criticise Pramāṇa-Saṁplava[21] but also their ontology does not permit them to accept it. Since, according to them as pointed out earlier, number and nature of Pramāṇas are determined by Prameyas. Since, reality basically is unique, susceptible to change and essenceless, the mode to cognise

(Pramāṇa) such a reality must also be restrictive in its operation. Now, reality may either be comprehended as it is or as we conceive, construct, imagine, and communicate it to be the case. Prameya determines Pramāṇa, and accordingly for them Prameyas are more important than Pramāṇas. There are two mutually exclusive sorts of knowable (Prameyas) and there are correspondingly two mutually exclusive kinds of Pramāṇas. Their functions too are mutually exclusive and jointly exhaustive. They advocate a kind of Pramāṇa-vyavasthā. Thus, there would be no circularity between Prama, Pramāṇa and Prameya relation. One kind of Prameyas (Svalakṣaṇas) are truly real, where as the other kind of Prameyas (Sāmānya-lakṣaṇas) are distortively construed or imagined by us. Hence, respectively we have two sorts of Pramāṇas to know them separately. None of them alone can enable us to cognise both the sorts of knowable. And, over and above these two kinds of knowables, there is nothing real worth to be comprehended, hence they are exhaustive.

(C) Authority-Text / Tradition / Person V / S Rationality: Buddhists do not admit any God. Nor do they admit any tradition Vedic (Śruti) or otherwise or text to be source of inspiration. Acceptance of Vedas is the crux of Vallabha's interpretation of the conception of Pramāṇas primarily and of Pratyakṣa particularly. Grace of god is an important factor to initiate the entire cognitive process and ultimately it culminates also into the cognition of Brahman (God). Our cognition of determinate world and objects in it too is dependent

upon His Will. Thus, it is He who sees Himself in the true case of perception. In order to experience Him indeterminately we have to do Bhakti. But even though we are cognizing something in determinate mode of it, it is (Līlā) the play of God.

For Buddhists, self as a substance or transcendental entity is not ontologically true. Even though in our day-to-day activities conventionally, we claim that we know, act, etc., such expressions are significant only in the phenomenal world (Lok-Saṁvrtti-Sat). Hence, truly insightfully what we cognise is that there is nothing like self or soul. It is due to our ignorance, misunderstanding (Avidyā) we construct the idea of it. Similarly, God does not exist, it is only an idea constructed by our mind. And since both are not ontologically real, the question of content and process of their perception is redundant and futile.

Further, Indriyas (sense organs) have a disposition to capture whatever comes in their acquaintance. There is no need of the grace of God to inspire or initiate them to function. Nor mind (Manas) and various modes (Vṛtti) of it are capable of determining the nature of cognition. For, the nature of cognition is determined by objects themselves, according to Buddhists, and not by our knowledge of them. Similarly, in each case of perceptual cognition, mind has strictly no role to play. Likewise, according to them, the contention of such Vedāntins as Vallabha that mind endowed

with Sāttvikī-Vṛtti is disposed to indeterminate cognition is untenable one. For Buddhists determinateness and indeterminateness of cognition is not decided by mind and its Vṛtti (modes) but independently of the knower context-freely, by the kinds of knowables and their features. Hence, even though Savikalpaka-Pratyakṣa is admitted as a kind of Pratyakṣa, Buddhists hold, it is not regulated by mind in the sense in which Vallabhas are claiming.

(D) Nature of the Ultimate Reality : According to Buddhists truth is determined by its correspondence with reality (Artha-sārūpya) and pragmatic-efficacy (Artha-kriyā-kāritva) of our cognition. And Pratyakṣa enables us to have access to it. Independently of us each particular real exists, in the given moment of its existence. I may happen to chance upon it or not. Further, even though we cognise every unique real through indeterminate kind of (Nirvikalpaka) perception, such a cognition can bring forth true nature of anything through Anityatā (impermanence), Anātmatā (non-substantiality) and Duḥkha (pain and suffering), and lead to insightful understanding in the form of Nairātmya-Darśana, which according to Buddhists, is the true nature of reality, and that cannot be confused with Kūṭastha-Nitya-Brahman of Vallabha-Vedāntins.

(E) Determinism V / S Indeterminism : Vallabha-Vedantins, it seems, are attempting to give a causal analysis of perception, which cannot be accepted by Buddhists. One can

discuss context-free conditions but not contextual causes, as they will be determined by situations. For Buddhist philosophers in general and Dharmakīrti is particular, the role of Pratyayas is predominant in Pratyakṣa. Pratyayas are of four kinds viz. Ālambana, Adhipati, Samānāntara and Hetu (Sahabhu). All of them are necessary and sufficient conditions of perception of any kind. Ālambana (object of cognition / sensation) unless there is something to cognise, the very possibility of perceptual cognition will not arise. Adhipati (capacity to cognise / receptive disposition) unless there are appropriately receptive sense organs, there can be no perceptual cognition either. Samānāntara (necessity to co-exist or have parallel existence of the two) unless both the object of cognition (Grāhya), which has a disposition to impress and the receptive mechanism (Grāhaka), which has a disposition to capture impressions, simultaneously exist at least for one moment, there cannot be any perception. And lastly, Hetu / Sahabhu / Sahakārī Pratyayas are those auxiliary factors like light etc., which open the possibility of occasioning / incidence of cognition in a transparent way in any context of direct cognition. All the four Pratyayas jointly contribute to perceptual cognition; but they cannot to be misunderstood as causes. Dharmakīrti frankly admits direct-cognition of reality and uniquely particulars to be objects of perceptual cognition. But such objects exist independently of the knower. Reality exists in its own way and is neither dependent on or determined by our knowledge and thoughts. Perceptual cognition, according to him, is private in its incidence but that does not deprive it from its objectivity. Pratyayas

are common general conditions of incidence of perceptual cognition. But Pratyayas are non-causal and non-intentional in nature. We cannot go into the details of this issue here.

(F) Use of Knowledge: Lastly, Dharmakīrti emphasises that Pratyakṣa enables us to have direct cognition, but in it Heyopādeyatā (critical discrimination) is involved on the one hand and Samyakatva (insightful comprehension) on the other, in order to use such a cognition for Nirvana, and not merely for Duḥkha-Nivṛtti. Perception for humans is not a passive reception of states of affairs mechanically. Rather, human beings can use their freedom to cognise directly and immediately through acceptance and rejection (Heya and Upādeya) of what is given. It is not determined by mind or subjective contextualities. Rather, it is oriented towards Nirvana (emancipation). It is not saddled negatively only into Duḥkha-Nirodha, but positively leads to Nirvana, which seems to be contrary to Vedāntic conception. According to Vedāntins like Vallabha, such knowledge itself is Mokṣa, which is opposite side of Duḥkha-Nivṛtti.

Further, capacities of human cognition are not determined by God's grace or human psychological attitudes, but human beings are rational and able to discriminate between good and bad, right and wrong, etc., on the basis of proper goals and aspirations of life on the one hand and the means to be used for their realization, on the other. Dharmakīrti stresses on Jñāna (cognition) as an important avenue of emancipation

for human beings and Pratyakṣa plays an important role in it. It is authority, which is challenged by rationality. Experience directly is much more important than traditional blind and fixed regulations, which Vallabha-Vedāntins seems to be stressing on. Neither Bhakti nor Śruti as explained by Vedāntins is essential for making sense of ones life and experiences in it. No prior experience, mine or someone else's, is essential and inevitable to make sense of direct experience of truth, is clearly and properly pointed out by Dharmakīrti.

Thus, Dharmakīrtis analysis of Pratyakṣa appears to be more rational than traditional. Vallabha is trying to keep himself within the boundaries of tradition and testimony of the Vedas, hence attempting a kind of synthesis - prevalent thoughts of Brāhmanical traditions within the framework of Vedānta. It is a unique attempt of synthesis, but we cannot deal in this paper with its significance in the History of Ideas[25].

Notes and References:

1. Whenever one attempts to study Buddhist logic and epistemology, Dinnaga and Dharmakīrti are said to be the founders of the systematic account of it. Although within the Buddhist camp, Nāgārjuna is said to be the founder of Mahayana Buddhism and hence he has established it systematically as an independent philosophical system. Yet proper analysis and theories of logic and epistemology are dealt with starting from Dinnaga only. There are differences of opinion amongst Dinnaga and Dharmakīrti. But,

in the present context, we cannot dive deep into the controversy between Dinnaga and Dharmakīrti. Nor can we hope to concentrate on the conceptual changes - historically or otherwise within the Buddhist tradition with regard to Pratyaksa. To investigate into such intra-school controversies lies outside the scope of the present paper.

2. If one compares later Buddhist scholars after Dharmakīrti on Pratyakṣa, say for example Dharmottara, Prajñākara Gupta, Manoratha Nandin, Mokṣākara Gupta, Śāntaraksita, Kamalśīla, Vinitadeva, etc. one finds that at least for 5 to 6 centuries the impact of Dharmakīrtis views is clearly seen. Dharmakīrti appears to be a predominant and influential philosopher such that not only within Buddhist camp after him but even non-Buddhist traditions like Nyāya, Vedānta, Sāṁkhya, Jainism etc. his views were brought in, if not directly borrowed, at least by back door. This is noticeable to such an extent that later on almost in all the non-Buddhist traditions some or other concept, idea, notion etc., is attempted to be brought in. For example Savikalpaka-Nirvikalpaka distinction of Pratyakṣa pioneered by Buddhists seems to have attracted attention of all the later traditions.

3. Although Śaṅkarācārya is the earliest founder of the systematic philosophical tradition of Vedānta, Vallabha has attempted to save Vedānta from its onslaught from Mohammedans and Pauraṇic traditions. We are told that it is he who revived Vedānta from socio-political upheavals and tried to bring back the original status of philosophical thinking and living mode of life and practices to Vedānta. Please see in this context, A History of Indian Philosophy, Dasgupta, S.N., Vol. No. IV pp 371-81.

4. 'Buddhist Conception of Prameya', Chinchore, M. R. (Forthcoming).
5. Kalpanāpodham abhrāntam pratykṣam / Nyāya-Bindu; Dharmakīrti, p.8
6. Prasthāna-Ratnākara: pp 6-20
7. Śruti-pratyakṣam-aitihyam anumānam catuṣṭayam / Ibid, II.ii.9.
8. Ibid: II.ii.12
9. Dividham samyag-jñānam / pratyakṣam-anumānaśca / Nyāya-Bindu; Dharmakīrti; pp. 7-8.
10. Ibid pp 8-13, See also Pramāṇa-Vārtika; Dharmakīrti; Ch.II, K 191-172 pp 158-72.
11. Nyāya-Bindu; Dharmakīrti; pp 12-20
12. Ibid; p.13
13. Ibid; p. 14
14. Ibid, p.14
15. Mānam dvividham: Viṣaya-daividhyāt / Pramāṇa-Vārtika, Ch. II, K.1. pp 98-101.
16. Prasthāna-Ratnākara: pp. 127-130.
17. The meaning and interpretation of the word 'Grāhya' and 'Grāhaka' at the hands of Buddhism is different from all other Indian philosophical traditions especially Nyāya. We cannot deal the details of it in the present paper.
18. A History of Indian Philosophy, Dasgupta, S.N. Vol. No. IV pp 336-70.
19. Ibid, pp. 147-8
20. Ibid, Introduction, pp. 65-66.
21. Pramāṇa-Vārtika, Dharmakīrti, Ch. I, pp. 319.
22. A Critical survey of Indian Philosophy, Sharma, C.D. pp. 377-85.
23. 'Dharmakīrti on Criteria of Knowledge', Chinchore, M.R. Indian

Philosophical Quarterly, Pune, Vol. XVI-3, July 1989, pp 319-44.

24. 'Pramāṇa-Saṁplava V / S Viplava: a Glimpse into Nyāya Buddhist Controversy', Chinchore, M.R. Śāntarakṣita: His Life and Works, Tibet House, Delhi, p. 41-55.

25. I am thankful to Sri Sharad Goswamiji for inviting me to the Seminar and giving me a chance to write this paper. I am also grateful to all the participants in the Seminar, who have asked me questions, which has enabled me to modify my views and provided impetus to write this paper.

....

संगोष्ठ्युत्तरलेखन

गो.श्या.म.

डॉ. मंगलाजी चिंचोरेके, आचार्य धर्मकीर्तिके विचार और वाल्लभ वेदान्तके प्रत्यक्षप्रमाके स्वरूप विषय और प्रामाण्य के तुलनात्मक विमर्शके बारेमें, प्रस्तुत आलेखपत्रमें लेखिकाका प्रतिपाद्य विषयका गम्भीर अध्ययन तथा तुलनात्मक विमर्शकी आदर्श रीति प्रकट हुयी है. तदर्थ विचारगोष्ठीमें सहभागी बननेवाले सभी निश्चयेन उपकृत हुवे हैं.

फिरभी मेरे कुछ विचार इस संगोष्ठ्युत्तरलेखनमें मैं भी अवश्य प्रकट करना चाहुंगा.

इतनी बात तो बिलकुल स्पष्ट है कि वाल्लभ वेदान्तकी चाहे तत्त्वमीमांसा हो, प्रमाणमीमांसा हो अथवा धर्ममीमांसा हो वह श्रुति आदि शास्त्रोंके वचनोंपर मुख्यतया इसीलिये अवलम्बित होती है क्योंकि वाल्लभ वेदान्त

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका मूलतः शास्त्रव्याख्यारूप चिन्तन है वह उनका कोई मौलिक चिन्तन नहीं. अतएव विदुषी मंगलाजीका यह कहना कि "Thus, Dharmakīrtis analysis of Pratyakṣa appears to be more rational than traditional. Vallabha is trying to keep himself within the boundaries of tradition and testimony of the Vedas" तो इस विधानके साथ तो किसी भी तरहकी असहमति प्रकट करनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता. यह तो हमें हृदयेन धन्यवादप्रदानार्ह प्रशंसा ही लगती है. साथ ही साथ यह स्पष्टीकरण अवश्य देना चाहुंगा कि आचार्य धर्मकीर्तिकी 'रेशनल् एनॅलसीस्' यदि उनकी स्वयंकी हो तो उसका बुद्धमतके रूपमें प्रामाण्य अस्वीकार्य हो जायेगा. यदि वह बौद्ध मतकी सीमाके भीतर दी गयी बौद्ध अवधारणाओंकी तार्किक उपपत्ति हो तो परम्पराप्राप्त बौद्ध मतको आचार्य धर्मकीर्तिने भी भगवान् बुद्धके उपदेशोंके शब्दप्रामाण्यके आधारपर ही समझ-स्वीकार कर उसका युक्तिओंसे उपपादन करना चाहा होगा. तब तो वाल्लभ वेदान्तसे इस अर्थमें उनका कोई विशेष अन्तर सिद्ध नहीं होगा. वैसे यह एक भारतीय वास्तविकता है कि परमतनिराकरणमें हम सभी तार्किक अभिगम अपना कर चलते हैं परन्तु परम्पराके प्रति अपनी निष्ठा तो परम्पराप्राप्त वचनराशीका — बोले या बिनबोले — स्वतःप्रामाण्य मान कर ही. क्योंकि, स्वाभाविकरूपेण, बौद्ध और वाल्लभ मतोंके बीच चलती चर्चामें बुद्धवचन या वेदवचन तो प्रमाणतया प्रस्तुत नहीं किये जा सकते. स्वयंके, परन्तु, परम्परागत मतको तो शब्दप्रामाण्यके आधारपर ही स्वीकारना पड़ता है. भारतमें, अतएव, सभी दार्शनिकोंके अपने-अपने सम्प्रदाय होते हैं. किसी भी सम्प्रदायसे न जुड़नेवाले दार्शनिकोंकी गणना अंगुलियोंपर करने जानेपर अंगुली ही अधिक रहेंगी अंगुलिपर्वोंकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी!

विदुषी मंगलाजीका कहना है "It is authority, which is challenged by rationality. Experience directly is much more important than traditional blind and fixed regulations, which Vallabha-Vedāntins seems to be stressing on. Neither Bhakti nor Śruti

as explained by Vedāntins is essential for making sense of ones life and experiences in it... No prior experience, mine or someone else's, is essential and inevitable to make sense of direct experience of truth, is clearly and properly pointed out by Dharmakīrti.'' पर मुझे लगता यह विधान अर्धसत्य है पूर्णसत्य नहीं. क्योंकि आचार्य धर्मकीर्ति अपनी तर्कप्रवणता द्वारा श्रुतिआदिकी ओथोरीटिको ही चेलेंज कर रहे हैं— भगवान् बुद्ध या बौद्ध योगियोंके वचनोंकी ओथोरीटिको नहीं— वैसे आचार्य धर्मकीर्तिके लिये तो यह सर्वथा उचित ही था. फिरभी बौद्ध योगिओंके प्रत्यक्षकी वकालतमें, शायद विदुषी मंगलाजी भी इतना तो स्वीकारेंगी ही, कि आचार्य धर्मकीर्तिने भी—

> ''अविसंवादनं शाब्देऽपि अभिप्रायनिवेदनाद् वक्तृव्यापारविषयो यो अर्थो बुद्धौ प्रकाशते प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य न अर्थतत्त्वनिबन्धनम्... प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहनिवर्तनम् अज्ञातार्थप्रकाशो वा स्वरूपाधिगतेः परं. प्राप्तं सामान्यविज्ञानम् अविज्ञाते स्वलक्षणे यद् ज्ञानम् इति अभिप्रायात् स्वलक्षणविचारतः. तद्वत् प्रमाणं भगवान् अभूतविनिवृत्तये भूतोक्तिः साधनापेक्षा ततो युक्ता प्रमाणता.''
>
> (प्रमा.वार्ति.१।३-९).

अपने इस प्रतिपादनमें ज्ञेयार्थके अनुरोधका त्याग कर किसी विशेष प्रकारके ज्ञातामें उसके योगी होनेकी श्रद्धाके विवश ही आर्यसत्यकी चतुष्टयीको ''traditional blind and fixed regulations'' की तरह स्वीकार लिया है! न केवल इतना प्रत्युत उस योगिप्रत्यक्षको निर्विकल्पक मान कर निजाभ्युपगत लोकसाधारण निर्विकल्पक प्रत्यक्षकी प्रामाणिकतापर भी संशयचिह्न लगा दिया. क्योंकि योगिओंको हुवा प्रत्यक्ष उनकेलिये कदाचित् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष हो पर उस प्रत्यक्षमें अनुभूत आर्यसत्यचतुष्टयी या प्रतीत्यसमुत्पाद आदिका अविसंवादि ज्ञान हमें तो उन योगिओंके उपदेशोंके शब्दप्रामाण्यको स्वीकारनेपर ही शक्य

बनता है, जब तक हमारे भीतर वैसा योगबल सिद्ध न हो पाये. सामान्यलक्षणप्रतिपादक ''**सर्वं दुःखं, सर्वं स्वलक्षणं, सर्वं क्षणिकं, सर्वं शून्यम्**'' सदृश शब्दोंमें अभिलप्त विधानोंको, वदतोव्याघात हो जाता होनेसे, अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिरूपा कल्पनासे वर्जित अभ्रान्त निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तो किसी भी असर्वज्ञ मनुष्यको हो ही नहीं सकता. भूत/भावी या इन्द्रियसे अग्राह्य सूक्ष्म पदार्थोंके बारेमें योगिजनोंको होते प्रत्यक्षके उपदेशवचनोंका न तो अर्थसारूप्य और न सफलप्रवृत्तिजननरूप अविसंवाद ही ज्ञात हो सकता है. क्योंकि वह यदि सम्भव होता तो संवृतिसत्यकी तृतीयकोटिके अनुधावनकी अपेक्षा ही उभर न पाती! फिरभी इन विधानोंका जो प्रामाण्य मानना पड़ा है वह तो श्रद्धावश ही है तर्कवश नहीं. रही बात उपदेशगत शब्दोंकी पश्चात्कालीन वस्तुमात्रकी सुखरूपता सामान्यलक्षणानुरूपता स्थिरता या द्रव्यात्मता के तार्किक अपोहन द्वारा दुःखरूपता स्वलक्षणता आदिकी उपपत्ति या परार्थानुमिति की तो वह तो वैदिक वचनोंद्वारा प्रतिपादित अर्थके बारेमें श्रुतिप्रामाण्यवादिओंने भी प्रस्तुत की ही हैं. यहां लक्ष्यमें रखने लायक कथा यह है कि प्रमाणवार्तिकमें ''**हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदको यः प्रमाणम् असौ इष्टो नतु सर्वस्य वेदकः. दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वम् इष्टन्तु पश्यतु, प्रमाणं दूरदर्शी चेद् एतान् गृध्रान् उपास्महे**'' (प्रमा.वार्ति.१।३४-३५) ऐसे तार्किक दृष्टिकोणका घण्टाघोष कर चुकनेके बावजूद न्यायबिन्दुमें भी उसी गृध्राविशेष योगिप्रत्यक्षके प्रामाण्यका पार्श्वद्वारसे प्रवेशन योगी पुरुषके वचनोंके शब्दप्रामाण्योपजीवनके लिये करा दिया गया है. क्योंकि वहां पुनः तर्कके बजाय गृध्राविशेष सामर्थ्यको ही योगिप्रत्यक्षतया न केवल प्रमाण अपितु निर्विकल्पकप्रत्यक्ष भी मान लिया गया है. यह—

> ''**समाधिबलप्रभवं भूतभाविवर्तमानानां... यथा देवाद्यधिष्ठानप्रभावेन सत्यानि स्वप्नज्ञानानि भूतभाविविविधविषयाणि अविभ्रमाणि उत्पद्यन्ते तथैव योगबलेन ध्येयानां ज्ञानम् अतीतानागतदूरसान्तराणुभूतविषयाणां प्रकाशकं ज्योतिरूपम् उत्पद्यते... यथा वा भगवतः शाक्यमुनेः उपदेशे भाविदशनिमित्त-सत्योपलब्धि-मातृचेटकालक्षय-**

राजाशोकाद्याशावन- कश्मीरदेशागमा: अविपरीता: उपलभ्यन्ते.''

(न्या.बि.विस्त.११).

न्यायबिन्दुविस्तरव्याख्याके आधारपर यही फलित होता है. बौद्ध मतमें योगिप्रत्यक्षके निरूपक वचनोंकी प्रामाण्यरक्षाके हेतु ब्राह्मणपरम्पराकी तरह देवकृपा होनेपर स्वप्नभ्रमको भी यहां अविभ्रमतया बिरदाया गया है, मानवकी गरिमाके तुच्छीकरणद्वारा! जहां तक ऐसी भविष्यवाणियोंके प्रामाण्यका प्रश्न है तो वह तो शब्दप्रामाण्यवादी चिन्तनमें भी एक नहीं अनेक मिल ही सकती हैं. विदुषी मंगलाजीका कहना है कि "Buddhists are even ready to examine the thoughts of the Buddha; they are not held to be automatically authentic and authoritative, because and in so far as they are put forth by a particular person or accepted by a tradition" इसे पूरी निष्ठासे प्राचीन बौद्धोंने स्वीकारा होता तो योगिप्रत्यक्षको निर्विकल्पक प्रत्यक्ष माननेके व्यायामकी अपेक्षा ही होनी नहीं चाहिये थी.

आज तो हम देख सकते हैं कि वीतरागिता या योगसमाधि, जैसे साधारण मानवको असुलभ उत्कर्ष, के बिना भी इन्फ्रारेड् रैज़् अल्ट्रावायोलेट् रैज़् एक्स रैज़् या हाई रेडियो-फ्रिक्वेंसीस् वेव्ज् के ग्राहक उपकरणोंके उपयोग करनेवाले अतिशय राग मोह द्वेष असूया से ग्रस्त गर्हित मनुष्यमें भी ये सामर्थ्य सर्वसाधारणतया प्रकट हो पाती हैं. ऐसी स्थितिमें इनके प्रत्यक्षको 'योगिप्रत्यक्ष' मानना या नहीं?

आलेखपत्रमें यह भी कहा गया है कि "capacities of human cognition are not determined by God's grace or human psychological attitudes, but human beings are rational and able to discriminate between good and bad, right and wrong" इस निकषकी वास्तविकताकी परीक्षा तो तभी सम्भव हो सकती है, जब

कोई स्वयं अपने विवेकके बलपर *मार्क्विस् द सेद्* के 'डाइंग् मेन एंड् प्रीस्ट्' कथाके नायककी तरह निर्वाणाभिमुख करनेवाली बौद्ध जीवनप्रणालीके आदर्शको ठुकरा देता हो और तबभी उसे आचार्य धर्मकीर्तिके चिन्तनके आधारपर उचित ठहराया जा सकता हो. वैसे हमारे अस्तित्वका अभिन्ननिमित्तोपादानभूत भगवान् न सही, आर्यसत्योंके अनुसरणार्थ, हमारे जैसा ही पुरुष, पर जो बोधिको प्राप्त कर चुका हो, उसकी कृपा तो बुद्ध-धम्म-संघके त्रिशरण लेनेवाले बौद्धोंने भी मान्य रखी ही है.

ज्ञानोपयोगकी चर्चामें जो "Perception for humans is not a passive reception of states of affairs mechanically. Rather, human beings can use their freedom to cognise directly and immediately through acceptance and rejection (Heya and Upādeya) of what is given." इस विषयमें अविद्यासे आरम्भ कर दुःखपर्यन्त द्वादशायतनके प्रतीत्यसमुत्पादनियमके अंकुशसे स्वतन्त्र तो मानवीय प्रत्यक्षानुभूति, विवेक या स्वाधीनता हो नहीं सकती. उसे ऊपरसे लादा गया नियम न मान कर मानवीय व्यक्तित्वका घटक मान चलनेपर स्वातन्त्र्यबोध अपहृत नहीं होता ऐसी वक़ालत करने जानेपर तो प्रतीत्यसमुत्पादनियमके सदृश ही ब्रह्मवादियोंके मतमें भी जागतिक लीलाविधानमें जो काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषका परिवेश है उसे हमारे व्यक्तित्वका घटक ही माना गया ऊपरसे लादी पराधीनता नहीं. अतः जीवात्मा व्यक्तिकी अपने घटकके आधीन होनेके तथ्यके साथ ही साथ वैयक्तिक सदसद्विवेक अभिलषितफलेच्छा तदनुकूलप्रयत्न तथा फलानुभूति का स्वातन्त्र्य तो मान्य रखा ही गया है. अवधेय है कि वाल्लभ वेदान्तमें अंशिरूप ब्राह्मिक लीलाविधानका अद्वैत, अंशोंके ज्ञानेच्छाप्रयत्नफलानुभूतिके वैयक्तिक द्वैतको मिथ्या मान कर नहीं प्रत्युत परमार्थ सत्य मान कर प्रस्तावित किया गया है. इसकी तुलना ईसा मसीहके प्रसिद्ध उद्गार, जिसे बायबलके पुराने ईसाई अंग्रेज़ी-अनुवादक "The kingdom of God is within you" की पदावलीमें प्रस्तुत करते थे, उसके उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है. परमेश्वरका ऐसा स्वरूप

तो वाल्लभ वेदान्तकी धारणासे अधिक संनिकृष्ट था. इधर अब बायबलके विद्वान् ईसाके उद्‌गारका वास्तविक अंग्रेज़ी अनुवाद "The kingdom of God is among you" मानने लगे हैं. मुझे लगता है यह बौद्धोंके भगवान्‌की धारणाके अधिक संनिकृष्ट है. इसे ही वेदोपनिषदोंकी पदावलीमें देखना हो तो **"अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्. एकः सन् बहुधा विचार... अन्तःप्रविष्टं कर्तारम् एतं त्वष्टारं रूपाणि विकुर्वन्तं विपश्चिं... सहैव सन्तं न विजानन्ति देवाः"** (तैत्ति.आर.३।११।१-५) उपलब्ध होती है. इस ऐसे भगवान्‌के पराधीन होनेमें विप्रतिपत्ति तो द्वैतमोहकी भ्रान्तिके वश ही हो सकती है. क्योंकि ऐसा ब्रह्म परमात्मा भगवान् जीवात्माके अपने 'स्व'की परिधिसे बहिर्भूत हो तो हमारी स्वाधीनताके विलोपका प्रसंग उठ सकता है. यह तो "द किंग्‌डम् ऑफ् गोड इज़ विदिन् यू" वाला उद्‌घोष है.

बौद्ध मतमें प्रत्यक्षप्रमाके उत्पन्न होनेकी प्रक्रिया नियत कारणोंसे जन्य न हो कर चतुर्विध—आलम्बन अधिपति समनन्तर तथा हेतु—प्रत्ययोंका सांयोगिक संघातरूप माना गया है. इस सन्दर्भको विदुषी मंगलाजीने बहुत अच्छे ढंगे उभारा है. वे कहती हैं :

> "unless both the object of cognition (Grāhya), which has a disposition to impress and the receptive mechanism (Grāhaka), which has a disposition to capture impressions, simultaneously exist at least for one moment, there cannot be any perception. And lastly, Hetu / Sahabhu / Sahaka-rīPratyayas are those auxiliary factors like light etc., which open the possibility of occasioning / incidence of cognition in a transparent way in any context of direct cognition. All the four Pratyayas jointly contribute to perceptual cognition; but they

cannot to be misunderstood as causes. Dharmakīrti frankly admits direct-cognition of reality and uniquely particulars to be objects of perceptual cognition. But such objects exist independently of the knower. Reality exists in its own way and is neither dependent on or determined by our knowledge and thoughts... Pratyayas are non-causal and non-intentional in nature."

यह वस्तुतः बौद्ध दर्शनकी बड़ी प्राञ्जल प्रस्तुति है. इसके साथ, पर, मैं यह और जोड़ना चाहुंगा कि यह सारी प्रत्यक्षमीमांसा तत्त्वशास्त्रीय और प्रामाण्यशास्त्रीय है. प्रत्यक्षानुभूति केवल मानव प्राणीके एकाधिकारवाली अनुभूति तो है नहीं. हम डारविन्के विकासवादको मानें या न मानें पर इतना तो ध्रुव निश्चित है कि एककोशीय जीवकणसे लेकर अनेक इन्द्रियोंवाले जटिल बहुकोशीय प्राणिओंमें प्राथमिक प्रत्यक्ष तो स्पार्शन ही होता है. साथ ही साथ बहुविध प्राणिओंके भीतर अस्थिर 'आलयविज्ञान' मानें या स्थिरचैतन्य 'आत्मा' मानें अथवा अपने पर्यावरणके प्रति संवेदनशील एककोशीय बहुकोशीय जीवकण (लीविंग सेल्) मानें किसी भी सूरतमें सजीव प्राणीके भीतर जिजीविषाका मोह या सहज प्रवृत्ति तो कूट-कूट कर भरी हुयी है. अतएव जीवनार्थ अपने बाह्य पर्यावरणको स्पर्शद्वारा जान कर खाद्य हो तो खा कर अथवा मारक या खादक हो तो वहांसे सरक-भाग कर प्राणी बचना चाहता है. इस प्रक्रियामें स्पार्शन प्रत्यक्षके अपर्याप्त सुरक्षादायी होनेके कारण ही प्राप्यकारी/अप्राप्यकारी जो भी मानों ऐसी चक्षु घ्राण और श्रवण इन्द्रियां प्रस्फुटित हुयी हैं. परन्तु दूरसे ही देख-सूंघ-सुन लेना भी अपनी जिजीविषाकेलिये पर्याप्त सिद्ध न होनेके कारण ही स्पृष्ट दृष्ट आघ्रात श्रुत और अन्तमें आस्वादित बाह्यार्थोंकी स्मृति और तदर्थ संस्कार की भी अपेक्षा प्रत्यभिज्ञानके हेतु प्राणिसृष्टिमें उभरी. अन्तमें यही प्रत्यभिज्ञा ही और आगे बढ़ कर अनुमिति आदि अनेक परोक्ष प्रमाओंके रूपमें

भी विकसित हुयी है.

इसमें इन्द्रियोंसे उत्पन्न होती निर्विकल्पक अनुभूतिको तो यथार्थ मानना और मनुष्य आदि अनेक प्राणिओंमें पनपी उन्हीं स्पर्श आदिमेंसे विकसित विकल्पानुभूतिकी विविध अवस्थाओंको प्रामाणिक न मानना अटपटा लगता है. अर्थात् इन्द्रियोंकी अर्थक्रियाकारिताको अधिकाधिक सक्षम बनानेवाले ‘ब्रैन’ / अहंकार मन बुद्धि या चित्त के क्रियाकलापोंको अविश्वसनीय माननेकी दार्शनिक अवधारणा मनुष्य पशुके अलावा अन्य किसी भी सरीसृप कीट मत्स्य पशु या पक्षी को मान्य हो ऐसा प्राणिसमुदायके वैज्ञानिक अध्ययन करनेपर प्रतीत तो नहीं होता. मेरा कहनेका तात्पर्य यह है कि प्राणिओंके बीच अपवादरूपा ऐसी अनघड़ धारणा अन्तमें इस दार्शनिक बुद्धिमान पशुको संवृति(व्यवहार) और परमार्थ का द्वैत खड़ा करने बाधित करती है. तथाकथित अबुद्धिमान पशुओंसे अपने श्रेष्ठ होनेके दावेको बरकरार रखनेको निरर्थक उकसाती है! वैसे मानवके श्रेष्ठ प्राणी होनेकी कथा उतनी आपत्तिजनक नहीं है जितनी कि मनुष्येतर प्राणिसाधारण निर्विकल्पक प्रत्यक्षको परमार्थ मानना — और वह मानव पशुओंमें जिस बुद्धिमत्ताके कारण शक्य बनता है उस बुद्धिकी अनितरसाधारण अर्थक्रियाको मिथ्या मानना निश्चित निजमूलके उच्छेदका अविवेक लगता है.

बुद्धिकी अर्थक्रिया तो यही है कि एकमेव अद्वितीय सत्, चाहे वह क्षणिक हो या चिरस्थायी, के विविध विकल्पोंको ग्रहण करना, उन्हें संस्कारात्मना धारण करना, इन्द्रियोंसे अर्थोपलब्धिके बाद शीघ्र ही स्मृतिरूपेण उभारना, उसके आधारपर उपलब्ध अर्थको उसकी हेयोपादेयताके साथ पहचान पाना, इन्द्रियार्थोंके साक्षात् उपलब्ध न होनेपर भी उनकी आसन्न उपलब्धिके हेतु परोक्षमें भी उनकी विद्यमानताके प्रति सभान होना.

अपवादरूपेण घटित होती भ्रम या स्वप्न की अनुभूतिओंकी अर्थव्यभिचारिताके कारण अपनी वांछिततम बुद्धिपर आत्मविश्वास खो देना बुद्धिमान मनुष्यके

लिये अवांछनीय विवेक या अविवेक ही है! यह तो कुछ ऐसी बात है कि सरकारी डाकव्यवस्थाके समानानन्तर जब कानूनी प्रावधानके बिना बिनसरकारी कूरियर सर्विस् शुरु हुयी तो उसके विरुद्ध निषेधाज्ञा न्यायालयमें मांगी गयी. और वह अदालतकी निषेध-आज्ञा सर्विस-एजेंसीस्को सरकारी डाकसे न भिजवा कर कूरियर सर्विस्के जरिये ही भिजवायी गयी! बुद्धिमान प्राणीका बौद्धिक विकल्पोंकी तुलनामें ऐन्द्रियक निर्विकल्पक उपलब्धिका पक्षपाती होना बुद्धिका उपयोग किया बिना अशक्य ही होगा!!

परमार्थ सत्य और उसके प्रमारूप अवभासन के बारेमें बौद्धों द्वारा प्रस्तावित निकषोंके मंझा हुवा प्रतिपादन करते हुवे आलेखपत्रमें "According to Buddhists truth is determined by its correspondence with reality (Artha-sārūpya) and pragmatic-efficacy (Artha-kriyā-ka-ritva) of our cognition. And Pratyakṣa enables us to have access to it. Independently of us each particular real exists, in the given moment of its existence" विधान किया गया है. इसे तो कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता. यदि वाल्लभ वेदान्त या अन्य भी कोई चिन्तन इसे अपने मतवादी दुराग्रहके वश इन्कारना भी चाहें तो पुनः व्यवहार और परमार्थ के द्वैतकी उलझनमें उन्हें फंसना ही पड़ेगा! मुझे नहीं लगता कि इस विषयमें बौद्ध मत और वाल्लभ मत के बीच कोई गम्भीर मतभेद अतः खोजा जा सकता हो. यहां तो प्रष्टव्य केवल इतना ही है कि :

क.प्रामाण्यनिकषका बंटवारा ज्ञानके अर्थसारूप्य और ज्ञेयार्थके अर्थक्रियाकारितारूप के बीच न्यायपूर्ण तरीके से क्यों नहीं किया जाता?

ख.एक ओर ज्ञेयार्थमूलक ज्ञानप्रामाण्यकी शपथ खा कर दूसरी ओर अर्थसारूप्य होनेके उत्तरदायित्वकी तरह सफलप्रवृत्तिजनक होनेका उत्तरदायित्व भी ज्ञेयार्थके बजाय ज्ञानपर ही क्यों लाद

दिया गया है? अतिशय मोहक अद्भुत या विकराल वस्तुका सहसा साक्षात्कार होनेपर ज्ञानमें रही प्रवृत्तिजननक्षमताका उपरोध या स्तम्भन हो जाता है. पर एतावता वस्तुनिष्ठ अर्थक्रियाके जननकी क्षमताका उपरोध नहीं हो जाता. भीरु व्यक्ति बाघको देख कर न भी दौड़ पाये तो भूखा बाघ छोड़ देगा क्या?

ग.इस प्रामाण्यनिरूपको या तो मानवेतरप्राणिसाधारण इन्द्रियजन्य निर्विकल्पकानुभूति या किसी योगिरूप लोकोत्तरमानवके विशेषाधिकारक सविकल्पकानुभूति के बीच ही क्यों बांट दिया गया है?

घ.मानवीय बुद्धिसामर्थ्यपर इतना अधिक अविश्वास कोई स्वयं मानव हो कर कैसे प्रकट कर सकता है?

अतएव विदुषी मंगलाजीका यह विधान—

"Further, Indriyas (sense organs) have a disposition to capture whatever comes in their acquaintance. There is no need of the grace of God to inspire or initiate them to function. Nor mind (Manas) and various modes (Vṛtti) of it are capable of determining the nature of cognition. For, the nature of cognition is determined by objects themselves, according to Buddhists, and not by our knowledge of them. Similarly, in each case of perceptual cognition, mind has strictly no role to play."

मुझे सन्तोषदायक नहीं लगता है. क्योंकि पुनः इसमें हम देख सकते हैं मानवेतरप्राणिसाधारण बाह्यार्थ-ग्राहक इन्द्रियोंकी वक़ालतमें मानवकी अनन्यसाधारण

बुद्धि और उसकी विविध वृत्तिओं की सामर्थ्यके साथ पक्षपाती दृष्टिकोण अपनाया गया है.

वैसे सातवें आसमानपर बैठा हुवा परमेश्वर परमार्थ हो या न हो इसी तरह प्रमाणवार्तिकके मंगलाचरण **विधूतकल्पनाजालगम्भीरोदारमूर्तये नमः समन्तभद्राय समन्तस्फुरणत्विषे**'' में निरूपित नमस्कार करने जैसा कोई भगवान् अथवा ऐसे कोई विशेष बोधिसत्त्व भी परमार्थतः कहीं विद्यमान हों या न हों. औपनिषदिक ब्रह्म तो आत्मसंवेदनगोचर ''**सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म**'' (तैत्ति.उप.२।१) वचनोक्त स्वरूपलक्षणबलपर सिद्ध माना गया है. निर्विकल्पक प्रत्यक्षके बलपर भी उसे ''**अन्नं ब्रह्म इति व्यजानात्... प्राणो ब्रह्म इति व्यजानात्... मनो ब्रह्म इति व्यजानात्... विज्ञानं ब्रह्म इति व्यजानात्... आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्**'' (तैत्ति.उप.३।२-६) वचनोंमें तत्तद् अर्थक्रियाकारी होनेके रूपमें सिद्ध माना जा सकता है. यों कार्य-कारणभावापन्न ब्रह्मके कार्यलक्षणके बलपर भी उसे समझा सकता है. ''**असन्नेव स भवति असद् ब्रह्म इति वेद चेत्. अस्ति ब्रह्म इति चेद् वेद सन्तम् एनं ततो विदुः**'' (तैत्ति.उप.२।६) वचनोक्त '**स्ववचननिराकृति**'(न्या.बि.५२)रूप वदतोव्याघात दोषोद्भावक लक्षणतया भी ब्रह्म अस्वीकार्य नहीं हो सकता.

तब अवशिष्ट रह जाता है प्रश्न : क्षणिकता और/अथवा कूटस्थस्थिरता का. बौद्धोंके मतमें क्षणिकता और कूटस्थस्थिरता के बीच द्वैतका जो विकल्प जो खड़ा किया गया है उसे तो औपनिषदिक चिन्तन भी निश्चयेन मिथ्या मानेगा. पर ''**द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे... मर्त्यं च अमृतं च, स्थितं च यत्, सत् च त्यत् च**'' (बृह.उप.२।३।१) श्रुतिवचनके अनुसार ब्रह्मको तो उभयरूप माना गया है. अतः क्षणिकता या नित्यता दोनों ही पारमार्थिकी हो सकती हैं, स्वरूप और लीला के प्रभेदवश. अतः ऐसे इस ब्रह्मके बारेमें तो आपत्ति उठनी तो नहीं चाहिये. यदि लॉ ऑफ़ नॉन्-कॉन्ट्राडिक्शन्के अनुरोधकी दुहाई औपनिषदिक चिन्तनके विरोधमें आपत्तिके रूपमें उठायी जाती हो तो ऐसी दुहाई देनेवालेको फिर लॉ ऑफ़ एक्सक्ल्युडेड् मिडिल्का

भी पालन करना पड़ेगा. तब तो परमार्थ और अपरमार्थ के बीच संवृतिका अर्थहीन अन्तर्गडु प्रस्तावित नहीं करना चाहिये. अतः यदि प्रतीत्यसमुत्पन्न सभी पदार्थ क्षणिक हों तो भी प्रतीत्यसमुत्पादनियमको यदि कूटस्थस्थिर नहीं माना गया तो निर्विकल्पकप्रत्यक्षावगत क्षणिक परमार्थसत भी असत् सिद्ध हो जायेंगे! अतएव विदुषी मंगलाजीका यह कहना कि "Similarly, God does not exist, it is only an idea constructed by our mind. And since both are not ontologically real, the question of content and process of their perception is redundant and futile" तो यह तो मुझे औपनिषदिक ब्रह्मकी अपेक्षा निर्माणकाय संभोगकाय और धर्मकाय रूपी त्रिविध बुद्धोंके कल्पनामात्र होनेका एहसास दिलवाते हैं नकि औपनिषदिक ब्रह्मके.

आलेखपत्रमें प्रमाणसम्प्लव और प्रमाणव्यवस्था के मुद्देपर प्रमेयविवेकावलम्बी प्रामाण्यको व्यवस्थारूप और प्रमातृ/प्रमाणके विवेकपर अवलम्बित होती प्रमेयताको प्रमाणसम्प्लवरूप माना गया है. यह पुनः प्रमेयके स्वलक्षण और सामान्यलक्षण होनेका द्वैविध्य मानवीय बुद्धिने अपने अवधारणसौकर्यार्थ घड़े द्वैधीभावपर ही अवलम्बित क्यों नहीं मान लेना? क्योंकि अनेकानेक स्वलक्षणोंमें एक स्वलक्षणत्वरूप सामान्यलक्षण न होनेपर उसका स्वलक्षणत्व ही सिद्ध नहीं हो पाता. इसी तरह सभी तत्तत्सामान्यलक्षणतया ज्ञेय पदार्थोंमें अपना-अपना विशेष स्वत्व अनुभूत न होनेपर एक सामान्यका इतर सामान्यसे प्रभेद ही सिद्ध नहीं होगा. एतावता प्रत्येक स्वलक्षण सामान्यलक्षणात्मक होता है और प्रत्येक सामान्यलक्षण स्वलक्षणात्मक ही. फिरभी इन दोनोंके भेदसहिष्णु अभेदरूप तादात्म्यके स्थानपर आत्यन्तिक प्रभेद तो बुद्धिकल्पित एक आपवादिक मिथ्या विकल्प है. जिसे परमार्थ माननेपर बौद्ध मतमें जैसे अभ्युपगतबाध होता है ऐसे ही अपरमार्थ माननेपर भी अभ्युपगतबाध होगा.

वाल्लभ वेदान्त प्रमाणसम्प्लवकारी है या प्रमाणव्यवस्थाकारी? इस प्रश्नके समाधानतया कहना चाहुंगा कि वाल्लभ वेदान्तमें क्योंकि एकमेवाद्वितीय

सत्यज्ञानानन्त ब्रह्म ही विविध नाम-रूप-कर्मोको लीलया धारण कर सृष्टचात्मना प्रकट हुवा है ऐसा श्रुत्यादिप्रमाणचतुष्टयीके स्वतःप्रामाण्यके (द्रष्ट. "**शब्दएव प्रमाणं तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव तत् स्वतःसिद्धप्रमाणभावं प्रमाणं**" त.दी.नि.प्र.१।७) आधारपर माना गया है. अतः जागतिक नाम-रूप-कर्मोके ब्राह्मिक पहलु — उनका सत्यज्ञानानन्तोपादानक होना आदि — या स्वयं ब्रह्म के बारेमें प्रत्यक्षको स्वतःप्रमाण माननेकी कथा तो दूर परतःप्रमाण भी नहीं माना गया है. लोकमें प्रादुर्भूत ब्रह्मके नाम-रूप-कर्मोके बारेमें प्रत्यक्ष अनुमिति शब्द आदिको परतःप्रमाण ही (द्रष्ट. : प्र.र.प्रमा.परि.तरं.६) माना गया है. अतः लोकावगत वस्तुके लौकिक स्वरूपको जाननेको लौकिक प्रयोजनौपयिक व्यवहारको सम्पादन करनेको वाल्लभ वेदान्त श्रुत्यादिके शब्दोंके मार्गपर दौड़नेका निरर्थक व्यायाम नहीं करना चाहता. अतः सुस्पष्टतया देखा सकता है कि प्रमेयप्रभेदाश्रित प्रमाणव्यवस्था वाल्लभ वेदान्तमें भी अभ्युपगत है. जबकि बौद्ध मतमें तो योगिप्रत्यक्षमें अनुभूतिगोचर होनेवाले भूत भावी सूक्ष्म देवयोनि देवलोक आदि अनेक ज्ञेयार्थके बजाय ज्ञाताके प्रभेदरूप योगीपर अवलम्बित हो कर उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्षतुल्य माना गया है. अतः आलेखपत्रमें वाल्लभ वेदान्तके बारेमें जो मन्तव्य दिया गया कि "Hence, even though they accept the four Pramāṇas, all of them jointly or distributively enable us to give knowledge of the same ultimate reality, unitarily. This is a kind of Pramā-Saṁplava advocated by them. Prameya determines Pramāṇa..." वह मुझे अनालोचित कथा लगती है. इसी तरह प्रस्तुत आलेखपत्रमें प्रमाणोंका प्रामाण्य स्वतः होता है या परतः इस मुद्देपर भी भाट्टोंके मतमें वाल्लभ वेदान्तका जो अन्तर्भाव "the view of Vedāntins, including Vallabha. According to them Prāmāṇya is Svataḥ (knowledge by its very nature is authentic and reliable), but due to external conditions conducive to pollution and adulteration it becomes unreliable (Aprāmāṇyam Parataḥ) " मान लिया गया है वह भी अनवधानताप्रयुक्त है. प्रस्थानरत्नाकरमें सुस्पष्टतया भाट्टोंसे पृथक् अर्धजरती

स्वीकारी गयी है.

अन्तमें वाल्लभ वेदान्तके उत्तरवर्ती होनेके कारण उसपर आचार्य धर्मकीर्तिके प्रभाव पड़नेकी बात भी मुझे बहुत गम्भीर नहीं लगती है क्योंकि कितने सारे उपनिषदोंके वचनमें ब्रह्मको एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्दैकरस माना गया है, भगवद्गीतामें भी "**सर्वभूतेषु येन एकं भावम् अव्ययम् ईक्षते अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकं, पृथक्त्वेनतु यद् ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तद् ज्ञानं विद्धि राजसम्**" (भग.गीता.१८।२०-२१) औपनिषदिक धारणाओंके अर्थदोहनमें स्वीकारा ही गया. अतएव ब्रह्मसूत्रकारको "**तदनन्यत्वम् आरम्भणशब्दादिभ्यः**" (ब्र.सू.२।१।१४) यों औपनिषदिक हेतुनिदर्शनपूर्वक प्रतिज्ञा करनी पड़ी. ब्रह्मसूत्रभाष्यरूप भागवतमें तो "**स्यात् सादृश्यभ्रमः तावद् विकल्पे सति वस्तुनो जाग्रत्स्वापौ यथा स्वप्ने तथा विधिनिषेधता. भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथा आत्मनो वर्तयन् स्वानुभूत्या इह त्रीन् स्वप्नान् धुनुते मुनिः. कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवद् अवस्तुत्वाद् विकल्पस्य 'भावाद्वैतं' तद् उच्यते**", "**मम, अंग!, माया गुणमयी अनेकधा विकल्पबुद्धीन् च गुणैः विधत्ते**" (भाग.पुरा.७।१५।६१-६३, ११।२२।३०) जैसी प्रमाणचतुष्टयीकी सुस्पष्ट उक्तियोंके अनुरोधवश आचार्य धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंका अवगाहन करने या न करने दोनों ही अवस्थाओंमें ब्राह्मिक सत्की अद्वितीय एकतासे अत्यन्त पृथक्तया अवभासित होनेवाले अब्राह्मिक विकल्पोंको तो मिथ्या या अपारमार्थिक माननेके अलावा कोई गति ही बच नहीं जाती. अतः लगता नहीं कि एतदर्थ आचार्य धर्मकीर्तिका प्रभाव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके चिन्तनमें खोजा जाये. जहां संवाद खोजनेकी बात है तो वह अनुमोदनीय ही लगती है इस स्पष्टीकरणके साथ कि वाल्लभ वेदान्तमें जीवात्मा और अन्तःकरण के संघातमें घटकतया अन्तर्निहित नामात्मक शब्द एक सम्भाव्य अनुभूतिके रूपमें विद्यमान रहते हैं परन्तु रूप और/अथवा कर्म के इन्द्रियजन्य अवभासनमें वह सम्भाव्य अनुभूति बुद्धिमें सात्त्विक गुणके उद्रेकवश यथार्थतया प्रकट हो जाती है. अन्यथा केवल संस्कार या परोक्षानुभूति ही रह जाती है. बुद्धिगत राजस या तामस गुणोंके उद्रेक होनेपर वह नामात्मिका विकल्पानुभूति इन्द्रियगोचरतया

भासित होती होनेपर भी होती केवल बौद्धिक अवभासनरूपा ही.

मुझे इस विषयमें ऐसी तरहका याथार्थ्य बुद्धिमें अवभासित होता है. यह एक वास्तविकता है कि ब्रह्मसूत्रभाष्यमें जो यत् किञ्चित् बौद्ध मतके साथ वाल्लभ वेदान्त विचारविनिमयमें उतरा उसके बाद अत्यल्प चर्चा प्रस्थानरत्नाकरमें बौद्धोंके साथ वाल्लभ वेदान्तकी हुयी. यहां मेरे लघुभ्राता चिरंजीवी शरद् गोस्वामीका मैं हृदयसे आभार मानना चाहुंगा कि उन्होंने प्रत्यक्षप्रमाणपर संगोष्ठि आयोजित करके श्रीपारसनाथ द्विवेदीजी, श्रीअम्बिकादत्त शर्माजी तथा विदुषी मंगला चिंचोरेजी जैसे बौद्ध दर्शनके परिनिष्ठित विद्वानोंको आमंत्रित कर बरसोंसे इन दोनों मतोंके चले आ रहे मौनव्रतको तुड़वाया.

मुझे यह स्वीकार करनेमें तनिक भी संकोच नहीं होता कि इन तीनोंके बौद्ध दर्शनसम्बन्धी ज्ञानकी तुलनामें बौद्ध दर्शन या ग्रन्थों के बारेमें मेरी जानकारी तो केवल पल्लवग्राहि अध्ययनकी सी है. पर ''नभः पतन्ति आत्मसमं पतत्त्रिणः'' न्यायके अनुसार किसी भी अवस्थामें इन दोनों मतोंके बीच आपसमें एक-दूजेके साथ मौनपालनका व्रत तोड़ने और तोड़ते रहनेकेलिये ही यह संगोष्ठ्युत्तरलेखन प्रस्तुत करना मुझे आवश्यक लगता है. अतः एतदर्थ विदुषी मंगला चिंचोरेजी आदि सभीके सहयोगकेलिये उनके प्रति भी हार्दिक कृतज्ञताज्ञापनके साथ इस संगोष्ठ्युत्तरलेखनका यहां उपसंहार करता हुं.

अध्यक्षस्थानीय समापन वक्तव्य

प्रो. वशिष्ठनारायण झा

नैयायिक लक्षण किसी बातको समझनेकेलिये बनाते हैं. और जब लक्षण नहीं चाहते हैं तब सम्मुग्धाकार ज्ञानसे सन्तुष्ट होना चाहते हैं. ये दोनोंमें फर्क है. मुझे लगता है कि लक्षणकी परम्परा जब तक इस देशमें जीवित है तब तक दार्शनिक परम्परामें जीव है. और जब यह परम्परा लुप्त हो जायगी तब शायद सम्मुग्धाकार ज्ञान ही रह जायगा. यही कारण है कि प्रस्थानरत्नाकरकार लक्षण देते हैं. बिना लक्षणके हम किसी वस्तुका स्वरूप हम नहीं जान सकते हैं. इसीलिये खण्डन हो चाहे मण्डन हो यह सब शास्त्रीय प्रक्रिया विषयको समझनेकेलिये होती है. और मुझको लगता है इस तरहके सेमिनार्स्का यही उद्देश्य होना चाहिये कि हम एक-दूसरेके विचारोंको अधिकसे अधिक समझें. इसीलिये हमारी परम्पराने एक-दूसरेके मतको समझनेकेलिये एक प्रारूप बनाया है. उस प्रारूपको सभीने अपनाया है. वह प्रारूप है : प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति. इन चार बिन्दुओंपर यदि सारी चर्चाएं केन्द्रित हो जाती हैं तो ''चतुर्षु अर्थतत्त्वं परिसमाप्यते''.

अब देखिये, प्रस्थानरत्नाकरमें भी वही बात है. उन्होंने भी प्रथम प्रमाणप्रकरण लिया है फिर प्रमेयप्रकरण लिया है.

कोई भी जब अपने दर्शनका ढांचा बनाता है तब उसके पीछे कुछ *प्रीसपोज़िशन्* होते हैं. मुझको लगता है कि कोई भी दार्शनिक परम्परा *प्रीसपोज़िशन्* रहित नहीं हो सकती है. और हम

किसी दर्शनको समझनेमें तभी विफल होते हैं जब हम उसकी प्राग्धारणाओंको लक्ष्यमें नहीं लेते हैं.

अतः यदि वाल्लभवेदान्तको हमें समझना है तो इस वेदान्तके *प्रीसपोज़िशन्स्* को समझना होगा. जैसे ''पुरुषएव इदं सर्वं यच्च भूतं यच्च भव्यम्'' इति ''भूत-भविष्यद्-भवद्व्यवहारदशायामपि सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वकथनेन च सर्वदा ब्रह्मैव प्रमेयम्''. यह सब कुछ ब्रह्म ही है, ईश्वर है, कृष्ण है. तो हमको यदि घटका प्रत्यक्ष होता है तब वह आंशिक प्रत्यक्ष इसलिये है क्योंकि घटप्रत्यक्षमें हमें कृष्ण दिखलाई नहीं देता है. तो अन्ततोगत्वा घटमें भी हमें कृष्णका दर्शन हो. इस माईकमें वृक्षमें... हमें कृष्णका दर्शन हो. तब वह दर्शन सम्पूर्ण दर्शन कहलायेगा. मुझे लगता है कि इस तरहसे यदि हम इन प्रस्थानोंको नहीं देखेंगे तब तक हम उनको समझ नहीं पायेंगे.

प्रमाणके बारेमें वात्स्यायनमें भी वही बात है. वहां भी प्रमाण भावप्रधान भी है और करणप्रधान भी है. जब भावव्युत्पत्ति है तब उसका अर्थ ज्ञान होता है. जब करणव्युत्पत्ति है तब ...

गो. श्या. म. : अतएव हमारे यहां 'कृष्ण' शब्दकी परिभाषामें यह कह दिया गया है कि '' 'कृषिः'='भू'वाचकः शब्दो 'णः'=च निर्वृतिवाचकः तयोः ऐक्यं परं ब्रह्म 'कृष्णः' इति अभिधीयते''. तो घटमें घटकी जो सत्ता है वह 'कृष्' है. और उससे जलपान करनेका जो मज़ा आ रहा है वह 'ण' है.

वी. एन्. झा : तो मेरा कहना यह है कि हमें सबसे पहले उन प्राग्धारणाओंको समझना चाहिये कि जिसके आधारपर वह दर्शन खड़ा है. दूसरे क्रममें हमें यह देखना चाहिये कि उन प्राग्धारणाओंका आधार क्या है. जैसे कि आपने शास्त्रके कुछ वचनोंको लिया और उसके आधापर

कोई प्राग्धारणा बनाई. अब आपको उस प्राग्धारणाके अनुसार सारे प्राकार खड़े करने हैं. यह कार्य सभी दर्शन करते हैं. अब आप किसी दूसरे दर्शनको ले लें. उनकी प्राग्धारणा तो वह नहीं है जो आपने अपने दर्शनमें सोची हैं. जैसे नैयायिकको ले लें. नैयायिकतो अनेकसे अनेककी उत्पत्ति मानता है. न्यायमें तो प्रारम्भमें ही अनेक है. अत: जब तक हम नैयायिककी इस सोचका अवगमन नहीं करते हैं तब तक हम न्यायदर्शनको नहीं समझ पायेंगे कि वह ऐसी बातें क्यों करता है.

समस्या कहां होती है कि नैयायिक तो वेदको भी प्रमाण मानता है जिसके आधारपर आप एक तत्त्वकी बात लाते हैं. नैयायिक अब क्या करेगा. वह कहता है कि वेद दो तरहका होता है. एक यथार्थकथनपरक और एक *मेटाफोरिकल्* लौकिक भाषाके बारेमें भी हमारा ऐसा ही अनुभव है. लौकिक भाषा भी दो तरहकी होती हैं. एक तो तथ्यका निरूपण करनेवाली होती है और दूसरी *मेटाफोरिकल्* होती है. अब वेदमें कौनसे वचन *मेटाफोरिकल्* हैं कौनसे वचन वर्णनात्मक हैं उनका पृथक्करण जब तक हम नहीं कर पायेंगे तब तक हम यह नहीं समझ पायेंगे कि नैयायिक वेदको प्रमाण मानते हुवे भी यह क्यों कहता है कि अनेकसे अनेककी उत्पत्ति हुयी है. तो वह क्या करता है ... ''पुरोहितो यमराजा संवृत्त:''. तो ये जितने *आइडेन्टिटि स्टेटमेन्ट्स्* हैं, एकत्वबोधक वाक्योंको अर्थवाद समझकर उसकी व्याख्या उस तरह करेंगे. इसमें आप आपत्ति नहीं कर सकते हैं. क्योंकि आप भी वही करते हैं. आप यदि कहते हैं कि वेदकी भाषा एक ही है, उसमें *मेटाफर* है ही नहीं तब तो आपका कहना सही हो सकता है. लेकिन आप तो यह नहीं कहते हैं. आप भी यह मानते हैं कि भाषा *मेटाफोरिकल्* भी होती है और वस्तुवर्णनात्मक भाषा भी होती है. तो जब तक इस *डायकोटॉमीको* आप स्वीकारते हैं तो यह छूट उनकेलिये भी है कि वो किसको

अर्थवाद समझें और किसको वर्णनात्मक.

अत: आपने सही कहा कि इन चर्चासत्रोमें हमें यह देखना चाहिये कि कौन क्या कह रहा है और वह कहनेके पीछे उसके *प्रीसपोज़िशन्* क्या हैं.

गो. श्या. म. : आपकी बातमें सुर मिलाते हुवे मैं एक अपनी बात कहना चाहता हूं कि हम जब सन्ध्याके बाद ब्रह्मयज्ञ करते हैं तब उसमें केवल ब्रह्मसूत्रका ही पाठ नहीं करते हैं "प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभासच्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाद् नि:श्रेयसाधिगम:" इन न्यायसूत्रोंका भी क्रमश: पाठ करते हैं. क्योंकि ब्रह्मका वह भी एक पहलु है ऐसा हम स्वीकारते हैं.

वी. एन्. झा : तो इन वचनोंके साथ हम इस चर्चासत्रका समापन करते हैं. अन्तमें, सर्वसम्मतिसे मैं यह विश्वासके साथ कह सकता हूं कि यह चर्चासत्र अपने उद्देश्यमें पूर्णत: सफल रहा है और इसी तरह चर्चासत्रकी यह शृंखला ईश्वरकी कृपासे आगे बढ़ती रहे.

.....+.....

संगोष्ठ्युत्तरकृतज्ञताज्ञापन

गो.श्या.म.

प्रस्तुत प्रत्यक्षप्रमाणविषयक चर्चागोष्ठीके अन्तिम सत्रकी अध्यक्षता स्वीकार

कर अतीव उद्बोधक अध्यक्षवक्तव्य प्रदान कर इस चर्चागोष्ठीको सफल बनानेवाले श्रीवशिष्ठनारायण झा महोदयका हार्दिक आभार मानना औपचारिकताके केवल निर्वाहार्थ न हो कर अपने हृदयके भावोंको अनभिव्यक्त न रख पानेके असामर्थ्यवश भी है!

जबसे इस तरहकी चर्चागोष्ठीका आयोजन प्रारम्भ हुवा तभीसे श्रीमान् झा महोदयका सर्वविध सहयोग — किस विषयके हेतु किस विद्वानको आमन्त्रित करना, स्वयं उनका भी सक्रिय एवं सोत्साह सम्मिलित होना, चर्चार्थ अपेक्षित स्थलका सुझाव और सुविधा जुटवा देना आदि — अनेक रूपोंमें मिलता रहा, इससे उऋण हो पाना तो शक्य ही नहीं!

प्रस्तुत अध्यक्षीय वक्तव्यके बाद किसी तरहका वक्तव्य प्रस्तुत करना विचारगोष्ठीकी मर्यादाके विपरीत न जाता हो तो एक बात अवश्य कहना चाहूंगा.

जैसाकि आदरणीय श्रीमान् झा महोदयका कहना है कि चर्चाके अन्तर्गत जिस वैचारिक प्रस्थानके साथ चर्चा चल रही हो उसके प्रीसपोज़िशन्स्‌को समझनेकी मनोवृत्ति न होनेपर भलीभांति चर्चा हो नहीं पाती. यह वस्तुतः सभीके लिये हृदयसे अंगीकरणीय सुझाव है. अतएव नैयायिकोंका प्रीसपोज़िशन्स् वाल्लभ वेदान्तिओंको अवश्य ही बुद्धिगत रखना चाहिये कि मीमांस्य विषयका लक्षण प्रतिवादी समझ पाये ऐसा प्रस्तुत कर के ही फिर प्रमाण या प्रमाणों को प्रस्तुत करना चाहिये. अन्यथा वादि-प्रतिवादी दोनोंके ही भीतर सम्मुग्धाकारवाली अवधारणाओंके बारेमें विवाद चलते रहनेसे किसी तरहका फलदायी विचार उभर नहीं पायेगा.

दूसरी बात कि जैसे वाल्लभ वेदान्त लौकिक व्यवहारमें भाषाके अन्तर्गत अभिधा और गौणी वृत्ति स्वीकारता है. वैसे ही सृष्टिके अनेक कारणभूत पदार्थोंसे अनेक कार्यभूत पदार्थोंकी उत्पत्तिकी सम्पुष्टिके हेतु न्यायमत वेदोंका प्रामाण्य स्वीकारनेके ही कारण उपनिषदोंमें जहां भी एकमेव अद्वितीय ब्रह्मसे सृष्टिकी उत्पत्तिका प्रतिपादन मिलता हो वहां गौणी वृत्तिद्वारा अभिप्रेत

तात्पर्यकी उट्टंकना करना चाहेगा. यह नैयायिकनीति हम वाल्लभोंको भी समझनी ही पड़ेगी यदि नैयायिकोंके साथ विचारविनिमय हम करना चाहते हों तो. यह निश्चय ही दोनोंके लिये उपकारक भी होगा ही.

न्याय-वैशेषिक मतके साथ जबभी वाल्लभ वेदान्तको चर्चामें उतरना हो तो श्रीमान् झा महोदयके इन अतिमहत्त्वपूर्ण सुझावोंको कदापि विस्मृत नहीं करना चाहिये.

किसी भी नैयायिक या वैशेषिक विचारकर्तासे जब हम यह अपेक्षा रखते हैं कि वह हमारी वाल्लभ वेदान्तकी सविशेष प्राग्धारणा क्या है वह समझनेका प्रयास करे. वे क्या हैं? वे हैं : श्रुति स्मृति सूत्र पुराण आदि शास्त्र केवल यथार्थप्रतिपादनपर शब्दराशी होनेके कारण वाल्लभ वेदान्तमें प्रमाण नहीं माने जाते हैं. अपितु प्रत्यक्ष अनुमान आदि लौकिक प्रमाणोंसे अवगत न होनेवाले प्रमेयके प्रतिपादनमें तत्पर शब्दराशी होनेके कारण ही प्रमाणतया मान्य किये गये हैं. अतः लौकिक प्रमाणोंसे विरुद्ध जाते अभिधावृत्तिसे प्रतिपादितार्थका लौकिक प्रमाणोंसे बाध ही सम्भव नहीं. अतएव गौणवृत्तिकी कल्पनाका वहां प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता.

अब हमारी ऐसी प्राग्धारणाओंको नैयायिक-वैशेषिक विद्वान् समझनेका प्रयास करें यह मांग हम तभी प्रस्तुत कर सकते हैं जब न्याय-वैशेषिक मतकी प्राग्धारणाओंको हम भी समझनेका प्रयास करेंगे. अतः चर्चाकी समापनगोष्ठीमें इस बहुमूल्य सुझावका हम हृदयेन समादर करते हैं.

अवशिष्ट रही श्रीमान् झा महोदयके इस विधानकी बात कि मीमांस्य तत्त्वके सुपरिभाषित न होनेपर चर्चामें कितना भी कालक्षेप क्यों न किया जाये, बोध तो सम्मुग्धाकार ही होगा निश्चयाकारक नहीं. यह भी लौकिक विषयोंकी बाबतमें अतीव स्पष्ट तथा स्वीकार्य कथा होनेपर भी जैसे प्रत्यक्षमें नैयायिकोंने योगलक्षणा प्रत्यासत्ति भी एक स्वीकारी ही है. और इस योगलक्षणा प्रत्यासत्तिद्वारा प्रकट होता ज्ञान लौकिक संयोग समवाय तादात्म्य या स्वरूप आदि सम्बन्धोंके वश प्रकट होती बौद्धिक धारणाओंसे घिरी वैचारिक प्रक्रियामें

जैसे सम्मुग्धाकार ज्ञान ही प्रकट कर पायेगा. तद्वत श्रुत्यादि शास्त्रोंके द्वारा प्रतिपाद्य विषयके बारेमें भी लौकिक धारणाओंसे घिरी वैचारिक प्रक्रियामें सम्मुग्धाकार ज्ञान ही प्रकट कर पायेगा. इसे तो स्वीकारना ही पड़ेगा. क्योंकि श्रुत्यादि शास्त्रोंका अभिप्रेतार्थ क्या हो सकता है वह वाक्यार्थमीमांसाद्वारा सुस्पष्टतया निर्धारित किया जा सकता है. पर लौकिक बुद्धिद्वारा अलौकिक प्रमेयके साक्षात्कारसे पूर्व वह सुनिर्धारित बोध भी सम्मुग्धाकारक ही होगा. किसी भी पदार्थकी परिभाषामें सौ-दोसौ अवच्छेदकता आदि लगा कर दिये गये लक्षण जैसे अनधीतन्याय बुद्धिमान पुरुषके भीतर सम्मुग्धाकार ज्ञान ही प्रकट कर पाते हैं, तद्वत् ही.

अतएव भारतीय उपनिषदों और यूनानी चिन्तक सुकरात की तर्जपर कभी न कभी यह भी स्वीकारना ही पड़ता है कि **''यद् वाचा अनभ्युदितं येन वाग् अभ्युद्यते... यद् मनसा न मनुते येन आहुः मनो मतम्, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यद् इदम् उपासते... यस्य अमतं मतं तस्य, मतं यस्य न वेद सः. अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम् अविजानताम्''** (केनोप.४-११). उपनिषद् अपनी बात यहां समाप्त कर देता तो बात सरल हो जाती परन्तु ऐसा विधान करनेके बाद उपनिषद् यह और कहते हैं कि **''इह चेद् अवेदीद् अथ सत्यम् अस्ति, न चेद् इह अवेदीद् महती विनष्टिः! भूतेषु-भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्य अस्माद् लोकाद् अमृताः भवन्ति''** (केनोप.१३). अतः उपनिषदेकशरण वाल्लभ वेदान्तीके पास उपनिषदोंके ऐसे विधानसे सहमत या असहमत होनेवाले सभी विचारकोंके भीतर ब्रह्मदर्शन करनेके अलावा और ऐसे मतभेदोंको भी भगवल्लीलाके सम्मुग्धाकारक भावके साथ देखनेके अलावा कोई मार्गान्तर ही शेष नहीं बचता!

परन्तु किसी भी स्थितिमें इन विचारगोष्ठियोंमें श्रीमान् झा महोदयके सोत्साह उपस्थित हो कर सर्वविध सहयोग प्रदान करनेके औदार्यको तो भगवत्कृपाका ही अनुभाव मान कर हम अपनी आत्यन्तिक कृतज्ञता ही प्रकट करना चाहेंगे. इति शम्.

॥ परिशिष्ट ॥

चक्षुका चाक्षुषविषयदेशमें प्राप्यप्रकाशकारित्व
(एक वाल्लभ दृष्टिकोण)

"चक्षुर्यत्र न गच्छति" श्रुतिरिति प्राह प्रमाणं परम्
श्रीकृष्णः स्वयमेत्य द्वापरयुगे चक्षुःप्रकाश्योऽभवत्।
प्राप्याप्राप्य विकाशकत्वविषये वादस्तु यश्चाक्षिणि
मच्चक्षुर्हि वृणातु तत्र स हरिः सन्देहहारी परः॥

उपक्रम :

इन्द्रियोंके बारेमें, नामतः चक्षु और श्रोत्र के बारेमें, विभिन्न चिन्तनोंमें पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है कि ये इन्द्रियां विषयदेशमें पहुंच कर अपने विषयोंको प्रकाशित करती हैं या विषयदेशमें पहुंचे बिना ही.

'प्राप्य-प्रकाशकारित्व' पदावलीमें 'प्राप्य' पद "'आप्लृ'=व्याप्तौ" स्वादिगणपठित धातुके साथ 'प्र'उपसर्गके साथ निष्पन्न होनेसे 'ल्यप्'प्रत्ययान्त प्रयोग है. तदनुसार प्राप्यप्रकाशकारिताको स्वीकारनेपर चक्षुरादिद्वारा प्रकाश्य विषयके देश-कालमें इन इन्द्रियोंका विद्यमान होना अपरिहार्य हो जाता है. विषय और इन्द्रिय के देश और काल में, परन्तु, मात्र सामानाधिकरण्यकी स्वीकृति जितनी छोटी सी कथा इस चर्चामें प्रमुख विवादास्पद मुद्दा नहीं है. क्योंकि उनके बीच परस्पर संयोगरूपा या अन्यादृशी किसी प्रत्यासत्तिके अभावमें ये इन्द्रियां समानदेशकालवर्ती होनेपर भी विषयप्रकाशनमें सक्षम नहीं हो पाती.

यह प्राप्यप्रकाशकारिताकी चर्चा ऐसा लगता है कि न्यायसूत्रकार

गौतम ऋषिने ही इदम्प्रथमतया छेड़ी होगी. बादमें बाह्य चिन्तक बौद्ध-जैनोंके द्वारा इसके प्रत्याख्यानवश यह चर्चा और अधिक जोरशोरसे बढ़ती चली गयी. अतएव *श्लोकवार्तिक*कार श्रीकुमारिल भट्ट भी कहते हैं **"सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना सामान्यं वा विशेषो वा ग्राह्यं नातोऽत्र कल्प्यते"** (श्लो.वा.प्र.सू.८४).

अतः विषय और इन्द्रिय के बीच दो द्रव्योंकी तरह संयोगरूपा प्रत्यासत्ति स्वीकारनी, अथवा वर्णाकृति और दर्पणादि उपाधि की तरह बिम्बप्रतिबिम्बभावरूपा प्रत्यासत्ति स्वीकारनी, अथवा संस्कार और स्मृति की तरह उद्दीपक-उद्दीप्यभावरूपा प्रत्यासत्ति स्वीकारनी, अथवा त्वचा-नासिकादि इन्द्रिय और गन्धस्पर्शादि की तरह ग्राह्य-ग्राहकभावरूपा प्रत्यासत्ति, अथवा घट तथा प्रदीपादि की तरह प्रकाश्य-प्रकाशकभावरूपा अथवा आत्मचेतना और अहंकार की तरह अधिष्ठान-आरोपरूपा इतरेतराध्यासरूपा प्रत्यासक्ति स्वीकारनी? ये सभी मौलिक मुद्दे हैं जो एतद्विषयक विवादको पर्याप्त जटिल बना देते हैं.

साथ हि साथ इस चर्चामें एक दूसरा गम्भीर मुद्दा यह भी उलझा हुवा है कि इन्द्रियोंका संयोग धर्मिभूत विषयके साथ आवश्यक मानना या उस विषयके धर्मभूत जात्याकृति-गुण-क्रिया आदिके साथ भी. क्या इसे संयोग या तत्परम्पराप्रयुक्त बाह्य सम्बन्ध द्वारा शक्य मानना अथवा अन्य ही कोई आभ्यन्तर सम्बन्ध द्वारा शक्य मानना? अर्थात् धर्मी या धर्म के बीच क्या कोई एक ही वास्तविक होता है और अन्य या तो उस अनुभूत वस्तुभूतका ऐन्द्रियक या मानसिक संघात या संयोजन अथवा व्यवहारानुगुण हमारी केवल कल्पना होती है? या फिर दोनों ही वस्तुभूत होते हैं?

पूर्वयौक्तिक कोटिक्रम :

*मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिक*कार श्रीयुत लक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्यने अपने

इस ग्रन्थरत्नमें इस विवादका संकलन सविस्तर किया है. वे कहते हैं—

> ''अप्राप्यकारिणी श्रोत्रचक्षुषी इति सौगताः।
> चक्षुर्मात्रं विदुर् जैनाः. सर्वे अन्ये प्राप्तिवादिनः॥
> एवम् इन्द्रियवृत्तान्ते विकल्पो अत्र निरूपितः।''
> (मा.मे.र.श्लो.वा.२६।९)

यह काश्मीरवैभाषिक मतके आचार्य वसुबन्धुके स्वोपज्ञभाष्योपेत *अभिधर्मकोश* में उपलब्ध होते प्रस्तुत वचनके आधारपर भी स्फुट होता ही है—

> '' 'चक्षु श्रोत्र और मन अप्राप्त अर्थके प्रकाशक होते हैं. जबकि अन्य तीन घ्राणेन्द्रिय रसनेन्द्रिय और त्वगिन्द्रिय प्राप्त वस्तुओंकी प्रकाशिका होती हैं' अब यदि चक्षुको अप्राप्त विषयका प्रकाशक माना जाये तो दूरवर्ती तथा किसी व्यवधानकी ओटमें रही भी सभी अप्राप्त वस्तुओंका प्रकाशन चक्षुद्वारा हो जाना चाहिये. इस आपत्तिके निराकरणतया यह कहा जा सकता है कि लोहचुम्बक अप्राप्त लोहधातुका आकर्षक होनेपर भी सभी लोहधातुओंको तो अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर लेता.
>
> और वैसे तो प्राप्त विषयोंके प्रकाशनका नियम स्वीकार कर चलें तब भी ऐसी आपत्ति तो उठायी ही जा सकती है कि सभी प्राप्त विषयोंका प्रकाशन कहां होता है? उदाहरणतया नेत्रगत अञ्जन या शलाका आदि कहां नयनगोचर होते हैं?
>
> अतः जैसे घ्राण आदि इन्द्रियां प्राप्त वस्तुओंका प्रकाशन करती होनेपर भी, उनके साथ रहती सभी गन्ध आदिकी

प्रकाशिका नहीं हो पाती, इसी तरह चक्षु भी अप्राप्त वस्तुकी प्रकाशिका होनेपर भी सभी अप्राप्त वस्तुओंकी प्रकाशिका न होती हो तो क्या आपत्ति है!''[२]

इस उत्तरप्रत्युत्तरमें प्रतिज्ञात अर्थकी प्रक्रिया या उपपत्ति देनेके बजाय केवल प्रतिवन्दि उत्तर द्वारा आक्षेपनिरसनकी मनोवृत्ति झलकती है. फिरभी बाह्य वस्तुओंको द्रव्य न मान कर रूपगुणकर्मोका क्षणिक संघात मानना, अथवा उन्हें प्रत्यक्षग्राह्य न मान कर अनुमेय मानना, या उनका आन्तरिक ज्ञाप्तिसे पृथक् अस्तित्व ही न स्वीकारना, अथवा उन्हें सद्-असत्-सदसद्-उभयविलक्षण यों चारों कोटिओंसे विलक्षण संवृतिसन्मात्र मानना यों वैभाषिक सौत्रान्तिक या योगाचार अथवा माध्यमिक किसी भी दृष्टिकोणसे देखा जाये तो प्राप्य वस्तुके ही सिद्ध न होनेसे चक्षु श्रोत्र या मन की प्राप्यप्रकाशकारिता न होना बौद्ध सिद्धान्तसे सुसंगत कथा तो है ही. फिरभी बाह्यद्रव्यास्तित्ववादी नैयायिक-वैशेषिक-भाट्ट-प्राभाकरोंने इस विवादमें चक्षुकी प्राप्यप्रकाशकारिताकी उपपत्ति खोजते हुवे कुछ विशेष प्रक्रियाका भी प्रतिपादन किया है. वह ऐसे कि जो इन्द्रिय जिस द्रव्यसे निर्मित होती वह उस द्रव्यकी या उसके विशेषगुणकी ग्राहिका बन पाती है. ऐसी प्रक्रियाके ऊहके साथ उसकी उपपत्तिके कुछ हेतु भी दिये गये हैं यथा : (क)चक्षुका बाह्येन्द्रिय होना, (ख)प्रदीपप्रभाकी तरह व्यवहितार्थका अप्रकाशक होना; तथा, (ग)चक्षु इन्द्रियका तैजस होना.

यह जैसा कि [१]नैयायिक [२]वैशेषिक [३]भाट्ट एवं [४]प्राभाकरों द्वारा भी कहा गया है तदनुसार उसपर दृष्टिपात कर लेना चाहिये —

[१]''चक्षु और श्रोत्र अपने विषयोंको पा लेनेके बाद उपलब्धिके हेतु बनते हैं, जनक होनेके साथ स्वविषयोंकी अप्राप्तिमें उपलब्धिके हेतु न बन पानेके कारण. कुम्भकार और मृत्तिका

की तरह.''

[2]''चक्षु प्राप्त अर्थकी प्रकाशिका होती है, व्यवहित अर्थकी अप्रकाशिका होनेसे प्रदीपकी तरह.''—''चक्षु तैजस होती है, परकीय स्पर्शकी व्यञ्जिका न होनेपर भी परकीय रूपकी व्यञ्जिका होनेसे. प्रदीपकी तरह. अथवा प्रभाकी तरह सोचनेपर स्पर्शके साथ 'परकीय' विशेषणके बिना भी काम चल सकता है.''

[3]''बुद्धि इन्द्रियाधीन हो कर जब कोई ज्ञान उत्पन्न करती है तब उसे 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है. इस प्रक्रियाकी उपपत्तिके हेतु जो या जैसा प्रमाणफलभाव विचारा जाय उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, हर सूरतमें विद्यमान वस्तुका ही उपलम्भ होता होनेसे. उदाहरणतया चाहे इन्द्रियोंको प्रमाण मान कर उनकी अर्थके साथ संगति मानी जाय, अथवा मनकी इन्द्रियोंके साथ संगतिको स्वीकारी जाय, अथवा केवल आत्मा ही से सब कुछ होता हुवा मान लिया जाय, सर्वथा ज्ञानको फल एवं किसी तरहके व्यापारको प्रमाणतया मानना ही पड़ता है. क्योंकि व्यापारके अभावमें फलरूप ज्ञान उत्पन्न नहीं होता. इन्द्रियोंके साथ सर्वात्मना ग्राह्यार्थका सम्बन्ध तो जुड़ता नहीं है जिससे कि प्राप्यकारी माननेके कारण सर्वार्थबोध क्यों नही होता ऐसा प्रश्न या आक्षेप उठाया जा सकता है. इन्द्रियोंका केवल प्राप्तिरूप सम्बन्ध ही थोड़े स्वीकारा गया है जो ऐसी बात कही जा सके! अन्यथा प्रमाका करण इन्द्रिय होती हैं ऐसा कहने मात्रसे त्वगिन्द्रियसे रूपका ज्ञान भी हो जाना चाहिये था, क्योंकि त्वगिन्द्रियको 'करण' तो माना न. जैसे प्रमाणताकी निष्पत्ति इन्द्रिय और ग्राह्यार्थ की आपसी योग्यतापर निर्भर होती है. इसी तरह प्रमाणफलके बारेमें योग्यता आदि हेतु तो स्वीकारने ही पड़ेंगे. संयोग वैसे उभयनिष्ठ होता है फिरभी उसका अन्यतराश्रित

व्यपदेश तो वाग्व्यवहारसिद्ध ही है.''

४''यहां एक आशंका होती है कि जो वस्तु दूरदेशमें अवस्थित हो उसकी दूरी ऐसी स्थितिमें प्रतीत होनी नहीं चाहिये क्योंकि जब चक्षुकिरणें वस्तुदेशमें पहुंच ही गयी हों तो दूरी कहां रह जायेगी? जैसे त्वगिन्द्रिय जब विषयदेशमें पहुंच कर वस्तुका अनुभव प्राप्त करती है, तब वह वस्तु दूरवर्तितया अनुभूत नहीं होनी चाहिये.

इसी तरह सभी संयोग गमनक्रियावश सम्पन्न होते हैं और यह तो समीपतम समीपतर समीप दूर दूरतर और दूरतम के पूर्वापरक्रमके अनुसार ही शक्य होता है. अतः समीप और दूर अवस्थित दो पदार्थोंका एककालमें ग्रहण शक्य नहीं रह पायेगा. इसके समाधानतया यह कहा जा सकता है कि द्रष्टाके कर्मादृष्टवश भोगायतनरूप शरीरकी अपेक्षासे विषयोंकी अनुभूतिरूप जैसा भोग नियत हो तदनुसार दूरदेश अन्तराल और समीप आदि अनेक विषयोंकी एककालिक अनुभूति शक्य है. जहां तक क्रमानुसारिताके परिहारपूर्वक एककालमें होती अनुभूतिका प्रश्न है तो वहां कुछ बातें ज्ञातव्य हैं.

यहां किसी मतके अनुसार बाह्य प्रकाशकिरणें जो सभी बाह्य विषयोंको एक साथ घेरे रहती हैं, उनके साथ चाक्षुष किरणें एकीभूत हो कर एककालमें सभी समीप-दूरवर्ती विषयोंका प्रकाशन कर पाती हैं. ऐसा, परन्तु, होनेपर तो अतिदूरवर्ती व्यवहित विषयोंका भी प्रकाशन शक्य हो जाना चाहिये था.

अतः पूर्वोक्त समाधान कुछ मतोंको अग्राह्य लगता है. परन्तु नयनकिरणोंकी अतिद्रुतगामिताके कारण पूर्वापरक्रम गृहीत नहीं हो पाता ऐसी अन्य कुछ मतोंकी धारणा है.

इसे भी अन्य चिन्तक संनिकृष्ट वस्तुओंके ग्रहणमें शक्य

माननेपर भी हजारों योजनकी दूरीपर अवस्थित विषयोंके बारेमें शक्य नहीं मानते हैं.

इन सारी बातोंके समाधानतया हम तो यही कहना चाहेंगे कि नयनकिरणोंसे एकीभूत बाह्य प्रकाशकी किरणें द्रष्टाके कर्मादृष्टवशात् जो दर्शन शक्य हो उसीका प्रकाशन करती हैं, अन्योंका नहीं''[३].

इस तरह हमने देखा कि नैयायिक वैशेषिक भाट्ट तथा प्राभाकरों ने चक्षुर्ग्राह्य वस्तुका प्रकाशन विषयदेशमें चक्षुकी प्राप्तिके पूर्वक जो निर्धारित किया उसकी प्रक्रिया तथा उपपत्ति भी समझानेका भरसक प्रयास किया ही है.

आर्हत दर्शनके अनुसार, परन्तु, न्याय-वैशेषिकादिके मतोंका नैगम अर्थात्, प्रस्तुत विचार्यविषय बाह्यार्थके सन्दर्भमें कहना हो तो, **'स्याद् अस्ति''** नयमें अन्तर्भाव स्वीकारा गया है[४]. अतः बाह्यार्थके केवल अस्तित्वकी धारणाका अवलम्बन करनेवाले नयको दुर्नय माना जाता होनेसे तन्मूलक धारणाओंके साथ आर्हतोंका सहमत न हो पाना असहज नहीं माना जा सकता. अतः *न्यायकुमुदचन्द्रोदय* कार श्रीप्रभाचन्द इन युक्तियोंकी जो समीक्षा करते हैं उनका सारानुवाद भी यहां प्रस्तुत करना चाहेंगे :

[१]''यह 'बाह्येन्द्रिय' किसे कहा जा रहा है? क्या बाह्यार्थके ग्रहणार्थ जो अभिमुख हो उसे अथवा बाह्यदेशमें जो अवस्थित हो उसे?... यदि प्रथम कल्प स्वीकारते हैं तो मनको भी बाह्येन्द्रिय मानना पड़ेगा; क्योंकि वह भी अप्राप्तकारी होनेपर भी बाह्यार्थके ग्रहणार्थ अभिमुख तो होता ही है. दूसरे कल्पको स्वीकारनेपर यह जिज्ञासितव्य हो जाता है कि नयनगोलक या नेत्ररश्मि मेंसे किसे बाह्य देशमें अवस्थित मानना?

नयनरश्मिओंको वहिर्देशमें अवस्थित माननेपर क्या उन्हें बहिर्देशमें आश्रित मानना या बहिर्देशमें केवल प्रकाशनक्रियामें प्रवृत्त मानना ? नयनरश्मिओंको बाह्य देशमें आश्रित तो स्वयं पूर्वपक्षीने भी माना नहीं है. अतः अपसिद्धान्त हो जाता है. दूसरे कल्प अर्थात् बहिर्देशमें प्रकाशनक्रियामें प्रवृत्त मानना इसलिये ग्राह्य नहीं लगता क्योंकि स्वयं इस तरहकी नयनरश्मिओंका अस्तित्व ही सन्दिग्ध है. अतः उन रश्मिओंका विषयप्रकाशनार्थ बहिर्देशमें प्रवृत्त होना भी स्वयं असिद्ध हेतु बन जाता है. नयनगोलकोंका तो बहिर्देशमें अवस्थान प्रत्यक्षबाधित ही है. बाह्यार्थके देशसे असम्बद्ध, क्योंकि, शरीरप्रदेशमें ही नयनगोलक प्रत्यक्षतया प्रतीत होते हैं...

[२]इसके अलावा चक्षु अपने गोलक होनेके स्वभावमें या रश्मि होनेके रूपमें यहां धर्मित्वेन अभिप्रेत है? गोलक होनेके स्वभाववश स्वीकारा जाये तो वह प्रत्यक्षसे विरुद्ध ही है. प्रत्यक्ष प्रतीतिके बलपर चक्षु बाह्यार्थदेशसे असम्बद्ध शरीरके प्रदेशमें ही उपलब्ध होती होनेसे. अन्यथा चाक्षुष प्रत्यक्षके कालमें पलकोंके भीतर नयनगोलक गायब हो जाने चाहिये थे. यदि रश्मीरूपतया विवक्षित हो तो रश्मीरूप तो धर्मी ही सिद्ध नहीं; क्योंकि, रश्मीरूप चक्षु किसी भी प्रमाणसे प्रसिद्ध नहीं होती. क्योंकि नयनरश्मिओंके साधक प्रमाण प्रत्यक्ष या अनुमान तो हो सकते नहीं. प्रत्यक्ष तो हो ही नहीं सकता क्योंकि ऐसी नयनरश्मि कहीं बाह्यार्थतया प्रतीत होती नहीं. यदि ऐसी रश्मि प्रत्यक्षतः प्रतीत होती हो तो फिर विवादका कोई विषय भी नहीं रह जाना चाहिये था. नीला रंग नीले रंगके रूपमें दिखलायी देता हो तब किसे विप्रतिपत्ति हो सकती है ?

[३]प्रत्यक्षानुभूति इन्द्रियार्थके संनिकर्षसे जन्य मानी गयी है और बाह्यार्थदेशमें विद्यमान नयनरश्मिओंके साथ दूसरी इन्द्रियोंका

संनिकर्ष तो हो नहीं सकता है कि जिससे वहां उन रश्मिओंका प्रत्यक्ष पैदा हो पाये. अतः अन्ततः अनवस्थादोष भी यहां आ पड़ेगा. प्रत्यक्षदर्शनके अभावमें अनुमानद्वारा भी अतएव इन रश्मिओंकी सिद्धि शक्य नहीं... एतावता रश्मिओंकी सत्ता सिद्ध करनेको जो अनुमान प्रस्तुत किया गया कि 'चक्षु रश्मिवाली होती हैं तैजस होनेके कारण' उसका भी निरसन हो जाता है... क्योंकि यह रश्मिवत्ता गोलकरूप चक्षुकी अभिप्रेत है या तद्व्यतिरिक्त किसी वस्तुकी ? चक्षुर्गोलकसे व्यतिरिक्त किसी वस्तुका रश्मियुक्त होना तो न केवल असिद्ध ही है प्रत्युत ऐसा कहनेसे अपसिद्धान्तका प्रसंग भी आ पड़ता है. गोलकरूप चक्षुको रश्मियुक्त सिद्ध करना हो तो पक्ष ही प्रत्यक्षबाधित हो जाता है क्योंकि नयनगोलकोंमें चमकीली प्रभा कोई दिखलायी नहीं देती.

[४]अब उन रश्मिओंको अदृश्य मान कर चलें तो अनुद्भूतरूपस्पर्शवती होनेके कारण प्रत्यक्षबाधके प्रसंगसे बचा जा सकता था परन्तु ऐसी रश्मि तब रूपप्रकाशक कैसे सिद्ध हो पायेंगी ? क्योंकि चक्षु रूपप्रकाशक हो नहीं सकती अनुद्भूतरूपवाली होनेके कारण जलसे संयुक्त अनलकी तरह. ऐसा कोई भी तेजोद्रव्य जिसमें न तो उद्भूत रूप हो और न उद्भूत स्पर्श हो कहीं दिखलायी नहीं देता... बिल्ली आदि जानवरोंकी आंखोंमें प्रत्यक्षतः रश्मियां प्रतीत होती हैं अतः कोई विरोध नहीं, ऐसा कहना हो तो कहो परन्तु जिन जानवरोंकी आंखोंमें रश्मियां दिखलायी न देती हों उनमें रश्मियां कैसे मानी जा सकती है ?...

[५]इसके अलावा जो रश्मियुक्त पदार्थ होते हैं उन्हें बाह्यार्थके प्रकाशक होनेमें बाह्यालोककी अपेक्षा नहीं होती जैसे प्रदीपको... अतः जो हेतु एतदर्थ दिया गया कि चक्षु तैजस होनेके कारण रश्मियुक्त होती हैं वह भी सिद्ध नहीं हो पाता...

अनुमानतः भी यह बाधित लगता है — जैसे कि चक्षु तैजस नहीं होती चमकीले रूप और स्पर्श से रहित होनेके कारण. जो इस तरह चमकीले रूप और स्पर्श से रहित होते हैं वे तैजस नहीं होते जैसे मृत्पिण्डादि...

[६]चक्षुके द्वारा अन्धकार भी गृहीत होता है अतः उसे तैजस माना नहीं जा सकता. आलोकसे अन्धकार गृहीत नहीं हो पाता ठीक वैसे ही. अतः तमःप्रकाशक होनेके कारण चक्षुको तैजस् नहीं माना जा सकता...

[७]चक्षुको प्राप्यकारी माननेपर क्या विषय चक्षुके देश तक आता है या चक्षु विषयके देश पर्यन्त जाती है? प्रथम कल्प तो प्रत्यक्षसे बाधित है... द्वितीय कल्पमें भी प्रत्यक्षविरोध दिखलायी देता है क्योंकि प्रत्यक्षतया विषयके प्रति चक्षुका गमन सिद्ध नहीं होता. यहां विरोधी अनुमान भी दिया जा सकता है कि चक्षु स्वयं जा कर बाह्यार्थके साथ सम्बद्ध नहीं होती, इन्द्रिय होनेके कारण त्वचाकी तरह ही.

[८]अतः दृष्टरीतिका अतिक्रमण करके चक्षुके साथ जुड़ी किसी वस्तुका विषयके साथ सम्बन्ध माननेके बजाय प्रतीतिके बलपर विषयसे असम्बद्ध चक्षु ही विषयकी प्रकाशक होती है ऐसे स्वीकारमें क्या आपत्ति है? व्यर्थ ही प्रतीतिका अपलाप करनेसे लाभ क्या!...

[९]विषयदेशमें जा कर चक्षु अर्थको द्योतित करती हो तो... कांच मेघ पारदर्शी वस्त्र स्वच्छ जल स्फटिक आदिके द्वारा व्यवहित वस्तुओंका या तो उपलम्भ नहीं होना चाहिये अथवा इन व्यवधानोंके बावजूद चक्षु उन व्यवहित वस्तुओंतक जाती हो तो व्यवधानरूप पदार्थोंका भान नहीं होना चाहिये, क्योंकि चक्षु वहांसे आगे पहुंच गयी होती है. इन कांच आदि अवयविओंके द्वारा प्रतिबन्ध क्यों नहीं होता? यदि इनके आरपार जानेके कारण चक्षुकी रश्मियां अर्थदेश तक जाती

हों तो कमसे कम कांच आदिसे व्यवहितार्थकी उपलब्धिके समय तो व्यवधायक कांच आदि अनुपलम्भ अवश्य ही होना चाहिये...

[१०]इससे यह सिद्ध हुवा कि कमलके शतपत्रोंके वेधमें जैसे क्रमिकता अनुभूत नहीं होती उसी तरह समीपस्थ वृक्षकी शाखा और दूरस्थ चन्द्रमा के अनुभवमें भी वह दुर्लक्ष्य हो जाती है, यह समाधान भी निरस्त हो जाता है...

[११]चक्षुको प्राप्यकारी माननेपर चक्षुके विषयके बारेमें संशय या विपर्यास तो होने ही नहीं चाहियें, क्योंकि चक्षुसे गृह्यमाण वस्तुके सामान्य धर्मोंकी तरह विशेष धर्म भी दूर नहीं रह जाते होनेसे उनका संनिकृष्ट वस्तुकी तरह ग्रहण हो जाना चाहिये... संनिकृष्ट होनेपर भी चक्षुके द्वारा सामान्य ही गृहीत होता है विशेष नहीं ऐसा तो कहा नहीं जा सकता''[५].

जैनोंके सप्तभंगिमोपेत सिद्धान्तमें शांकरोंका अन्तर्भाव, प्रस्तुत विचार्यविषय बाह्यार्थके सन्दर्भमें सोचना हो तो, **स्याद् नास्ति**'' रूप संग्रहनयमें आर्हतोंद्वारा स्वीकारा गया है. इससे अलग हट कर बौद्धोंका अन्तर्भाव ऋजुसूत्राकूत, अर्थात् प्रस्तुत बाह्यार्थके सन्दर्भमें सोचना हो तो, ''**स्याद् अवक्तव्यम्**'' नयमें स्वीकारा गया है[६]. यह यद्यपि अन्तिम माध्यमिकोंके मतके साथ संगत कथा नहीं लगती है. फिरभी योगाचार मतकी दृष्टिसे बौद्धोंका अन्तर्भाव ''**स्याद् नास्ति**'' कल्पके अन्तर्गत अधिक सुसंगत लगता है. वैसे ''**स्याद् अवक्तव्यम्**'' कल्पको कोटित्रयविनिर्मुक्त माननेके बजाय चतुष्कोटिविनिर्मुक्त मान कर चला जाये तो उसमें माध्यमिक बौद्धोंका अन्तर्भाव भी शक्य हो जायेगा. शांकर वेदान्तमें मिथ्यात्व वैसे तो ''**सद्भिन्नत्वे सति असद्भिन्नत्वे सति सदसद्भिन्नत्वम्**'' (अद्वै.सि.मिथ्या.निरु.प्रक.) कोटित्रयविनिर्मोकरूप ही माना गया है. फिरभी शांकर वेदान्तका भी अन्तर्भाव चतुर्थ ''**स्याद् अवक्तव्यम्**'' कल्पमें ही अधिक युक्ततर माना जा सकता है. क्योंकि

ब्रह्मज्ञानजन्य बाधसे पहले बाह्यार्थग्राही प्रत्यक्षका व्यावहारिक प्रामाण्य माध्यमिक बौद्धोंकी ही तरह शांकर वेदान्तको अभीष्ट है परन्तु बाधज्ञानके बाद तो स्वयं *विवरणप्रमेयसंग्रह* कार भी शून्यताके बारेमें किसी तरहकी विप्रतिपत्ति नहीं देखते हैं : ''बाधप्रतियोगित्वसिद्धये तत्प्रतीतिकाले सदसद्वैलक्षण्यांगीकारात्. बाधाद् ऊर्ध्वन्तु भवत्येव शून्यत्वं, विनष्टस्य शून्यतायां कस्यापि अविवादाद्'' (विव.प्रमे.सं.१।३५/डी) अतएव हम देख सकते हैं कि न केवल चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियोंका प्रत्युत अन्तःकरणवृत्तिका भी बाह्य विषयदेशमें गमनपूर्वक व्यावहारिक प्राप्यकारित्व शांकर वेदान्तमें प्रतिपादित किया गया है. एतावता बाह्यार्थकी परमार्थदृष्ट्या शून्यता तथा व्यवहारदृष्ट्या संवृतिसत्योपम व्यावहारिकसत्ता या तदपरपर्यायरूप मिथ्यात्व भी अंगीकृत है. तदनुसार शांकर वेदान्तमें अविद्याकल्पित बाह्यार्थदेशमें आविद्यक बाह्यार्थाकाराकारिताको सम्पन्न करने नेत्रवृत्ति तथा अन्तःकरणवृत्ति दोनोंको प्राप्यप्रकाशकारी माना गया है. यह सुतरां ध्यातव्य है कि शांकर वेदान्ताभिमत प्रक्रियामें यहां चमत्कारपूर्ण वैलक्षण्य है. और अतएव बौद्ध मताभिप्रेत प्रक्रियासे यह सर्वथा विपरीत ही सिद्ध होती है. एतदर्थ विवरणप्रमेयसंग्रह तथा वेदान्तपरिभाषा के ये अंश अवलोकनीय हैं—

> ''सर्वगत चिदात्माको आवृत कर के अवस्थित भावरूपा अविद्या ही जगत्के विविध आकारोंमें परिणत होती है. वहां शरीरके भीतर स्थित 'अन्तःकरणा'ख्य अविद्याका विवर्त धर्माधर्मसे प्रेरित हो कर नेत्रादिके द्वारा बाहर निकल कर यथोचित घट आदि विषयोंमें व्याप्त हो जानेपर घट आदि आकारोंमें आकारित हो जाता है. जैसे लोकमें तलावमें भरा हुवा जल उसकी भींतमें रहे छिद्रोंमेंसे बाहर बह कर नालिओंमें बहता हुवा क्यारिओं तक पहुंच कर उनमें भर जाता है. वे क्यारियां चतुष्कोण हों तो चतुष्कोण, त्रिकोण हों तो त्रिकोण; और वर्तुल हों तो वर्तुल आकार भी जल ग्रहण

कर लेता है. यह तथ्य है कि बिलकुल तलावके जलकी ही तरह अन्तःकरण धीमे-धीमे नहीं बहता. वह ऐसी तरह नहीं बहता कि अतिदूरवर्ती चन्द्र नक्षत्र ध्रुव आदि तक पहुंच ही न पाये! वह तो सूर्यकी किरणोंकी तरह तैजस होनेके कारण शीघ्र ही दीर्घप्रभाके आकारमें परिणत हो जाता है. अतएव किरणोंकी ही तरह सहसा संकुचित भी हो पाता है. सावयव होनेके कारण अन्तःकरण दूधकी तरह अन्यथाभावापन्न भी अर्थात् परिणत हो पाता है. इस परिणतिके वश अन्तःकरण देहके भीतर और घट आदि विषयमें भी भलीभांति व्याप्त हो कर देह, घट; और, उन दोनोंके बीचमें रहे अन्तरालमें भी अविच्छिन्न दण्डायमान हो कर अवस्थित हो जाता है. यहां देहावच्छिन्न अन्तःकरणके भागको 'अहंकारा'ख्य 'कर्ता' कहा जाता है. देह और विषय के बीच दण्डायमान अन्तःकरणके भागको 'वृत्तिज्ञान'भिधा 'क्रिया' कहा जाता है. इसी तरह विषयके व्यापक अन्तःकरणके भागको बाह्यार्थके ज्ञानका कर्म(=विषय) बनानेवाला 'अभिव्यक्तियोग्य' कहा जाता है. इस तरह तीन भागोंवाले अन्तःकरणके अतिशय स्वच्छ होनेके कारण उसमें चैतन्य अभिव्यक्त हो पाता है. यह अभिव्यक्त चैतन्य एक होनेपर भी अपने अभिव्यञ्जक अन्तःकरणरूपी उपाधिके भेदवश तीन तरह निरूपित होता है : कर्तावाले भागमें घिरा चिदंश प्रमाता, क्रियावाले भागमें घिरा चिदंश प्रमाण, विषयगत योग्यताधायक भागमें घिरा चिदंश प्रमिति. यों प्रमाता, प्रमाण और प्रमिति में कोई सांकर्य नहीं हो पाता.''

''ज्ञानेन्द्रियां—घ्राण रसना चक्षु श्रोत्र और त्वचा यों—पञ्चसंख्याक होती हैं. ये सारी अपने-अपने विषयोंसे संयुक्त हो कर ही प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न करती हैं. इनमें घ्राण रसना और त्वचा इन्द्रियां अपने-अपने स्थानोंपर ही रहती

हुयी गन्ध रस स्पर्श के उपलम्भ उत्पन्न कर पाती हैं. जबकि चक्षु और श्रोत्र तो स्वतएव विषयदेश पर्यन्त जा कर अपने-अपने विषयोंको गृहीत करते हैं. श्रवणेन्द्रिय भी चक्षुकी ही तरह परिच्छिन्न होनेके कारण भेरी आदिके देश तक पहुंच कर उसके शब्द सुन लेती है''[९].

इस तरह हम देख सकते हैं कि शांकर वेदान्त न केवल चक्षुकी अपितु श्रोत्र और अन्तःकरण, जिसे बौद्ध दर्शनमें 'मन' कहा गया है, यों तीनोंको ही प्राप्यप्रकाशकारी मानता है. वह भी बाह्यार्थकी कल्पितता तथा बाह्यदेशमें व्यावहारिकी विद्यमानता यों परस्पर दोनों विरोधाभासी धारणाओंके समन्वयार्थ कितनी विलक्षण प्रक्रियाके अवलम्बन द्वारा प्रस्तावित यह प्रतिपादन है!

माध्व वेदान्त, परन्तु, इस प्रक्रियाका प्रत्याख्यान करना चाहता है. श्रीमद्वादिराजतीर्थ अपने *विवरणव्रण*में उल्लिखित अन्तःकरणवृत्तिके बाह्य विषयदेशमें गमनकी आलोचना इन शब्दोंमें करते हैं—

''विवरणकारका प्रतिपादन उचित माना जा सकता था यदि घट आदिका अधिष्ठानभूत चैतन्य घटादिज्ञानरूप होता तो, वह तो उपपन्न ही नहीं होता. अतः चैतन्य यदि घटादिज्ञानरूप हो तो यह बताना पड़ेगा कि अनुभवसे विपरीत ऐसी कल्पना करनेका औचित्य क्या है? यदि दृग् और दृश्य के बीच दूसरा कोई सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता होनेसे अध्यासरूप सम्बन्धको शक्य बनाने ऐसी धारणा प्रस्तुत करनी अभीष्ट हो तो क्या घटाकारिका वृत्तिके अध्यास न होनेपर भी उसे घटज्ञान मानना या नहीं? अध्यास न होनेकी स्थितिमें तो पटाकारिका वृत्तिसे भी घटविषयक अज्ञानकी निवृत्ति स्वीकारमें भी कोई बाधा नहीं रह जायेगी. प्रथम कल्पमें

यह भी स्पष्ट करना चाहिये कि आध्यासिकी घटाकारिका वृत्तिकी घटज्ञानरूपता कैसी हो सकती है? यह तो कह नहीं सकते कि घटाकारिका होनेके कारण ही, क्योंकि तब तो आवश्यक होनेसे तत्तद्-विषयाकारिका वृत्तिओंको ही तत्तद्-विषयकज्ञान मान लेना पर्याप्त होनेसे विषयाधिष्ठानभूत चैतन्यको भी ज्ञान मानना निरर्थक ही सिद्ध होगा. अन्यथा किसी एक घटको भी अपर घटका ज्ञान माननेमें भी कुछ आपत्तिजनक रह नहीं जायेगा. इसके अलावा किसी भी तरह विशेष आकारोंसे रहित ऐसे रूप संख्या सामान्य अभाव आदि विषयोंके ज्ञानोंको तो ज्ञान ही माना नहीं जा सकेगा. परोक्षज्ञानद्वारा क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियरूप करणोंके सहकारके बिना ही बाह्यार्थसे असम्बद्ध अन्तःकरण बाह्यार्थके आकारग्रहणार्थ सक्षम न होनेसे ऐसे ज्ञानको ज्ञान मानना शक्य नहीं रह जायेगा. जो अन्तःकरण स्वतः ही निराकार हो वह तो तत्तत्-करणरूपा इन्द्रियोंद्वारा ही तत्तद् इन्द्रियोंसे गम्य विषयोंका आकार किस या कैसी प्रणालीद्वारा ले पायेगा? तलावका जल नालीसे बह कर क्यारीमें पहुंचनेपर क्यारिओंके आकारमें आकारित हो जाता है, उस तरह क्या अन्तःकरण आकारग्रहण कर पायेगा?... तलावमें रही सीढ़ियोंके कारण भला कभी तलावका जल क्यारी तक पहुंच सकता है क्या? वह तो नालीद्वारा ही पहुंच पाता है. एतावता सिद्ध हुवा कि क्यारिओंतक यदि जलको पहुंचाना हो तो तलावके बाहर रही हुयी ही कोई प्रणाली अपरिहार्यतया अपनानी पड़ेगी. अतएव तो अन्तःकरणसे बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियरूप पदार्थोंकी आवश्यकता स्वीकारनी ही पड़ती है और वह उचित भी है ही...

एक दूसरी बात यह भी है कि घटाकारिका वृत्ति घटविषयक अज्ञानको तो दूर कर सकती है परन्तु घटसे

> भिन्न ऐसे चैतन्यके बारेमें जो अज्ञान हो उसे कैसे दूर कर पायेगी? अब यदि कहा जाये कि वही वृत्ति चैतन्यको भी अपना विषय बना लेगी तो यह वृत्ति अपनेमें अनध्यस्त निराकार चैतन्यको कैसे विषय बना पायेगी? उसके उल्लेखपुरःसर बना पायेगी ऐसा कहते हो तो सर्वत्र उसीसे सारे ज्ञान उत्पन्न हो जायेंगे फिर निरर्थक ही अननुभवसिद्ध आकाराध्यासकी कल्पना करनेमे लाभ क्या?
>
> यहां यह भी प्रष्टव्य होता है कि नीरूप चैतन्यके बारेमें चाक्षुष वृत्ति उत्पन्न कैसे हो सकती है? यदि कहा जाये कि उस घटाकारिका वृत्तिके विषयीभूत घटमें चैतन्यके अनुस्यूत होनेके कारण तो, तब तो उसमें आकाश और गुरुत्व भी अनुस्यूत होते ही हैं, सो उन्हें क्यों वह वृत्ति अपना विषय नहीं बना लेती? जैसे घट-पटके समूहावलम्बी ज्ञानके अनुव्यवसायमें घट और पट दोनों विषय बनते हैं, ठीक उसी तरह 'घट और उसके अधिष्ठानभूत चैतन्य को मैं देख-जान रहा हूं' ऐसा अनुव्यवसाय क्यों होता नहीं?...''[८].

इस तरह हमने देखा कि *विवरणव्रण* कार कैसे अन्तःकरणवृत्तिकी प्राप्यकारिताकी समालोचना करते हैं. वैसे तो न्यायकुमुदचन्द्रोदयकारकी युक्तियोंका भी समाधान प्रस्तुत किये बिना चाक्षुष वृत्तिके बहिर्निष्क्रमणकी कल्पना भी सहसा हृदयारूढ़ नहीं हो पाती है.

दुग्धराशिवत् पानैकगम्य माधुर्यसे भरपूर अपने *तत्त्वामुक्ताकलाप* और उसपर स्वोपज्ञ *सर्वार्थसिद्धि* व्याख्यामें श्रीमान् वेंकटनाथ वेदान्तदेशिकने भी इस विषयपर बौद्ध युक्तियोंकी समालोचना प्रस्तुत की है जिनमें जैन युक्तियोंका भी थोड़ा-बहुत समाधान तो झलकता ही है. फिरभी उसे पूर्ण सन्तोषकारी तो माना नहीं जा सकता है. हम देख चुके हैं कि चक्षुकी अप्राप्यकारिताके बारेमें जैन और बौद्ध दृष्टिकोण एक ही हैं. श्रोत्र इन्द्रियको, परन्तु, जैन चिन्तक प्राप्यकारी मानते हैं

और बौद्ध उसे भी मनकी तरह अप्राप्यकारी ही. अतः पूर्वोदाहृत युक्तियोंके विरुद्ध श्रीवेदान्तदेशिककी प्रतियुक्तियोंका विमर्श भी यहां अवधारणीय बन जाता है—

प्राप्यग्राहीन्द्रियत्वाद् विमतम् इतरवत् प्राप्तिः उक्तप्रकारा
वृत्तिं दृष्टेर् न रुन्धे विरलपटनयाद् अम्बुकाचादिरच्छः।
नो चेद् गृह्येत योग्यं समम् इह निखिलं निष्फले छादकादौ
स्थैर्ये तद्योग्यभावो नहि गलति समा सन्ततिः त्वन्मतेऽपि॥

इसकी स्वोपज्ञा *सर्वार्थसिद्धि* व्याख्यामें ग्रन्थकार कहते है कि बाह्य चिन्तकों द्वारा यह जो युक्ति दी जाती है कि इन्द्रियां यदि देहके भीतर हों तो चक्षु और श्रोत्र द्वारा दूरस्थ विषयोंका ग्रहण कैसे उपपन्न हो पायेगा? उसके समाधानतया यह ज्ञातव्य है कि वृत्तिद्वारा सम्बन्ध जुड़ता होनेसे यह शक्य है. यह शंका उठ सकती है कि देहके भीतर भरी रहनेवाली वृत्ति दूरस्थ विषयोंका ग्रहण कैसे कर पायेगी; क्योंकि धर्म कभी धर्मीके बाहर तो विद्यमान रह नहीं सकता... यद्यपि हैतुकगतिसे हठात्कारके साथ अप्राप्यकारितापर भार देना ही हो तोभी 'दिवीव चक्षुः आततम्' ऐसे आगमिक व्यवहारस्वारस्यमें कोई बाधा दिखलायी नहीं देती होनेसे वृत्तिद्वारा प्राप्ति कही जा सकती है... बाह्य चिन्तकोंका यह कहना कि 'स्वग्राह्य विषयके प्रकाशनार्थ चक्षुवृत्तिका नयनगोलकसे बाहर प्रसरण माननेपर, वह या तो क्रमशः एक-एक विषयका ग्रहण करते हुवे अग्रसर होगी या युगपत् सकल विषयोंका. ये दोनों ही कल्प, परन्तु, दूरस्थ विषयोंकी प्राप्तिके हेतु उपपन्न नहीं हो पाते. अतः मनकी तरह रूपग्राहक चक्षु और शब्दग्राहक श्रोत्र भी अप्राप्यग्राही ही होते हैं'. उनकी इस धारणाके विरोधमें यह प्रत्यनुमान दिया जा सकता है कि 'प्राप्याप्राप्यत्वके विवादका विषय चक्षु अपने विषयको प्राप्त करके ही रूप आदिकी ग्राहिका बन पाती है, इन्द्रिय होनेके कारण त्वगिन्द्रियकी तरह'... जो कुछ इन्द्रियद्वारा गृहीत होता है उस वस्तुका अपनेको ग्रहण करनेवाली

इन्द्रियके साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध तो अवश्य होना ही चाहिये. अन्यथा असम्बद्धका ग्रहण मान लेनेपर तो अव्यवस्था हो जायेगी. यह तो ठीक है कि सभी सम्बद्ध विषयोंका ग्रहण भी इन्द्रियां नहीं करती. अतः वैसी अव्यवस्था तो स्वसम्बद्धार्थग्राहितावादिओंके मतमें भी समानतया आपादित की जा सकती है... परन्तु सूर्योदय होनेके साथ ही उसकी प्रभा जैसे सारी दिशाओंमें व्याप्त हो जाती हैं, वैसे ही उतने ही वेगसे नयनकिरण भी यदि सर्वत्र व्याप्त हो जाती हों तो उसमें विस्मयकी कौन सी बात हो सकती है! कमलके शतपत्रोंके वेधमें जैसे यौगपद्यका आभास होता है वैसे ही यहां भी शक्य हो सकता है... कुछ लोग जो कहते हैं 'चक्षुसे निष्क्रमण होते ही चक्षुकिरणें चन्द्र-सूर्यके बहुदेशव्यापी बाह्य प्रकाशसे संवलित हो कर एक पृथु अवयवी बन जाती हैं. और इसी सम्बन्धके कारण चक्षुके खुलते ही दूरस्थ विषयका ग्रहण और दूरस्थ तथा समीपस्थ दोनोंका युगपद् ग्रहण भी उपपन्न हो जाता है' यह किन्तु युक्तियुक्त विधान नहीं है, चक्षुसे निष्क्रमणके बाद सौर आदि प्रकाशके साथ संवलनकी कल्पनामें गौरवदोष प्रकट होता है[२].

बौद्ध मतके तर्कोंके निरसनार्थ दिये गये इस समाधानमें *न्यायकुमुदचन्द्रोदय*की भी कतिपय युक्तियोंका समाधान तो उपलब्ध होता है परन्तु फिरभी बहुत सारी युक्तियां अभी अप्रत्याख्यात ही अवशिष्ट हैं. अस्तु.

इस विवादमें सांख्यमतीय ईश्वरकृष्णकी कारिकाओंपर उपलब्ध होती प्राचीनतर, सम्भवतः धारानरेश भोजराजविरचिता *युक्तिदीपिका* व्याख्यामें जो कुछ निरूपित हुवा उसे भी दृष्टिगत कर लेना उपकारक होगा, पूर्वकालिक कोटिक्रमोंके अवधारणार्थ ही तदनुसार —

> ''बुद्धिकी इन्द्रियां 'बुद्धीन्द्रिय' कहलाती हैं. इनमें बुद्धीन्द्रिय होनेकी बात क्या है? कहा जाता है — शब्द आदि

विषयोंकी प्रतिपत्तिमें ये इन्द्रियां द्वाररूप होती हैं. क्योंकि अन्तःकरणकी तो वहिर्वृत्ति हो नहीं सकती. अतः बाह्य शब्द आदि विषयोंके साक्षाद् ग्रहणार्थ वह तो सक्षम हो नहीं पाता. इसलिये श्रोत्र आदि रूप साक्षाद् बाह्य विषयोंके प्रकाशनमें समर्थ कोई कारणान्तर अपेक्षित होता है. अतः वे इन्द्रियां ही एक प्रणाली बन कर अन्तःकरणको विषयग्रहण करवा देती हैं. अतः ठीक ही तो कहा कि बुद्धिको बाह्य विषयोंकी प्रतिपत्तिमें ये इन्द्रियां द्वारभूत होती हैं अतः इन्हें 'बुद्धीन्द्रियां' कहना उचित है.

बुद्धिके इन करणोंकी किन अर्थोमें वृत्ति मानी गयी है और उनके लक्षण क्या माने गये हैं? कहा जाता है... शब्द स्पर्श रूप रस तथा गन्ध जो परस्पर भिन्न-भिन्न पांच तरहके विषय होते हैं उनके बारेमें श्रोत्र त्वचा चक्षु जिह्वा और घ्राण इन्द्रियोंद्वारा श्रवण स्पर्शन दर्शन आस्वादन आघ्राण रूपी व्यापारोंको 'वृत्ति' कहा जाता है... यह जो पूछा गया कि उनके लक्षण क्या हैं, उसका उत्तर है : इन इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषयोंका आलोचनमात्र अभीष्ट है. 'आलोचन' और 'ग्रहण' ये दोनों पर्यायवाचक पद हैं... अतः ठीक ही तो कहा कि इनकी ग्राहिका ये इन्द्रिय होती हैं. ये इन्द्रियां उन-उन विषयोंकी प्रदीपकी तरह प्रकाशिका नहीं होती. इन्द्रियवृत्ति केवल ग्राहिका होती हैं अर्थात् प्रत्ययरूप नहीं. परन्तु इन ग्रहण, प्रत्यय और प्रकाश में परस्पर प्रभेद क्या होता है? समधानरूपेण यह अवधेय है कि विषयके साथ सम्पर्क होनेपर उन-उन विषयोंके रूपोंको धारण कर पाना ही इन्द्रियवृत्तिओंका ग्रहणरूप व्यापार होता है. बादमें विषय और इन्द्रियवृत्ति का अनुकारी जो निश्चय

होता है कि 'यह गाय है, यह श्वेत वर्णकी है; और दौड़ रही है' इसे प्रत्यय समझना चाहिये. विषयके साथ सम्पर्क छूट जानेपर श्रोत्र आदि वृत्तिओंमें जो विषयाकार निवृत्त होता है, वह तो वर्तमानकालता है. अतः ग्रहणके अनुभवसे जो संस्काराधान होता है और जिसके कारण त्रैकालिकी स्मृति बन पाती है उसे 'प्रत्यय' कहते हैं. यही इन दोनोंके बीच रही विशेषता है. अब बाह्य जो प्रकाश होता है वह विषयाकारकारित नहीं होता. घट आदि विषयोंके संस्कारद्वारा तथा व्यवधायक पार्थिव छायारूप धर्मके अपहरणद्वारा भी प्रकाश व्यञ्जक हो कर चक्षुका उपकारी बन जाता है...

अतः यह उपपन्न होता है कि प्रदीप आदि प्रकाशक होते हैं, श्रोत्र आदि इन्द्रियां ग्राहिका होती हैं और अन्तःकरण व्यवसायक होता है''[१०].

यों वाचस्पति मिश्रसे भी पूर्वकालिक सांख्यकारिकाके व्याख्याता *युक्तिदीपिका* कारने जो यह निरूपण चक्षु और चक्षुर्ग्राह्य विषय के बारेमें किया है, इसके आधारपर इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इनके अनुसार इन्द्रियां केवल ग्राहिका ही होती हैं, प्रकाशिका नहीं. प्रकाश्य-प्रकाशकभाव सम्बन्ध तो वर्णरूपाकृति, तद्वद् वस्तु और सौर आदि ज्योतिष्मान् वस्तुओंके बीच ही माना गया है. अतएव सम्भवतः इन्हीं धारानरेशकृत शैवसिद्धान्तप्रतिपादक *तत्त्वप्रकाश* ग्रन्थ, जिसपर श्रीकुमारस्वामिकृत *तात्पर्यदीपिका* व्याख्या भी उपलब्ध है, उसमें भी—

''मनका व्यापार इच्छारूप होता है. अतएव मनके भीतर ही संकल्प होता है. बुद्धीन्द्रियां पांच होती हैं : श्रोत्र त्वचा दृष्टि जिह्वा और नासिका... इनके ग्राह्य होते हैं : शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध... इन इन्द्रियोंके व्यापार शब्द आदिके ग्रहणरूप होते हैं... इन शब्दादिका

ग्रहण शब्दादिके आकारोंको धारण कर लेना है और इसे ही 'इन्द्रियोंका व्यापार' कहा जाता है'' [११].

एतावता देखा जा सकता है कि राजा भोजके अनुसार सांख्य और शैव दोनों ही मतोंमें विषयेन्द्रियके बीच ज्ञानानुकूला प्रत्यासत्ति ग्राह्यग्राहकभावरूपा स्वीकारी गयी है. इस प्रतिपादनशैलिमें विषयेन्द्रियके बीच बिम्ब-प्रतिबिम्बभावरूपा प्रत्यासत्तिके विपरीत विषय वास्तविक आकारघटक होता है तथा वृत्ति विषयाकाराकारित हो जाती है, ऐसी प्रत्यासत्ति स्वीकारी गयी है. आंग्लभाषामें इसके लिये एक बहुत उपयुक्त पद plasticity उपलब्ध होता है कि जिसके अनुसार कुछ द्रव्योंमे यथायथ अनेकाकारधारणकी क्षमता मानी जाती है. सांख्य और शैव मतोंकी भोजराजकृत व्याख्याके अनुसार इन्द्रियोंमें वैसी ही अनेकाकारधारणक्षमता होती है. अतएव इसीके कारण ही विषय और इन्द्रियों के बीच ग्राह्यग्राहकभावरूपा प्रत्यासत्तिकी कल्पना की गयी है. जहां तक बाह्य प्रकाश विषयाकाराकारित होता है या नहीं इस समस्याके समाधानकी बात है तो स्पष्ट है यह तो सर्वथा तथ्यविपरीत विधान ही है. क्योंकि बाह्य आलोककी रश्मियां यदि विषयाकाराकारित न हो पाती हों तो दर्पणमें प्रतिबिम्ब कैसे प्रकट हो सकता है? क्योंकि अन्धकारवाले प्रकोष्ठमें द्रष्टाके असम्मुखीन दर्पणमें भी दर्पणासम्मुख आलोकवाले प्रकोष्ठान्तरमें विद्यमान वस्तुओंका प्रतिबिम्ब आलोकरश्मिओंके द्वारा प्रकट होता ही है. यह आलोकरश्मिओंके विषयाकाराकारित हुवे बिना कथमपि शक्य नहीं. इसी तरह आधुनिक उपकरण फिल्म-प्रॉजेक्टर्में भी तो पारदर्शी फिल्मके पृष्ठभागसे आलोकरश्मिओंका प्रक्षेपण जब पर्देपर किया जाता है तब अर्थात् सफेद पर्दे तक रंग तथा आकृति को प्रकाशकिरणें अपने साथ ले जाती हैं और परावृत्त हो कर उन्हें पुनः चक्षुर्ग्राह्य भी बनाती हैं. अतः बाह्यालोकरश्मिओंके विषयाकाराकारित न होनेकी कथा तो सर्वथा तथ्यविपरीत ही है.

जहां तक चक्षु इन्द्रियके विषयदेशमें पहुंचे बिना या पहुंच कर

विषयको प्रकाशित करनेके विवादके बारेमें वाल्लभ वेदान्तके अभिप्रायका प्रश्न है तो गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणने *प्रस्थानरत्नाकर* के प्रमाकरणस्वरूपनिरूपक कल्लोलके तृतीय तरंगके; तथा, ब्रह्मसूत्रके द्वितीयाध्यायके चतुर्थपादके सातवें सूत्रके *अणुभाष्यप्रकाश* के आधारपर उनका विमर्श करना चाहेंगे. इस विमर्श करनेसे पहले, परन्तु, स्वयं महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा जो कुछ इस विषयमें प्रतिपादित किया गया है, उसे पहले दृष्टिगोचर कर लेना उपयुक्त होगा. उसके बाद श्रीपुरुषोत्तमचरणकी विशद विवेचनाका अवलोकन प्राप्तावसर चिन्तन होगा.

<u>वाल्लभ दृष्टिकोण</u> :

भागवततृतीयस्कन्धकी सुबोधिनी व्याख्यामें महाप्रभु कहते हैं—

> ''ज्ञानप्रधान महत् तत्त्वसे क्रियाशक्तिवाला अहंकार समुत्पन्न हुवा. यह तीन तरहका ही उत्पन्न होता है. स्वयं उत्पत्तिकी प्रक्रिया ही यहां भेदिका बन जाती है. क्योंकि मूलप्रकृतिके परिणामरूप ये विकार तीन गुणोंवाले तो होते ही हैं... अहंकार वैकारिक अर्थात् सात्त्विक भी होता है और राजस तामस भी... ऐसे त्रिविध अहंकारसे मन इन्द्रिय और पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है, इनमें पञ्चतन्मात्राओंका भी अन्तर्भाव जान लेना चाहिये... बुद्धितत्त्वकी उत्पत्ति होती है राजस अहंकारसे... यह बुद्धि निर्विषयिका नहीं होती, अतः बुद्धि किसीभी विषयके बारेमें पैदा हो सकती है... मन जैसे इन्द्रियोंका प्रेरक होता है, वैसे ही इन्द्रियोंपर अनुग्रह करना बुद्धिका कार्य है. अतएव बुद्धिद्वारा अनुगृहीत ही इन्द्रियां कुछ भी जान या कर पाती हैं. बुद्धिके तारतम्यवश ही, अतएव, इन्द्रियोंसे पैदा होते ज्ञान और क्रिया में भी तारतम्य प्रकट हो जाता है. यह तो हुवा बुद्धिका कार्यानुसारि लक्षण. बुद्धिका

स्वरूपलक्षण 'द्रव्यस्फुरणविज्ञान' माना गया है : घट आदि द्रव्योंके स्फुरण होनेपर शब्द, संस्कार अथवा आलोक द्वारा जो विशिष्ट ज्ञान पैदा होता है वह बुद्धि है. क्योंकि केवल चक्षुसे पैदा होनेवाले ज्ञानमें तारतम्य हो नहीं सकता. स्वतःस्फुरण तो योगज धर्मोंसे भी शक्य होता है, अतः द्रव्यके स्फुरण होनेके बाद जो विज्ञान पैदा होता है उसे ही बुद्धिका स्वरूपलक्षण माना गया है. इन्हें 'तैजस' कहा गया है, क्योंकि इन्द्रियां चाहे ज्ञानकी करण हों या क्रियाकी, दोंनों तरहकी होती तो हैं राजस ही. ज्ञानकी करण बननेवाली इन्द्रियां सात्त्विक हों और और क्रियाकी करण बननेवाली तामस हों ऐसे नही मान लेना चाहिये... जैसे ज्ञानके मूलमें बुद्धि होती है वैसे ही क्रियाके मूलमें प्राणतत्त्व भी होता है... बुद्धि राजसी होती है सो बुद्धिके द्वारा अनुगृहीत इन्द्रियां सभी राजसी होती हैं... बुद्धिकी तरह प्राण भी सर्वेन्द्रियोंका अनुग्राहक होता है... अब रूपका लक्षण जान लेना चाहिये. वह द्रव्यकी आकृतिके जैसी आकृतिवाला होता है. घट आदि द्रव्योंकी जो भी आकृति होती है वही रूपकी भी होती है. वह जैसे पृथुबुध्नोदराकार होता है, वैसे ही रूप भी होता है. अतएव पटके उदाहरणमें वह आतानवितानात्मक भी होता है. यहां 'द्रव्यके जैसी आकृति' कही जाती होनेसे यह फलित होता है कि द्रव्य रूपके जैसी आकृतिवाला नहीं होता. अर्थात् द्रव्यको उपमेय नहीं कहा जा रहा है. इसके अलावा रूप द्रव्यका गुण भी होता है. प्रतीति परन्तु उसकी होती है सर्वदा उपसर्जनतया ही. शब्द आदि तन्मात्राओंके बारेमें ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनकी तो प्रतीति स्वतन्त्रतया भी शक्य होती है. व्यक्तिकी संस्था ही रूपकी भी संस्था होती है, क्योंकि व्यक्ति

वक्र हो तो रूप भी वक्र हो जाता है. रूपवान् द्रव्यके उपविष्ट होनेपर रूप भी उपविष्ट हो जाता है... इसे 'तेजका तेजस्त्व' भी कहा जा सकता है, क्योंकि वह रूपतन्मात्रारूप होता है. अर्थात् उसकी सूक्ष्मावस्था. अब चक्षु वह इन्द्रिय है कि जिसका विषय तेजका कोई विशेष गुण होता है... यहां रूपको तेजका एक विशेष गुण माना गया है''[१२].

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणद्वारा श्रीमद्भागवतव्याख्याके रूपमें दिये गये इस प्रतिपादनके अवलोकन करनेपर जो एक बात स्पष्ट समझमें आती है वह यह कि इन्द्रियग्राह्य रूपतन्मात्रा तथा रूप आदिकी ग्राहिका इन्द्रियां राजस अहंकारके विकाररूपतया उत्पन्न होते हैं. इनमें रूपतन्मात्रा और चक्षुरिन्द्रिय दोनों ही तैजस द्रव्यके विकार हैं. अतः तैजस द्रव्य होनेके कारण चक्षुरिन्द्रियोंकी जैसे किरण हो सकती हैं वैसे ही प्रत्येक रूपवद् द्रव्यकी भी किरणें समानन्यायेन हो सकती हैं. अल्पत्व/बहुत्ववशात् झटिति कहीं प्रतीति सुकर हो और कहीं दुष्कर हो वह अन्य कथा है. इस पक्षके विस्तृत विवेचनसे पहले परन्तु अब गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणकृत एतद्विषयक विवेचनाको दृष्टिगत कर लेना अति आवश्यक है.

<u>गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण द्वारा प्रस्तुत विवेचना</u> :

तदनुसार सर्वप्रथम *प्रस्थानरत्नाकर* में जो प्रतिपादन उपलब्ध होता है उसे देख लेना उपकारक होगा —

''इन्द्रिय और विषय के संयोगसे निर्विकल्पक ज्ञान जब प्रकट होता है तब इन्द्रियदेशमें बुद्धिवृत्ति प्रकट हो कर इन्द्रियपर अनुग्रह करती है. उसके बाद ज्ञान सविकल्पक बन पाता है. बुद्धि यदि इन्द्रियोंपर अनुग्रह न करती

हो तो सविकल्पक ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता. वृत्त्यन्तरवश पूर्ववृत्तिके नाश होनेपर सविकल्पक ज्ञान संस्कारात्मना अवस्थित हो जाता है. इन्हीं संस्कारोंके रूपमें अवस्थित विषयोंका उद्बोधकोंके द्वारा उद्बोधन होनेपर राजस रागादिगुणोंके कारण स्मृतिजनक संस्कार प्रबल हो जाते हैं. पश्चात् तमोगुणोंके बुद्धिमें प्रबल होनेपर स्वोपस्थापित अर्थसे माया वास्तविक विषयाकारको आवृत कर उस मायिक पदार्थके ज्ञानको नयनगोलकके अग्रभागपर जब आरोपित करती है. तब भ्रम पैदा होता है... अतः बुद्धिस्थ गुणोंसे जन्य बुद्धिकी अवस्थाविशेषरूपा ही वृत्ति होती है... इस वृत्तिके प्राकट्यका क्रम यों समझना चाहिये : हमारे भीतर बिराजमान अन्तर्यामिरूप परमेश्वर जब मनको किसी कार्यके हेतु प्रेरित करता है, तब वह तत्तद् इन्द्रियोंको प्रेरणा देनेको तत्तद् इन्द्रियोंके साथ संयुक्त हो जाता है... बादमें विषयसंसृष्ट इन्द्रियोंमें पहले इन्द्रियावच्छिन्न मनमें निर्विकल्पक ज्ञान पैदा होता है. उसके बाद तत्तद् इन्द्रियदेशमें बुद्धिवृत्ति पैदा होती है. तब बुद्धिके द्वारा भी उन इन्द्रियोंपर अनुग्रह किये जानेपर सविकल्पक ज्ञान पैदा होता है. चाक्षुष ज्ञानमें तो नयनकिरण विषयदेश पर्यन्त गमन करती हैं. जबकि इन्द्रियान्तरोंमें किरण न होनेके कारण इन्द्रियद्वारोंसे ही विषय मन तक पहुंचते हैं. दोनों ही प्रकारके ज्ञानोंमें विषयेन्द्रियोंके बीच घटित होते स्पर्श आदि ही व्यापार बनते हैं. यहां एक ऐसी आशंका उठ सकती कि नयनोंकी किरण स्वीकारनेपर इन्द्रियोंके बारेमें ब्रह्मसूत्र 'अणवश्च' (ब्र.सू.२।४।७) में अभ्युपगत अणुत्वकी धारणा निरस्त हो जायेगी. यह आशंका परन्तु निराधार है, क्योंकि सूर्यमण्डल, चाहे जितना भी महत्परिमाण क्यों न हो, उसकी किरणें जिस विस्तारमें व्याप्त होती हैं उतना तो महत्परिमाण

उसका होता नहीं है. और सूर्यका ही कोई क्षुद्र अंश हमारे भीतर नयनरूप इन्द्रियके रूपमें निर्मित हुवा होनेसे उसके किरणोंकी भी कल्पना करनेमें कोई शास्त्रीय बाधक दिखलायी नहीं देता...

अथवा 'गुणाद् वा आलोकवत्' (ब्र.सू.२।३।२५) ब्रह्मसूत्रके अनुसार क्योंकि आलोकको गुणरूप माना गया है अतः तैजस चक्षुके आलोकरूप गुणको विषयदेशमें व्याप्त होनेमें कोई बाधा नहीं होनी चाहिये... अतः नयनकिरणोंके विषयदेश पर्यन्त गमनद्वारा ही चाक्षुष प्रत्यक्षकी प्रक्रिया उचित लगती है...

कुछ लोगोंका कहना है कि मायाके कार्यरूप तमका आलोकके द्वारा प्रतिबन्ध हो जानेपर ज्योतीरूप सूर्य देवताकी किरणोंद्वारा अव्यवहित सन्मुख देशमें अवस्थित घटका विशिष्ट पृथुबुध्नोदराकार रूप अणुपरिमाण चक्षु तक पहुंचाया जाता है. तब सत्त्वप्रधान बुद्धिके भीतर भी वह आकार सम्पन्न हो जाता है. और तब अणुरूप जीवके प्रति ज्ञानात्मक आध्यात्मिक चाक्षुष घटकी अभिव्यक्ति होती है. दूरस्थ गन्ध या शब्द आदि तो वायुद्वारा घ्राण या श्रवण इन्द्रियों तक पहुंचाये जाते हैं. तब अन्तःसत्त्वात्मिका बुद्धि भी वैसे ही आकारसे सम्पन्न होनेपर ज्ञानात्मक आध्यात्मिक गन्ध-शब्द आदिकी अभिव्यक्ति ही घ्राणज या श्रावण प्रत्यक्षोंके रूपमें घटित होती है. आध्यात्मिक और आधिभौतिक के बीच अभेद होनेके कारण बाह्य घटके अगृहीत रहनेपर भी यह आपत्तिजनक बात नहीं है.

यहां इस विषयमें यह अवधेय है कि सर्वप्रथम तमोजनन विषयदेशमें नहीं प्रत्युत नयनदेशमें भागवतपुराण(११।२८।३-४)में प्रतिपादित किया गया है. ज्योतीरूप सूर्यद्वारा पुरुषचक्षु पर्यन्त विषयरूपका प्रापण भी संगत नहीं. क्योंकि अनेक

द्रष्टाओं तक विषयरूपके प्रापणकी कल्पना करनेपर अन्तमें कभी विषय स्वयं नीरूप रह जायेगा... इसके अलावा सांझको सूर्यास्तके बाद सूर्यकिरणोंके अभावमें घट दिखलायी देना भी बन्द हो जाना चाहिये. भागवतपुराणमें वायुके बारेमें 'नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः' (भाग.पुरा.३।२६।२७) जैसा विधान उपलब्ध होता है ऐसा तेजोद्रव्यके बारेमें उपलब्ध न होता होनेसे भी यह धारणा अशाब्द ही है.

इसके अलावा यह भी यहां विचारणीय होता है कि चक्षु पर्यन्त रूपका प्रापण चक्षुमें प्रतिबिम्ब पैदा करनेके रूपमें ही स्वीकारना पड़ेगा. प्रतिबिम्ब तो मायिक होते हैं वास्तविक नहीं. अतः बुद्धिके भीतर भी उन्हीं मायिक प्रतिबिम्बोंको आकारसमर्पक मानना पड़ेगा. अतः उक्त आध्यात्मिक रूप भी मनोमय होनेसे मायामय ही सिद्ध होगा ऐसा कि जिसकी सत्यता न होनेपर भी केवल अर्थक्रियाकारिता मात्र सोची जा सकती हो''[१३]

इसी तरह *ब्रह्मसूत्राणुभाष्य* के "अणवः च" (ब्र.सू.२।४।७) के प्रकाशमें भी श्रीपुरुषोत्तमचरणने अणुपरिमाण चक्षुरिन्द्रियका कौन सा गुण विषयदेशको प्राप्त करता है कि जिसके कारण उसे प्राप्यप्रकाशकारी मानना इस विषयमें यों समझाया है कि चक्षुके तैजस होनेके कारण उसमें रूपतन्मात्रा गुण ऐसा हो सकता है कि जो विषयदेश पर्यन्त गमन कर सकता है. प्रकाशकार यह भी कहते हैं कि "**यन्न स्पृशन्ति न विदुः मनोबुद्धीन्द्रियासवः**" (भाग.पुरा.६।१६।२३) इस नारदकृत उपदेशमें मन आदिके बारेमें यह कहा गया है कि न वे तो ब्रह्मका स्पर्श कर पाते हैं और न ही ब्रह्मको जान ही पाते हैं. एतावता इतना तो सिद्ध होता ही है कि मन आदि इन्द्रियोंमें स्पर्शपूर्वक ज्ञानजननसामर्थ्य भागवतको अभीष्ट तो है ही. अन्यथा ब्रह्मके बारेमें अप्रसक्तका प्रतिषेध स्वीकारना पड़ेगा. अतः स्पर्शरूप व्यापार ही इनका स्वीकारना चाहिये,

इन्हें अणुपरिमाण माना गया होनेसे उस स्पर्शका प्रत्यक्ष चाहे न भी होता हो तब भी. स्वाभाविक रूपमें दूरदेशवर्ती वस्तुका जब चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, तब उस दूरदेशवर्तीकी वस्तुकी चक्षुरिन्द्रियदेशमें प्राप्ति शक्य न होनेपर चक्षुरिन्द्रियकी ही विषयदेशमें प्राप्ति अन्यथानुपपत्तिके बलपर स्वीकारनी पड़ेगी. अन्यथा स्पर्शके बिना भी प्रत्यक्ष उत्पन्न हो सकता है ऐसा गलेपतित होगा.

उक्त विवेचनाका विमर्श :

इस समग्र प्रतिपादनमें कुछ बातें विचारणीय लगती हैं.

सर्वप्रथम तो यह कि श्रुत्यादि शास्त्रोंमें चक्षुकी विषयदेशमें प्राप्तिके बाद स्पर्शकी बात कहीं कण्ठोक्त है या नहीं? अर्थात् श्रौत अर्थापत्तिके बलपर ही यदि यह धारणा स्वीकारी गयी हो तो उसकी अन्यथोपपत्ति शक्य है या नहीं? रामानुज सम्प्रदायके श्रीवेदान्तदेशिकने अवश्य ही "**'दिवीव चक्षुः आततम्' ऐसे आगमिक व्यवहारस्वारस्यमें कोई बाधा दिखलायी नहीं देती होनेसे वृत्तिद्वारा प्राप्ति कही जा सकती है.**" (पूर्वोद्धृत) ऐसे विधान द्वारा चाक्षुषवृत्तिकी विषयदेशमें प्राप्यकारिताको श्रुतिप्रमाणमूलकतया प्रस्तुत किया है. इसे श्रीपुरुषोत्तमचरणके शब्दोंमें कहना हो तो सौर आदि बाह्यालोककी तरह नयनकिरणें भी स्वाश्रयाधिकदेशवर्ती गुण होती हैं. अतः स्वग्राह्य वस्तुदेशमें चक्षुर्गुणकी व्याप्ति भी इसी श्रुतिवचनके आधारपर प्रस्तावित की जा सकती है. मुझे परन्तु यहां ऐसा प्रतीत होता है कि "**तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुः आततम्**" (ऋक्संहि.१।५।२२।२०) इस श्रुतिवचनमें 'दिवि' पदके साथ प्रयुक्त सप्तमी विभक्तिको औपश्लेषिक या अभिव्यापक चक्षुके आधारके रूपमें लेना उपपन्न नहीं होता. अर्थात् समग्र नभोविस्तारमें नयनकिरणोंको संयोग सम्बन्धके साथ विस्तृत मानना या समग्र नभोविस्तारमें नयनकिरणोंको अभिव्याप्त मानना ये दोनों ही अतीव क्लिष्टकल्पना लगती है. इसके बजाय ऐसा अर्थ सोचना ऋजुतर लगता है कि

नभमें जो कुछ आतत हो, व्याप्त हो; अथवा विद्यमान हो उदा. नक्षत्र, प्रकाश अथवा स्वयं नभोविस्तार को ही चक्षु जैसे देख पाती है, ऐसे ही सूरिगण भी विष्णुके परम पदको सदा देख पाते है.

ऐसा अर्थ न स्वीकारनेपर या तो "यथा दिवि आततं चक्षुः पश्यन्ति"ऐसा अन्वय सोचनेपर चक्षुको 'पश्यन्ति' क्रियापदके कर्मके रूपमें मानना पड़ेगा; अथवा तो "यथा दिवि आततं चक्षुः पश्यति"ऐसा अन्वय सोचनेपर "किं पश्यति?" आकांक्षाकी पूर्ति ही हो नहीं पायेगी. प्रस्तावित अर्थ स्वीकारनेपर, जबकि, "**तरणिः विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृद् असि सूर्यो विश्वम् आभासि रोचनम्**" (ऋक्संहि.१।९।५०।४) वचनमें कण्ठोक्त 'विश्वं रोचनम् आभासि' प्रयोगके साथ संवाद भी सिद्ध हो जाता है. 'विश्वं रोचनं'का अर्थ श्रीसायणाचार्य "रोचमानम् अन्तरिक्षम्" करते हैं और उसे अथवा तद्वर्ती अन्य पदार्थोको भी यहां 'आततम्' पदसे परामृष्ट मानना उपयुक्त होगा.

यदि "मोक्षे इच्छा अस्ति" प्रयोगकी तरह 'दिवि'पदमें भी वैषयिकाधाररूपमें सप्तमी विभक्ति ली जाये तो 'चक्षु'को विशेष्य बना कर 'आततम्'को उसका विशेषण मानना अथवा 'चक्षु'को उद्देश्य मान कर 'आततम्'को उसका विधेय मानना? यदि विशेषणतया स्वीकारते हैं तो पुनः "यथा दिवि आततं चक्षुः (जनाः पश्यन्ति तथा) सूरयः विष्णोः परमं पदं पश्यन्ति" अन्वय गलेपतित होता है. यदि 'चक्षु'को उद्देश्य बना कर 'आततम्'को विधेय मानते हैं तो सामान्य जनोंकी चक्षु तो आकाशमें आतत हो कर भी विष्णुके उस परमपदके दर्शनकी कर्त्री तो हो नहीं सकती. अतः "सूरिगण विष्णुके उस परमपदको सर्वदा देख पाते है जैसे चक्षु आकाशमें आतत=व्याप्त होती है" ऐसे विचित्र अर्थकी कल्पना करनेपर तो उपमोपमेयभाव ही स्पष्ट नहीं हो पाता.

दूसरी जो बात यहां अवधेय है वह यह कि महाप्रभु चक्षुरिन्द्रियकी तरह ही रूपतन्मात्राको भी तैजस मानते हैं. अतः कोई विनिगमना

नहीं रह जाती कि क्यों तैजस होनेके कारण चक्षुरिन्द्रिय ही विषयदेशपर्यन्त धावन करती है और क्यों चक्षुर्ग्राह्य विषयकी रूपतन्मात्रा चक्षुर्देश पर्यन्त आगमन नहीं कर पाती ?

तीसरी बात यह भी विचारणीय है कि सूर्यका ही कोई अंशविशेष जब हमारे नयनोंके रूपमें जो प्रकट हुवा है और रूपतन्मात्राके साथ संयुक्त होनेपर तत्तादात्म्यापन्न सूर्यकी किरणें क्यों उस रूपतन्मात्राको नयनदेश तक नहीं पहुंचा देती ? क्यों नयनरश्मिओंको रूपतन्मात्राके प्रदेश पर्यन्त गमन करना पड़ता है ? श्रुति तो स्पष्ट शब्दोंमें **"उद् उ त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यम्"** (ऋक्संहि. १।९।५०।१) विधानद्वारा सप्तरश्मिओंको 'केतवः'=प्रज्ञापक मान कर सभी दृष्टिमान् प्राणिओंको नयनोंद्वारा दर्शनक्रियामें सक्षम बनानेवाले सूर्यदेवका वहन करनेवाली मानती है. मूल सूर्यरश्मियां जिस कार्यको सम्पन्न कर ही रही हों उन्हें अंशभूत नयनरश्मिओंसे करवानेमें क्या लाभ ? यदि *युक्तिदीपिका* कारकी तरह ग्राहकोपकरण और प्रकाशकोपकरण का प्रभेद करना यहां अभीष्ट हो तो पुनः *न्यायकुमुदचन्द्रोदय*की युक्तियोंका भी समाधान खोजना पड़ेगा. नयनरश्मिओंको अनुद्भूतरूपस्पर्शवाली माननेके बजाय उद्भूतरूपस्पर्शवाली सूर्यरश्मिओंसे वह कार्य क्यों सम्पन्न होता हुवा न मान लेना ? श्रीप्रभाचन्द्रकी इस युक्तिमें पर्याप्त बल है कि जो स्वयं रश्मियुक्त हो उसे बाह्य आलोककी अपेक्षा क्यों होगी ? यदि अपर्याप्त रश्मिवाली होनेके कारण बाह्य आलोककी अपेक्षा माननी पड़ती हो तो उसी कारणसे वह वस्तुग्रहणमें भी अक्षम सिद्ध होगी. उदाहरणतया अमावस्याकी रात्रिके अन्धकारमें तारागणोंके मन्दालोकमें बहुधा विषयका स्फुट अवभासन नहीं हो पाता. इसी तरह अन्धकारकी चक्षुर्ग्राह्यता भी अल्परश्मिवत्तासे उपपन्न तो हो सकती है. नयनरश्मिओंकी वही अल्पता परन्तु, जैसाकि श्रुतिमें स्पष्ट शब्दोंमें निरूपित किया गया है, **"अप त्ये तायवो यथा नक्षत्राः यन्ति अक्तुभिः सूराय विश्वचक्षसे"** (ऋक्संहि. १।९।५०।२) अर्थात् अल्परश्मिवाले नत्रत्रोंके सारे मन्द प्रकाश

सौर प्रकाशमें निवृत्त हो जाते हैं. ऐसे ही नयनोंकी भी अल्परश्मिवत्ता सौर आलोकमें अकिञ्चित्कर हो जानी चाहिये थी. इसके विपरीत ''दृशे विश्वाय सूर्यम्'' वचनमें स्पष्ट शब्दोंमें सौर आलोकको नयनोंको दर्शनसामर्थ्य प्रदान करनेवाला माना गया है. उल्लिखित वचनके भाष्यमें श्रीसायणाचार्य भी कहते हैं कि **''विश्वचक्षसे विश्वस्य सर्वस्य प्रकाशकस्य सूराय सूर्यस्य आगमनं दृष्ट्वा तस्कराः नक्षत्राणि च रात्रिभिः सह सूर्यः आगमिष्यति इति भीत्या पलायन्ते''** (तत्रैव). स्वयं श्रीपुरुषोत्तमचरणने भी **''चक्षुषो अतैजसत्वात् तैजसत्वपक्षेऽपि प्रौढत्वाभावेन परावृत्त्यभावात्''** (अवता.प्रति-बिं.वा) इतना तो स्वीकारा ही है. अतः जो नयनरश्मियां परावृत्तिक्षम न हो दर्शनक्षम कैसे हो पायेगी! इसके अलावा अपरावृत्त नयनरश्मिओंका विषयदेशमें पर्यवसान स्वीकारनेपर नयनगोलकके साथ सम्बन्धविच्छेद भी स्वीकारना पड़ेगा. ऐसी स्थितिमें पुनः विषयावभासन चक्षूरश्मिओंसे अकल्प्य सिद्ध होगा.

अतः इन बातोंका विचार करनेपर जो श्रीपुरुषोत्तमचरणने ''केषाञ्चित् प्रक्रिया''के रूपमें जो विवेचना उद्धृत की है वह वाल्लभ मतमें, मेरी नम्र धारणाके अनुसार, अधिक सुसंगत होनी चाहिये थी, बजाय कि न्यायवैशेषिकादि अनुमानप्रधान चिन्तनोंके द्वारा प्रस्तावित प्राप्यप्रकाशकारिताकी प्रक्रियापर अवलम्बित होनेके.

श्रीपुरुषोत्तमचरणने एक विरोधी युक्ति यह भी दी है कि आलोकको इस प्रक्रियामें जो तमोजननमें प्रतिबन्धरूप स्वीकारा गया है वह श्रीमद्भागवतके **''यथाहि भानोः उदयो नृचक्षुषां तमो निहन्याद्''** (भाग.पुरा.११।२८।३४) वचनसे विरुद्ध है. इस बारेमें कहा जा सकता है कि शैत्यनिवारक अग्नि यदि शैत्योत्पत्तिमें प्रतिबन्धक भी होती हो तो कोई आपत्तिजनक बात होनी तो नहीं चाहिये थी. तमोजनन विषयदेशमें नहीं प्रत्युत नयनदेशमें होता है, ऐसा इस वचनद्वारा प्रतिज्ञात देशनियम तो स्वयं ग्रन्थकारद्वारा *अन्धकारवाद* में उद्धृत **''यद् बाधसे गुहाध्वान्तं प्रदीपप्रभया**

यथा'' (भाग.पुरा.१०।५१।२०) वचनमें नयनोंके बजाय गुहाप्रदेशमें ही उसे आरोपित तथा भगवत्स्वरूपालोकमें प्रतिबद्ध भी माना गया होनेसे पुनः विचारणीय ही लगता है. स्वयं श्रीमद्भागवतके **''यथा घनो अर्कप्रभवो अर्कदर्शितो हि अर्कांशभूतस्य च चक्षुषः तमः''** (भाग.पुरा.१२।४।३२) वचनमें घनको अमायिक=अर्कप्रभव अमायादर्शित=अर्कदर्शित और अर्कांशभूत चक्षुके लिये तमोरूप भी माना है. यह तो स्पष्ट ही है कि घन द्रष्टाके नयनोंमें नहीं प्रत्युत नभोदेशमें ही अवस्थित होता है. अतः मायिक तमोविशेष नयनवर्ती होता है परन्तु एतावता सर्वविध तमस् न तो मायिक ही होते हैं और नियततया नयनगोलकमें अध्यारोपित ही. रही बात सूर्यरश्मिओंद्वारा विषयरूपके नयनपर्यन्त आनयन करनेपर विषयके नीरूपताकी तो **''दीपः चक्षुः तथा रूपं ज्योतिषो न पृथग् भवेत्''** (भाग.पुरा.१२।४।२४) वचनके अनुसार यह आपत्ति तो रूपतन्मात्रा और चक्षुरिन्द्रिय दोनोंपर समानरूपेण आपादित या निवारित होगी. नयनरश्मियां पलकोंको बन्द करनेपर यदि झटिति पुनरावृत्त हो पाती हों तो रूपतन्मात्रा भी वैसा व्यवहार क्यों नहीं कर पायेंगी?

श्रीपुरुषोत्तमचरणने एक युक्ति यह जो दी है कि सूर्यरश्मिओंद्वारा रूपके नयनपर्यन्त प्रापणकी प्रक्रियामें सूर्यास्तके बाद रूपवद् वस्तुका दर्शन शक्य नहीं रह जायेगा. इस सन्दर्भमें ऋग्वेदकी **''व्युच्छन्ती हि रश्मिभिः विश्वम् आभासि रोचनं तां त्वाम् उषः वसुयवो गीर्भिः''** (ऋक्संहि१।९।४९।४) श्रुतिमें सूर्यके साथ जुड़ी यदि उषा भी सर्व रूपवद् वस्तुओंके प्रदर्शनमें सक्षम होती हो तो सन्ध्या भी उसी सूर्यसे जुड़ी होनेके कारण कुछ काल पर्यन्त तो सूर्यास्तके बाद भी रूपवद् वस्तुका प्रकाशन कर ही सकती है. सूर्योदयके बाद गृहके जिस अन्तःप्रकोष्ठमें सूर्यरश्मियां प्रविष्ट नहीं हो पाती वहां भी सूर्यालोक तो अन्धकारको निवृत्त करता ही है. यही न्याय सूर्योदयसे पूर्व और सूर्यास्तके बाद भी कुछ काल तक प्रकट होनेवाला या रहनेवाला सूर्यालोक प्रत्यक्षसिद्ध ही होनेसे बहुत विचारणीय नहीं लगता.

आदित्यरश्मिओंकी रूपप्रापकताके अशाब्द होनेका विधान भी अंशतो उपर्युद्धृत श्रुतिवचनोंसे भी समाहित तो हो ही जाता है. प्रतिबन्दि उत्तरके रूपमें, परन्तु, यह भी तो कहा ही जा सकता है कि नयनरश्मिओंकी विषयदेशमें प्राप्ति भी किसी निःसंदिग्ध शास्त्रवचनद्वारा सिद्ध होती तो, वह वचन ही उद्धृत करनेसे सारे विवाद शान्त हो सकते थे, ऐसे युक्तिप्रतियुक्तिके परिश्रमकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती!

यह जो श्रीपुरुषोत्तमचरणने कहा कि चक्षु पर्यन्त रूपका प्रापण चक्षुमें प्रतिबिम्ब पैदा करनेके रूपमें ही स्वीकारना पड़ेगा. इस सन्दर्भमें स्वयं ग्रन्थकारके दो वचन मननीय प्रतीत होते हैं :

> १.''**प्रतिबिम्बस्तु अदण्डवारितत्वाद् भवति. तेन मायापि प्रत्यायतीति चक्षुषा भूयोऽज्ञानम् उत्पद्यते.**''
>
> (प्रस्था.रत्ना.प्रमा.कल्लो.तृती.तरं.)
>
> २.''**किञ्च शलाकाव्यवहितस्थाल्युदके खण्डितमुखावलोकनोत्तरं शलाकायाः तदुकान्तस्तलभागे प्रवेशने मुखम् अखण्डितम् अवलोक्यते; शलाका च अन्तःसिकतादिवत्. तेन अन्तर्जलं मध्यदेशे प्रतिबिम्बोद्भवः इति निश्चीयते. परावृत्य ग्रहणेतु तत् न स्यात्. किम्बहुना पराक्षिण स्वप्रतिबिम्बदर्शनात् स्वाक्षण्यपि तथैव इति निश्चयात्, प्रतिबिम्बोत्तरमेव सर्वस्य चक्षुर्गोचरीभावः इत्यपि सुधीभिः आकलनीयम्.**''
>
> (अव.वादा.प्रति.बिम्ब.वा.).

ऐसे अभ्युपगमके बाद भी ग्रन्थकार यह कहना कि प्रतिबिम्ब तो मायिक होते हैं वास्तविक नहीं अतः बुद्धिके भीतर भी उन्हीं मायिक प्रतिबिम्बोंको आकारसमर्पक मानना पड़ेगा गम्भीर आक्षेप नहीं लगता. अतः यह जो कहा कि उक्त आध्यात्मिक रूप भी मनोमय होनेसे मायामय ही सिद्ध होगा ऐसा कि जिसकी सत्यता न होनेपर

भी केवल अर्थक्रियाकारिता मात्र सांची जा सकती हो. यहां तो वदतोव्याघात दोष हो जाता है. वैसे आधुनिक चक्षुर्विज्ञानके अनुसार नयनगोलकोंके भीतर सम्पन्न होती दर्शनकी प्रक्रियामें वहां नयनगोलकोंमें समुद्भूत विषयप्रतिबिम्बका विषयप्रत्यक्षके साथ किसी भी तरहका कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध नहीं होता. वह प्रतिबिम्ब तो नयनगोलकके बाह्यावरणपर ही घटित होता है. नेत्रोंके अन्तःपटलपर तो विषयसंसृष्ट बाह्यालोकरश्मियोंके परावर्तनके बाद संयोगसम्बन्धवश ही बाह्यविषयका चाक्षुष आभास होता है. वह भी उस नेत्रपटलसे मस्तिष्कके पश्चाद्वर्तिभागमें अवस्थित चाक्षुषकेन्द्रमें पहुंचनेवाली नाडिकाओंके भलीभांति काम करनेपर ही.

इस सन्दर्भमें अनिर्दिष्टनामा *'केषाञ्चित् =कुछ लोग'* कहते हैं अंशमें उद्धृत विधान कि **''आध्यात्मिक और आधिभौतिक के बीच अभेद होनेके कारण बाह्य घटके अगृहीत रहनेपर भी यह आपत्तिजनक बात नहीं है''** इसमें भी वाल्लभ दृष्टिकोणके अनुसार थोड़ा संशोधन अपेक्षित लगता है. वह यह कि चक्षुर्ग्राह्य वस्तुओंके आधिभौतिक और आध्यात्मिक रूपोंमें एकान्तिक अभेद तो अनवसरपराहत है परन्तु ब्रह्मदृष्टिसे **''सर्वं सर्वमयम्''** (नृसिंहोत्त.ताप.उप.९) वचनोक्त तादात्म्य तो अवश्य ही मान्य होगा ही. यह, परन्तु, लौकिक अनुभूतिका विषय न हो कर ब्रह्मानुभूतिके अंगतया गोचर होता है. अतः उस मौलिक तादात्म्यकी अविज्ञात अर्थक्रियाकारिता स्वीकार्य होनेके बावजूद अनुभूतिगोचरता यहां विवक्षित मानी नहीं जा सकती. अतः सम्बन्धमीमांसा यहां सावधानतया करनी पड़ेगी. तदनुसार हम समझ सकते हैं कि बाह्य रूपवद् वस्तुके साथ बाह्यालोकके संयोग होनेपर वहां तादात्म्येन विद्यमान रूपतन्मात्राओके साथ भी बाह्यालोकरश्मिओंका संयुक्ततादात्म्य सम्बन्ध जुड़ता है. अतः वस्तुनिष्ठ रूपतन्मात्राओंके आकारादिसे आकारित बाह्यरश्मियां परावृत्त हो कर नयनगोलके अन्तःपटलसे, आधुनिक विज्ञानाभिमत भाषाका प्रयोग करना हो तो, संयुक्त होती हैं. तब वे विषयाकाराकारित

बाह्य सौर आदि आलोककी रश्मियां चाक्षुष संवेदना उत्पन्न करती हैं. अतः प्रस्थानरत्नाकरोक्त **''तत्र चक्षुषा द्रव्यग्रहे संयोगएव प्रत्यासत्तिः''** (तत्रैव) विधान असम्यक् नहीं परन्तु अपर्याप्त अवश्य लगता है. महाप्रभुने रूपतन्मात्रा और द्रव्य के बीच तादात्म्य स्वीकारा है और द्रव्यग्रहण रूपग्रहणपूर्वक ही शक्य होनेसे यहां संयुक्ततादात्म्यसंयोग सम्बन्ध स्वीकारना अधिक उपयुक्त लगता है.

वैसे *प्रस्थानरत्नाकर* में ग्रन्थकारने १.संयोग २.तादात्म्य ३.संयुक्ततादात्म्य ४.संयुक्तविशेषणतादात्म्य और ५.स्वरूप यों पांच ही सम्बन्ध स्वीकारे हैं. इस चाक्षुषप्रक्रियाकी उपपत्तिके हेतु, परन्तु, यदि इन सम्बन्धोंके अलावा भी सम्बन्धोंका ऊह करना हो तो किया जाना चाहिये. बाह्यालोकरश्मिओंके साथ अपने धर्मीके संयोगवश रूपतन्मात्रायें तादात्म्यापन्न हो कर उन रश्मिओंसे भी संयुक्ततादात्म्य सम्बन्धवश जुड़ जाती हैं. अपने चक्षुर्ग्राह्य धर्मीमें तादात्म्यसम्बन्धवश वृत्तिमान रूपतन्मात्रा इन रश्मिओंके साथ पुनः तादात्म्यापन्न हो कर नेत्रान्तर्भूत दृष्टिपटलसे संयुक्त होती हैं तब चक्षुरिन्द्रिय द्रव्यग्रहणमें सक्षम हो पाती हैं. यों परम्परासम्बन्धद्वारक यह कार्यकारणभाव मायिक नहीं होता प्रत्युत वास्तविक ही होता है. फिरभी चाक्षुष द्रव्यका आधिभौतिक स्वरूप जड़ होता है जबकि इस चाक्षुष द्रव्यका आध्यात्मिक स्वरूप सदंशभूत जड़ इन्द्रियान्तःकरण और चिदंशभूत जीवात्मा के परस्पर संयोग तथा इतरेतरतादात्म्याध्यास के वश चिदचिद्ग्रन्थिरूप होता है.

प्रस्थानरत्नाकर में चक्षुकी अप्राप्यप्रकाशकारिता और मायाद्वारक प्रतिबिम्बप्रक्रिया के निरसनार्थ श्रीमद्भागवतके **''चक्षुः त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि''** (भाग.पुरा.११।१५।२०) इस वचनके आधारपर तत्तत्प्रतियोगिक संयोगद्वयको हेतुतया स्वीकारा गया है. यह सम्बन्ध आवश्यक नहीं कि साक्षात् संयोगरूप ही हो, क्योंकि प्रदर्शित प्रक्रियाके अनुसार यह त्वष्टृचक्षुस्संयोग त्वष्टृरश्मिसंयोगद्वारक भी हो सकता है,

दोनोंके बीच अर्थात् रश्मि-तद्वान्के बीच धर्मधर्मिभावप्रयुक्त तादात्म्यसम्बन्धवशात्. इस तादात्म्यका अनुल्लेख ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''/''तत् त्वम् असि'' (छान्दो.उप.३।१४।१ — ६।८।१०) वचनोंमें कार्यकारणभाव और अंशांशिभाव प्रयुक्त रूपभेदका अनुल्लेख जैसे पारमार्थिक तादात्म्यसम्बन्धवशात् आपत्तिजनक नहीं होता तद्वत् समझ लेना चाहिये.

निष्कर्ष :

प्रस्तुत विषयके उपसंहार करनेसे पूर्व यही विवक्षित है कि चक्षुको विषयदेशमें पहुंचा कर प्राप्यकारी मानना शास्त्रदृष्ट्या अपरिहार्य नहीं लगता. यह प्रत्यक्ष प्रयोग एवं निरीक्षण मे विरुद्ध भी है. श्रीपुरुषोत्तमचरणका प्राप्यप्रकाशकारित्वपर भार देना सर्वथा उचित ही है. यह चक्षुकिरणोंकी विषयदेशमें प्राप्तिकी कल्पनापर अवलम्बित करनेके बजाय बाह्य आलोककिरणोंकी चक्षुर्देशमें प्राप्तिकल्पना द्वारा अधिक सोपपत्तिक प्रतीत होती है.

यह तो निर्विवाद तथ्य है कि श्रीपुरुषोत्तमचरणके शास्त्रावगाहन तथा आचार्यवाणी के अवगाहनका दशांश भी यदि प्रस्तुत निबन्धकारका होता वह अपने-आपको कृतकृत्य मान कर स्वयंको श्रीपुरुषोत्तमचरणके विधानोंकी आलोचनाका अधिकारी मान लेता! यहां जो विमर्श प्रस्तुत किया गया है वह अपने-आपको इस विषयमें अधिकारी होनेकी अहम्मन्यताके वश नहीं परन्तु स्वयं ग्रन्थकारके ''**युक्तिसिद्धस्य यस्य कस्यापि आदरणीयत्वात्**'' (अवता.वादा.अन्धका.वा.) उपदेश और आदेश को हृदयारूढ कर के ही. श्रीपुरुषोत्तमचरण प्रस्तुत निबन्धकारके सप्तम पूर्वपुरुष श्रीविट्ठलराय गोस्वामीके विद्यागुरु हैं अतः प्रस्तुत निबन्धकारका भी उनके प्रति औपनिषदिक मनोभाव ''**त्वं हि नः पिता यो अस्माकम् अविद्यायाः परं पारं तारयसि**'' (प्रश्नोप.६।८) अतीव मनोरूढ है. अतः अपने सहज अज्ञानवश इस निरूपणमें कोई स्खलन हुवा हो तो श्रीपुरुषोत्तमचरण तथा सभी विद्वज्जनों से हार्दिक क्षमाप्रार्थनाके साथ...

-----+-----

उद्धृत वचनोंके सन्दर्भ तथा उनका मूलरूप

[१]'' 'न अर्थालोकौ ज्ञानस्य निमित्तम् अव्यतिरेकात्' बाह्यो विषयः प्रकाशः च न चक्षुर्ज्ञानस्य साक्षात्कारणं, देशकालादिवत्तु व्यवहितकारणत्वं न निवार्यते. ज्ञानावरणादिक्षयोपसामग्र्याम् आराद् उपकारित्वेन अञ्जनादिवत् चक्षुरुपकारित्वेन च अभ्युपगमात्. कुतः पुनः साक्षात् न कारणत्वम् इति आह 'अव्यतिरेकाद्' व्यतिरेकाभावात्. नहि तद्भावे भावलक्षणो अन्वयएव हेतुफलभावनिश्चयनिमित्तम् अपितु तदभावेऽपि अभावलक्षणो व्यतिरेकोऽपि... योगिनां च अतीतानागतार्थग्रहणे किम् अर्थस्य निमित्तत्वं, निमित्तत्वे च अर्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वाद् अतीतानागतत्वक्षतिः...'' — ''सन्निकर्षोऽपि यदि योग्यतातिरिक्तः संयोगादिसम्बन्धः तर्हि स चक्षुषो अर्थेन सह नास्ति, अप्राप्यकारित्वात् तस्य. दृश्यते हि काचाभ्रस्फटिकादिव्यवहितस्यापि अर्थस्य चक्षुषा उपलब्धिः. अथ प्राप्यकारि चक्षुः करणत्वाद् वास्यादिवद् इति ब्रूषे तर्हि अयस्कान्ताकर्षणोपलेन लोहासन्निकृष्टेन व्यभिचारः. नच संयुक्तसंयोगादिः सन्निकर्षः तत्र कल्पयितुं शक्यते, अतिप्रसंगात्'' (श्रीहेमचन्द्राचार्यकृतायां प्रमाणमीमांसायां : १।१।२५ — १।१।२९).

[२]''अप्राप्तार्थानि अक्षिमनःश्रोत्राणि, त्रयम् अन्यथा. यदि अप्राप्तविषयं चक्षुः, कस्माद् न सर्वम् अप्राप्तं पश्यति; दूरं तिरस्कृतं च. कथं तावद् अयस्कान्तो न सर्वम् अप्राप्तम् अयः! प्राप्तविषयेऽपि च एतत् समानं : कस्माद् न सर्वं प्राप्तं पश्यति अञ्जनं शलाकां वा! यथाच घ्राणादीनां हि प्राप्तो विषयो नतु सर्वः, सहभूगन्धाद्यग्रहणाद्, एवं चक्षुषोऽपि अप्राप्तः स्यात् नतु सर्वः.''(आचार्यवसुबन्धुकृते अभिधर्मकोशे : १।४३).

[३]''चक्षुःश्रोत्रे प्राप्य स्वविषये कार्यं कुरुतो, जनकत्वे सति तदप्राप्तौ अजनकत्वात्. यद्यद् जनकं सद् यदप्राप्तौ यन्न जनयति तत् तत्प्राप्तावेव तद् जनयति यथा कुम्भजनकः कुम्भकारो मृदो अप्राप्तौ अकुर्वन् कुम्भं तत्प्राप्तावेव करोति तथाच एतत्''(न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायां : १।१।४).
''प्राप्तप्रकाशकं चक्षुः व्यवहितार्थाप्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्'' — ननु चक्षुषः तैजसत्वे किं मानम् इति चेत् , चक्षुः तैजसं परकीयस्पर्शाव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवद्... अथवा प्रभायाः दृष्टान्तत्वसम्भवाद् आद्यं 'परकीये'ति न

देयम्''(प्रशस्तपादकन्दल्यां : साधर्म्यवैधर्म्यप्रकरणे न्यायमुक्तावल्यां : कारि.४२).

''...बुद्धिः तत्र इन्द्रियाधीना तेन प्रत्यक्षम् अश्नुते. प्रमाणफलभावश्च यथेष्टं परिकल्प्यतां सर्वथापि अनिमित्तत्वं विद्यमानोपलम्भनात्. यद्वा इन्द्रियं प्रमाणं स्यात् तस्य वा अर्थेन संगतिः मनसो वा इन्द्रियैः योग आत्मना सर्वएव वा. तदा ज्ञानं फलं तत्र व्यापारात् च प्रमाणता. व्यापारो न यदा तेषां तदा न उत्पद्यते फलम्. नच सर्वात्मना अक्षेण सम्बन्धो अर्थस्य विद्यते येन सर्वार्थबोधः स्यात् तत्प्रमाणाभिधायिनाम्. प्राप्तिमात्रं हि सम्बन्धो न इन्द्रियस्य अभ्युपेयते, मा भूत् कारणमात्रेण त्वचा रूपावधारणम्. यथा प्रमाणनिष्पत्तौ योग्यत्वाद् इन्द्रियार्थयोः नियता संगतिः हेतुः फलेऽपि एवं भविष्यति. योगस्य द्व्याश्रयत्वेऽपि भवति अन्यतराश्रयो व्यपदेशः.''(श्लोकवार्तिके प्रत्यक्षसूत्रे : ५८-६५).

''ननु एवं दूरे अर्थः इति सान्तरालग्रहणं न स्यात्, प्राप्तौ सत्यां दूरत्वासम्भवात् प्राप्यकारित्वात् स्पर्शनवत्. किञ्च संयोगस्य गतिनिबन्धनत्वाद् गतिमतां च क्रमेण आसन्नदूरगमनाद् समकालम् आसेदुषां दवीयसां च अर्थानां ग्रहणं न उपपद्यते. उच्यते भोगायतनपेक्षया सान्तरालग्रहणं तावद् उपपन्नम्. समसमयसंवेदने तु केचित् परिहारम् एवं वर्णयन्ति सकलान् अर्थान् प्राप्य युगपदुपस्थितेन बाह्येन तेजसा एकीभूताः ते चाक्षुषाः रश्मयो युगपद् ग्रहणहेतवः इति. तद् अन्ये दूषयन्ति इत्थं प्राप्तौ अभ्युपगम्यमानायां अतिदूरव्यवहितानामपि ग्रहणं दुर्निवारम्. अन्येतु आहुः क्षेपीयस्तया तेषां रश्मीनां कालभेदानवग्रहाद् यौगपद्याभिमानः इति. तद् अपरे न अनुमन्यन्ते अतिसन्निकृष्टेषु वस्तुषु गतिकालभेदः पद्मपत्रशतभेदवत् मा नाम अवसायि. अनेकयोजनसहस्रान्तरितेषु भूमिष्ठेषु अर्थेषु ध्रुवे च सदैव कालभेदानवसायो न बुद्धिम् अनुरञ्जयति. वयन्तु वदामो अदृष्टसापेक्षत्वाद् अदोषः. नयनरश्मिभिः एकीभूतेऽपि बाह्ये तेजसि यावानेव तस्य भागो अदृष्टवशेन उपलब्धिहेतुतया उपात्तः तावानेव उपलब्धये प्रभवति न सर्वम् इति.''(प्रकरणपञ्चिकायां: ६।१३४).

[४]द्रष्टव्यं : स्याद्वादमञ्जर्यां : २८.

[५]''किम् इदं बाह्येन्द्रियत्वं नाम ? बहिरर्थग्रहणाभिमुख्यं, बहिर्देशावस्थायित्वं... वा स्यात् ? तत्र आद्यविकल्पे मनसा अनेकान्तः, तस्य अप्राप्यकारित्वेऽपि बहिरर्थग्रहणाभिमुख्यतो बाह्येन्द्रियत्वसद्भावात्. द्वितीयविकल्पेऽपि रश्मिरूपस्य गोलकस्वभावस्य वा चक्षुषो बहिर्देशे अवस्थायित्वं स्यात् ? प्रथमपक्षे किमिदं

तत्र तस्य अवस्थायित्वम् — आश्रितत्वं प्रकाशकत्वेन प्रवृत्तिः वा? तत्र आद्यविकल्पे अपसिद्धान्तो, रश्मिरूपस्य चक्षुषो भवता बहिर्देशाश्रितत्वस्य अनभ्युपगमात्, गोलकान्तर्गततेजोद्रव्याश्रया हि रश्मयो भवद्भिः प्रतिज्ञाता. द्वितीयकल्पे तु असिद्धो हेतुः, रश्मिरूपस्य चक्षुषो ग्राहकप्रमाणाभावतः प्रकाशकत्वेनबहिर्देशे तत्प्रवृत्तेः असिद्धेः... गोलकस्वभावस्य तु चक्षुषो बहिर्देशावस्थायित्वे प्रत्यक्षबाधा, अर्थदेशासम्बद्धस्य शरीरप्रदेशएव प्रत्यक्षतः प्रतीतेः...धर्मित्वेन च अत्र उपात्तं चक्षुः गोलकस्वभावं रश्मिरूपं वा? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोधो अर्थेन असम्बद्धस्य अर्थदेशपरिहारेण शरीरप्रदेशएव गोलकस्वभावस्य चक्षुषः प्रत्यक्षतः प्रतीतेः. अन्यथा तद्रहितत्वेन नयनपक्ष्मप्रदेशस्य उपलम्भः स्यात्. द्वितीयपक्षे तु धर्मिणो असिद्धिः, रश्मिरूपस्य चक्षुषः कुतश्चित् प्रमाणाद् अप्रसिद्धेः. तत्साधकं हि प्रमाणं प्रत्यक्षम् अनुमानं वा स्यात्? न तावत् प्रत्यक्षम्, अर्थवत् तत्र तत्स्वरूपाप्रतीतेः न खलु रश्मयः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते, विप्रतिपत्त्यभावप्रसंगात्. नहि नीले नीलतया प्रतीयमाने कश्चिद् विप्रतिपद्यते. किञ्च इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं प्रत्यक्षं भवन्मते नच अर्थदेशे विद्यमानैः तैः अपरेन्द्रियस्य सन्निकर्षो अस्ति, यतः तत्र प्रत्यक्षम् उत्पद्येत अनवस्थाप्रसंगात्. अनुमानतोऽपि अतएव... एतेन यद् उक्तं रश्मिप्रसाधकम् अनुमानं 'रश्मिवत् चक्षुः तैजसत्वाद्' इति तत् प्रत्याख्यातं... रश्मिवत्ता गोलकरूपस्य चक्षुषः प्रसाध्यते तद्व्यतिरिक्तस्य वा? न तावद् व्यतिरिक्तस्य तस्य असिद्धस्वरूपत्वाद् अपसिद्धान्तप्रसंगात् च. गोलकरूपस्य तु तत्साधने पक्षस्य प्रत्यक्षप्रत्यक्षबाधा, प्रभासुरप्रभारहितस्य गोलकस्य प्रत्यक्षतः प्रतीतेः. अथ अदृश्याः तद्रश्मयः अनुद्भुतरूपस्पर्शवत्त्वाद् अतो न अस्य प्रत्यक्षबाधा, कथम् एवं रूपप्रकाशकत्वं तस्य स्यात्? तथाहि चक्षुः रूपप्रकाशकं न भवति अनुद्भूतरूपत्वाद् जलसंयुक्तानलवत्. नच अनुद्भूतरूपस्पर्शं तेजोद्रव्यं क्वचित् प्रतीयते... अथ मार्जारादिचक्षुषोः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते रश्मयः तत् कथं तद्विरोधः? यदि नाम तत्र प्रतीयन्ते अन्यत्र किम् आयातम्?... यद् रश्मिवत् तद् तदर्थप्रकाशने न आलोकापेक्षं यथा प्रदीपो रश्मिवत् च भवद्भिः अभिप्रेतं चक्षुरिति... यदपि 'तैजसत्वाद्' इति साधनम् उक्तं तदपि अयुक्तम् असिद्धत्वात्... अनुमानबाधः च तथाहि चक्षुः तैजसं न भवति भासुररूपोष्णस्पर्शरहितत्वात्. यद्यत् तथाविधं तत्तत् तैजसं न भवति यथा मृत्पिण्डादिः. भासुररूपोष्णस्पर्शरहितं च चक्षुः तस्मात् तैजसं न भवतीति. तथा न तैजसं चक्षुः तमःप्रकाशकत्वात्. यत् पुनः तैजसं न तद् न तमःप्रकाशकं यथा आलोकः. तमःप्रकाशकं च चक्षुः तस्माद् न तैजसम् इति... किञ्च अस्य प्राप्यकारित्वे विषयः चक्षुर्देशम् आगच्छेत् चक्षुः वा विषयदेशम्? तत्र आद्यविकल्पे प्रत्यक्षबाधा... द्वितीयविकल्पेऽपि अध्यक्षविरोधो विषयं प्रति चक्षुषो

गमनाप्रतीतेः. चक्षुः गत्वा न अर्थेन अभिसम्बद्धयते इन्द्रियत्वात् त्वगादिवद् इति अनुमानविरोधः च. तदविशेषेऽपि दृष्टातिक्रमेण कस्यचित् तत्र गत्वा सम्बन्धाभ्युपगमे यथाप्रतीतिः असम्बद्धएव किं न अभ्युपगम्यते? अलं प्रतीत्यपलापेन!... किञ्च चक्षुः गत्वा अर्थं चेद् द्योतयति तर्हि... काचाभ्रपटलस्वच्छोदकस्फटिकाद्यन्तरितार्थानाम् उपलम्भः स्यात् चक्षुषः तत्र गच्छतः काचाद्यवयविना प्रतिबन्धात्? अथ काचादिकं भित्त्वा चक्षूरश्मयो अर्थदेशं गच्छन्ति तर्हि तद्व्यवहितार्थोपलम्भसमये काचादेः अनुपलम्भः... एतेन शाखाचन्द्रमसोः क्रमेण अनुभवेऽपि आशुवृत्त्या उत्पलपत्रशतव्यति-भेदवद् युगपत्प्रतिपत्त्यभिमानो भ्रान्तिनिबन्धनः इति प्रत्याख्यातम्... शरीरापेक्षया चक्षुर्विषयस्य संनिकृष्टविप्रकृष्टतोपपत्तेः दूरनिकटादिव्यवहारानुपपत्तेः. तथाहि यद् इन्द्रियसंनिकर्षेण प्रतीयते न तत्र दूरनिकटादिव्यवहारो यथा रसादौ. इन्द्रियसंनिकर्षेण प्रतीयते च चक्षुर्विषयः इति. प्राप्यकारित्वे च चक्षुषः संशयविपर्यासानुपपत्तिः, सामान्यवद् विशेषाणामपि संनिकृष्टानाम् उपलम्भसम्भवात्. विशेषानुपलब्धिनिमित्तो हि संशयो विपर्यासः च. नच चक्षुषा संनिकृष्टत्वाविशेषेऽपि सामान्यमेव उपलभ्यते न विशेषः इति अभिधातव्यम्, विशेषाभावात्'' (न्यायकुमुदचन्द्रोदये.१प्रत्यक्षपरिच्छेदे लघीयस्त्रये : १।४).

[६]द्रष्टव्यं : स्याद्वादमञ्जर्यां : २८.

[७]''सर्वगतं चिदात्मानम् आवृत्य स्थिता भावरूपा अविद्या विविधजगदाकारेण विवर्तते. तत्र शरीरमध्ये स्थितो 'अन्तःकरणा'ख्यो अविद्याविवर्तो धर्माधर्मप्रेरितो नेत्रादिद्वारा निर्गत्य यथोचितं घटादिविषयान् व्याप्य तत्तदाकारो भवति. यथा लोके पूर्णतटाकस्थम् उदकं सेतुगतच्छिद्राद् निर्गत्य कुल्याप्रवाहरूपेण केदारान् प्रविश्य चतुष्कोणत्वेन त्रिकोणत्वेन वर्तुलत्वेन वा तत्तत्केदारानुसारि अवतिष्ठते तद्वत्. नहि उदकवद् अन्तःकरणं परिस्यन्दते येन अतिदूरवर्तिचन्द्रनक्षत्रध्रुवादिप्राप्तिः झटति न सिध्येत्. किन्तर्हि? सूर्यरश्मिवत् तैजसत्वाद् दीर्घप्रभाकारेण परिणमते. अतएव रश्मिवत् सहसा संकोचोऽपि उपपन्नः. उपपन्नश्च अन्तःकरणस्य क्षीरादिवत् सावयवत्वात् परिणामः. तच्च परिणतम् अन्तःकरणं देहाभ्यन्तरे घटादौ च सम्यग् व्याप्य देहघटयोः मध्येदेशेऽपि दण्डायमानम् अविच्छिन्नं व्यवतिष्ठते. तत्र देहावच्छिन्नान्तःकरणभागो 'अहंकारा'ख्यः 'कर्ता' इति उच्यते. देहविषयमध्यवर्तिदण्डा-यमानः तद्भागो 'वृत्तिज्ञाना'भिधा 'क्रिया' इति उच्यते. विषयव्यापकः तद्भागो विषयस्य ज्ञानकर्मत्वसम्पादकम् 'अभिव्यक्तियोग्यम्' इति उच्यते. तस्य त्रिभागस्य अन्तःकरणस्य अतिस्वच्छत्वात् चैतन्यं तत्र अभिव्यज्यते. तस्य अभिव्यक्तस्य

चैतन्यस्य एकत्वेऽपि अभिव्यञ्जकान्तःकरणभेदात् त्रिधा व्यपदेशो भवति : कर्तृभागावच्छिन्नः चिदंशः प्रमाता, क्रियाभागावच्छिन्नः चिदंशः प्रमाणं, विषयगतयोग्यत्वभागावच्छिन्नः चिदंशः प्रमितिरिति प्रमातृप्रमाणप्रमितीनाम् असांकर्यम्.''(विवरणप्रमेयसंग्रहे : १।१९३/ए)

''इन्द्रियाणि पञ्च घ्राणरसनचक्षुःश्रोत्रत्वगात्मकानि सर्वाणि च स्वस्वविषयसंयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञानं जनयन्ति. तत्र घ्राणरसनत्वगात्मकानि इन्द्रियाणि स्वस्थानस्थितान्येव गन्धरसस्पर्शोपलम्भान् जनयन्ति. चक्षुःश्रोत्रेतु स्वतएव विषयदेशं गत्वा स्वस्वविषयं गृह्णीतः, श्रोत्रस्यापि चक्षुरादिवत् परिच्छिन्नतया भेर्यादिदेशगमनसम्भवात्.''(वेदान्तपरिभाषायां: १)

[८]''किञ्च स्याद् एतद् एवं यदि घटाद्यधिष्ठानचैतन्यस्य घटादिज्ञानत्वं स्यात् तदेव तावद् अनुपपन्नम्. तथाहि चैतन्यस्य घटादिज्ञानत्वं वदन् प्रष्टव्यः : कस्माद् इदम् अनानुभविक कल्प्यते ? दृग्दृश्ययोः सम्बन्धन्तरायोगाद् अध्यासरूपसम्बन्धघटनार्थं चेत् तत्र वक्तव्य : अध्याससम्बन्धविधुरा घटवृत्तिरपि घटज्ञानं भवति न वा? न तावद् द्वितीयः पटवृत्त्यापि घटाज्ञाननिवृत्त्यापातात्. आद्ये कथं तस्य तज्ज्ञानता? तदाकारत्वाद् इति चेद् न, तथा सति तवापि आवश्यकत्वात् तत्तदाकारतत्तद्वृत्तेरेव तत्तज्ज्ञात्वसम्भवेन अधिष्ठानचैतन्यस्यापि तज्ज्ञानत्वांगीकारवैयर्थ्यापातात्. घटान्तरस्यापि अपरघटीयत्वापातात् च. आकारविशेषरहितरूपसंख्यासामान्याभावादिज्ञानानां ज्ञानत्वाभावापातात् च. परोक्षज्ञानेन चक्षुरादिकरणसहकाराभावेन अर्थासम्बद्धान्तःकरणस्य तदाकारत्वासम्भवेन परोक्षज्ञानस्य तज्ज्ञानत्वायोगात् च. स्वतो निराकारस्य अन्तःकरणस्य कुल्यादिद्वारा बहिर्निःसृततटाकजलस्य केदारसम्बन्धात् तदाकारइव चक्षुरादिकरणद्वारा बहिर्निर्गतस्य तत्तत्करणसम्बद्धार्थसम्बन्धादेव हि तत्तदाकारः... नहि तटाकान्तर्वर्तिसोपानपरम्परा बाह्यपुरद्वारं जलस्य केदारगमनद्वारं वा किन्तु उभयसम्बन्धिकुल्यैव. तथा अन्तःकरणबाह्यपदार्थसम्बद्धचक्षुरादेरेव त्वयापि द्वारतया उक्तत्वाद् युक्तत्वात् च... किञ्च घटाकारवृत्त्या घटाविद्या निवर्ततां चैतन्याविद्या कुतो निवर्तेत भिन्नविषयत्वात्? यदिच सैव वृत्तिः चैतन्यमपि विषयीकरोति इति मतं तर्हि किम् इदं वृत्तेः स्वानध्यस्तनिराकारचैतन्यविषयीकरणं नाम? तदुल्लेखः चेत् तर्हि सर्वत्र तनैव तत्तज्ज्ञानत्वसम्भवेन किम् अनानुभविककाराध्यासकल्पनया? किञ्च कथम् इदं नीरूपचैतन्यविषयकत्वं चाक्षुषवृत्तेः? स्वविषयकघटानुस्यूतत्वात् चेत् तर्हि तादृशगगनं गुरुत्वं वा कुतो न विषयः? घटपटसमूहालम्बनज्ञानानुव्यवसायवद् 'घटतदधिष्ठानचैतन्ये अहं जानामि' इति अनुव्यवसायापातात् च...'' (श्रीवादिराजयतिकृते विवरणव्रणे : पृ.९०-९१).

[9]"यदि एवम् इन्द्रियाणि देहान्तःस्थानि तदा कथं चक्षुश्श्रोत्रयोः दूरस्थग्राहकत्वम्... वृत्तिद्वारा सम्बन्धाद्... ननु वृत्तिः यदि स्वस्य देहपरिच्छिन्नत्वात् न दूरस्थे वृत्तिः, धर्मोऽपि न धर्मिणम् अतिवर्तेत... भृतैः सह इति वा चारैः पश्यन्ति इतिवद् वा... यद्यपि अप्राप्यकारित्वं हैतुकगत्या हठात्कारेण वक्तुं शक्यं, तथापि 'दिवीव चक्षुराततम्' इत्याद्यागमिकव्यवहारस्यान्यथाभावाद् वृत्तिद्वारा प्राप्त्युक्तिः... 'सर्वे प्राणाः अनूत्क्रामन्ति' इति श्रुतेः संकोचकाभावात्... तत्र बाह्यैः एवम् उच्यते 'वृत्तिप्रसरणे क्रमयौगपद्यविकल्पायोगाद् दूरस्थविषया प्राप्तिः न भवतीत्यतो यद् रूपग्राहकम् इन्द्रियं तद् अप्राप्यग्राहि यथा मनः' इति. तत्र तावत् प्रत्यनुमानम् आह — प्राप्यग्राहि इन्द्रियत्वाद् विमतम् इतरवत् प्राप्तिः उक्तप्रकारा वत्तिं दृष्टेः न रुन्धे विरलपटनयाद् अम्बुकाचादिः अच्छो नोचेद् गृह्येत योग्यं सममिह निखिलं निष्फले छादकादौ स्थैर्ये तद्योग्यभावो नहि गलति समा सन्ततिः त्वन्मतेऽपि. अतिप्रसंगो असम्बद्धग्रहणे स्यात् समं तु इदं सम्बद्धग्रहणेऽपीति न सद् योग्यान्वितग्रहाद्. गृहीतस्य इष्यते कश्चित् सम्बन्धो अव्यभिचारतो न सम्बद्धस्य सर्वस्य ग्रहणं व्यभिचारतः... ननु उन्मिषितमात्रं चक्षुः चन्द्रं गमयति. नच एकस्मिन् क्षणे तावान् देशो वृत्त्या लंघयितुं क्षमः. क्रमेतु प्रतिपरमाण्ववच्छेदं विलम्ब्य गमानात् प्रतीतिरपि विलम्बेत. दूरासन्नग्रहणकाल-तारतम्यं च स्यात्. मैवं, उदत्येव सवितरि सकलदिग्व्यापिन्यां प्रभायामिव इन्द्रियवृत्तेः तादृशवेगातिशयस्य अविस्मयनीयतया पद्मपत्रशतवेधनीत्या यौगपद्याभिमानोपपत्तेः... यत्तु कैश्चिद् उच्यते निष्क्रान्तमात्रमेव चाक्षुषं तेजो बाह्येन बहुदेशव्यापिना चन्द्रसूर्यादिज्योतिषा संवलितं तावत् प्रथिमानम् अवयविनम् आरभते तेनच सम्बन्धाद् उन्मिषितस्य दूरस्थग्रहणं दूरासन्नयोः युगपद्ग्रहणं च सिद्ध्येद् इति तद् अयुक्तं निष्क्रमणकल्पनस्य गुरुत्वाद् अनिष्क्रान्तमेव किं न अवयविनम् आरभेत आन्तरनिष्क्रमणवद् बाह्यप्रवेशोपपत्तेः. अपिच अस्मिन् पक्षे त्रिभुवनविवरव्यापिना तेजसा सह चाक्षुषतेजस्संवलनात् तेन सम्बद्धं सर्वे युगपद् भासेत पश्चाद्भागादिस्थितं च..." (तत्त्वमुक्ताकलापसर्वार्थसिद्धौ : १।४०).

[10]"द्विविधानि इन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च... बुद्धेः इन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि. किं पुनः एतानि बुद्धेः इति? उच्यते — शब्दादिविषयप्रतिपत्तौ द्वारम्. कस्मात्? अबहिर्वृत्तित्वात्. अन्तःकरणस्य नास्ति बहिर्वृत्तिः इत्यतो न अलम् एतत् साक्षात् शब्दादीन् अर्थान् प्रतिपत्तुम्. तस्मात् श्रोत्रादिलक्षणं साक्षाद् बाह्यविषयप्रकाशनसमर्थं कारणान्तरम् अपेक्षते. तत्प्रणालिकया तस्य विषयग्रहणम्. तस्माद् युक्तम् उक्तं बुद्धेः बाह्यविषयकप्रतिपत्तौ द्वारभूतत्वाद् बुद्धीन्द्रियाणि इति...

'रूपादिषु पञ्चानाम् आलोचनमात्रम् इष्यते वृत्तिः' 'आलोचनं'=ग्रहणम् इति अनर्थान्तरम्... तत्तु ग्रहणरूपं नतु प्रकाशकं प्रदीपवद् इत्यत्र को हेतुः इति? उच्यते न कारणान्तरप्रसंगात्. यदि प्रदीपवद् इन्द्रियं प्रकाशकं स्यात् तेन तथा प्रकाशितेषु घटादिषु अर्थेषु करणान्तरमार्गणमेव अत्रापि स्यात्... तस्माद् युक्तम् एतद् ग्राहकम् इन्द्रियं नतु प्रदीपवत् प्रकाशकम् इति... ग्रहणप्रकाशानाम् इदानीं को भेदः? उच्यते—विषयसम्पर्कात् ताद्रूप्यापत्तिः इन्द्रियवृत्तिः ग्रहणम्. तथा विषयेन्द्रियवृत्त्यनुकारेण निश्चयो 'गौः अयं शुक्लो धावति' इत्येवमादिः प्रत्ययः. तथा विषयसम्पर्कापगमे श्रोत्रादिवृत्तेः ताद्रूप्यापगमो वर्तमानकालता, ग्रहणस्य अनुभवात्तु संस्काराधानं तत्पूर्विका च स्मृतिः इति त्रिकालविषया प्रत्ययस्य इति अयम् अनयोः विशेषः. बाह्यस्तु प्रकाशो न विषयरूपापन्नः संस्कारात्तु घटादीनां व्यवधानरूपं पार्थिवं छायालक्षणं धर्मम् अपहृत्य व्यञ्जकत्वाय कल्पते, चक्षुषो अनुग्रहाय'' (श्रीभोजराजकृतायां युक्तिदीपिकायां : ३।२६-२८).

[११]''इच्छारूपं हि मनो व्यापारः तस्य भवति संकल्पो बुद्धचक्षाणि श्रोत्रं त्वग् दृग् जिह्वा च नासा च... ग्राह्याः तेषां शब्दः स्पर्शो रूपं रसश्च गन्धः च... शब्दादीनां ग्रहणं व्यापारः कीर्तितः क्रमाद् एषाम्... शब्दः आदिः येषां ते शब्दादयः तेषां ग्रहणं तदाकारभजनम् एषाम् इन्द्रियाणां व्यापारः उक्तः तत्त्वज्ञैः इति अर्थः'' (श्रीभोजराजकृते तत्त्वप्रकाशे : ४।७-९)

[१२]''ज्ञानप्रधानाद् महत्तत्त्वात् क्रियाशक्तिः अहंकारः समुत्पन्नः. सच त्रिविधः. उत्पत्त्यैव तथैव समपद्यत, क्रिया हि भेदिका कारणभूतं गुणत्रयं कार्ये भिन्नतयैव उत्पादितवती... 'वैकारिकः'=सात्त्विकः 'तैजसो'=राजसतामसः च... यतः त्रिविधाद् मनसः इन्द्रियाणां भूतानां च सम्भवः. 'महतां'=तन्मात्राणामपि... बुद्धेः उत्पत्तिम् आह 'तैजसात्तु' इति... 'विकुर्वाणाद्'=राजसाद् बुद्धितत्त्वम् अभूत्... 'सति'=विषये वा, सर्वविषयिकैव बुद्धिः उत्पद्यतइति... यथा इन्द्रियप्रेरकत्वं मनसः तथा इन्द्रियानुग्राहकत्वं बुद्धेः. बुद्ध्यैव अनुगृहीतानि इन्द्रियाणि पश्यन्ति कुर्वन्ति च. अतएव बुद्धितारतम्येन इन्द्रियज्ञानक्रिययोः तारतम्यम्. एतत् कार्यानुसारि लक्षणं 'द्रव्यस्फुरणविज्ञानम्' इति स्वरूपलक्षणम्. द्रव्यस्य घयादेः स्फुरणे सति शब्देन, संस्कारेण, आलोकेन वा यद् विशिष्टज्ञानं, यस्मात् केवलं चक्षुषा ज्ञाने तारतम्यं न स्यात्. स्वतःस्फुरणं योगजधर्मादिभिरपि भवति अतो द्रव्यस्फुरणएव विज्ञानं बुद्धेः लक्षणम्. 'तैजसानि' इति, ज्ञानकरणकानि क्रियाकरणकानि च उभयविधान्यपि राजसान्येव, नतु ज्ञानकरणकानि सात्त्विकानि क्रियाकरणकानि तामसानि वा...

क्रियायां प्राणो मूलं ज्ञाने बुद्धिः... बुद्धिः राजसीति तदनुगृहीतानि इन्द्रियाणि सर्वाणि राजसान्येव... प्राणोऽपि सर्वेन्द्रियानुग्राहकः...रूपस्य लक्षणम् आह 'द्रव्याकृतित्वम्' इति. द्रव्यस्य घटादेः या आकृतिः सैव रूपस्य. पृथुबुध्नोदराकारं रूपमपि आतानवितानात्मकं च. द्रव्यस्येव आकृतिर्गति द्रव्यस्यतु न उपमेयत्वम्. अतो रूपस्यैव लक्षणम्. 'गुणता'=सर्वदा उपसर्जनतया प्रतीतिः. न एवं शब्दादिषु स्वतन्त्रतयापि प्रतीयमानत्वात्. व्यक्तेः संस्थैव संस्था यस्य. यदि व्यक्तिः वक्रा भवेद् रूपमपि वक्रं भवेदिति. उपविष्टे रूपवति रूपम् उपविष्टं भवति... 'तेजसश्च तेजस्त्वं' रूपतन्मात्रत्वं सूक्ष्मावस्था इति अर्थः. 'तेजोगुणविशेषो अर्थो यस्य तत् चक्षुः उच्यते'...=तेजोगुणविशेषो रूपम्'' (श्रीवल्लभाचार्यकृतायां भागवतसुबोधिन्यां: ३।२६।२३-४८).

[१३]''यदा विषयेन्द्रियसंयोगात् निर्विकल्पकं तदा इन्द्रियदेशे बुद्धेः वृत्तिः. तया इन्द्रियानुग्रहे सविकल्पकम्, अननुग्रहेतु न. वृत्त्यन्तरेण पूर्ववृत्तेः नाशे सविकल्पकस्य संस्काररूपेण अवस्थानं, तस्य उद्बोधकैः उद्बोधे मायोपस्थापित-मायिकार्थ-सहकृता स्मृतिः, राजसैः रागादिभिः संस्कारप्राबल्ये मायया विषयावरणपूर्वकं मायिकपदार्थसहितस्य ज्ञानस्य गोलकाग्रभागे क्षेपे भ्रमः... अतः बुद्धिगुणजन्या तदवस्था वृत्तिः. सा यदा अनुगृह्णाति तदा वक्ष्यमाणप्रक्रियया सविकल्पकं ज्ञानं जन्यते... तत्र अयं क्रमो : दैवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मनः कार्यार्थं प्रेर्यते, तत् च इन्द्रियप्रेरणाय तत्तदिन्द्रियेण संयुज्यते. तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्ये विषयसंसृष्टैः इन्द्रियैः स्वावच्छिन्ने मनसि पूर्वं निर्विकल्पकम् उत्पाद्यते. तदा इन्द्रिदेशे बुद्धेः वृत्तिः. ततो बुद्ध्यापि वृत्तिद्वारा तदनुग्रहे सविकल्पकं भवति... चाक्षुषेतु नयनकिरणाः विषयपर्यन्तं गच्छन्ति, इन्द्रियान्तरेतु किरणाभावाद् इन्द्रियेण सह विषयं मनः प्राप्नोति तदा, क्रमेण सहैव वा, निर्विकल्पकं सविकल्पकं च तत्तदिन्द्रियसंसृष्टे मनसि उत्पद्यते. ज्ञानद्वयेऽपि विषयेन्द्रियस्पर्शादिकं व्यापारः... नच नयनकिरणाङ्गीकारे चक्षुषो व्यापकत्वापत्त्या 'अणवः च' (ब्र.सू.२।४।७) इति सूत्रविरोधः शंकनीयः, अर्चीरूपाणां किरणानां सूर्यमण्डलाद् भेदस्य 'आदित्यो वा एषः' (महाना.उप.१२।२) इति अनुवाके श्रावणात्. तैः अखिलमेरूत्तरदेशदेशान् व्याप्नुवानस्य आदित्यमण्डलस्य दशसहस्रयोजन-परिमाणस्मरणेन तेषां तत्परिणामाबाधकत्ववत्. सूर्याध्यात्मिकचक्षुषः किरणानामपि तथात्वेन सूत्राविरोधात्... 'गुणाद् वा आलोकवद्' (ब्र.सू.२।३।२५) इति सूत्रे आलोकस्य गुणत्वांगीकारात् तैजसस्य चक्षुषः आलोकरूपगुणव्याप्त्यङ्गीकारेऽपि अदोषः... या पुनः आलोकेन मायाकार्यतमोजननप्रतिबन्धे कृते ज्योतीरूपसूर्यदेवतया अण्वात्मकचक्षुषि सन्मुखाव्यवहित-देशस्थ-पृथुबुध्नोदराकारे विशिष्टरूपे प्रापिते

सत्त्वप्रधानबुद्धेः अन्तरेव तदाकारतासम्पत्तौ अणुरूपं जीवं प्रति ज्ञानाश्रिताध्याध्यात्मिक-घटाभिव्यक्तिरेव चाक्षुषं, दूरस्थगन्धशब्दादयोस्तु वायुना घ्राणश्रोत्रसमीपप्रापणे अन्तःसत्त्वात्मकबुद्धेः तदाकारतासम्पत्तौ ज्ञानाश्रिताध्यात्मिकगन्धशब्दाभिव्यक्तिरेव घ्राणजं श्रावणं च प्रत्यक्षमिति आध्यात्मिकाधिभौतिकयोः अभेदात् न बाह्यघटाग्रहणनिबन्धनो दोषः इति केषाञ्चित् प्रत्यक्षप्रक्रिया. तत्र अलोकेन तमोजननप्रतिबन्धकथनम् अयुक्तं, 'यथाहि भानोः उदयो नृचक्षुषां तमो निहन्याद्' (भाग.पुरा.११।२८।३४) इति एकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्ये तमोनिहन्तृत्वकथनात्. एवं ज्योतीरूपसूर्यदेवतायाः पुरुषचक्षुषि विषयनिष्ठरूपप्रापकत्वकथनमपि तथा, बहुषु पश्यत्सु तान्-तान् प्रति रूपे प्रापिते विषयस्य नीरूपताप्रसङ्गेन पाश्चात्यानां तददर्शनप्रसंगात्... सन्ध्यायाम् अस्तंगते सूर्ये रूपप्रापकदेवतायाः गतत्वात् तदानीं घटाद्यदर्शनापत्तेः च... अतो 'नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः' (भाग.पुरा.३।२६।३७) इतिवद् आदित्यरश्मीनां रूपप्रापकत्वस्य अशब्दगोचरत्वात् सूर्यदेवतायाः रूपप्रापकत्वाङ्गीकारः सर्वथा न युक्तः. किञ्च चक्षुषि रूपप्राप्तिश्च प्रतिबिम्बभवनरूपैव, सातु मायया 'ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत' (भाग.पुरा.२।९।३३) इति वाक्यात्, तस्याः विक्षेपकत्वात् च. एवञ्च बुद्ध्याकारसमसमर्पकत्वपि प्रतिबिम्बस्यैव. आध्यत्मिकरूपमपि मायामयं मनोमयत्वात्. तस्यच न सत्यता अर्थक्रियाकारित्वमात्रम्.'' (प्रस्थानरत्नाकरीयप्रत्यक्ष-प्रमाकरणप्रकरणे).

चक्षुषा आलोच्य वस्तूनि
विकल्प्य मनसा तथा ।
'अहं' मत्यापि अहंकाराद्
बुद्ध्यैव हि अध्यवस्यति ।।

चक्षुषा आलोच्य वस्तूनि
विकल्प्य मनसा तथा ।
'अहं' मत्यापि अहंकाराद्
बुद्ध्यैव हि अध्यवस्यति ।।